परिचय

हिंदी साहित्य की लगभग एक सहस्र वर्षों की दीर्घकालीन परंपरा का विभाजन करते हुए इतिहासकारों ने उसे प्रायः तीन बृहत् खंडों में विभाजित किया है--आदि, मध्य और आधुनिक। आदिकाल की ऐसी साहित्यिक सामग्री जिसे निर्भ्रांत रूप से हिंदी साहित्य के आभोग में गृहीत किया जा सके एक तो प्रभूत परिमाण में उपलब्ध नहीं, दूसरे जो उपलब्ध भी है उसकी प्रामाणिक छानबीन करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उसमें से बहुत कुछ परवर्ती रचना है, उसमें का संवृद्ध अंश अधिकतर मध्यकाल में निर्मित हुआ। तात्पर्य यह कि यदि राजनीतिक साहित्यसेवियों के बहकावे में न आकर जैनों की सांप्रदायिक और अपभ्रंश की रचनाओं का मोह छोड़ दिया जाए तो आदिकाल में हिंदी साहित्य की उपलब्ध सामग्री बहुत थोड़ी है और साहित्य के निर्विकृत आभोग के भीतर आनेवाले कर्ताओं के नाम भी इने गिने ही हैं। जितने कर्ताओं की गणना की जाएगी उनमें विद्यापति को छोड़कर शेष में साहित्य का उत्कर्ष उत्तम कोटि का नहीं मिलेगा। मानदंड चाहे शिथिल भी कर दिया जाए तो भी तीन चार से अधिक उच्चकोटि के कर्ता उस युग में नहीं दिखाए जा सकते।

आधुनिक काल में हिंदी साहित्य का विस्तार बहुत अधिक हो गया। केवल पद्यबद्ध रचनाएँ ही उसमें नहीं रहीं, गद्य में भी बहुत कुछ लिखा जाने लगा। नाटक लिखे और खेले भी जाने लगे। पद्यबद्ध रचना अर्थात् कविता के क्षेत्र में ही इतने प्रकार की और इतने परिमाण में रचनाएँ होने लगीं कि भारत की किसी भी भाषा का साहित्य हिंदी में हुई रचना के परिमाण में आधुनिक युग में भी उसकी तुलना नहीं कर सकता। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि का जितना वाङ्मय आधुनिक युग में प्रस्तुत हुआ उसमें तथा कविता में भी जितनी कृतियाँ लिखी गईं उनमें भी अधिकांश अधिकतर नहीं तो भी पर्याप्त परिमाण में ऐसी रचनाएं हुई हैं जिनके कर्ता शुद्ध साहित्य की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपना कर्तृत्व दिखाने नहीं बैठे हैं, अनेक प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक

विचारधाराओं से प्रेरित होकर उन्होंने उस प्रकार की रचनाएँ की आज शुद्ध साहित्य की रचना को पृथक् करने का कोई मानदंड तक वालों के पास नहीं रह गया है। फल यह है कि साहित्य के नाम पर रचनाएँ भी गृहीत हो रही हैं जो निर्विकारात्मक चित्त से उसमें कथ संग्रहीत नहीं की जा सकतीं। आलोचना के शास्त्रीय या पारंपरिक साहित्यिक मानदंडों को त्यागकर बहुत से राजनीतिक साहित्यसेवी प्रातिभ मानदंड लेकर साहित्य में साहित्य के अतिरिक्त कला यहाँ तक विज्ञान को भी समेट लेने की उदारता दिखलाकर अपने प्रचार के हथ निकाल रहे हैं और रस की सात्विक सरणि का उद्घोष छोड़ मानवता चाकचिक्य सामने कर सबसे बड़े पंडित बनने की लिप्सा से उछल मचा रहे हैं। इतना होने पर भी यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं की सूची ब जाए तो ऐसों की संख्या १५-२० से किसी प्रकार अधिक न होगी।

अब मध्यकाल में आइए। उसके दो टुकड़े किए गए हैं—पूर्वमध्यव और उत्तरमध्यकाल। पूर्वमध्यकाल का नाम भक्तिकाल रखा गया उसमें अधिक परिमाण में भक्ति की रचनाएँ हुई हैं, इसी से उसको नाम दिया गया है। पर भक्तिकाल की वे रचनाएं जो इड़ा-पिंगला-सुषु के गोरखधंधे में ही सामाजिक को फँसाए रखनेवाली हों शुद्ध साहित्य गृहीत नहीं हो सकतीं। साहित्य के भीतर संनिविष्ट होने के लिये कि रचना में सर्वसामान्य भावसत्ता का आधार अनिवार्य है। फिर भी य ऐतिहासिकों के सामान की दृष्टि से इन्हें भी साहित्य के आभोग में माना जाए तो भी इन्हें मिलाकर भक्तिकाल में यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं की गण की जाएगी तो २५-३० से अधिक संख्या फिर भी नहीं हो सकती।

अब उत्तरमध्यकाल को लीजिए। इसे रीतिकाल या शृंगारकाल न दिया गया है। सच पूछा जाए तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण कर वाले कर्ता इस युग में जितने अधिक हुए हिंदी-साहित्य के सहस्र वर्षों दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्मा करनेवाले कभी नहीं हुए। आधुनिक काल में भी नहीं। इन कर्ताओं में यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं को छाँटा जाए और बहुत अनुदार होकर छाँ जाए तो भी उनकी संख्या ७५-८० से किसी प्रकार कम न होगी, कह का तात्पर्य यह कि हिंदी साहित्य के इतिहास में अन्य कालों में शुद्ध साहित की दृष्टि से काव्य का निर्माण करनेवालों की संख्या में रीतिकाल में इसी ह

से निर्माण करनेवालों की संख्या की अपेक्षा निश्चय ही न्यून-न्यूनतर है। एक ही युग में एक से एक उत्तम कर्ता संख्या में सबसे अधिक इसी उत्तरमध्यकाल या शृंगारकाल या रीतिकाल में हुए। हिंदी का सच्चा साहित्ययुग यदि कोई था तो वस्तुतः यही था। मेरे गुरुदेव लाला भगवान-दीन जी कहा करते थे कि जिसे इस युग के रीतिकाव्य का ज्ञान नहीं वह हिंदी का साहित्यज्ञ नहीं। जिसे इसका ज्ञान है उसे अन्य का ज्ञान अल्प-प्रयास से ही हो जा सकता है। रीतिसाहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिये महत्प्रयास की अपेक्षा होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लाला जी की कसौटी पर यदि कसा जाए तो संप्रति हिंदी साहित्य की गद्दियों पर बैठे कई महंत अपने दरबारियों सहित उसके अनधिकारी ही सिद्ध होंगे।

हिंदी साहित्य के मध्यकाल में सभी इतिहासकारों ने किसी न किसी रूप में भक्ति और रीति का नामोल्लेख तो किया है पर उस युग में प्रवाहित होनेवाली एक साहित्यधारा को एकदम भूल ही गए हैं। मध्यकाल में तत्वतः तीन प्रकार की काव्यधाराएँ प्रवाहित थीं—एक थी भक्ति की, दूसरी थी रीति की और तीसरी थी स्वच्छंद वृत्ति की। भक्ति की धारा का हिंदी-साहित्य में कितना ही महत्व क्यों न हो यह तो मानना ही पड़ेगा कि भक्ति ही उसका साध्य थी, कविता उसके लिये साधन मात्र थी। पर रीति की धारावालों का साध्य काव्य ही था, साधन भी काव्य ही था। काव्य की साधना में भी साध्य और साधन दोनों पर सम्यक् दृष्टि रखनी होती है। रीतिधारा के कर्ताओं ने साधन पक्ष पर जितना अधिक ध्यान दिया उतना अधिक उसके साध्य पक्ष पर नहीं। रीतिधारा का अर्थ ही है काव्यरीति की धारा अर्थात् काव्यसाधन की धारा। ये लोग काव्य की रीति अर्थात् उसके साधन पर विशेष ध्यान रखनेवाले थे। काव्य का साध्य उसका अंतरंग-पक्ष होता है, साधन उसका बहिरंग पक्ष होता है। इस प्रकार ये जितना अधिक ध्यान काव्य के बहिरंग पर रखते थे उतना अधिक उसके अंतरंग पर नहीं। काव्य का बहिरंग पक्ष नाना प्रकार के नियमों के आधार पर चलता है। उन नियमों और विधियों में किसी प्रकार की त्रुटि हुई तो रीति के कर्ता सारा खेल बिगड़ा समझते हैं। इन नियमों और विधियों को ध्यान में रखना और उनके अनुसार सारा संभार करना पुरुषार्थ का कार्य होता है। उसमें रचना करनेवाले को अपनी बुद्धि चारो ओर से समेटकर लगना पड़ता है। तात्पर्य यह कि काव्यशक्ति के अतिरिक्त उसके उपाद्य पक्ष पर, निपुणता और

अभ्यास पर, इनकी सबसे अधिक दृष्टि रहती है। यहाँ तक कि यदि किर में काव्यशक्ति न्यून भी हो तो वह निपुणता और अभ्यास के बल प 'कविराज बन जा सकता है। या ठोंक पीटकर वैद्यराज (अपर पर्याय 'कवि-राज') बनाया जा सकता है। ये लोग कभी कभी कुछ बातें सीखक कविता करने में लग जाया करते थे। ठाकुर कवि ऐसों के ही लिये क गए हैं—

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीनो मेर औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलता सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

स्वच्छंद धारा का साध्य काव्य था और साधन भी काव्य ही था। प इस धारा के कवियों ने साधन की अपेक्षा साध्य पर अधिक ध्यान दिया साधन पर ये ध्यान न देते हों सो नहीं, उसपर भी ध्यान रहता था। प स्थिति यह है कि जो साध्य पर ध्यान रखकर साधन पर ध्यान रखता उसका साध्य साधन का समन्वय बना रहता है, किंतु जो साधन पर ध्या अधिक रखता है धीरे धीरे साध्य उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। सा चुपचाप खिसक जाता है, हाथ में केवल साधन बच रहता है। इसे समझें कि एक का अंगी साध्य और अंग साधन, दूसरे का अंगी साधन और अं साध्य। पहले को इसी से साधन के लिये पृथक् प्रयत्न करने की अपेक्षा न रहती, साध्य ठीक है तो दंडापूपिकान्याय से साधन भी उसके साथ आप आप आ जायगा। बहुत आधुनिक ढंग से सोचें तो कहेंगे कि इनके य साध्य साधन में परमार्थतया भेद नहीं है, प्रत्युत अभेद है। रीतिधाराव जिस साज सजा में लगते हैं उसमें बुद्धि का योग अधिक करना पड़ता उनकी रचना बुद्धिबोधित होती है, इसी से काव्य का साध्य भाव उससे धी धीरे हटने लगता है। रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भाव उसका किंकर पर स्वच्छंद काव्य की रानी है अनुभूति, उसकी दासी है बुद्धि—

'रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी।'

स्वच्छंद काव्य भावभावित होता है, बुद्धिबोधित नहीं; इसलिये आंतरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आंतरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छंद काव्य की सारी साधनसंपत्ति शासित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्ताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है। बहुत आधुनिक ढंग से कहें तो कहेंगे कि स्वच्छंद वृत्ति के कवियों की अनुभूति ही उनका मुख्य आधार है, उसी के सहारे उनकी सारी कृति की छान बीन की जा सकती है। रीतिकाव्य के कर्ताओं का मूल आधारभूत तत्व है भंगिमा। स्वछंद कर्ता में भंगिमा कहीं कदाचित् न भी हो, पर अनुभूति-शून्य उसकी रचना नहीं हो सकती। रीतिकर्ता में अनुभूति चाहे न भी हो, पर भंगिमा अवश्य रहेगी। बिहारी ऐसे कवियों में भंगिमा चाहे अनुभूति-पूर्ण हो चाहे शुद्ध भंगिमा ही हो, पर उसमें साहित्यिक चारुत्व अपने चरम उत्कर्ष पर ही दिखाई देता है, इसी से उनकी रचना सर्वत्र आकर्षक है। पर बहुत से ऐसे भी हैं जिनकी भंगिमा केवल वर्णसौंदर्य तक ही रुक गई, वह ऐसी पेशलता न ला सकी जिससे उसमें सहृदयों के लिये वांछित आकर्षण होता। अनुभूति में बाहरी आकर्षण न भी हो तो भी वह हृदय खींच लेती है। अनुभूति हृदय से उठती है, हृदय को आकृष्ट करती है। उसके लिए किसी अन्य माध्यम की अपेक्षा नहीं। भंगिमा हृदय से ईरित भी हो सकती है और बुद्धि से प्रेरित भी। हृदय से ईरित भंगिमा आकर्षक होती है, पर वह सीधे हृदय में नहीं पहुँचती उसके लिये माध्यम की अपेक्षा होती है। वह बुद्धि के, नियम-विधि के, शास्त्र के माध्यम से हृदय में पहुँचती है। उसके लिये जैसे कर्ता को शास्त्रविधिनिष्णात होना चाहिए वैसे ही ग्राहक को भी शास्त्रचिंतनदीक्षण होना चाहिए। अनुभूति के लिए न कर्ता को उसकी (शास्त्र-विधि की) विशेष आवश्यकता है और न ग्राहक को।

तो क्या शास्त्राभ्यासशून्य होना चाहिए संवेदनशील स्वच्छंद कवि को? नहीं, शास्त्र का अभ्यास तो समुचित मात्रा में सभी को करना चाहिए। स्वच्छंद कर्ता को भी और उसके ग्राहक को भी। पर शास्त्र के सहारे अपना कर्तृत्व दिखाने में लगना अनुभूति या संवेदना का लक्ष्य नहीं होता। संवेदना संवेदना की स्थिति के संपादन में लगती है, शास्त्र की स्थिति के संपादन में नहीं। दोष शास्त्रस्थिति का संपादन है, शास्त्राभ्यास या शास्त्रज्ञान नहीं।

रीतिकाव्य के लिये जिस दोष की संभावना रहती है वह यही है। इसी प्राय: रीतिकर्ता इस दोष से जकड़ जाते हैं।

स्वच्छंदवृत्तिवालों की संवेदना अनेक प्रकार की हो सकती है। मध्यकाल के इन स्वच्छंद कर्ताओं की संवेदना केवल प्रेम की संवेदना ये प्रेम की पीर के पच्छी थे। हिंदी साहित्य में आदिकाल में विद्यापति 'प्रे संवेदना' के कवि दिखाई देते हैं। पर प्रेम की यह संवेदना पारंपरिक रूप मध्यकाल के स्वच्छंद गायकों को नहीं मिली है। प्रेम की यह संवेद फारसी साहित्य और सूफी-साधना के प्रवाह से संबद्ध है। भारत प्रेम-संवेदना और फारसी प्रणय-संवेदना का और चाहे जो पार्थक्य ह पर यह पार्थक्य बहुत स्पष्ट है कि फारसी प्रणय-संवेदना रहस्यात्म वृत्ति को भी लेकर चलती है। भारतीय साहित्य में प्रेम की संवेद चाहे जितनी तीव्र हो वह रहस्यात्मक स्वरूप नहीं धारण करत पर फारसी-साहित्य और सूफी-साधना के संपर्क में आने के अनं भारतीय साहित्य पर और भारतीय भक्तिप्रवाह पर भी इसका प्रभ पड़ा। हमारे मुसलमान बंधुओं के आगमन के अनंतर भी जब तक इ 'प्रेम की पीर' के संपर्क में हमारा साहित्य और हमारी भक्ति न आई थी तब तक उसका अपना नैसर्गिक रूप बना हुआ था नाथ-सिद्ध भक्ति की सहज धारा को प्रभावित करते करते भी बहुत अल्पां में प्रभावित कर सके और साहित्य को तो उन्होंने कुछ भी प्रभावित न किया। इसी से जयदेव और विद्यापति की रचना रहस्यात्मक रूप नहीं पा सकी। जो लोग इनमें अध्यात्म अर्थात् रहस्य की खोज करते हैं वे सत्यय में कलियुग ढूँढ़ निकालना चाहते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रहस्यात्मक प्रवृ का मेल जितना अधिक निर्गुण-साधना से बैठता है उतना अधिक सगुर साधना से नहीं। भक्ति के कुछ सगुण संप्रदायों या प्रवाहों में जो रहस्यात्म साधना ने घर कर लिया है वह परवर्ती प्रभाव है और भक्ति-संप्रदायों व भाव-साधना में वह अपना आरोपित रूप सहज ही स्पष्ट कर देती है। सगुर भक्ति की साधना में अधिक गुह्य साधना चल नहीं पाती और यदि उस कुछ थोड़ी बहुत चलती भी हो तो भारतीय साहित्य की व्यक्त शब्दसाध इसका बोझ बहुत अधिक और बहुत दिनों तक नहीं सँभाल सकती इसी से मध्यकाल के स्वच्छंद प्रवाह में रहस्य की झलक भर मिलती है आधुनिक युग में भी छायावाद के साथ जो रहस्यात्मक प्रवृत्ति प्रबल हु

वह बहुत दिनों तक टिक न सकी। केवल महादेवी वर्मा अभी तक उसे ढोए चल रही हैं। पर वहाँ भी परिमाण अत्यंत क्षीण हो गया है।

स्वच्छंद प्रवाह के प्रमुख कर्ताओं में रसखानि, आलम, ठाकुर, घनआनंद, बोधा और द्विजदेव का नाम लिया जा सकता है। छानबीन करने पर इस प्रवाह के छुटभैये भी कई मिल सकते हैं। इन सबमें श्रेष्ठ घनआनंद ही प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी संवेदना सर्वाधिक साहित्यिक है। रसखानि में साहित्यिक निखार न होकर संवेदना की सहज अभिव्यक्ति मात्र है। श्रेष्ठता का वास्तविक कारण घनआनंद की साहित्य-श्रतता है। उक्त छहो कर्ताओं में सबसे अधिक साहित्यश्रुत घनआनंद ही प्रतीत होते हैं। इस साहित्यश्रुति का प्रभाव उनकी रचना के प्रत्येक अवयव पर पड़ा है। पर उनकी रचना के दो प्रकार हैं—एक प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति, दूसरी भक्ति सवेदना की व्यक्ति। इनकी भक्ति संवेदना की व्यक्ति रसखानि के बहुत निकट है। प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति साहित्यिक भंगिमा संवलित है और भक्ति-संवेदना की व्यक्ति में उस भंगिमा की कमी या अभाव लक्ष्यभेद के कारण है। एक की रचना सहृदयों के लिये है दूसरी की कोरे भक्तों के लिये। एक सम्यक् अनुभूति के लिये है दूसरी संकीर्तन के लिये। घनआनंद की कृति में केवल रसखानि की सी ही रचना नहीं मिलती, उसमें आलम. ठाकुर, बोधा, द्विजदेव सबकी उत्कृष्ट विशेषताओं का समावेश हो गया है। पर घनआनंद की विशेषता ऐसी है जो न रसखानि में है, न आलम में, न ठाकुर में, न बोधा में, न द्विजदेव में। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो उक्त स्वच्छंद गायकों से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक् और श्रेष्ठ है वह रीतिकाव्य के कर्ताओं से अपनी विशेषताओं और प्रवृत्तियों के कारण निश्चय ही पृथक्तर और श्रेष्ठतर है। इसका अनुभव स्वयम् घनआनंद ने भी किया था जिसे उन्होंने अपनी इस पंक्ति में व्यक्त कर रखा है—

लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कबित्त बनावत।

उनकी रचना अर्थात् उनका प्रेम-संवेदना के कवित्तों के संग्रहकर्ता श्री ब्रजनाथ ने भी उनकी पृथक्ता को लक्षित किया था—

जग की कविताई के धोखें रहै ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी।

कविता में लगकर उसका निर्माण करनेवाले रीतिवेत्ता ही थे और 'जग

रीतिकाव्य के लिये जिस दोष की संभावना रहती है वह यही है। इसी
प्राय: रीतिकर्ता इस दोष से जकड़ जाते हैं।

स्वच्छंदवृत्तिवालों की संवेदना अनेक प्रकार की हो सकती है। प
मध्यकाल के इन स्वच्छंद कर्ताओं की संवेदना केवल प्रेम की संवेदना थ
ये प्रेम की पीर के पक्षी थे। हिंदी साहित्य में आदिकाल में विद्यापति 'प्रेम
संवेदना' के कवि दिखाई देते हैं। पर प्रेम की यह संवेदना पारंपरिक रूप
मध्यकाल के स्वच्छंद गायकों को नहीं मिली है। प्रेम की यह संवेदन
फारसी साहित्य और सूफी-साधना के प्रवाह से संबद्ध है। भारती
प्रेम-संवेदना और फारसी [illegible] का और चाहे जो पार्थक्य ह
पर यह पार्थक्य बहुत स्पष्ट है कि फारसी प्रणय-संवेदना रहस्यात्म
वृत्ति को भी लेकर चलती है। भारतीय साहित्य में प्रेम की संवेद
चाहे जितनी तीव्र हो वह रहस्यात्मक स्वरूप नहीं धारण करती
पर फारसी-साहित्य और सूफी-साधना के संपर्क में आने के अनंत
भारतीय साहित्य पर और भारतीय भक्तिप्रवाह पर भी इसका प्रभा
पड़ा। हमारे मुसलमान बंधुओं के आगमन के अनंतर भी जब तक इ
'प्रेम की पीर' के संपर्क में हमारा साहित्य और हमारी भक्ति न
आई थी तब तक उसका अपना नैसर्गिक रूप बना हुआ था
नाथ-सिद्ध भक्ति की सहज धारा को प्रभावित करते करते भी बहुत अल्पां
में प्रभावित कर सके और साहित्य को तो उन्होंने कुछ भी प्रभावित न
किया। इसी से जयदेव और विद्यापति की रचना रहस्यात्मक रूप नहीं पा
सकी। जो लोग इनमें अध्यात्म अर्थात् रहस्य की खोज करते हैं वे सत्यर
में कलियुग ढूँढ़ निकालना चाहते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रहस्यात्मक प्रवृ
का मेल जितना अधिक निर्गुण-साधना से बैठता है उतना अधिक सगु
साधना से नहीं। भक्ति के कुछ सगुण संप्रदायों या प्रवाहों में जो रहस्यात्म
साधना ने घर कर लिया है वह परवर्ती प्रभाव है और भक्ति-संप्रदायों
भाव-साधना में वह अपना आरोपित रूप सहज ही स्पष्ट कर देती है। सगु
भक्ति की साधना में अधिक गुह्य साधना चल नहीं पाती और यदि उ
कुछ थोड़ी बहुत चलती भी हो तो भारतीय साहित्य की व्यक्त शब्दधा
इसका बोझ बहुत अधिक और बहुत दिनों तक नहीं सँभाल सकत
इसी से मध्यकाल के स्वच्छंद प्रवाह में रहस्य की झलक भर मिलती
आधुनिक युग में भी छायावाद के साथ जो रहस्यात्मक प्रवृत्ति प्रबल

वह बहुत दिनों तक टिक न सकी। केवल महादेवी वर्मा अभी तक उसे ढोए चल रही हैं। पर वहाँ भी परिमाण अत्यंत क्षीण हो गया है।

स्वच्छंद प्रवाह के प्रमुख कर्ताओं में रसखानि, आलम, ठाकुर, घन-आनंद, बोधा और द्विजदेव का नाम लिया जा सकता है। छानबीन करने पर इस प्रवाह के छुटभैये भी कई मिल सकते हैं। इन सबमें श्रेष्ठ घनआनंद ही प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी संवेदना सर्वाधिक साहित्यिक है। रसखानि में साहित्यिक निखार न होकर संवेदना की सहज अभिव्यक्ति मात्र है। श्रेष्ठता का वास्तविक कारण घनआनंद को साहित्य-श्रतता है। उक्त छहो कर्ताओं में सबसे अधिक साहित्यश्रुत घनआनंद ही प्रतीत होते हैं। इस साहित्यश्रुति का प्रभाव उनकी रचना के प्रत्येक अवयव पर पडा है। पर उनकी रचना के दो प्रकार हैं—एक प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति, दूसरी भक्ति संवेदना की व्यक्ति। इनकी भक्ति संवेदना की व्यक्ति रसखानि के बहुत निकट है। प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति साहित्यिक भंगिमा संवलित है और भक्ति-संवेदना को व्यक्ति में उस भंगिमा की कमी या अभाव लक्ष्यभेद के कारण है। एक की रचना सहृदयों के लिये है दूसरी की कोरे भक्तों के लिये। एक सम्यक् अनुभूति के लिये है दूसरी संकीर्तन के लिये। घनआनंद की कृति में केवल रसखानि की सी ही रचना नहीं मिलती, उसमें आलम, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव सबकी उत्कृष्ट विशेषताओं का समवेश हो गया है। पर घनआनंद को विशेषता ऐसी है जो न रसखानि में है, न आलम में, न ठाकुर में, न बोधा में, न द्विजदेव में। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो उक्त स्वच्छंद गायकों से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक् और श्रेष्ठ है वह रीतिकाव्य के कर्ताओं से अपनी विशेषताओं और प्रवृत्तियों के कारण निश्चय ही पृथक्तर और श्रेष्ठतर है। इसका अनुभव स्वयम् घनआनंद ने भी किया था जिसे उन्होंने अपनी इस पंक्ति में व्यक्त कर रखा है—

लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कबित्त बनावत।

उनकी रचना अर्थात् उनका प्रेम-संवेदना के कवित्तों के सग्रहकर्ता श्री ब्रजनाथ ने भी उनकी पृथक्ता को लक्षित किया था—

जग की कविताई के धोखें रहै ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी।

कविता में लगकर उसका निर्माण करनेवाले रीतिवेत्ता ही थे और 'जग

की कविता' साहित्य-संसार में बहुप्रचलित रचना उस समय रीतिकविता ही थी। पर घनआनंद की रचना में कुछ ऐसी विशेषता थी कि उसकी सूक्ष्मता सबके लिए सुलभ नहीं थी, काव्यमार्ग के प्रवीण पथिक भी उसे देखकर चकपकाते थे। यह कठिनाई न रसखानि की कविता में थी, न आलम की कविता में, न ठाकुर की कविता में, न बोधा की कविता में और न द्विजदेव की कविता में। उनकी प्रेम संवेदना चाहे जितनी गहरी, चाहे जितनी मार्मिक हो, पर उसके संबंध में यह कठिनाई थी ही नहीं।

घनआनंद की 'कबिताई' में प्रवीणों की मति को जकानेवाली क विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उनकी रचना में बहुत सी स्थितियाँ मौन हैं अर्थात् उनकी रचना अभिधा के वाच्यरू में कम लक्षण के लक्ष्य और व्यंजना के व्यंग्य रूप में अधिक है। जो लक्षणा-व्यंजना के इ लक्ष्य-व्यंग्य अर्थों तक पहुँचने की क्षमता रखनेवाला न होगा उसके लिये इनकी रचना नीरस नहीं तो सरस भी न होगी। अपनी कृति के भावक का रू स्वयम् घनआनंद ने इस सवैये में व्यक्त कर दिया है—

उर-भौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रसरूप मनी।
रसना-अली कान गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
घनआनँद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी॥

इनकी कविता हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाले अपने को छिपाए बैठी है। रही संभार की बात! सो सारे शास्त्रीय संभार इनमें हैं—पदार्थ हैं पर कोमल, चुने हुए मंजुल। उनमें पद अर्थात् शब्द ही नहीं हैं अर्थ भी हैं वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य एक से एक मृदु, एक से एक मंजु। कोई कहे कि इसमें अवर अंश वाच्यार्थ-मात्रविशिष्ट अलंकार न हों, सो बात भी नहीं है। इसमें अलंकार भी हैं, गहने भी हैं, पर वे आभूषण, वे अलंकार, रत्नजटित हैं चमचमानेवाले हैं, दीप्त करनेवाले हैं। रत्न या मणि है क्या?—'रस' अलंकार की सारी योजना रस की दीप्ति के लिये है, केवल शरीर पर लदाव के लिए नहीं। यह वाणी, यह कविता, यह बनी या दूल्हन रसना सखी के साथ साथ जाती है। रसना-सखी के संग, जीभ के संग नहीं—रस को ओर ले जानेवाली रसना—रसाश्रय हृदय की शय्या पर, सुसज्ज शय्या पर, सहृदयता की सजी सेज पर उसे पहुँचाती है। इस कविता-दूल्हन का रसि

(बना, धनी-स्वामी) कोई साधारण व्यक्ति कैसे हो सकता है। वह सुजान है, प्रवीण है, सहृदय है, साहित्य के विधि बिधानों से अभिज्ञ है। वही इसपर रीझता है, इसकी सूक्ष्म भाव भंगिमा को समझता है; बूझनि—प्रतीति, रसप्रतीति—की गोद में, काव्यप्रतीति के अंक में, उसे लेकर बिलसता है। घनआनंद की रचना का सौंदर्य आवृत है, वह शब्दों द्वारा वाच्य नहीं है। हृदय ही, सहृदय ही, उसके मार्ग को समझ सकता है।

पर इस मौन को अमौन या बखान में परिणत कौन कर सकता है? वाणी जिस प्रकार मौन में अनेक बखानों को समेटे सिमटी पड़ी रहती है उसी प्रकार वाणी उस मौन में छिपे तत्वों को प्रकाशित भी कर सकती है। जिसकी वाणी में मौन के भीतर अनेक अमौन तत्वों को छिपा रखने की क्षमता नहीं वह कर्ता, समर्थ कर्ता नहीं और जिसकी वाणी में उनको प्रकाशित कर सकने की शक्ति नहीं वह सूक्ष्म-ग्रहीता नहीं, सहृदय नहीं। घनआनंद को इस विषय में नैराश्य नहीं है। नैराश्य भारतीय परंपरा में नहीं, अँगरेजी की अनुकृति पर नैराश्य की नदी छायावादी बंधु भले ही प्रवाहित कर चुके हों और अपनी रचना की गूढ़ता समझने के संबंध में भी चाहे उन्हें नैराश्य ही रहा हो, पर न भवभूति को नैराश्य था न घनआनंद को। वे वाणी की, सहृदय की वाणी की प्रशस्ति यों करते हैं—

आँखिन मूँदिऔ बात दिखावत, सोवनि जागनि बात ही पेखि लै।
बात-सरूप अनूप अरूप है भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै।
बात की बात सुबात विचारिबो है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि काननि बीच बसे घनआनँद मौन बखान सु देखि लै॥

वाणी की गति अत्यंत सूक्ष्म है जो अन्य विधि से असंभव या दुःसंभव है उसे अपनी सूक्ष्मेक्षिका से वाणी संभव कर दे सकती है, और बात की बात में संभव कर दे सकती है। किसी आँख के मूँदने में कितने रहस्य हैं इसका उद्घाटन वाणी कर सकती है। एक साथ सोना और जागना वाणी ही से देखा जा सकता है। वाणी या काव्य स्वयम् एक दर्शन है, दृष्टि है। उसकी रूपरेखा सूक्ष्म है, वह अलख का, निराकार का, लेखा जोखा भी प्रस्तुत कर सकती है। ब्रह्म का, निर्गुण ब्रह्म का, साक्षात्कार वाणी ही से संभव है। वह निराकार अनुभूति का विषय हो चाहे न हो, पर वाणी का विषय तो हो ही सकता है, हुआ ही है। जगत् भले ही अनिर्वचनीय हो,

की कविता' साहित्य-संसार में बहुप्रचलित रचना उस समय रीतिकविता ही थी। पर घनआनंद की रचना में कुछ ऐसी विशेषता थी कि उसकी सूक्ष्मता सबके लिए सुलभ नहीं थी, काव्यमार्ग के प्रवीण पथिक भी उसे देखकर चकपकाते थे। यह कठिनाई न रसखानि की कविता में थी, न आलम की कविता में, न ठाकुर की कविता में, न बोधा की कविता में और न द्विजदेव की कविता में। उनकी प्रेम संवेदना चाहे जितनी गहरी, चाहे जितनी मार्मिक हो, पर उसके संबंध में यह कठिनाई थी ही नहीं।

घनआनंद की 'कबिताई' में प्रवीणों की मति को जकानेवाली कई विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उनकी रचना में बहुत सी स्थितियाँ मौन हैं अर्थात् उनकी रचना अभिधा के वाच्यरूप में कम लक्षणा के लक्ष्य और व्यंजना के व्यंग्य रूप में अधिक है। जो लक्षणा-व्यंजना के इन लक्ष्य-व्यंग्य अर्थों तक पहुँचने की क्षमता रखनेवाला न होगा उसके लिये इनकी रचना नीरस नहीं तो सरस भी न होगी। अपनी कृति के भावक का रूप स्वयम् घनआनंद ने इस सवैये में व्यक्त कर दिया है—

उर-भौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रसरूप मनी।
रसना-अली कान गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
घनआनँद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी॥

इनकी कविता हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाले अपने को छिपाए बैठी है। रही संभार की बात! सो सारे शास्त्रीय संभार इनमें हैं—पदार्थ हैं, पर कोमल, चुने हुए मंजुल। उनमें पद अर्थात् शब्द ही नहीं हैं अर्थ भी हैं, वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य एक से एक मृदु, एक से एक मंजु। कोई कहे कि इनमें अवर अंश वाच्यार्थ-मात्रविशिष्ट अलंकार न हों, सो बात भी नहीं है। इसमें अलंकार भी हैं, गहने भी हैं, पर वे आभूषण, वे अलंकार, रत्नजटित हैं, चमचमानेवाले हैं, दीप्त करनेवाले हैं। रत्न या मणि है क्या?—'रस'। अलंकार की सारी योजना रस की दीप्ति के लिये है, केवल शरीर पर लदाव के लिए नहीं। यह वाणी, यह कविता, यह बनी या दूल्हन रसना सखी के साथ साथ जाती है। रसना-सखी के संग, जीभ के संग नहीं—रस को ओर ले जानेवाली रसना—रसाश्रय हृदय की शय्या पर, सुसज्ज शय्या पर, सहृदयता की सजी सेज पर उसे पहुँचाती है। इस कविता-दूल्हन का रसिक

(बना, धनी स्वामी) कोई साधारण व्यक्ति कैसे हो सकता है। वह सुजान है, प्रवीण है, सहृदय है, साहित्य के विधि बिधानों से अभिज्ञ है। वही इसपर रीझता है, इसकी सूक्ष्म भाव भंगिमा को समझता है। बूझनि—प्रतीति, रसप्रतीति—की गोद में, काव्यप्रतीति के अंक में, उसे लेकर विलसता है। घनआनंद की रचना का सौंदर्य आवृत है, वह शब्दों द्वारा वाच्य नहीं है। हृदय ही, सहृदय ही, उसके मार्ग को समझ सकता है।

पर इस मौन को अमौन या बखान में परिणत कौन कर सकता है? वाणी जिस प्रकार मौन में अनेक बखानों को समेटे सिमटी पड़ी रहती है उसी प्रकार वाणी उस मौन में छिपे तत्वों को प्रकाशित भी कर सकती है। जिसकी वाणी में मौन के भीतर अनेक अमौन तत्वों को छिपा रखने की क्षमता नहीं वह कर्ता, समर्थ कर्ता नहीं और जिसकी वाणी में उनको प्रकाशित कर सकने की शक्ति नहीं वह सूक्ष्म प्रतीता नहीं, सहृदय नहीं। घनआनंद को इस विषय में नैराश्य नहीं है। नैराश्य भारतीय परंपरा में नहीं, अँगरेजी की अनुकृति पर नैराश्य की नदी छायावादी बंधु भले ही प्रवाहित कर चुके हों और अपनी रचना की गूढ़ता समझने के संबंध में भी चाहे उन्हें नैराश्य ही रहा हो, पर न भवभूति को नैराश्य था न घनआनंद को। वे वाणी की, सहृदय की वाणी की प्रशस्ति यों करते हैं—

आँखिन मूँदिओ बात दिखावत, सोवनि जागनि बात ही पेखि लै।
बात-सरूप अनूप अरूप है भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै।
बात की बात सुबात विचारिबो है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि काननि बीच बसे घनआनँद मौन बखान सु देखि लै॥

वाणी की गति अत्यंत सूक्ष्म है जो अन्य विधि से असंभव या दुःसंभव है उसे अपनी सूक्ष्मेक्षिका से वाणी संभव कर दे सकती है, और बात की बात में संभव कर दे सकती है। किसी आँख के मूँदने में कितने रहस्य हैं इसका उद्घाटन वाणी कर सकती है। एक साथ सोना और जागना वाणी ही से देखा जा सकता है। वाणी या काव्य स्वयम् एक दर्शन है, दृष्टि है। उसकी रूपरेखा सूक्ष्म है, वह अलख का, निराकार का, लेखा जोखा भी प्रस्तुत कर सकती है। ब्रह्म का, निर्गुण ब्रह्म का, साक्षात्कार वाणी ही से संभव है। वह निराकार अनुभूति का विषय हो चाहे न हो, पर वाणी का विषय तो हो ही सकता है, हुआ ही है। जगत् भले ही अनिर्वचनीय हो,

पर वह (ब्रह्म) अनिर्वचनीय नहीं है। वह अज्ञेय चाहे हो, पर अवाच
नहीं है। अच्छी से अच्छी, ऊँची स्थिति को सर्वत्र वाणी ही बा
की बात में बतला सकती है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ वाणी अप
विशेषता न दिखला दे। जो और प्रकार से इंगित नहीं किया जा सक
वाणी उसे इंगित करती है। 'अपाणिगादो जवनो ग्रहीता' को, अज्ञे
अपरिमेय को, इन शब्दों से इंगित करनेवाला कौन है, वाणी ही न ! उ
मन का, चित्त का, बुद्धि का विषय न बन सके उसे भी वाणी का विष
बनना ही पड़ता है। वह मन, चित्त, बुद्धि का विषय नहीं है इसे वा
ही तो बतलाती है। वाणी नेत्रों में कान लगा सकती है, और उन कानों
मौन की पुकार वाणी ही सुना सकती है, मौन के बखान को वाणी
दिखा सकती है। वाणी क्या नहीं कर सकती ?

घनआनंद की आवृत अर्थसंपत्ति की, उनके मौन की, विशेष
बताते हुए वाणी की विशेषता तक पहुँचना पड़ा। इसका कारण यह
कि उनकी विरहसाधना और काव्यसाधना में समरसता है। 'बिर
विचारन की मौन में पुकार है' यहीं तक उनकी वाणी नहीं है, वह स्वय
'मौन की पुकार' में लीन है, 'उर भौन में मौन के घूंघट में' अपने
छिपाए हुए है। ठीक इसी प्रकार विरही विषम प्रेम की साधना में वि
परिस्थितियों का सामना करता है तो कवि भी विषम प्रेम की अभिव्यक्ति
विषम शब्दसाधना करता है। घनआनंद की रचना की यह वैषम्यमूलक
या विरोध वृत्ति केवल शब्दसाधना नहीं है। प्रेम की विषमता और
विरोध वृत्ति में साम्य है। हिंदी के अन्य मध्यकालीन स्वच्छंद कवियों
विरोध वृत्ति सार्वत्रिक न होकर क्वाचित्क है। घनआनंद की रचना
यह सार्वत्रिक है, यहाँ तक की उनके कीर्तन के कोरे भक्तिभावित पदों
भी यह बहुधा मिल जाती है। इस विरोध-वृत्ति के लिये उन्होंने लक्षणा
सहारा लिया है और लक्षणा के जैसे चमत्कार उन्होंने दिखलाए
हिंदी साहित्य के प्राचीन काल के किसी कवि में उतने लाक्षणिक वैलक्ष
तो हैं ही नहीं, आधुनिक काल के जिन छायावादी कवियों में इस विलक्षण
के दर्शन प्रभूत परिमाण में होते हैं उनमें भी वह विशेषता नहीं है जो घ
आनंद के प्रयोगों में मिलती है।

पहली ध्यान देने की बात यह है कि घनआनंद की कविता भले
फारसी काव्य और सूफी साधना की प्रेरणा से हिंदी में निर्मित हुई हो,

उन्होंने ज्यों की त्यों अनुकृति नहीं की। फारसी के मुहावरे उठाकर उन्होंने हिंदी में नहीं धर दिए। वे फारसी प्रवीण थे, उन्होंने फारसी में एक मसनवी भी लिखी है, पर वे व्रजभाषाप्रवीण भी थे। व्रजभाषा के प्रयोगों के आधार पर नूतन वाग्योग संघटित कर लेने के लिए भाषा प्रवीण भी थे। धनआनंद के प्रयोग व्रजभाषा के प्रयोग तो हैं ही, नवीन प्रयोग भी एकदम नए नहीं हैं, ब्रजा के प्रवाह के अनुकूल गढ़े गए हैं। उनका अंतः-करण भारतीय था, वेश-भूषा भी भारतीय थी। ढंग-ढर्रा कुछ बाहरी रहा हो तो हो, पर वह भी कृष्ण-राधा के प्रेमतत्व में सर्वात्मना भारतीय बन बैठा।

इस भारतीयता के भाषागत सौंदर्य के लिये लाक्षणिक प्रयोगों का भेद स्पष्ट कर लेना चाहिए। फारसी में और उसकी अनुकृति पर उर्दू में जिस प्रकार की [illegible] दिखाई देती है वह भारतीय लाक्षणिकता से भिन्न है। फारसी उर्दू में जिस लाक्षणिकता का विकास हुआ वह मुहावरों को आधार बनाती है। मुहावरों में प्रयोजनवती और रूढि दोनों प्रकार की लक्षणाएँ हो सकती हैं, पर अधिकतर लक्षणाएँ रूढ़ि के खाते में जाती हैं। जिस प्रकार का प्रयोग बहुत दिनों से होता चला आ रहा हो उसी को अनेक प्रकार के मिश्रण द्वारा नवीन रूप में लाना फारसी-उर्दू की विशेषता है। मुहावरों के अधिक प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि फारसी उर्दू में रचना लक्षणाप्रधान होती है। लक्षणाप्रधान होने पर भी परंपरा के आश्रय में रहने के कारण व्यंजना में अर्थात् उन लाक्षणिक प्रयोगों से निकलनेवाले व्यंग्यार्थ में संलक्ष्यक्रमता स्पष्ट रहती है और एक साथ अनेक व्यंग्यार्थों के उपस्थित होने पर भी संदेह के लिये स्थान नहीं रहता। हिंदी में आधुनिक युग में अँगरेजी-साहित्य के संपर्क के कारण जिस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग किए जाने लगे उनमें रूढ़ि के बदले प्रयोजनवती पर अधिक ध्यान है। प्रत्येक कवि अपने नए नए प्रयोजन के लिए नई नई लक्षणाएँ करता है। परंपरा का साथ न होने से ऐसे स्थल प्रायः सामने आ जाते हैं कि उनके व्यंग्यार्थों में संदेह बना रहता है। अँगरेजी भाषा लक्षणाप्रधान है, फारसी से अधिक। वह परंपरा के निर्वाह का आग्रह नहीं करती। फल यह है कि किसी आधुनिक छायावादी कवि के प्रयोगों के संबंध में ऐसे स्थल प्रायः आ जाया करते हैं जहाँ व्यंग्यार्थों में से किसी एक का निश्चय करना

है। इसका अर्थ यह है कि उसके लाक्षणिक प्रयोगों का व्यंग्य बहुत कुछ नियत है। लक्षणा से एक व्यंग्य निकलने पर दूसरा व्यंग्य, फिर तीसरा व्यंग्य इस प्रकार अनेक व्यंग्य निकलते जाते हैं। एक साथ कई व्यंग्यार्थ सामने आकर प्रायः संदेह नहीं खड़ा करते।

घनआनंद ने मुहावरों के प्रयोग की पद्धति निश्चय ही फारसी की प्रेरणा से ग्रहण की है। पर फारसी के मुहावरों की योजना नहीं की, जैसा उर्दू वालों ने किया—फारसी के बहुत से मुहावरे चुपचाप देशी भाषा के रूप में उल्था करके रख दिए। उन्हीं की कृतियों की छानबीन करके उर्दू का कोश प्रस्तुत करनेवाले 'फरहंगे आसफिया' के संपादक इसी से उर्दू के मुहावरों को फारसी के मुहावरों का उल्था कहते हैं, यद्यपि उर्दू में भी सबके सब फारसी से उड़ाए हुए मुहावरे नहीं हैं। आजमगढ़ में ही यह सब होते देख स्वर्गीय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिंदी ज्ञान तिलमिला उठा और उन्होंने 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' से ही संतोष न कर 'बोलचाल' नाम की पुस्तक ही लिख डाली, जिसमें हिंदी के मुहावरों का संग्रह ही नहीं उनके प्रयोग द्वारा मार्मिक रचना भी की गई है। घनआनंद ने हिंदी के मुहावरों का प्रयोग करके, उसके चलते मुहावरों का विनियोग करके, जो चमत्कार उत्पन्न किया है और साथ ही जिस भावना तक सहृदय को पहुँचाया है वह स्थान स्थान पर दर्शनीय है—

रावरे पेट की बूझि परै नहीं रीझि पचाय कै डोलत भूखे।

एक ही उदाहरण से उनके प्रयोग की विशेषता स्पष्ट हो जाएगी। पेट की न बूझ पड़ना, पचाना और भूखे डोलना तीनों प्रयोग लाक्षणिक हैं। किसी के पेट की बात समझ में नहीं आ सकती जब उसके पेट में अन्य पेटों से विलक्षणता हो। यदि कोई निरंतर खाता हो और खाए को पचाकर भूखा फिरता हो तो अचरज होने की बात ही है। निरंतर खानेवाला यदि भूखा फिरता है तो उसकी पाचनशक्ति या तो बहुत अधिक है या उसे कोई रोग है। रोग होने पर उसका प्रभाव बाहरी अंगों पर स्पष्ट दिखाई देता है। वे पीले पड़ जाते हैं, रक्त नहीं बनता, मोटा होने के बदले वह दिन दिन दुबला होता जाता है, उसे भस्मक रोग से ग्रस्त समझना पड़ता है। प्रिय में ये लक्षण व्यक्त नहीं हैं इससे स्पष्ट है कि पाचन-शक्ति ही बढ़कर है। प्रिय रीझ पचाता चला जा रहा है। एक रीझ, दूसरी रीझ, तीसरी, चौथी

रीझों की परंपर उसके सामने आती है, वह पचाता जा रहा है। फिर भी उसकी बुभुक्षा शांत नहीं, नए नए प्रेमियों को खोजता फिरता है, एक की रीझें पचा गया, दूसरे की पचा गया, तीसरे की पचा गया। रीझ पचाने की कोई चीज नहीं है। कोई खाद्य नहीं है। अभिधेयार्थ बैठता नहीं, इसलिये पचाने का अर्थ '(रीझ से) प्रभावित न होना' करना पड़ता है। एक प्रेमी के रीझने से प्रभावित नहीं, दूसरे के रीझने से प्रभाबित नहीं। रीझ उसके मन पर कोई प्रभाव ही नहीं डालती। इसलिये 'पेट' का अर्थ 'मन' करना पड़ता है। भूखे डोलने का अर्थ 'नए नए प्रेमियों की रीझ की खोज में प्रवृत्त रहना' मानना पड़ता है। घनआनंद ने चलते मुहावरों से नित्य व्यवहार के प्रयोगों से, साधारण वाग्योगों से असाधारण कार्य साधन किया है। यहाँ अर्थपरपरा एक के अनंतर दूसरी आपसे आप निकलती है। आपके पेट अर्थात् मन की बात समझ में नहीं आती। क्यों नहीं समझ में आती? इसी से कि इस प्रकार का प्रभावग्रहणपराङ्मुख कदाचित् ही कोई मिले। इससे आप सहृदय नहीं हैं; असहृदय हैं, क्रूरस्वभाव हैं, वज्र-कठोर हैं। ऐसे निर्दय से प्रेम! अपना अभाग्य! अपने पास रीझ ही संपत्ति थी, उससे कुछ सिद्धि नहीं, अतः जीवन भर दुःख भोगना ही हाथ। इसी क्रम से अनेक अर्थ—एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा—निकलते रहते हैं।

प्रिय की बुभुक्षा का तो यह हाल, प्रेमी की बुभुक्षा का इससे भी विकट हाल। पूरा भस्मक रोग ही हो गया है—'देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की भसमी विथा पै नित लंघन करति हैं'। भस्मक रोग वह है जिसमें रोगी सामान्य भोजन का कई गुना करने लगता है। पर उसकी भूख शांत नहीं होती। वह नित्य दुबला होता जाता है। उसके शरीर में रक्त नहीं बनता। ऐसे रोगी से लंघन नहीं कराया जाता। भोजन देते हैं, औषध करते हैं। क्रमशः उसका रोग शांत होता है। लंघन करने से तो रोग असाध्य हो जाता है। यदि ऐसे को यह रोग हो जो बड़ा चटोर हो, पेटू हो तो रोग दुःसाध्य रहता है। पेटू भी कई प्रकार के होते हैं—साधारण और असाधारण। असाधारण पेटू के लिये तो भारी कठिनाई होती है। यहाँ आँखें केवल पेटनी, पेटू नहीं हैं, निपेटनी हैं, 'नितराम पेटू' हैं। फिर भी कभी कभी नहीं नित्य लंघन और रोग भस्मक! असाध्य स्थिति स्पष्ट हैं। 'भसमी' शब्द से ही भस्मक रोग का संकेत कर दिया गया है। कई शब्दों के अर्थ वाच्य से लक्ष्य-व्यंग्य आपसे आप हो जाते हैं। आँखें प्रियदर्शनेप्सु

हैं, अतिदर्शनेप्सा है उनमें, पर प्रिय के दर्शन कभी नहीं होते। विरह की दाहक स्थिति, भीषण जलन आँखों में। प्रिय के दर्शन के अंजन से कुछ लाभ हो सकता है, पर वह अप्राप्य। इसलिये अब आँखें रहें इसमें संदेह है। प्रियदर्शन ही से संतोष हो सकता है, पर वह भी दुर्लभ। प्रिय के रूप पर रीझा है प्रेमी, प्रेम का कारण रूपलिप्सा है। आँखों को हुए अधिक कष्ट से यह संकेत मिलता है। यहाँ 'भस्मी' शब्द से सहसा भस्मक रोग पर सबका ध्यान नहीं जा सकता, पर ध्यान न भी जाए तो पेट की भस्मी व्यथा, बुभुक्षा, भीषण बुभुक्षा अर्थ पर पहुँचने में कोई बाधा नहीं है। जहाँ तीखी बुभुक्षा पर ध्यान गया सारी योजना स्पष्ट है। केशवदास में कोई शब्द पारिभाषिक अर्थ से संबद्ध हुआ तो उस शास्त्र का ज्ञान बिना हुए अर्थ ही नहीं खुलेगा। घनआनंद में यह बात नहीं है। घनआनंद में जहाँ कोई पारिभाषिक शब्द भी आ पड़ा है वहाँ भी प्रसंगप्राप्त अर्थ बलात्कृत नहीं होता।

वाणी का प्रयोग जैसा यह कवि कर गया, कोई क्या करेगा! अपनी विरहवेदना की असीमता को न जाने कितने प्रकार से इन्होंने व्यक्त किया है। कहते हैं।—

जो दुख देखति हौं घनआनँद रैनि-दिना बिन जान सुतंतर।
जान वई दिन-राति बखाने तें जाय परै दिन-राति को अंतर॥

प्रिय के वियोग में जो कष्ट हो रहा है वह कष्ट, वह वेदना, कालावच्छिन्न है। जिस समय वह पीड़ा सही जा रही है उस समय जैसी व्यथा हो रही है, उसके अनंतर फिर किसी दिन या किसी रात में जब उसकी अनुभूति की जायगी तो वैसी अनुभूति नहीं हो सकेगी। जिस समय अनुभूति हुई उसी समय अनुभूति का वह प्रकृत रूप अनुभूत था। उसके अनंतर स्वयम् अनुभव करनेवाला भी चाहे तो उसका वैसा ही अनुभव नहीं कर सकता। स्मृति के समय उस विरहानुभूति का प्रकृत रूप कथमपि अनुभूत नहीं हो सकता। जिसका अनुभव ही पुनः नहीं किया जा सकता उसे बचनों के द्वारा कहना तो और भी कठिन है। करनेवाले को ही कहना हो तो भी वह कुछ कह सके। अनुभव हृदय में और कहना जीभ को। भला जीभ उसे क्या कह सकेगी? फलतः अनुभूत दशा और कथित रूप में दिन और रात का अंतर हो जाता है।

जहाँ अनुभूति की यह स्थिति हो उस मनुष्य के संयोग और वियोग को पतंग और मीन से मिलाना घनआनंद को असहृदयता जान पड़ती है। मनुष्य

चेतन प्राणी ही नहीं है, वह चेतन सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। सृष्टि के विकास में वह सबसे अंत में अपनी विकसित चेतना लेकर अवतीर्ण हुआ है। वह अपने लिये सुख के साधन एकत्र करने में ही अन्य प्राणियों से विशिष्ट नहीं है। दुःख के सहने में भी वह अन्यों से बहुत बढ़ा चढ़ा है। रीतिकाल के शास्त्रपरंपरानुयायी 'बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग की' को आदर्श मानते थे। घनआनंद ने इसी से इसका खंडन किया है—

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप-छटा न सम्हारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै।
घनआनँद कौन अनोखो दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरैं-मिलैं मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति कौं परसै॥

कहाँ तो 'बिछुरैं मिलैं मीन पतंग-दसा' को कोई आदर्श दशा, सबसे ऊँची दशा, मान रहा है। आदर्श वही होता है जहाँ तक सामान्यतया पहुँचा न जा सके। मीन और पतंग की साधना दूसरों की दृष्टि में चाहे जितनी ऊँची हो, पर घनआनंद की दृष्टि में वह इतनी नीची है कि मनुष्य की संयोग-वियोग-साधना का स्पर्श भी नहीं कर सकती, बराबर होना तो दूर, ऊँची होना असंभव। उसके लिये तर्क देते हैं कि मीन तो प्रिय से वियुक्त होते ही मरण में विश्रांति लेता है, पर मनुष्य प्रिय से वियुक्त होने पर उसके लिये बराबर तरसता रहता है। अन्यों ने अंतर यह समझ रखा है कि मीन प्रिय के वियोग में मर जाता है और मनुष्य मरता नहीं इसलिये उसका विरह घटकर है। स्थिति यह है कि विरही मरण से बढ़कर पीड़ा सहता रहता है और इस आशा में जीता है कि प्रिय से भेंट होगी। पर मीन तो मरा और सारे कष्टों से उसे छुट्टी मिली। उसमें पीड़ा के सहने की शक्ति नहीं, वह अशक्त विरही है। उसकी एवम् मनुष्य की क्या बराबरी। रहा पतंग। वह प्रिय के रूप को देखकर उसकी छटा से आकृष्ट होकर अपने को सँभाल नहीं पाता। इसलिये उसमें, दीपशिखा में, जाकर वह गिर पड़ता है। मीन विरह नहीं सँभाल पाता, पतंग रूपछटा नहीं सँभाल पाता। ऐसा उतावला मनुष्य नहीं होता। वह प्रिय के रूपतेज से तपता रहता है। फिर भी उसकी रूपछटा देखता रहता है और साथ ही आँसू बरसाता रहता है। उसके तेज से तपने और आँसू बरसाने से यह स्पष्ट है कि वह पीड़ा पा रहा है उसकी वेदना पतंग की वेदना से, जो उसे दीपशिखा में जलने से होती है, कहीं बढ़कर है। फिर भी वह रूपज्वाला में भस्म होकर शरीर का परित्याग नहीं

करता। मीन-जल की साधना भारतीय परंपरा का उदाहरण है और पतंग-दीप का प्रणय फारसी परंपरा का दृष्टांत है, शमा परवाना वहाँ प्रतीक हैं। दोनों को सामने रखकर घनआनंद ने मनुष्य की साधना का महत्व दिखाया है। परंपरा न भारतीय स्वीकृत की न अभारतीय, अपनी स्वच्छंदता के कारण। पर भारतीय आशावाद का परित्याग नहीं किया। मीन और पतंग की साधना में नैराश्य की झलक है। पर घनआनंद ने इस नैराश्य का ग्रहण नहीं किया। वे अन्यत्र कहते हैं—

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर-सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड मीत के पानि परे कों प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै॥

जल के अपर्याप्त होने पर मीन विवश हो जाता है। उसकी वह विवशता मनुष्य की आकुलता का क्या किंचिन्मात्र साम्य कर सकती है? कभी नहीं। प्रेम की साधना में प्राण का परित्याग करना कायरता का चिह्न है। इससे जल (प्रिय) को कलंक लगता है, मीन (प्रेम) को कलंक लगता है और उसके प्रेम को कलंक लगता है। मनुष्य विरहसाधना में इस प्रकार का कलंक किसी को नहीं लगने देना चाहता। मीन का प्रिय सच पूछिए तो जड़ है। न प्रिय प्रीति की रीति समझता है और न प्रेमी। जड़ की उपासना करने से मीन भी जड़ हो जाता है। परिणाम यह है कि प्रिय के हाथ में ही वह अपने को समर्पित किए रहता है, उसकी चेतनता प्रिय के जड़त्व में ही विलीन हो जाती है। इसी से वह केवल प्रिय को पाने में छटपटाता हुआ मर जाता है। उसके छटपटाने में क्या कष्ट है इसे जल न पहले समझता था और न उसके छटपटाकर मर जाने पर ही समझता है। पर मनुष्य के विरहजन्य कष्ट का अनुभव उसका प्रिय करता है। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि जैसी वेदना प्रेमी को हो रही है ठीक ठीक उसका अनुभव और कोई नहीं कर सकता, यदि उसकी ठीक अनुभूति किसी और को हो सकती है तो प्रिय को ही। प्रेम की अनुभूति करनेवाला, समान अनुभूति करनेवाला प्रिय यदि आकृष्ट न हो तो विरही के कष्ट का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मीन-जल और पतंग-दीप में एक पक्ष जड़, दूसरा पक्ष चेतन होने पर भी चेतन पक्ष वैसी चेतना का धारणकर्ता नहीं है जैसी मनुष्य

की होती है। इसलिये मनुष्य की प्रेमसाधना को इनकी प्रेमसाधना से मिलाना मनुष्य का अपमान करना है।

घनआनंद की प्रेमसाधना इसी लिये चरम साधना के रूप में प्रतिष्ठित है। उसकी चरम साधना सामान्य प्रेमप्रवाह से बहुत आगे है। विरह में मंजिष्ठा राग हो जाता है, प्रेम का पूरा परिपाक हो जाता है, या प्रेम का भोग न होने से वह राशीभूत हो जाता है—यह साहित्य परंपरा कहती चली आ रही है, पर वहाँ प्रेम की यह चरम साधना नहीं दिखाई देती जहाँ वियोग में ही नहीं संयोग में भी वियोग का अनुभव होता रहता है। 'यह कैसो सँजोग न बूझि परै कि बियोग न क्यौं हूँ बिछोहत है।' प्रिय के वियोग में ही नहीं संयोग में भी अशांति साथ नहीं छोड़ती। प्रिय के वियोग की आशंका संयोग में भी बनी रहती है। संयोग में भी वियोग का अनुभव! भक्ति संप्रदायों में प्रिय के क्षणभर के लिये कुंज में छिप जाने पर गोपिकाएँ जो अत्यंत व्याकुल दिखाई गई हैं वह इसी प्रेमसाधना या विरहसाधना के कारण। लौकिक दृष्टि से वह अनिवार्य है। घनआनंद इसी विरहसाधना की गाथा अपनी रचना में गाते रहे हैं। छायावादी रचना में जो पीड़ा का साम्राज्य दिखता है वह किधर का साम्राज्य है यह थोड़ा ध्यान देते ही स्पष्ट हो जाएगा। पर उस साम्राज्य को जैसा स्वकीय रूप घनआनंद ने दिया वैसा उसे छायावादी रचना में नहीं मिल सका। इसका कारण स्पष्ट है। भक्तिकाल के अनंतर रीतिकाल में सूफियों की निर्गुण भक्ति भारतीय सगुण-भक्ति में समा गई। जागतिक प्रेम की चरम सीमा पर पहुँचकर साधक निर्गुण की ओर न जाकर सगुण की ओर लौट पड़ा। पर छायावाद फिर से निर्गुण और अज्ञात के चक्कर में पड़ा। अपने लौकिक प्रेम के चरमोत्कर्ष को वह निर्गुण के प्रेम में वैसे ही छिपाने का प्रयास करने लगा जैसा सूफियों या फारसी उर्दू के शायरों में था। इसी से आलोचक विवश होकर कहते हैं कि "इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देख चाहे तो यह कहें कि इनकी मधुचर्या के मानस प्रसार के लिये रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही।" घनआनंद की रचना में दुराव छिपाव का प्रश्न ही नहीं है। वे तो जगत् के प्रेम के संबंध में राधा-कृष्ण के प्रेम की, प्रेम के महोदधि की चर्चा यों करते हैं—

प्रेम को महोदधि अपार हेरिकै बिचार
बापुरो हहरि वार हीं तें फिरि आयो है।
ताही एकरस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ
नेही हरि-राधा जिन्हैं देखें सरसायौ है।
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यौ कन
पूरि लोकलोकनि उमगि उफनायौ है।
सोई घनआनँद सुजान लागि हेत होत
ऐसे मथि मन पै स्वरूप ठहरायौ है॥

प्रेम का महोदधि ऐसा अपार है कि उसका पार पाना तो दूर विच (ज्ञान) इसी तट से, वार से ही, लौट आता है। ज्ञान या बुद्धि द्वा प्रेम के महासागर का पार पाना कठिन है। उस प्रेमसागर में प्रेम विवश होकर एकरस राधा और कृष्ण अवगाहन करते हैं। प्रेम का समुद्र उन्हें देखकर उसी प्रकार सरसाता है, बढ़ाता है, जिस प्रकार चंद्र देखकर सागर में तरंगें उठती हैं, ज्वार आता है। उस प्रेमसागर की तर का एक एक कण इतना विशाल है कि अनेक लोकों में जो प्रेम छा हुआ है वह भी उसके कण मात्र से कम है। वह कण स्वयम् ऐसा विश समुद्र है कि सारे लोकों में प्रेम को पूरित करने पर भी वह उफनाता रह है। उन लोकों की सीमा में न समा सकने के कारण वह उबरता है भूलोक में उसी कण का एक अंश है। जगत् के जितने प्रेम हैं उसी अंग हैं। घनआनंद और सुजान का प्रेम भी उसी कण के स्पर्श से हुआ है प्रेम के इस स्वरूप की कल्पना मन को मथकर की गई है। यहाँ जिस पर भाव या महाभाव के रूप में प्रेम की चर्चा की गई है वह भक्ति संप्रदाय की प्रेमसाधना का स्वरूप है। उस परम भाव के अंतर्गत सब प्रकार सत्ताएँ आ जाती हैं। भक्त भावात्मक या प्रेमात्मक सत्ता को ही परम भा मानते हैं। इसी से ज्ञान उसकी सीमा में प्रवेश नहीं कर पाता। यह प्रेम इस प्रेम की साधना साधारण नहीं—

चंदहि चकोर करै सोऊ ससि-देह धरै
मनसाहू ररै एक देखिबे कों रहै द्वै।
ज्ञानहूँ तें आठों जाकी पदवी परम ऊंची
रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै।

जान घनआनँद अनोखो यह प्रेमपंथ
भूले ते चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै।
बुरो जिन मानौ जौ न जानौ कहूँ सीखि लेहु,
रसना के छाले परैं प्यारे नेह-नाव छ्वै॥

ब्रह्म स्वयम् द्विधा होकर इस प्रेमसाधना में अवतीर्ण होता है। वह स्वयम् साधक बन जाता है, प्रेमी बन जाता है और प्रिय की ओर वैसे ही आकृष्ट होता है जैसे चंद्र की ओर चकोर। प्रेमसाधना इतनी ऊँची साधना है कि इसके लिये स्वयम् ब्रह्म को जीव का रूप धरकर उसमें लगना पड़ता है, लीला करनी पड़ती है। साध्य रहने में वह सुख या आनंद नहीं जो साधक बनने में है। यह परम भाव ज्ञान से आगे है, उसकी सीमा समाप्त हो जाने पर इसका आरंभ होता है। यह रसात्मक साधना है। इस साधना की विशेषता है कि जो सांसारिक विषय भोग में पड़े हुए हैं यदि कहीं इसकी ओर आकृष्ट हुए तो उन भोगियों का भोग इस महासागर में डूब जाता है। विषयी अपने विषयभोग का परित्याग इस में सहज ही कर देते हैं। यह राग की वह दिव्य भूमि है जहाँ पहुँच कर परम राग का उदय होता है और जगत् के साधारण राग उसके सामने नगण्य और तुच्छ दिखाई देते हैं। इसी से इस प्रेममार्ग की साधना विलक्षण बताई जाती है। जो इसमें अपने को सर्वात्मना लीन कर देते हैं वे ही इस मार्ग में चलते हैं। जिन्हें अपनी सुध-बुध बनी हो वे इसमें नहीं चल सकते। सुध-बुध ज्ञान से संबद्ध है। इस मार्ग पर ज्ञान का दखल है ही नहीं। इस प्रेममार्ग का नित्य लक्षण है परम संताप की साधना। इस प्रेम का नाम लेने पर ही जीभ में छाले पड़ जाते हैं। इसलिये कि विरह की वेदना का, परम ज्वालामयी वेदना का जीभ ने अनुभव किया कि वह संतप्त हुई। जहाँ प्रेम की चर्चा में ही यह स्थिति है वहाँ उसकी साधना करना, उसके मार्ग पर चलना कितना कठिन है केवल कल्पना से ही जाना जा सकता है। इसी से इस प्रेमसाधना का नित्य लक्षण है विरह। कुंज में जो गोपियाँ श्रीकृष्ण के छिपने पर व्याकुल होती हैं उसमें छिपने में कम से कम आँख से ओझल हो जाना तो स्पष्ट है। यदि यह बताया जाय कि राधा और कृष्ण के प्रेम की चरम सीमा भक्ति संप्रदाय की साधना इस रूप में मानती है कि प्रियाजू के निकट रहते हुए भी संयोग में वे यह अनुभव करने लगते हैं कि प्रिया वहाँ नहीं हैं और व्याकुल हो जाते हैं। स्वयम् प्रियाजू उन्हें बारंबार समझा-

चलेगा। किसी ने जान लिया कि अमुक विरही है इतने से ही तो विरही का कष्ट दूर नहीं हो सकता। जब जानकार में समानुभूति हो तो कदाचित् ऐसा कुछ हो सके। पर विरही की सी वेदना का अनुभव करनेवाला शीघ्र जगत् में मिलता नहीं। यदि ऐसा भी मिल जाए तो भी कठिनाई है। इसलिये कि यदि कोई सहानुभूति करनेवाला मिला तो वह समानुभूति करके रह जाएगा। पहले तो विरही कुछ कहता नहीं। 'इस वेदना में पड़े हम कष्ट झेल रहे हैं इससे हमें उबारो' यह भला कोई विरही क्यों कहने लगा, जब कि उसकी साधना मौन साधना है। अपनी ओर से उसके कष्टनिवारण का कोई प्रयास करे तो भी क्या ? उस कष्ट के निवारण का सामर्थ्य उसमें कहाँ से आएगा। पर हरि के नेत्रों में 'कृपा' के कान लगे होते हैं। वे पुकार सुनते ही नहीं, कष्ट दूर करने के लिए कृपा भी करते हैं। कृपा किसी आपन्न के प्रति की जानेवाली वह अनुकूलता है जो अयाचित हो। याचित अनुकूलता का नाम 'अनुग्रह' है। भरत राम से दोनों प्रकार की अनुकूलता पाने का उद्घोष तुलसीदास के मानस में यों करते हैं—

कृपा अनुग्रह अंबु अघाई।

राम ने याचित अनुकूलता ही नहीं दिखाई, जिसकी अपेक्षा थी उसे स्वयम् अयाचित भी कर दिया। कृपा की वारिधारा और अनुग्रह के वारिप्रवाह दोनों से भरत तृप्त हो गए। परिपूर्ण अनुग्रह और कृपा दोनों की प्राप्ति उन्हें हुई। 'ग्रह–ग्रहण–याचना' तब 'अनुग्रहण–अनुकूलता–प्रदर्शन'।

घनआनंद की कृति में रहस्यात्मक प्रवृत्ति की झलक सूफी भावना और फारसी-साहित्य की प्रेरणा से प्रस्तुत होने का प्रमाण उपस्थित करती है। पर रहस्य किस प्रकार सगुण-साधना में विलीन हो गया है इसका पता भी उनकी रचना स्थान स्थान पर देती है—

अंतर हौ किधौ अंत रहौ दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसो करौं हिय का विधि धीरौं।
जौ घनआनँद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरनी मैं धँसौं कि अकासहि चीरौं॥

घनआनंद की रचना की सारी विशेषताएँ भूमिका के छोटे आकार में नहीं बताई जा सकतीं, उनके लिये ग्रंथ की ही आवश्यकता है। प्रस्तुत ग्रंथ में

उनकी सारी विशेषताओं का सूक्ष्म और अनुसंधानवरिष्ठ उद्घाटन किया गया है। घनआनंद की विशेषताओं के उद्घाटन के कुछ लघुप्रयास इसके पहले भी हो चुके हैं। पर वे लघुप्रयास मात्र हैं। जितने ललितविस्तर से और जितनी अधिक विशेषताओं का उद्घाटन गौड़जी ने किया है वह हिंदी में घनआनंद की आलोचना का सर्वप्रथम महाप्रयास है। इस ग्रंथ और इस अनुसंधान के संबंध में भी कुछ 'वार्ता' है। मैं स्वयम् काशी विश्वविद्यालय में कभी अनुसंधाता था और मेरे निरीक्षक थे स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल मेरे अनुसंधान का विषय था—'अलंकारशास्त्र के परिवेश में भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन (साइकोलाजिकल स्टडी आव् इमोशंस इन दि लाइट आव् अलंकारशास्त्र)। अभी अनुसंधान की अवधि समाप्त भी नहीं हो पाई थी कि मुझे वहीं प्राध्यापक पद पर कार्य करने का अवसर मिल गया। जब तक मैं अपने अनुसंधान की परिसमाप्ति करूँ तब तक गुरुदेव दिवंगत हो गए। किसी कोने से टीका-टिप्पनी हुई कि यह विषय हिंदी साहित्य से कम, संस्कृत साहित्य से अधिक और मनोविज्ञान से विशेष सबद्ध है। इससे समीक्षा के परितोषार्थ मैंने विषय का परिवर्तन कर दिया। इस बार मेरे अनुसंधान का विषय हुआ 'मध्यकालीन स्वच्छंद काव्यधारा' (रोमांटिक स्कूल आव् मिडीवल एज)। यह विषय और इसकी संक्षिप्त विषयसूची भी विश्वविद्यालय की अनुसंधान समिति से स्वीकृत हो गई। इस सिलसिले में 'स्वच्छंद काव्यधारा' के कवियों के ग्रंथों का आलोड़न करते करते उनके संपादन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। उसमें लग जाने से अतिकाल हो गया और गुरुकल्प सभी मनीषी दिवंगत हो गए। गौड़जी जब अनुसंधान में प्रवृत्त हुए तो मैंने 'घनआनंद' पर अन्वेषण करने का सुझाव दिया। जब उनके परामर्शदाताओं की मुखमुद्रा इतने मात्र से सुमुखता को नहीं हुई तो उसके साथ 'मध्यकालीन स्वच्छंद काव्यधारा' और जोड़ लेने का प्रस्ताव किया गया। मेरा विषय डी० लिट्० के लिये स्वीकृत था। पर गौड़जी को नियम के परिपालन से प्रस्तुत प्रबंध के महाप्रयास पर भी पी-एच्० डी० की ही उपाधि मिली। 'उपाधि' की अधिक चर्चा बेकार है।

मैं घनआनंद पर आलोचना लिखने के लिये प्रतिश्रुत था, 'घनआनंद—ग्रंथावली' की भूमिका में स्पष्ट लिख चुका हूँ। गौड़जी ने यह भी कर दिया—मनोहर, गवेषणा की गरिमा से गुरु। यहीं यह बतला देना भी आवश्यक है कि यह ग्रंथ मुद्रित होकर भी मेरे आमरे समयातिक्रांति करता

रहा। एतदर्थ क्षमार्थी हूँ। अंत में इतना ही कहना है कि यदि अब मैं घनआनंद की पृथक् समीक्षा न भी प्रस्तुत करूँ तो भी दोष का भागी न रहूँगा। गौड़जी को धन्यवाद और बधाई।

वाणीवितान, भवन,
ब्रह्मनाल, वाराणसी।
स्वच्छंदता दिवस, १९५८

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

विषयानुक्रमणी

	पृष्ठ
पहला परिच्छेद : जीवनवृत्त, समय और सुजान	१–५०
जीवनवृत्त	१
स्थान	१५
स्वभाव	१७
चित्रपरीक्षा	१८
समय	१९
नाम	२६
घनआनंद या आनंदघन	२६
आनंद और आनंदघन	३२
जैन धर्मी आनंदघन	३३
नंद गाँव के आनंदघन	३६
नानक के टीकाकार आनंदघन	३६
आनंदघन और व्रजनाथ	३७
सुजान	३८
दूसरा परिच्छेद : रचनाओं का विवरण	५१–९५
इतिहास तथा रचनाओं का विवरए	५१
'घनआनंद और आनंदघन'	५५
'घनआनंद ग्रंथावली'	६१
कवित्त सवैयों का संख्यानुसारी विषय विभाजन	६३
पदों का संख्यानुसारी विषय विभाजन	६४
निबंध रचनाओं का विवरण	६५
कर्तृत्व तथा शीर्षक परीक्षा	७६
रचनाओं के परस्पर साम्य	८४
परिच्छेद : भाषा, लक्षणा, मुहावरे तथा व्याकरण	९६–१४३
भाषा	९६
लक्षणा	१०७
मुहावरे	१२७

व्याकरण

चौथा परिच्छेद : शैली, छंद, अलंकार और दोष

भाषाशैली
भावप्रधानता
भावों की अतिरंजना
रहस्यवाद
उक्ति की वक्रता
अचेतन में चेतनत्वारोप
नाम का प्रयोग
आत्मनिवेदन
छंदों का विधान—छंद और कविता
छंद और रस
उत्पत्ति
सवैयों का स्वरूप
घनाक्षरी
सुमेरु
अरल्ल
ताटंक
निसानी
शोभन
त्रिभंगी
अलंकार योजना
दोष

नवाँ परिच्छेद : स्वच्छद काव्यधारा

काव्यप्रवृत्ति
अँगरेजी साहित्य में शास्त्रीय एवं स्वच्छंद
काव्यधाराएँ—निरुक्ति और लक्षण
परिस्थितियाँ
'क्लासिकल' अथवा शास्त्रीय मार्ग
दृष्टिकोण

	पृष्ठ
स्वच्छंद काव्यधारा––लक्षण	२०६
भारतीय साहित्य में स्वच्छंद धारा––वैदिक साहित्य	२१०
संस्कृत साहित्य	२११
जनपद भाषाओं का साहित्य	२१३
हिन्दी साहित्य––वीरगाथाकाल	२१५
भक्तिकाल	२१५
रीतिकाल––कवियों का श्रेणीभेद	२१७
भावधाराएँ	२१८
रीतिकाल में शृंगार के विविध प्रयोग	२२५
वख्शी हंसराज और स्वच्छंद धारा	२२६
द्विजदेव और स्वच्छंद धारा	२२७
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और स्वच्छंद धारा	२२८
समाहार	२३०
स्वच्छंदधारा की विशेषताएँ	२३१
घनआनंद की काव्य प्रवृत्ति––काव्यादर्श	२३६
व्रजनाथ के काव्यादर्श	२४२
विदेशी स्वच्छंदधारा तथा आनंदघन	२४४
आनंदघन की स्वच्छंद प्रवृत्ति के अन्य गुण	२४६
स्वच्छंद मार्ग का प्रेरकहेतु	२५१
रसखान के काव्य में स्वच्छंद मार्ग	२५४
आलम के प्रेम का स्वरूप तथा स्वच्छंद काव्यधारा	२५९
बोधा कवि की स्वच्छद काव्य प्रवृत्ति	२६४
कवि ठाकुर की काव्य शैली और मार्ग	२६७
छठा परिच्छेद : रस, भाव तथा अंतर्दशाएँ	**२७८–३१७**
शृंगार रस की परंपरा	२७८
शृंगार और भक्ति	२८७
घनानंद के काव्य में संयोग का स्वरूप	२८८
वियोग का स्वरूप	३०१
परंपरा	३०३
मनोवैज्ञानिक हेतु	०४
भेद	०६
अंतर्दशाएँ	१०

पृष्ठ

सातवाँ परिच्छेद : प्रेमतत्त्व ३१८–३५५
प्रेम शब्द की निरुक्ति ३१८
लक्षण ३१८
प्रेम के आठ गुण ३२३
प्रेम और भक्ति ३२७
साधना ३२९
प्रेम की विषमता ३३१
घनानंद के प्रेम का स्वरूप ३३४
रीतिकालीन प्रेम और आनंदघन का प्रेम ३४५
भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में विकास ३४९
भौतिक प्रेम के आध्यात्मिक रूप में विकसित होने की प्रेरणा ३५१

आठवाँ परिच्छेद : भक्तिरस ३५६–४१७
आवश्यकता ३५६
स्वरूप ३५७
लक्षण ३५७
भक्ति की प्रेरक भावनाएँ ३६०
भक्ति के भेद ३६३
मधुर रस का वर्णन ३८०
भगवत्कृपा ४०८
जीवन्मुक्त भक्त की अनुभूतियाँ ४११
घनानंद का भक्ति दर्शन ४१४

नवाँ परिच्छेद : दर्शन और संप्रदाय ४१८–४४४
पृष्ठभूमि ४१८
आनंदघन का संप्रदाय ४२६
आनंदघन के दार्शनिक विचार ४३५

दसवाँ परिच्छेद : ४४५–४५५
आ[illegible]-प्र[illegible]न ४४५
नानंद का हिंदी साहित्य में स्थान ४५३

"घनानंद और रीति-काव्य

को

स्वच्छंद काव्य-धारा"

पहला परिच्छेद

(जीवनवृत्त, समय और सुजान)

१—जीवनवृत्त

कविवर आनंदघन जी का जीवनवृत्त उनकी कविता की भाँति गूढ़ एवं रहस्यमय सा है। निश्चित और शृंखलाबद्ध जीवनी कहीं भी प्राप्त नहीं होती है। इधर उधर बिखरी किंवदंतियों तथा प्रमाणों को संकलित कर कवि के जीवनवृत्त का निर्णय करना पड़ता है।

सब से पहले गदार्दतासी के 'इस्त्वार दल लितरेत्यूर एँ ऐंदुस्तानी' में जिसका हिंदी-साहित्य-संबंधित अंश डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा 'हिंदुई साहित्य का इतिहास' नाम से अनूदित हुआ है, 'आनंद' नाम के एक कवि का उल्लेख मिलता है। इसके विषय में इतिहासकार का कथन है कि यह लोकप्रिय गीतों का रचयिता था और उसके कुछ पद्य डब्ल्यू० प्राइस द्वारा 'हिंदी ऐंड हिंदुस्तानी सेलेक्शंस' नामक पुस्तक में संगृहीत हुए थे। इस उल्लेख से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आनंद नाम का व्यक्ति आनंदघन ही है या अन्य कोई। लोकप्रिय गीतों की रचना आनंदघन की पदावली हो सकती है। पर यह सब अनुमान मात्र है।

इसके अनंतर महादेवप्रसाद ने अपने साहित्यभूषण में आनंदघन का संतोषजनक मात्रा में विवरण दिया था। पर वह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। उसको आधार मान कर सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने 'मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान' में इनका विवरण दिया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ठा० शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' का भी उपयोग किया था। दोनों के प्रमाण पर आनंदघन का विवरण देते हुए ग्रियर्सन ने इन्हें जाति का कायस्थ तथा बादशाह बहादुरशाह का मुंशी बताया है। मृत्यु से पूर्व ये कार्यमुक्त होकर वृंदावन चले गए थे और वहीं नादिरशाह के मथुरा आक्रमण में मारे गए। ग्रियर्सन ने कोकसार के लेखक आनंदघन को, जिसका समय सरोज के अनुसार सन् १६५४ है, इनसे अभिन्न माना है। साथ ही यह भी लिखा है कि ये ही कभी कभी अपना नाम घनआनंद लिखते थे।[२]

१—हिंदुई साहित्य का इतिहास, पृ० ६

२—ए माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, पृ० ५०६

शिवसिंह सरोज ने घनानंद और आनंदघन दो कवि दिए हैं। आनंदघन के नाम से दो सवैये उद्धृत किए हैं। एक तो "आपुहि ते तन हेरि हँसे तिरछे करि नैनन नेह के चाउ में," से आरंभ होता है। यह सवैया 'घन-आनंद ग्रंथावली, के प्रकीर्णक भाग में २६ वां पद्य है। दूसरा सवैया यह है—

जैहै सबै सुधि भूलि तुम्हें फिरि भूलनि मो तन भूलि चितै है।
एक को आँक बनावत मेटत पोथिय काँख लिए दिन जै है।
साँची हौ भाषति मोहि कका की सों प्रीतम की गति तेरी हू ह्वै है।
मोसों कहा इठलात अजासुत कैहौं ककाजी सों तोहूं सिखैहै॥

× × × ×

यह पद्य आनंदघन की अब तक की प्राप्त रचनाओं में नहीं मिला, और नाहीं इसमें कवि का कहीं नाम है। साथ ही आनदघन की सी भाषाशैली या भावशैली भी इसमें नहीं है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का इस विषय में विश्वास है कि यह प्रसिद्ध कवि केशव की पुत्र-वधू की रचना है। उन्होंने जब विज्ञानगीता और प्रबोधचंद्रोदय का भाषानुवाद किया तो उनके सुपुत्र यौवनावस्था में ही वेदांत-विरक्त हो गए। इसपर उनकी युवती भार्या ने बकरे को संबोधित कर अपने पति की विरक्तावस्था का परिचय श्वसुर महोदय को कराया था। सरोज ने आनंदघन को दिल्लीवाले लिखा है।

घनआनंद को पृथक कवि मानते हुए उनके नाम से यह सवैया उद्धृत किया है—

गाइहौं देवी गनेस महेस दिनेसहि पूजत ही फल पाइहौं।
पाइहौं पावन तीरथ नीर सु नेकु जहीं हरि कों चित लाइहौं।
लाइहौं आछे द्विजातिन कों अरु गोधन दान करों चरचाइहौं।
चाइ अनेकन सों सजनी घनआनंद मीतहि कंठ लगाइहौं॥

× × ×

इसमें घनआनंद का नाम है पर सवैया की शैली आनंदघन कवि की शैली से नहीं मिलती। अतः श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का तो यही विश्वास है कि यह पद्य भी किसी रीति कवि का है, जो क्रियाविदग्धा नायिका की उक्ति में लिखा गया है। पर ऐसी कोई विशेष बात भी इस पद्य में नहीं दीखती जिसके कारण यह घनआनंद का न हो सके। सवैया अलंकार शैली से लिखा गया है। घनआनंद भी अपनी प्रारंभिक अवस्था में रीतिपरंपरा

के अनुयायी थे। उनके इस शैली के अनेकों पद्य संग्रह में विद्यमान हैं। अस्तु। इस पद्य के उनके होने या न होने से विशेष अंतर नहीं पड़ता। सरोजकार ने इनका समय संवत् १७१५ माना है।[१] साथ ही लिखा है कि कालिदास-हजारा में इनके पद्य देखने को नहीं मिलते। कालिदासहजारा संवत् १७४६ में पूर्ण हो गया था।

महाराजा श्री रघुराजसिंह जू देव ने अपने 'भक्तमाल' में (संवत् १९००–१९३६) घनआनंद के जीवन वृत्त का अपेक्षाकृत विस्तृत विवरण दिया है और अपने कथन का आधार मथुरा को जनश्रुति बताई है।

घनानंद की कथा अनेका। व्रज में विदित अहै सविवेका ॥
घनआनंद के विपुल कवित्ता। अबलौं हरत कविन के चित्ता ॥

विवरण इस प्रकार है। दिल्ली का कोई शाहजादा मथुरा में आया था। पर मथुरियों ने जूतों की माला पहना कर उसका सत्कार किया। इस पर वह अत्यधिक कुपित हुआ और दिल्ली से उसने अपनी सेना बुला ली। सेना ने मथुरावासियों को मारा काटा। जब यह मार काट हो रही थी तो घनानंद वशीवट में बैठे भगवान की भावना सखी भाव से कर रहे थे। उनके हाथ में पान का बीड़ा था। खाने ही वाले थे कि भगवान के रास-विलास का ध्यान आ गया और उसी में लीन हो गए। बीड़ा हाथ में ही लगा रहा। भावना में ही लीन रहते उन्हे दिन और रात बीत गए। गिरधारी श्रीकृष्ण ने भावना के बीच में ही स्वयं आकर अपना हाथ फैला कर वह बीड़ा घनानंद के मुख में लगा दिया। इस बीड़ा से जो मुखराग हुआ था वह सब ने देखा था।

'सोइ बीरी मुख मेलिगौ लगे मुराबन सोइ।
सोइ बीरी की रागमुख प्रगट लख्यौ सब कोइ।'

ऐसे साक्षाद्धर्मा महात्मा को भी यवनों ने तलवार से काट डाला पर घनानंद जी के प्राण नहीं निकले। इस समय उन्होंने स्वयं भगवान से प्रार्थना की कि हे नंदकुमार और किस लिये मुझे संसार में जीवित रखते हो, क्यों नहीं बुलाते हो।

'कौन हेतु राखै संसारा। क्यों न बुलावै नंदकुमारा ॥'

प्रार्थना के बाद यवनों से कहा कि इस वार फिर तलवार मारो। अब की बार मेरा सिर अवश्य कट जावेगा। यवनों ने ऐसा ही किया। घनानंद

१—शिवसिंह सरोज, सप्तम संस्करण, पृ० ३८०

शिवसिंह सरोज ने घनानंद और आनंदघन दो कवि दिए हैं। आनंदघन के नाम से दो सवैये उद्धृत किए हैं। एक तो "आपुहि ते तन हेरि हँसे तिरछे करि नैनन नेह के चाउ में," से आरंभ होता है। यह सवैया 'घनआनंद ग्रंथावली' के प्रकीर्णक भाग में २६ वां पद्य है। दूसरा सवैया यह है—

जैहै सबै सुधि भूलि तुम्हें फिरि भूलनि मो तन भूलि चितै है।
एक को आँक बनावत मेटत पोथिय काँख लिए दिन जै है।
साँची हौ भाषति मोहि कका की सों प्रीतम की गति तेरी हू ह्वै है।
मोसों कहा इठलात अजासुत कैहौं ककाजी सों तोहूं सिखैहै॥

× × × ×

यह पद्य आनंदघन की अब तक की प्राप्त रचनाओं में नहीं मिला, और नाहीं इसमें कवि का कहीं नाम है। साथ ही आनंदघन की सी भाषाशैली या भावशैली भी इसमें नहीं है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का इस विषय में विश्वास है कि यह प्रसिद्ध कवि केशव की पुत्र-वधू की रचना है। उन्होंने जब विज्ञानगीता और प्रबोधचंद्रोदय का भाषानुवाद किया तो उनके सुपुत्र यौवनावस्था में ही वेदांत-विरक्त हो गए। इसपर उनकी युवती भार्या ने बकरे को संबोधित कर अपने पति की विरक्तावस्था का परिचय श्वसुर महोदय को कराया था। सरोज ने आनंदघन को दिल्लीवाले लिखा है।

घनआनंद को पृथक कवि मानते हुए उनके नाम से यह सवैया उद्धृत किया है—

गाइहौं देवी गनेस महेस दिनेसहि पूजत ही फल पाइहौं।
पाइहौं पावन तीरथ नीर सु नेकु जहीं हरि कों चित लाइहौं।
लाइहौं आछे द्विजातिन कों अरु गोधन दान करों चरचाइहौं।
चाइ अनेकन सों सजनी घनआनंद मीतहि कंठ लगाइहौं॥

× × ×

इसमें घनआनंद का नाम है पर सवैया की शैली आनंदघन कवि की शैली से नहीं मिलती। अतः श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का तो यही विश्वास है कि यह पद्य भी किसी रीति कवि का है, जो क्रियाविदग्धा नायिका की उक्ति में लिखा गया है। पर ऐसी कोई विशेष बात भी इस पद्य में नहीं दीखती जिसके कारण यह घनआनंद का न हो सके। सवैया अलंकार शैली से लिखा गया है। घनआनंद भी अपनी प्रारंभिक अवस्था में रीतिपरंपरा

के अनुयायी थे। उनके इस शैली के अनेकों पद्य संग्रह में विद्यमान हैं। अस्तु। इस पद्य के उनके होने या न होने से विशेष अंतर नहीं पड़ता। सरोजकार ने इनका समय संवत् १७१५ माना है।[१] साथ ही लिखा है कि कालिदास-हजारा में इनके पद्य देखने को नहीं मिलते। कालिदासहजारा संवत् १७४६ में पूर्ण हो गया था।

महाराजा श्री रघुराजसिंह जू देव ने अपने 'भक्तमाल' में (संवत् १९००—१९३६) घनआनंद के जीवन वृत का अपेक्षाकृत विस्तृत विवरण दिया है और अपने कथन का आधार मथुरा की जनश्रुति बताई है।

घनानंद की कथा अनेका। व्रज में विदित अहै सविवेका॥
घनआनंद के विपुल कवित्ता। अबनौं हरत कविन के चित्ता॥

विवरण इस प्रकार है। दिल्ली का कोई शाहज़ादा मथुरा में आया था। पर मथुरियों ने जूतों की माला पहना कर उसका सत्कार किया। इस पर वह अत्यधिक कुपित हुआ और दिल्ली से उसने अपनी सेना बुला ली। सेना ने मथुरावासियों को मारा काटा। जब यह मार काट हो रही थी तो घनानंद वंशीवट में बैठे भगवान की भावना सखी भाव से कर रहे थे। उनके हाथ में पान का बीड़ा था। खाने ही वाले थे कि भगवान के रास-विलास का ध्यान आ गया और उसी में लीन हो गए। बीड़ा हाथ में ही लगा रहा। भावना में ही लीन रहते उन्हे दिन और रात बीत गए। गिरधारी श्रीकृष्ण ने भावना के बीच में ही स्वयं आकर अपना हाथ फैला कर वह बीड़ा घनानंद के मुख में लगा दिया। इस बीड़ा से जो मुखराग हुआ था वह सब ने देखा था।

'सोइ बीरी मुख मेलिगौ लगे मुराबन सोइ।
सोइ बीरी की रागमुख प्रगट लख्यौ सब कोइ।'

ऐसे साक्षाद्धर्मा महात्मा को भी यवनों ने तलवार से काट डाला पर घनानंद जी के प्राण नहीं निकले। इस समय उन्होंने स्वयं भगवान से प्रार्थना की कि हे नंदकुमार और किस लिये मुझे संसार में जीवित रखते हो, क्यों नहीं बुलाते हो।

'कौन हेतु राखै संसारा। क्यों न बुलावै नंदकुमारा॥'

प्रार्थना के बाद यवनों से कहा कि इस बार फिर तलवार मारो। अब की बार मेरा सिर अवश्य कट जावेगा। यवनों ने ऐसा ही किया। घनानंद

१—शिवसिंह सरोज, सप्तम संस्करण, पृ० ३८०

जी का सिर धड़ से पृथक हो गया। मरते समय उनके शरीर से रक्त नहीं निकला।

'घनग्रानंद तन कढ्यौ न लोहू, सो चरित्र लखि परयौ न कोऊ,' इस विवरण से दो बातों का पता लगता है। एक तो आनंद सखी भावना के भक्त थे, दूसरे इनकी मृत्यु यवनों के हाथ से हुई। श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने भक्तमाल के इस किवदंती मूलक विवरण के आधार पर कवि के समय का निर्धारण करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार शाहजादे का मथुरा में अपमान होने की घटना औरंगजेब के समय की है और उसका सबंध या तो औरंगजेब से या फिर उसके मथुरास्थित फौजदार मुर्शिदकुलीखाँ तुर्कमान अथवा अबुलनबीखाँ के साथ घट सकती थी। मुर्शिदकुलीखाँ बड़ा अत्याचारी शासक था। उसके विषय में मसीरुल उमरा नामक पुस्तक में लिखा है कि—

'कृष्ण के जन्य समय पर मथुरा से जमुना के दूसरे पार गोबर्धन पर हिंदू पुरुषों और स्त्रियों का भारी जमाव होता है। खान धोती पहन कर और माथे पर तिलक लगा कर हिंदू की सूरत मे वहाँ घूमा करता। जहा उसने किसी चांद को लजानेवाली खूबसूरत औरत को देखा कि वह बाघ की तरह लपका और पहले से ही जमना मे खड़ी नौका पर बैठ कर आगरे की ओर भाग गया। औरत के रिश्तेदार शर्म के मारे प्रकट नहीं करते थे कि उनके साथ क्या हुआ।'

ऐस शासकों के साथ प्रजा का दुर्व्यवहार होना संभव है। फलतः यह घटना सन् १६६० के आस पास घट सकती है आदि। इसी समय घन-आनंद की मृत्यु हुई होगी, ऐसा अनुमान श्री शंभुप्रसाद बहुगुना का है। उन्होने ना० प्र० सभा की सन् १९१७, १८ की 'प्रीतिपावस' की खोज रिपोर्ट को अपनी बात के पोषण में उपस्थित किया है, जिसमें 'प्रीतिपावस' का समय सन् १६५८ अनुमान किया गया है। बहुगुना जी ने यह सब क्लिष्ट कल्पना व्यर्थ ही की है। आनंदघन की मृत्यु का समय तो निश्चित रूप में प्रमाणांतरों से प्राप्त होता है जो इसके अनंतर का है। इसे हम आगे देखेंगे।

जीवन के संबंध में ही इससे और अधिक विकृतरूप में आनंदघन जी के विषय में गोस्वामी श्री राधाचरण जी ने अपने एक छप्पय में लिखा है। छप्पय इस प्रकार है—

दिल्लीश्वर नृप निमित एक धुरपद नहिं गायौ।
पै निज प्यारी कहे सभा को रीझि रिझायौ॥
कुपित होय नृप दिए निकास वृंदाबन आए।
पर सुजान सुजान छाप पद कबित बनाए॥
'नादिरशाही ब्रज रज मिले कियन नेकु उच्चार मन।
हरि भक्ति बेलि सिंचन करो घनआनंद आनंदघन॥

कवि के साथ सुजान का संबंध था। उसके प्रेम के कारण दिल्ली से उसके निर्वासन की बात स्पष्टरूप से गोस्वामी राधाचरण जी ने ही सब से पूर्व लिखी है। औरों ने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह उन्हीं के अनुकरण पर। राधाचरण जी के अनुसार दिल्लीश्वर नृपति के लिये जो ध्रुपद नहीं गाया वह नृपति कौन था—यह स्पष्ट नहीं होता। दूसरे सुजान छाप से पद और कबित्त दोनों बनाने की बात इसमें कही गई है। वास्तव में जो पदावली इनकी उपलब्ध हुई है, उसमें सुजान छाप नहीं है। वह केवल कवित्तों में ही है,। तीसरी विशेष बात यह सुस्पष्ट होती है कि कवित्त और पदों का रचयिता एक ही है, दो नहीं। इसी के प्रसंग में छप्पय के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जो प्रेमी 'घनआनंद आनंदघन' था उसी ने हरिभक्ति बेलि का सिंचन किया, अर्थात् प्रेमी कवि ही बाद में भक्त बन गया था। आनंदघन ने अपने नाम के रूपक आनंद के घन को लेकर जैसे समस्त कविता की रचना की है उसी की ओर छप्पय की अंतिम पंक्ति संकेत करती है। 'हरि भक्ति बेलि सिंचन करी घनआनंद आनंदघन' इस प्रकार गोस्वामी जी के पद में भले ही सन् संवत का उल्लेख नहीं है पर कवि के जीवन की प्रमुख घटना का स्पष्ट उल्लेख है और चार निश्चित संकेत इनके विषय में प्राप्त होते हैं। श्री वियोगीहरि ने अपने 'कवि कीर्तन' में (संवत् १९८०) इसी विषय में एक पद्य लिखा था जिसका आधार गोस्वामी राधाचरण जी का ही छप्पय था।[१]

पद्य इस प्रकार है।

घनआनंद सुजान जान को रूप दिवानो
वाही के रँग रँग्यौ प्रेम फंदनि अरुझानो

१—वियोगीहरि ने ब्रजमाधुरीसार में स्पष्ट लिखा है कि आनंदघन जी की जीवनी के संबंध में किसी पुस्तक में कोई संतोषजनक वृत्त नहीं मिला। थोड़ा वृत्तांत जो ऊपर लिखा गया है वह हमें पं० राधाचरण गोस्वामी द्वारा प्राप्त हुआ है।

बादशाह के हुक्म पाय नहिं गायौ इक पद
छप्पै सुजान चे कहे चाव सों गाए ध्रुपद
× × ×
बादशाह ने कोपि राज्यतें याहि निकारयौ
बृंदाबन में आय बेष वैष्णव को धारयौ
× × ×
प्यारे मीत सुजान जान सों नेह लगायौ
लगन बान तें बिंध्यौ विरह रस मंत्र जगायो[1]
× × ×

इसके साथ ही नीचे फुटनोट दिया है। सुजान एक वेश्या थी, विरक्त वैष्णव होने पर घनानंद जी ने सुजान के नाम को श्रीकृष्ण पर घटाया और अपने प्रत्येक छंद में सुजान के नाम जोड़ कर अपनी प्रेमपरता का पूर्ण परिचय दिया। 'वेष वैष्णव को धारयौ' पर नोट दिया है 'निबार्क संप्रदाय के वैष्णव'। विशेष बात जानने के लिये व्रजमाधुरीसार का संकेत किया है जिसमें विशेष वृत्तांत इतना ही अधिक है कि यहाँ कवि का जन्म संवत् १७४६ वि० माना है।

इस तरह आनंदघन जी के जीवन के विषय में निश्चित वृत्तांतों का स्रोत रघुराजसिंह जू की भक्तमाल और राधाचरण गोस्वामी का छप्पय है। दोनों स्रोत किंवदंती पर ही आधारित है, किसी ऐतिहासिक प्रमाण पर नहीं। भक्तमाल में तो किंवदंती का स्पष्ट उल्लेख किया भी है।

श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने अपनी पुस्तक 'घनआनंद' में एक और किंवदंती का उल्लेख किया है कि महाराज सूरजमल के दरबार में देव तथा घनआनंद का वादविवाद इस बात पर कभी हुआ कि दोनों में से किस की कविता श्रेष्ठ है।[1] घनानंद जी ने देव को उत्तर दिया कि आप जग बीती कहते हैं मैं आप बीती कहता हूँ।[2] घनआनंद और देव की भेंट तो संदिग्ध ही है। इस प्रकार की बातें अन्य कवियों के विषय में भी सुनी जाती हैं।

१—कवि कीर्तन—प्रथम संस्करण, पृ० ३३-३४,

२—बहुगुना जी ने इस किंवदंती को माधुरी कार्तिक विक्रमी सं० १९८१ सन् १९२४ में भवानीशंकर यादिक लखनऊ के लेख पर पं० मदनलाल जी मिश्र की टिप्पणी पृ० ५३४ से लिया है।

जैसे पद्माकर और ठाकुर कवि का अपनी अपनी कविता पर वाद विवाद हिम्मतबहादुर के यहाँ सुना जाता है। पद्माकर ने ठाकुर कवि को कहा कि तुम्हारी कविता हल्की है तो ठाकुर ने उत्तर दिया कि इसलिये यह उड़ी उड़ी फिरती है। ऐसी किंवदंतियां में साहित्यिक आलोचना को सजीवता प्रदान करने के लिये घटना की कल्पना कर ली जाती है। यथर्थितः घटना सत्य नहीं होती। ऐसी ही बात इस किंवदंती के विषय में प्रतीत होती है, अस्तु।

आनंदघन जी के जीवन से संबंधित यह किंवदंती ही एक मात्र प्रमाण है। पर 'नामूलातु जनश्रुति:' के अनुसार किंवदंतियों में थोड़ा बहुत सार सभी में रहता है। इसे तो दो प्रमाणों ने, जिसमें से एक इनकी रचनाओं के अंतः-साक्ष्य से प्राप्त हुआ है और दूसरा भडौवा छंद है, और अधिक विश्वसनीय बना दिया है। आनंदघन जी को किंवदंती में निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित बताया जाता है। यही उनकी रचनाओं से पूर्णतया प्रमाणित हो गया है कि वे निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत सखीभाव के उपासक थे।[1] सुजान नाम की कोई वेश्या थी और उससे आनंदघन का प्रेम हुआ इसका साक्ष्य 'जस कवित्त' नामक ग्रंथ से प्राप्त हुए आनंदघन संबंधी चार भडौवा छंद करते हैं। जस कवित्त ग्रंथ संवत् १८१२ वि० का लिखा हुआ है, इसलिये उनके छंदों को कवि के समकालीन होने से प्रामाणिक मानना चाहिए। भडौवा छंद मान्यवर पं० श्री भवानीशंकर याज्ञिक लखनऊ से लेखक को प्राप्त हुए हैं।

छंदों के पूर्व में लिखा है।

'कायथ आनंदघन महा हरामजादा हो। सु ब्रज की कटा में आयो। परंतु अपजस वाकी थिर है। ताको वर्णन।

(१)

कबहूँक खुजावत में छुटती तिहि आनंद कों तब हौं भरतौ।
तब रेंगतो कोहुक अंगन पै निज देह तिही रस सों भरतौ।
कहूँ चौंकि कै मागिन जो गहती तब हौं उन हाथन सों मरतौ।
वह ईस कहूँ घनआनंद कों जु सुजान-इजार की जूँ करतौ॥

१—विशेष विवरण संप्रदाय के प्रसंग में देखिए।

(२)

करै गुरु निंदा वह हुरकिनी की बंदा महा,
निरधिनी गंदा खात पानीर औ नान है।
बैन को चुरावै वाको मजमून लावै कूर,
कविता बनावै गावै रिजौली सी तान है।
सुरा-घट-सोखी देह मांस ही सों पोखी, विप्र
गैयन को दोषी रूप धरे अभिमान है।
पाप को भवन, करै अगम गमन ऐसो,
मुड़िया आनंदघन जानत जहान है।

(३)

डफरी बजावै डोम ढाढी सम गावै, काहू
तुरकै रिझावै तब पावै झूठौ नाम है।
हुरकिनी सुजान तुरकिनी को सेवक है
तजि राम नाम वाकों पूजै काम धाम है।
× × × ×
[illegible]हा ज्यौं लगाम जैसे चलनी को चाम है।
पावै भंग-कुंडा संग राखै × × × × × (अश्लील शब्द)
मसुंडा आनंदघन मुंडा सरनाम है।

(४)

मुदित आनंदघन कहत बिधातासों यों,
खाल को आसन दी जो गारी मोहि गावैगी।
मो मुख की पीक-दान करियौ सुजान प्यारी,
हुरकिनी तुरकिनी थूकै सुखियावैगी।
धोती को इजार दुपटी को पेशवाज और,
देहुगे रुमाल ताकौ पूछना बनावैगी।
पांगया पाँयदाज काजियौ गरीबनिवाज
भरि गऐं मो मन पलिग पर आवैगी।[१]

१—आनंदघन जी ने अपने काव्य में ऐसे भाव दिए हैं जिनमें सुजान के व्यवहार की वस्तुओं के भाग्य से उन्होंने ईर्ष्या व्यक्त की है, भड़ौवा को इन व्यंग्योक्तियों का उनही को ओर से संकेत हो सकता है यथा आरसी के भाग पर ईर्ष्या—

इन छंदों के रचयिता का नामादि अज्ञात है। जंगनामा ग्रंथ के रचयिता श्रीधर उपनाम मुरलीधर भड़ौवा लिखा करते थे। वे घनआनंद के समकालीन थे और मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में बताए जाते हैं। संभवतः इनके रचयिता वे ही हैं। यदि यही सत्य हो तो भड़ौवाकार की उक्ति भड़ौवा होते हुए भी किसी प्रमाणिक तथ्य की ओर संकेत करती है। अतः ये प्रामाणिक माने जाने चाहिए। इनसे निम्न लिखित निष्कर्ष निकलता है—

१—कवि का असली नाम आनंदघन था छंदोनुरोध से उसीको 'घनआनँद' लिखा जाता था।[१]

२—वह जाति का कायस्थ था और अपने प्रारंभ के जीवन में मदिरा मांसादि का सेवन करता था। उसका यवनों से संपर्क था।

३—सुजान नाम की किसी यवनी से उसका प्रेम था।

४—वह बाद में साधु हो गया था, संभवतः निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित था।

५—वह गान विद्या में निपुण था।

६—मुहम्मदशाह के मीरमुंशी या किसी अन्य उच्च पद के अधिकारी होने की बात प्रामाणिक नहीं लगती। यदि वह सत्य होती तो भड़ौवाकार के लिये वह उपयुक्त सामग्री थी, छंदों में उसका प्रकारांतर से उल्लेख होता।

रघुराजसिंह जू तथा राधाचरण गोस्वामी ने जैसा किंवदंती के आधार पर इनका वृत्तांत लिखा है उस में आनंदघन मुहम्मदशाह के मीरमुंशी नहीं है। उनका संबंध यवनों से राधाचरण जी ने गान विद्या द्वारा दिखाया है। भक्तमाल में उनके उत्तर जीवन की कथा है। उसी किंवदंती से भड़ौवा छंदों का वृत्त मिलता है। दूसरे प्रकार की जनश्रुति लाला भगवानदीन जी को प्राप्त हुई थी। राधाचरण जी की जनश्रुति का विवेचना उन्होंने सब से पूर्व की थी। वे हिंदी साहित्य के समस्त कायस्थ कवियों की जीवनी तथा

अधरासव पान के छाक छके कर चांपि कपोल सवाद पगे
घनआनद भीजिरहें रिझवार खगे सब अंग अनंग दगे
करि खंडन गंडन दै निरखे तें अखंडित लोभ लगे
सुखदान सुजान समान महा सु कहा कहौं अ रसी भाग जगे

१—छंदों के प्रारंभ के वाक्य तथा अंत के तीनों छंदों में कवि का नाम इस ढंग से दिया है कि वह आनंदघन ही लगता है।

कृतियों की खोज करना चाहते थे। उसी प्रसंग से आनंदघन जी उनके अनुसंधान के विषय बने। अध्ययन तथा पूछताछ से जो उन्हें पता चला उसका विवरण उन्होंने लक्ष्मीपत्रिका में प्रकाशित किया था जिसका सार यह है :—

'आनंदघन जी का जन्म लगभग संवत् १७१५ में हुआ था और मृत्यु संवत् १७९६ में हुई। ये दिल्ली के रहने वाले भटनागर कायस्थ थे। फारसी भलीभाँति जानते थे। जनश्रुति इन्हे अबुलफजल का शिष्य बताती है। किसी छोटे ओहदे से बढ़ते बढ़ते ये बादशाह मुहम्मदशाह के खासकलम (प्राइवेट सेक्रेटरी) हो गए। इन्हें बचपन ही से रासलीला देखने का बड़ा शौक था। महीनों तक व्यय का भार अपने ऊपर लेकर दिल्ली में ये रासलीला करवाते थे। स्वयं भी किसी किसी लीला में भाग लेते थे। इससे इन्हें हिंदी भाषा सीखने तथा साधुओं की संगति करने का शौक लग गया। उससे कविता करने लगे। करते करते वह निपुणता प्राप्त करली जो हिंदी कवियों के समक्ष है। अभी तक इनके पद रासधारियों की मंडली में गाए जाते हैं। रास की भावना का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये श्रीकृष्ण की लीलाओं में ही लीन रहने के लिये दरबार तथा गृहस्थी से नाता तोड़कर वृंदाबन चले आए और वहाँ पर व्यासवंश के किसी साधु से दीक्षा लेकर वहीं उपासना में मग्न हो गए। प्रायः कहीं न कहीं वंशीबट के आस पास रहा करते थे। और वहीं किसी वृक्ष के तले आसन जमाए ध्यानमग्न हो कभी कभी तो कई कई दिन समाधि में ही बिता देते थे। 'सुजान सागर' ब्रजबास में ही रचा गया।' लालाजी के विवरण में विशेष उल्लेखनीय बात एक तो यह है कि यहाँ सुजान के प्रेम का कोई प्रसंग नहीं है। दूसरे आनंदघन जी का व्यक्तित्व इस जनश्रुति में गौरवपूर्ण माना गया है। वे मुहम्मदशाह के मीर-मुंशी हैं। फारसी के इतने विद्वान हैं कि अबुलफजल के शिष्य माने जाते थे। तीसरे विराग का कारण रासमंडली द्वारा भक्ति का उदय है। भक्ति का उद्रेक ही कवि को काव्यप्रेरणा देता है।

जार्ज ग्रियर्सन ने जो विवरण दिया है उसमे भी सुजान वेश्या का प्रसंग नहीं है, नाहीं उनके मीरमुंशी होने की बात है। इस तरह जनश्रुतियाँ तो दो प्रकार की मिलत. हैं। एक में वे वेश्या प्रेमी से भक्त बनते हैं दूसरे में प्रारंभ से ही उनमें भक्ति का विकास होता है। पर प्रतीत होता है लाला भगवानदीन को कोई भ्रांतिपूर्ण जनश्रुति प्राप्त हुई है। काव्य रचना के अंतः-

साक्ष्य तथा भड़ौवा छंदों से इनका सुजान वेश्या से प्रेम स्पष्ट है। मीरमुंशी होना अवश्य संदिग्ध है। मुहम्मदशाह रंगीले से संबंधित किसी इतिवृत्त में इनका नाम नहीं आता। मुहम्मदशाह की तो दैनिक डायरी भी कुछ दिनों की है। उसमें भी इनका कोई समाचार नहीं प्राप्त होता। यदि ये मीर-मुंशी जैसे उच्च कर्मचारी होते और राजदर्बार से संबंधित कोई घटना इनसे होती तो उसका उल्लेख इतिहास में होना संभव था। इस से यही कह सकते कि ये देहली के कोई साधारण नागरिक थे। मिश्रबंधुओं ने अपने इतिहास मिश्रबंधुविनोद में इन्हें वेश्याप्रेमी बताया है। वे लिखते है :—

"लोग घनानंद को बैसिक समझते हैं। यह विचार इनकी स्फुट रचना देखने से उठता है। परंतु जान पड़ता है कि उमर ढलने पर उनके चित्त में ग्लानि हो कर निर्वेद उत्पन्न हुआ, जिससे वे श्रीवृंदाबनधाम जाकर निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होकर ब्रजवास करने लगे। यह भाव इनकी इस रचना से दृढ़ होता है।" आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनके जीवनवृत्त के विषय में मिश्रबधुविनोद तथा राधाचरणगोस्वामी का छप्पय प्रमाण माना है। लाला भगवादीन की खोज को विश्वसनीय नहीं समझा। उनकी मीरमुंशी वाली बात सत्य मान कर यही जीवन वृत्त लिखा है कि आनंदघन बादशाह मुहम्मदशाह के मीरमुंशी थे। दर्बार के कुचक्रियों ने इन्हें शहंशाह द्वारा गाना गाने के लिए वाधित किया। इन्होंने नहीं गाया और अपनी प्रेमिका सुजान नर्तकी के कहने से गा दिया। इस पर शहंशाह ने कुपित होकर इन्हें दिल्ली से बाहर निकाल दिया। सुजान ने इनका साथ नहीं दिया। ये वृंदाबन जाकर निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित हो गए और कवित्त सवैयों वाली रसात्मक कविता में सुजान और आनदघन के व्यक्तिगत प्रेम को प्रतीक बना कर कविता करते हुए प्रेमभक्ति में मग्न रहने लगे। शुक्लजी ने इनकी मृत्यु नादिरशाही मारकाट मे ही लिखी है कि जब नादिरशाह की सेना के सिपाही मथुरा तक आ पहुँचे तब कुछ लोगों ने उनसे कहा कि वृदावन में बादशाह का मीरमुंशी रहता है। उसके पास बहुत कुछ माल होगा। सिपाहियों ने इन्हें आ घेरा और 'जर जर जर' अर्थात् 'धन लाओ' चिल्लाने लगे। घनानंद जी ने शब्द को उलट कर 'रज रज रज' कह कर तीन मुट्ठी वृंदावन की धूलि उन पर फेंक दी। उनके पास सिवा इसके और था ही क्या। कहते हैं, सैनिकों ने क्रोध में आकर इनका हाथ काट डाला। मरते समय इन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था।

बहुत दिना की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे है उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन भावन को,
गहि गहि राखति हौं दै दै सनमान को।
झूठि बतियान के पतियान तें उदास ह्वै कै,
अब ना फिरत घनआनंद निदान को।
अधर लगे हैं प्रान, करि कै पयान जान,
चाहत चलन ये संदेसो लै सुजान को।

—हि० सा० इतिहास पृ० ३३५, ३६

इस में जर वाली किंवदंती, प्रतीत होती है, कवि के ब्रज रज में अत्यधिक भक्तिभाव प्रदर्शन के कारण चल पड़ी है। आनंदघन जी ने अपनी भक्ति भावना में ब्रजवास, ब्रजरज, आदि का बड़ा महत्वपूर्ण वर्णन किया है। इसी प्रकार मरते समय कवित्त लिखने की बात भी प्रामाणिक नहीं लगती। आनंदघन जी का संत जीवन अत्यंत विरक्त अवस्था का बीता है। यह उनकी निबंधात्मक रचनाओं से व्यक्त होता है। उन में सुजान का नाम वे भूल गए थे। प्रतीत होता है कि निबंध उनके उत्तर-जीवन की तथा कवित्त सवैये पूर्व जीवन की रचनाएँ हैं ऐसी स्थिति में यह छंद उनकी अंतिम रचना नहीं कहा जा सकता। अत: वह फारसी शैली से लिखा हुआ जान पड़ता है, जिस में जीवित कवि अपने को मृतक मान कर कब्र में से बोलता है।

इनके जन्म स्थान आदि का कुछ पता नहीं चलता। जगन्नाथदास रत्नाकर ने इन्हें बुलंदशहर जिले का बताया है। श्री शंभुप्रसाद बहुगुना को 'कोकसार' के लेखक आनंद कवि की इनके साथ अभिन्नता का संदेह हो गया था। 'कोकसार' के लेखक आनंद कवि का जन्म स्थान कोट हिसार था।

कायथ कुल आनंद कवि बासी कोट हिसार।
कोक कला सब चूरि कै जिन यह कियौ बिचार॥

अत: बहुगुना जी ने यह संभावना प्रकट की है कि यदि घनानंद ने कभी कोक की रचना आनंद नाम से की हो और वह यही 'कोकमंजरी' निकले तो घनानंद के जन्म-स्थान का भी पता उनके समय के साथ साथ चल जाता है। बहुगुना जी का तात्पर्य यही है कि घनानंद कोट हिसार के निवासी हो सकते

हैं। पर यह कोरी कल्पना ही है। कोकसार का लेखक आनंद हैं, आनंदघन नहीं। उसका समय इनके समय से भिन्न है। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता। आनंदघन जी ने अपने भक्तिकाल में व्रज वृंदावन में रहने का उल्लेख स्पष्ट किया हैं पर अपने जन्मस्थान का कहीं संकेत नही किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में जो देशी शब्दों का व्यवहार किया है उस से अवश्य बुलंदशहर के पूर्वी भाग के निवासी वे लगते हैं। ये शब्द आजकल भी इस क्षेत्र में बोले जाते है। शब्दावली यह है। सॅबर—(प्रसूतिका गृह), टेहुले—(विवाह, जन्मगाँठ आदि पर किए जानेवाले आचार), गरैठी—(पूर्ण से कुछ ही कम भरा हुआ पात्र), बरहे—(जंगल), सल—(पता या ज्ञान) संजोखे—(संध्या तथा रात्रि के मध्य का काल), गोहन—(साथ), नाज—(अन्न), न्यार—(चारा), पंछर—(पैर का शब्द), झरां—(सब के सब, समस्त) आदि। इन्होने जो मुहावरे व्यवहृत किए है उनसे उनका नागरिक होना हा अनुमित किया जा सकता है। मुहावरे प्रायः ऐसे ही हैं जा व्रजभाषा के नागरिक द्वारा व्यवहार में लाए जाते है। इनका विस्तृत विवेचन भाषा के प्रसंग में किया जावेगा। इसी प्रकार इनके अप्रस्तुतों का स्वरूप भी ग्रामीण नहीं है। उदाहरण के लिए फानूस का दीपक, किले पर शत्रु का अभियान, राजा की दुहाई फिरना, बेड़ियाँ, लेखक, फेंटा, झवां, चुंबकपत्थर, पतग, द्यूतक्रीड़ा, ताला, जाल, पाश, भस्मक रोग आदि।

सुजान का सौंदर्य, उसके प्रसाधन का प्रकार तथा साधन, उसकी चेष्टाएँ, नृत्य, गान, सुरापान आदि सब नागरिक हैं। राधा के वर्णन में भी नागर भाव कवि के हृदय में विद्यमान रहा है। इससे यहाँ अनुमान होता हैं कि इनका जन्म तथा निवास नगर में हा हुआ था। बुलंदशहर के व्रज भाषा भाषी भाग के किसी कस्बे में जन्मे हों और बाद में देहली चले गए हों—यह बहुत संभव लगता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से इनके जीवनवृत्त का यह स्वरूप लेखक को प्रतीत होता है। आनंदघन जी बुलंदशहर जिले के किसी व्रजभाषा क्षेत्र से मिले हुए कस्बे में जन्मे थे। बाद में देहली चले गए। जाति के कायस्थ थे। गायन-कला में अच्छे निपुण थे। सुजान नाम की किसी यवनी वेश्या से इनका प्रेम हो गया। किसी दिन दिल्ली के शहंशाह मुहम्मदशाह ने इन्हें दरबार में गाना गाने के लिये कहा। पर ये इतने स्वाभिमानी तथा मनमौजी व्यक्ति

थे कि शहंशाह के कहने पर भी इन्होंने गाना नहीं गाया। सुजान प्रेमिका ने कहा तो इतनी तन्मयता से गाया कि दर्बार उसमें आनंदविभोर हो गया। शहंशाह ने कुपित होकर इन्हें दिल्ली से बाहर निकाल दिया। ये वृंदावन में निबार्क संप्रदाय में दीक्षित होकर सखी भाव की उपासना में लग गए।

भक्तवर नागरीदास जी किशनगढ़ के महाराज सावंतसिंह जी से इनकी बड़ी मित्रता थी। उनके साथ ये जयपुर आदि स्थानों में गए थे। नागरीदास जी ने अपनी 'मनोरथ मंजरी' इन्हीं की प्रेरणा से लिखी थी। इन्होंने रचना के अंत में लिखा है कि—

"युगल रूप आसव छके परे रीझ के पानि।
ऐसे संतन की कृपा मोपै कुदंपति जानि।
परम मित्र आज्ञा दई मेरेहू हित बास।
नवल मनोरथ मंजरी करी नागरीदास॥'

कीर्तन करने में इनकी विशेष रुचि थी। इनकी कीर्तन की मंडली थी, जिसमें हरिदास, बद्रीदास, मुरलीदास आदि महात्मा संमिलित थे।

नागरीदास जी इनको बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। इन्होंने इनके सतसंग की प्रशंसा तथा कामना दोनों व्यक्त की है। इनके लिये वे तन, मन को भी न्यौछावर करने के इच्छुक थे।

१—आनंदघन को संग करन तन मन को वारचौ। नागर समुच्चय, पृ २५, पं०५
२—आनंदघन हरिदास आदि सों संत सभा मधि। वही: पृ० ३३, पद्य ४२
३—आनंदघन हरिदास आदि संतन वच सुनि सुनि। वही, पृ० १०५
४—एक बार नागरीदास जी भक्त मंडली के साथ गोवर्धन गए थे। आनंदघन उनके साथ थे

१—'सुधासार संग्रह' में अधो लिखित सवैया सुजान के नाम से प्राप्त होता है इसमें किसी प्रवीण की हिम्मत बंधाने का भाव व्यक्त किया गया है।

बेदहू चारि की बात को बाँचि पुरान अठारह अंग मैं धारौ।
चित्रहू आप लिखै समझै कवितान की रीति में बारतैं पारौ।
राग कों आदि चिती चतुराई सुजान कहै सब याही के लारौ।
हीनता होय जो हिम्मत की तो प्रवीनता लै कहा कूप मैं डारौ।

सुधासार, पन्ना २३४

बहुत संभव है यह सवैया उसी समय से संबंधित हो जब आनंदघन ने दरबार में गाना गाया था।

आये चलि तिहिं ठां रसिक झुंड। जहाँ राधा कुंड अरु कृष्ण कुंड ॥
उततें सुनि उमगे रसिक बृंद। उठि चले सामुहैं बढ़ि अनंद ॥
(अनंद = आनंदघन)

तहाँ रुपे सूर संमुख सम्हारि। बहि चले परस्पर प्रेम वारि ॥
तहाँ बद्रीदास अरु मुरलिदास। मनु महारथी ये प्रेम रास ॥

नागरीदास जी के जीवन चरित्र में बा० राधाकृष्णदास जी ने लिखा है कि हमारे यहाँ एक अत्यंत प्राचीन चित्र है जिसमें नागरीदास और घनानंद जी एक साथ साथ विराजते हैं।

स्थान

ऊपर बताया जा चुका है कि इनके जन्मस्थान का कोई पता नहीं चलता। वृंदावन में रहने का इन्होंने स्वयं अनेकत्र वर्णन किया है। वृंदावन में जमुना के किनारे गोकुलघाट पर और रमण रेती में ये रहा करते थे। ब्रज-वास की इन्होंने भूरि भूरि प्रशंसा बार बार की है। निबंध रचनाएँ सब मिलाकर ब्रज महिमा का वर्णन करती हैं। ब्रज रज के ये विशेष भक्त थे। इनका मत है कि श्रीकृष्ण और राधा के दर्शन ब्रजरस से अंजी आँखों को ही हो सकते हैं। ब्रह्मरस तथा परमार्थ ब्रजरज में ही समोया हुआ है। ये नंद गाँव में भी कुछ समय रहे थे।

नंद गांव बरसाने बसौं। सोभा निरखौं हरसौं लसौं ॥

ब्रज गलियों में मौन धारण किए प्रेम समाधि में ये घूमा करते थे

ब्रज वीथिन बन बागनि फिरौं। छकौ थकौं ब्रज हेरौ हिरौं ॥

नीचे कवि की उन उक्तियों का उद्धरण दिया जाता है जिनमें उसने अपने निवास तथा ब्रजप्रेम को प्रकट किया है।

तरनितनूजा तोहिं तकौ। चंचलता तजि
भजि नंदलालहिं मन करि तेरे तीर थकौं ॥

आ० घ० पदा० १५

यह बृंदावन यह जमुना तीर, यह
सारंग राग। यह भाग भरी भूमि, यह
तरुलता झूमि, ये विहंग बड़ भाग ॥

आ० घ० पदा० १४४

जो तुम दियौ है ब्रजवास तौ पूरन करौ
यह आस। रसिक संग अभंग निरखत
रहों रासविलास ॥ ⁻० अ० २६०

लीला अंकुर उपजै मन मैं।
यातैं मचलि परघो ब्रज़ बन में ॥

अनु० चं० ३८

ब्रज बन बसिबे कौ यह फल है।
जिन मिलि दरसतु रूप अमल है ॥

वही ४८

गौर श्याममय ब्रजवन देखौ।
ठौर ठौर लीला अवरेखौं ॥

प्र० प० १०६

कृष्णचंद्र की यह ब्रज देखौं।
मेरे नैन भाग अवलेखौ।

धा० च० ४१

मोकौं यह ब्रज लागतु प्यारौ।
दीसत दीखै श्याम उजारौ ॥
या जमुना में नितही न्हाऊं।
या जमुना तजि कहूँ न जाऊँ ॥
जमुना के तट फूल्यौ फिरौं।
हेरि तरंगनि रंगनि हरौं ॥
गोकुल घाट पियौ जिन पानी।
जमुना रस महिमा तिन जानी ॥
जमुना जमुना जमुना कहौ।
धीर समीर तीर बसि रहौं ॥
जमुना मौकों सब कुछ दियौ।
दरसि परसि सरसान्यौ हियौ ॥

यमुना यश २२, २७, ३७, ५३, ५७

आनंद धन बृंदावन बसै।
महा मधुर रस धारा रसै ॥
नंदगांव बरसाने बसौ।
सोभा निरखौं हरसौं लसौ ॥
दुहूँ धरनि की चारों ओर।
गावत फिरौ साँझ अरु भोर ॥ ब्र० प्र० १, २
ब्रजबसि ब्रजवासिनि की आस।
सुफल भयौ मेरो ब्रज वास ॥

हौं या ब्रज अरु यह ब्रज मेरौ
सुबस लह्यौ ब्रजवास बसेरौ ॥

ब्रज स्वरूप ११२, ११३

मौकों यह ब्रज सदा सुहाई।
मन दृग वांछित लियौ दुहाई ॥
राति द्यौस एकै ब्रज दीसै।
ब्रज रस परसि नवाऊँ सीसै ॥

वही १०२, १०३

इनके घरनि सदा त्यौहार।
नित नित ब्रज में हित व्यौहार ॥
यह सुख देखि हिये हँसि खेलि।
बरनौ ब्रज मंडन कर केलि ॥
या ब्रज कौ सुख हौं ही जानौं।
या ब्रज बसि जस रसहि बखानौं ॥

वही ७

ब्रज बीथिन बन बागनि घिरौं।
छकौं थकौं ब्रज हेरौं हिरौं ॥
अहो भाग्य या ब्रज कौं लखौं।
ब्रज की सींव न कबहूँ नखौं ॥
यह ब्रज वास न कबहूँ छूटै।
ब्रज रस बसु दैदै मन लूटै ॥

वही ९, ३९, ५४, १३१

३—स्वभाव

आनंदघन जी के ग्रंथों में उनके उत्तर जीवन के स्वभाव तथा मनोदशा के दर्शन होते हैं। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये साधना की उच्च कोटि को प्राप्त कर चुके थे। नागरीदास जी जैसे श्रेष्ठ महात्मा इनका बड़ा संमान करते थे; वे इनके सत्संग के लिये लालायित रहते थे। ब्रजवीथियों में यमुना के तट पर घूमते घूमते ये कभी हँस पड़ते थे कभी रो पड़ते थे। श्री कृष्ण के संयोग और वियोग का अनुभव इनके हृदय में सदा होता रहता था। नेत्रों से जल बरसता और हृदय नवनीत सा कोमल हो जाता था।[१]

१—को जाने यह भेद जो गावै मेरो वैरागी जियरा।
ब्रज मोहन के वियोग सँजोग भरयौ है हियरा।
अँसुवनि जलसौं अधिक जगति जोति परेखनि होत मनौ धियरा।

लीला अंकुर उपजै मन मैं।
यातें मचलि परयो ब्रज बन में ।।

अनु० चं० ३८

ब्रज बन बसिबे कौ यह फल है।
जिन मिलि दरसतु रूप अमल है ।।

वही ४८

गौर श्याममय ब्रजवन देखौ।
ठौर ठौर लीला अवरेखौं ।।

प्रे० प० १०६

कृष्णचंद्र की यह ब्रज देखौं।
मेरे नैन भाग अवलेखौ।

धा० च० ४२

मोकौं यह ब्रज लागतु प्यारौ।
दीसत दीखै श्याम उजारौ ।।
या जमुना में नितही न्हाऊं।
या जमुना तजि कहूँ न जाऊँ ।।
जमुना के तट फूल्यौ फिरौ।
हेरि तरंगनि रंगनि हरौं ।।
गोकुल घाट पियौ जिन पानी।
जमुना रस महिमा तिन जानी ।।
जमुना जमुना जमुना कहौ।
धीर समीर तीर बसि रहौ ।।
जमुना मौकों सब कुछ दियौ।
दरसि परसि सरसान्यौ हियौ ।।

यमुना यश २२, २७, ३७, ५३, ५४

आनंद धन बृंदावन बसै।
महा मधुर रस धारा रसै ।।
नंदगांव बरसाने बसौ।
सोभा निरखौं हरसौं लसौ ।।
दुहूँ घरनि की चारों ओर।
गावत फिरौ साँझ अरु भोर ।। ब्र० प्र० १, २
ब्रजबसि ब्रजवासिनि की आस।
सुफल भयौ मेरो ब्रज वास ।।

हौं या ब्रज अरु यह ब्रज मेरौ
सुबस लह्यौ ब्रजवास बसेरौ ॥
ब्रज स्वरूप ११२, ११३

मौकों यह ब्रज सदा सुहाई।
मन दृग वांछित लियौ दुहाई ॥
राति द्यौस एकै ब्रज दीसै।
ब्रज रस परसि नवाऊँ सीसै ॥
वही १०२, १०३

इनके घरनि सदा त्यौहार।
नित नित ब्रज में हित व्यौहार ॥
यह सुख देखि हिये हँसि खेलि।
बरनौ ब्रज मंडन कर केलि ॥
या ब्रज कौ सुख हौं ही जानौं।
या ब्रज बसि जस रसहि बखानौं ॥
वही ७

ब्रज बीथिन बन बागनि घिरौं।
छकौं थकौं ब्रज हेरौं हिरौं ॥
अहो भाग्य या ब्रज कौं लखौं।
ब्रज की सींव न कबहूँ नखौं ॥
यह ब्रज वास न कबहूँ छूटै।
ब्रज रस बसु दैदै मन लूटै ॥
वही ६, ३६, ५४, १३१

३—स्वभाव

आनंदघन जी के ग्रंथों में उनके उत्तर जीवन के स्वभाव तथा मनोदशा के दर्शन होते हैं। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये साधना की उच्च कोटि को प्राप्त कर चुके थे। नागरीदास जी जैसे श्रेष्ठ महात्मा इनका बड़ा संमान करते थे; वे इनके सत्संग के लिये लालायित रहते थे। ब्रजवीथियों में श्री यमुना के तट पर घूमते घूमते ये कभी हँस पड़ते थे कभी रो पड़ते थे। श्री कृष्ण के संयोग और वियोग का अनुभव इनके हृदय में सदा होता रहता था। नेत्रों से जल बरसता और हृदय नवनीत सा कोमल हो जाता था।[1]

१—को जाने यह भेद जो गावै मेरो वैरागी जियरा।
ब्रज मोहन के वियोग सँजोग भरचौ है हियरा।
अँसुवनि जलसौं अधिक जगति जोति परेखनि होत मनौ घियरा।

ये यमुना के किनारे आनंदमग्न घूमते रहते थे। उसकी तरंगों को देख देख कर उल्लसित और ध्यानमग्न हो जाते थे।[१] रमणरेती में रज को आँखों से लगा लगा कर उन्मत्त की तरह चारों ओर देखा करते थे। हृदय में भाव की तरंगें उठती थीं और बेसुध होकर भगवत्प्रेम में मग्न हो जाते थे।[२] इनके विषय में यह किंवदंती है कि यवनों ने जब इन्हें काटा तो ज्यों ज्यों शरीर पर तलवार के घाव होते थे त्यों त्यों ये व्रजरज में लेटते जाते थे। स्वाभाविक दशा में अपनी इस स्थिति का वर्ण इन्होंने स्वयं किया है। 'भावना प्रकाश' में उन्होंने लिखा है कि—

बूझे कछु बौलौ न आइ है।
रोम रोम अभिलाष छाइ है॥
व्रजरज लोटि विकल ह्वै जै हौं।
बड़ी बेर तक की सुधि पै हौं।[२]

घनआनंद ग्रंथावली के आरंभ में इनका एक चित्र भी दिया गया है। यह चित्र वृंदाबन निवासी ब्रह्मचारी व्रजवल्लभशरण जी वेदांताचार्य के द्वारा कृष्णगढ़ से प्राप्त हुआ है। चित्र के नीचे यह छप्पय अंकित है—

सकलगुण सुजान स्वामी जी श्री आनंदघन जी।
वृंदावन में अलट ह्वै वास कियौ आनंदघन
रचें कटीली काव्य–स्तुति कछु परति न गाई।
अनुपम अक्षर जटित चोज चेटक सरसाई।
श्रवन परत हिय द्रवै छकनि भूलै सब भूलै।
मानौ मोहन मंत्र महा सुधि की सुधि भूलै।
गान कला में अति कुशल सुनत बढ़ै आह्लाद मन।
वृंदावन में अटल है वास कियौ आनंदघन॥

इसमें भी उपर्युक्त स्वभाव का ही उल्लेख किया गया है।

४—चित्र परीक्षा

चित्र में इनकी लंबी झुकी हुई नासिका, बड़े नेत्र, ऊर्ध्व मस्तक और मूँछें मुड़ी हुई हैं। सर पर साधुओं की सी टोपी पहने हैं। हाथ में सितार

१—यमुना यश २७

२—भावना प्रकाश—२०९, २१२

लेकर ध्यानमग्न हो गायन करने की मुद्रा में बैठे हैं। आँखें मुदी हुई हैं। सौम्य स्वभाव, प्रेमार्द्र हृदय तथा मनमौजी प्रकृति का आभास चित्र से लगता है।

चित्र के नीचे का छप्पय यह भी सिद्ध करता है कि चित्र हमारे विवेच्य कवि का ही है। साथ ही यह भी इससे प्रमाणित होता है कि पदावली तथा कवित्त सवैये के रचयिता एक ही व्यक्ति थे और उनका नाम आनंदघन था। ये ही कटीली काव्य रचना करते थे जिसके सुनने से हृदय द्रवीभूत होता था। और यही गान कला में अति कुशल थे। सुजान का संबंध इन्हीं से था तभी तो ये 'सकल गुन सुजान' थे।

५—समय

अब आनंदघन जी के समय पर विचार किया जाए। सब से पूर्व यह देखें कि आनंदघन की कविताओं का उद्धरण किस समय तक प्राप्त होता है। मिश्रबंधु विनोद में संकेत किया गया है कि सरदार कवि ने (समय संवत् १६०२ से संवत् १६४० तक) अपने 'शृंगार संग्रह' में घनानंद के लगभग १५० छंद संगृहीत किए हैं।[१] ब्रजनिधि ने (संवत् १८२१ से संवत् १८८० तक) अपने संपादित ग्रंथ ब्रजनिधि ग्रंथावली में इनके तीन पद संगृहीत किए हैं। 'सुधासर' को संगृहीत करने वाले मथुरावासी नवीन ने आनंदघन के लगभग ३० कवित्त सवैये उद्धृत किए हैं। 'संगीत राग कल्पद्रुम' के संग्रहीता कृष्णानंद व्यास ने तथा 'रागरत्नाकर' के संकलयिता श्री भक्तराम ने इनके अनेकों पद अपने संग्रहों में लिखे हैं। इनसे विक्रम को १६ वीं शताब्दी के द्वितीय दशक तक आनंदघन जी की कृतियाँ उद्धृत होती थीं यह भलीभाँति कहा जा सकता है। नागरीदासजी, कृष्णगढ़ के महाराज सावंतसिंहजी ने अपने ग्रंथों में आनंदघन की कविताएँ उद्धृत की है। इनकी 'पदमुक्तावली' में ४६३: १० पर ४ पद हैं, ५१: १० के पृष्ठ १४२ तथा ७७ पर २ कवित्त है। उनमें पहला है—'प्रीतम सुजान मेरे हित के निधान' आदि तथा दूसरा है 'तब तो छवि पीवत जीवत हैं' इत्यादि।[२] 'वैराग्य सागर' ५१: १० पृ० १६६ तथा १७० पर दो पद हैं इसी प्रकार २६४ : ४२ पर इनके ६ पद हैं। नागरीदासजी का काव्यकाल सं० १७८०-१८१६ तक माना जाता हैं। आनंघनजी के जीवनवृत्त में यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि नागरीदासजी ने अपनो 'मनोरथ

१—मिश्रबंधु विनोद पृ० ११५३।

२—ये दोनों कवित्त घनआनंद ग्रंथावली के सुजानहित सं० २४ तथा ३६ पर है।

मंजरी' इन्हीं की प्रेरणा से लिखी थी और वह सं० १७८० में पूरी हो गई थी[१]। इससे सं० १७८० में आनंदघनजी की विद्यमानता तथा सं० १७९० तक उनकी प्रसिद्धि का अनुमान होता है। घनानद विषयक भडौवा छंद सं० १८१२ में बने 'जस कवित्त' नामक ग्रंथ में उद्धृत हैं। अतः इनका काल सं० १८१२ तक तो उद्धरणों के प्रमाण से ही पहुँचता है। लखनऊ के श्री भवानीशंकरजी याज्ञिक के पास एक पत्र लेखक ने देखा है जो दो इंच चौड़ा तथा ४ इंच लंबा है। उसपर घनानंद जी के २१ सवैये लिखे हुए हैं। २० पंक्तियाँ एक ओर तथा १९ दूसरी ओर हैं। लिपिकार का समय तो ज्ञात नहीं है पर इससे कवि की प्रसिद्धि का अनुमान भलीभाँति लग सकता है। सं० १८८० में रीवाँ नरेश महाराज रघुराज सिंह ने ब्रज में इनकी अनेक कथाओं को प्रसिद्ध होते सुना था। इनके कवित्त भी उस समय लोगों को बहुत याद थे।

'घनआनंद की कथा अनेका। ब्रज मे विदित अहै सविवेका॥ ब्रज में विदित कथा यह सारी। संक्षेपहि इत लिख्यौ विचारी॥ घनआनंद के विपुल कवित्ता। अबलौं हरत कविन के चित्ता॥ भक्तमाल।

इतिहासकारों में लाला भगवानदीनजी ने इनका जन्म सं० १७१५ तथा मृत्यु नादिरशाही हमले के समय सं० १७९६ में मानी है। उसका आधार शिवसिंह सेंगर का सरोज है जिसमें आनंदघन दिल्लीवाले का समय सं० १७१५ माना है।[२] साथ ही सरोजकार ने यह भी लिखा है कि सं० १७४६ में बने 'कालिदास हजारा ग्रंथ' में उन्होंने आनंदघन की कविताएँ नहीं देखीं। यदि कवि का जन्मकाल सं० १७१५ माना जाए तो 'कालिदास हजारा' के निर्माणकाल में ये लगभग ३०, ३२ वर्ष के हो गए थे। फिर इनकी सी उच्च काव्यकला के व्यक्ति का हजारा में स्मरण न हो यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र तो शिवसिंह सरोज के सन् संवतों के आगे लिखे उ० का अर्थ उत्कर्ष करते हैं।[३] यदि यह मान लिया जाय तो सं० १७४६ तक आनंदघनजी ३० वर्ष कविता कर चुके थे। इस दशा में तो उनका नाम अवश्य हजारा में आना चाहिए था। दूसरे अभी हम देखेंगे कि आनंदघन जी

१—आ० रा० च० शुक्ल, हि० सा० इतिहास, प्र० संस्क०, पृ० २४८। देखिए जीवनवृत्त प्रकरण।

२—शिवसिंह सरोज सप्तम संस्क० पृ० ४८०।

३—हिंदुस्तानी भाग १३, अंक २, अप्रैल सन् १९४३, शिवसिंह सरोज के सन् सं० शीर्षकवाला लेख।

की मृत्यु सं० १७९६ में न होकर सं० १८७७ में हुई थी। इनका जन्म फिर सं० १७१५ मान लेने पर आयु १०२ वर्ष की बैठती है जो असाधारण है। ये मरे भी अकाल मृत्यु से थे। अतः इनका जन्मकाल १७१५ संवत् नहीं हो सकता।

'शिवसिंह सरोज' के द्वारा संकेत किए गए 'कालिदास हजारा' में आनंदघन के कवित्तों के न होने के आधार को ही लेकर बाद के इतिहासकारों ने इनका जन्म सं० १७४६ के लगभग माना है। 'मिश्रबंधु विनोद' में सं० १७७१ से इनका काव्यकाल माना है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सं० १७४६ के लगभग जन्म होने का अनुमान किया है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र को इसपर एक आपत्ति हुई है। आनंदघन जी ने निंबार्क संप्रदाय के श्री वृंदावनदेवजी से दीक्षा ली थी यह उनकी परमहंस वंशावली से स्पष्ट है। इसमें निंबार्क संप्रदाय की गुरु परंपरा का प्रारंभ से वृंदावनदेवजी तक ही वर्णन है। वृंदावनदेवजी पर आकर कवि ने लिखा है कि वे मेरे लिए वृन्दावन में प्रकट हुए हैं, 'जगबोहित मोहित प्रगट हरिविनोद निजधाम'[1]। इनका (वृंदावनदेवजी) समय सांप्रदायिक इतिहास में सं० १७५९ से १८०० तक है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कहना है कि उनसे (श्री वृंदावनदेवजी से) दीक्षा लेने का समय अधिक से अधिक सं० १७५९ ही तक संभव हो सकता है। यदि पूर्वोक्त अनुमित जन्मकाल (सं० १७४६) ठीक माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि इनकी वय दीक्षा के समय १३ वर्ष की थी, जो इनके जीवनवृत्त को देखकर असंभव है। वृंदावन पहुँचने के समय इनकी वय २५-३० की अवश्य माननी चाहिए। अतः इनका जन्म सं० १७३० के आस पास संभाव्य है।[2] मिश्रजी का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि सं० १७५९ या १७५६ में वृंदावनदेवजी सलेमाबाद चले गए थे वृंदावन में नहीं रहे थे। उनके द्वारा वृन्दावन में दीक्षा इससे पूर्व हो सकती थी।

इस तरह सं० १७३० में इनका जन्म मान लेने पर दीक्षा के समय २६ या २९ वर्ष के ये होते हैं जो इनके जीवनवृत्त को देखकर ठीक प्रतीत होता है। सुजान के प्रेम का प्रसंग यौवनकाल में ही संभव है। इस मान्यता में परमहंसवंशावली में वर्णित शेखजी के साथ आनंदघनजी का संपर्क भी ठीक

१—परमहंसावली ४४।

२—घ० आ० ग्रं० भूमिका पृ० ७५।

हो जाता है । शेषजी के विषय में परमहंसवंशावली में आनंघनजी लिखते हैं कि वे काशी के निवासी हैं और निगम तथा आगमों में प्रवीण हैं। उन्हें निंबार्क संप्रदाय का पूरा अवगम है। बड़े पवित्र और कुलीन हैं।

काशी वासी सेषगन निगमागमन प्रवीन।
निंबादित्य अनुगम सबै परम पुनीत कुलीन ।।

ये शेष जयरामजी शेष हैं जो वृंदावनदेवाचार्यजी के शिष्य थे और सं० १८०० से १८६० तक निंबार्क संप्रदाय के मंदिरों का प्रबंध करते थे। इस प्रकार आनंदघनजी का जन्म समय सं० १७३० के आसपास अनुमित होता है।

मृत्यु उनकी नादिरशाह के हमले में बताई जाती है। ग्रियर्सन, राधाचरणजी तथा शुक्लजी के इतिहास ग्रंथों में यही लिखा हुआ मिलता है। यह कत्लेआम ११ मार्च सन् १७३६ को प्रारंभ हुआ था। पर इतिहास ग्रंथों में मथुरा पर नादिरशाह के हमले की बात कहीं नहीं लिखी गई है। वह दिल्ली तक ही सीमित रहा था। श्री राधाकृष्णदासजी ने नागरीदासजी के जीवनचरित्र में यह बताया है कि मथुरा पर हमला दुर्रानी का था। श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी ने इतिहास का प्रमाण देते हुए स्पष्ट लिखा है कि हमें मानना पड़ता है कि 'नादिरशाह के कत्लेआम में नहीं बल्कि अहमदशाह अब्दाली के मथुरा और वृंदावन वाले कत्लेआम में घनानंद का बध हुआ।'[१] अपनी स्थापना में आपने श्री एस० आर० शर्मा का इतिहास प्रमाण रूप में उपस्थित किया है जिसमें यह स्पष्ट लिखा है कि भगवान की कृपा से यह विनाशकांड राजधानी के ऊपर लिखे मार्गों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान तक नहीं बढ़ा। ऊपर लिखे भाग हैं, चाँदनी चौक, सब्जीमंडी, दरीबा बाजार और जामामसजिद के आसपास के मकान जलाकर भस्म कर दिए थे। इससे नादिरशाह के आक्रमण में इनकी मृत्यु की बात सुनी सुनाई सिद्ध होती है। नादिरशाह अपने नृशस अत्याचारों के लिये इतिहासप्रसिद्ध है। इसलिये ऐसे कृत्यों का उससे संबंध जुड़ जाता है। नादिरशाह ने कत्लेआम की आज्ञा ११ मार्च सन् १७३६ को दी थी। आनंदघनजी ने अपनी पुस्तक मुरलिकामोद में सं० १७६८ (सन् १७४१ ई०) का संकेत किया है।

१—ज्ञानवती त्रिवेदी—घ० आ० पृ० ६३।

गोप मास श्रीकृष्ण पक्ष सुचि।
संवत्पर अठानवे अति रुचि॥

इससे स्पष्ट है कि वे सं० १७९६ में नहीं मरे। यह अठानवे सं० १७९८ ही हो सकता है १६९८ नहीं। श्री वृन्दावनदेवजी से आनंदघनजी की दीक्षा लेना तथा नागरीदासजी से उनकी मैत्री आदि तभी संगत होती है। नागरीदासजी के साथ इनकी मैत्री के अनेकत्र उल्लेख हैं। उन्होंने अपनी 'मनोरथ मंजरी' इन्ही की प्रेरणा से लिखी थी तथा उनके पद्य अपनी कृतियों में उन्होंने उद्धृत किए हैं यह पहले बताया जा चुका है। राधाकृष्णदास जी ने नागरीदासजी के जीवनचरित्र के प्रसंग में यह लिखा है कि हमारे यहाँ एक अत्यंत प्राचीन चित्र है जिसमें नागरीदासजी और आनदघनजी एक साथ विराजते हैं।[1] वह चित्र तो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ लेकिन जो चित्र इनका प्राप्त है वह भी कृष्णगढ़ से ही मिला है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद ने सुजानशतक के आरंभ में चित्र चिपकाने के लिये चौकोर खाना बनाकर उसके ऊपर नीचे छापा है—'यह चित्र श्री आनंदघनजी का है जिसे श्री महाराज कुमार श्रीकृष्णदेवशरणसिंह ने अपने हस्त कमल से उनके लिखे हुए चित्र से छाया का चित्र बनाया है।"

कृष्णगढ़ के राजकवि जयलाल ने नागरीदासजी का ही सम—सामयिक आनंदघनजी को माना है। यह उनके उद्धरणों से स्पष्ट किया जा चुका है। जयलाल ने अपने एक पत्र द्वारा राधाकृष्णदासजी को यह लिखा था कि जब नागरीदासजी वृंदावन से कृष्णगढ़ गए थे तो आनंदघनजी उनके साथ थे। यद्यपि आनंदघन कृष्णगढ़ तक न जाकर जयपुर से ही वापिस आ गए थे। नागरीदासजी की यह यात्रा चैत्र कृष्ण १२ सं० १८१३ को हुई थी यह 'नागर समुच्चय' में जयलाल ने ही लिखा है।

अठारह सै ऊपर सवत् तेरह जान।
चैत्र कृष्ण तिथि द्वादशी ब्रजते कियो पयान॥

इससे सं० १८१३ में नागरीदासजी के साथ राजस्थान को प्रस्थान करने वाले आनंदघनजी सं० १७९६ में नहीं मरे यह स्पष्ट हो जाता है। अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण दो बार मथुरा वृंदावन पर हुआ था। एक सं० १८१३

१—राधाकृष्ण ग्रंथावली पृ० १७२।

में और दूसरा सं० १८१७ में। आनंदघनजी दूसरे आक्रमण में ही मारे गए। अब्दाली का पहला आक्रमण १ मार्च सन् १७५७ से ६ मार्च सन् १७५७ तक रहा था। यह समय फाल्गुन शुक्ल १० से चैत्र कृष्ण प्रतिपदा सं० १८१३ तक पड़ता है। जयलालजी के अनुसार आक्रमण के समाप्त होने के १२ दिन बाद अर्थात् चैत्र कृष्ण १२ को नागरीदासजी तथा आनंदघनजी वृंदावन से कृष्णगढ़ को जाते हैं, इससे स्पष्ट है कि वे पहले आक्रमण में नहीं मारे गए।

इस मान्यता में एक आपत्ति उपस्थित होती है। चचा हित वृंदावन-दासजी की 'हरिकलावेलि' में सं० १८१३ के सर्वविध्वंस का वर्णन किया गया है और उसी प्रसंग में आनंदघनजी की मृत्यु का भी उल्लेख है। उन्होंने लिखा है सं० १८१३ में यवनों ने देश का नाश किया। लोगों पर बड़ी भारी विपत्ति आ टूटी। ऐसा प्रतीत होता था मानो हरि ही सृष्टि संहार के लिये उतर पड़े हों।

अठारह सौ तेरहों वरष हरि यह करी।
जमन विगोयौ देश विपति गाढ़ी परी॥
तब मन चिंता बाढ़ी साधु पतन करे।
हरि ही मनहु सृष्टि सँघार काल आयुध धरे॥

× × × ×

इस हृदयविदारक घटना का और अधिक वर्णन करने के बाद उन्होंने अपनी एक व्यक्तिगत घटना का वर्णन किया है। चैत्र सुदी एकादशी सं० १८१४ को वे फरुखबाद गंगा के किनारे गए। वहाँ रात्रि को रास हुआ। रात के तीन पहर बीतने पर रासकर्ताओं ने आनंदघनजी का एक ख्याल गाया। उसे सुनकर चचाजी का मन बड़ा विह्वल हो गया और वे सोचने लगे कि ऐसे संतजनों को भी यवनों ने आकर मार डाला। इससे उनका हृदय सोच से दब गया।

शहर फरुखाबाद जहाँ गए सुरधुनी पास।
चैत्र सुदी एकादशी तहाँ भयौ इक रास॥
तीन पहर रजनी गई वे कवि कीयौ गान।
तहाँ एक कौतुक भयौ जाकौ करो बखान॥
आनंदघन को ख्याल इक गायौ खुलि गए नैन।
सुनत महा विह्वल भयौं मन नहिं पायो चैन॥

ऐसे हूँ हरि संत जन मारे जमननि आइ।
यह अति देख हियो भयौ लीनौ सोच दबाइ॥"

यदि यह स्वीकार किया जाय कि वृंदावनदासजी का शोक से व्याकुल होना सं० १८१४ का है तो फाल्गुन शुक्ल १०मी से लेकर चैत्र कृष्ण प्रतिपदा सं० १८१३ तक के उपद्रव में मारे जानेवाले आनंदघनजी के विषय में चैत्र सुदो एकादशी सं० १८१४ को अर्थात् १६ दिन बाद चचा हितवृंदावनदास का यह शोक स्वाभाविक हो जाता है। ऊपर सं० १८१३ की विपत्ति का वर्णन कर उसके एकदम बाद इस घटना का उल्लेख करने से यही विश्वास होता है कि आनंदघनजी की मृत्यु की घटना उसी समय हुई थी। पर जयलाल की उक्ति का विरोध पड़ता है। इसलिये यह अनुमान करना पड़ता है कि यह शोकानुभूति सं० १८१८ की है जब उन्होंने 'हरिकलावेलि' समाप्त की थी। समाप्ति का समय कवि ने स्वयं दिया।

अठारह सौं सत्रहों वर्षगत जानियै।
साढ वदी हरि वासर बेलि बखानियै॥

इस पुस्तक में आनंदघनजी की मृत्यु पर चचा हितवृंदावनदासजी वर्तमानकालिक भाषा में शोक प्रकट करते है, उनका कवित्त यह है—

विरह सतायौ तन निबाह्यौ जब साँचो पन।
धन्य आनंदधन मुख गाई सोई करी है॥
एहो ब्रजराज कुँवर धन्य धन्य तुमहूँ कों।
कहानी की प्रभु यह जग में विस्तरी है॥
गाढौ ब्रजउपासी जिन देह अंत पूरी पारी।
रज की अभिलाषा सों तहाँ ही देह धरी है॥
बृंदावन हितरुप तुमहु हरि उड़ाई धूरि।
एपै साची निष्ठा जन ही की लखि परी है॥

× + ×

इस कवित की संगति बिठाने के लिये वृंदावनदासजी के पहले वचन का उपर्युक्त अभिप्राय ही लगाना पड़ेगा। विनिगमक प्रमाणों के अभाव में इसी पर संतोष करना पड़ता है। अतः निश्चय यही है कि आनंदघनजी की मृत्यु अब्दाली के दूसरे आक्रमण में सं० १८१७ में हुई।

नाम

६—घनआनंद या आनंदघन

आनंदघन कवि की कविता ही नहीं उनका नाम भी दुरवबोध है। इसका कारण कवि द्वारा अपने नाम के विविधरूपों का प्रयोग करना है। लाक्षणिक होने के कारण शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का कवि को ध्यान अधिक रहता है। बहुत से स्थलों पर तो कवि ने विरोधादि चमत्कार इसी प्रकार दिखाए हैं, जैसे "जीव सूख्यौ जाय ज्यौं ज्यौं भीजत सरवरी" मे रात भीजने के वाच्यार्थ या व्युत्पत्त्यर्थ को लेकर जीव के सूखने का विरोध है। पर उसी का लक्ष्यार्थ 'रात बीतना' के साथ कोई विरोध नहीं। इस तरह शब्दों के वाच्यार्थ के प्रति सजग रह कर उनका प्रयोग करना इनकी शैली का एक अंग है। इसके कारण कवि ने अपने नाम का कविता में प्रयोग सदा सार्थक और वाच्यार्थ के उपस्थापक के रूप में किया है। व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ व्याकरण की दृष्टि से सार्थक नहीं होता। इन्हें इसीलिये 'यदृच्छा' शब्द कहा जाता है। जिस प्रकार किसान अपने बछड़े का नाम 'डित्थ' रख लेता है और उस शब्द का न कोई अर्थ होता है और न उसकी अभिधेय में संगति होता है। इसी प्रकार के प्रायः संज्ञा शब्द माने जाते हैं। किसी व्यक्ति का 'लक्ष्मीपति' नाम हो तो नाम के वाच्यगुणों की संगति नामी में नहीं होती। कुछ ऐसे भी नाम होते है जो किसी प्रकार का समंजस अर्थ उपस्थित नहीं करते जैसे लक्ष्मीशंकर। इसीलिये संज्ञा शब्दों के संबंध में संस्कृत वैयाकरणों का यही नियम है कि उनकी आनुपूर्वी न बदलनी चाहिए और न उनके खंडों के पर्यायों का प्रयोग करना चाहिए।[१] ऐसा करने से भ्रांति हो सकती है। पर फिर भी अंकुशहीन कवि व्यक्तिवाचक नामों की आनुपूर्वी भी बदलते रहे हैं। उनके पर्याय भी देते रहे हैं और नामांश का प्रयोग समस्त के लिये करते रहे हैं। 'हिरण्याक्ष' के लिये 'हाटक लोचन' तथा सत्यभामा के लिये 'सत्या' या 'भामा' का प्रयोग संस्कृत के कवियों ने बहुत किया है।

आनंदघन ने अपने नाम के प्रयोग में भी इसी स्वतंत्रता का प्रयोग किया है। उन्होंने इसके पर्याय भी दिए हैं, आनुपूर्वी भी बदली है और अंश का प्रयोग समस्त के अर्थ में भी किया है। इनके नाम के लिये प्रायः निम्नलिखित शब्दरूप व्यवहृत हुए हैं।

---

१ - नागेशभट्ट—वैयाकरण मंजूषा, शक्ति विचार प्रकरण।

आनँदघन,[१] अनंदघन,[२] आनंद के घन,[३] आनंदपयोद[४] आनँद के घन,[५] आनंदनिधान,[६] पयोदमोद,[७] आनंद,[८] आनंदकंद,[९] आनंद सदन,[१०] आनंदमेघ,[११] आनंदमेह,[१२] आनंदमुदीर,[१३] आनंदअमीबरस,[१४], मोदपरमपयोद,[१५] सच्चिदानंदघन[१६], आनंदमेह[१७], घनआनंद[१८], आनंद के अंबुद[१९], मोदमेह[२०], आनंद अमृतकंद[२१]।

इस प्रकार अपने नाम के लगभग २१ प्रकार के रूप कवि ने प्रयुक्त किए है। इनमें कई बातें विशेष उल्लेखनीय हैं।

१—कवित्त सवैयों में घनआनंद शब्द की प्रधानता है। यहाँ ६०० बार से ऊपर इस शब्द का प्रयोग हुआ है। पदावली और निबंध रचनाओं में आनंदघन शब्द का व्यवहार प्रधान रूप से हुआ है। कहने को पदावली में भी दो स्थान पर घनआनंद का प्रयोग हुआ है।[१] कवित्त सवैयों में तो घनआनंद अपने विकृत रूपों के साथ सौ से ऊपर बार प्रयुक्त हुआ है, फिर कवित्त सवैयों में आनंदघन तथा उसके विकृत रूपों का जितना प्रयोग है उतना घनआनंद का पदावली निबंधों में नहीं।

२—आनंदघन यह विशुद्ध रूप केवल तीन छप्पय छंदों में व्यवहृत हुआ है। अन्यत्र इसके विकृत रूप आनँदघन अनंदघन आदि आए हैं।

३—घनआनंद अपने शुद्ध रूप में कहीं व्यवहृत नहीं हुआ। उसका सानुस्वार रूप घनआनँद ही सर्वत्र आया है।

४—शब्दों की आनुपूर्वी दो प्रकार की है। आनंदपूर्वक तथा घनपूर्वक। इनमें से घनपूर्वक आनुपूर्वी के अधिक विकार जैसे 'मेघ आनंद' 'पयोद आनंद' आदि आदि देखने में नहीं आते। केवल एक स्थान पर 'पयोदमोद' का व्यवहार हुआ है। आनंदघन के ही सब विकृत रूप मिलते है।

५—विकार का कारण छंदानुरोध प्रतीत होता है। आनंदघन या घनआनंद अपने विशुद्धरूप में छंदानुरूप नहीं है। इसीलिये कहीं आ को ह्रस्व बनाकर 'अनंदघन' किया गया है कहीं 'नं' को ह्रस्व बनाकर 'नँ' किया गया है। यही हेतु पर्यायों के प्रयोग करने तथा आनुपूर्वी बदलने में

१—सुहि० २८५, २ सुहि० १८७, ३. वही २४, ४. सुहि० ८२, ५. वही ६१, ६. वही २५६, ७. ३५२, ८. १६२, ९. आ० ह० ३४, १०. वही २६६, ११. ३२१, १२. ५१०, १३. वही ५१४, १४. वही ६७७, १५, वही ६७६।

१—देखिए आ० प० ५४० तथा १०४८।

प्रतीत होता है। आनंदघन शब्द तगणात्मक होने से कवित्त सवैयों के अनुकूल नहीं। इसलिये उसकी आनुपूर्वी बदलकर सगणात्मक बनाया गया है। आगे भी सगण बन सके इसलिये 'आनंद' के 'नं' को ह्रस्व कर दिया गया है।

"सालत बान समान हिये मुलहे घनआनँदजी मुख साधन" में भगण से सवैया प्रारंभ होता है। इस पंक्ति में पाँचवाँ भगण 'हे घन' का बनता है। इसके अनंतर फिर भगण की ही आवश्यकता है। यदि 'नं' को दीर्घ ही रखा जाय तो भगण की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'घन आनँद अपने चातिक को गुन बांध लै मोहन छोरियै जू' रस प्याय के ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यौं विष घोरियै जू" में सगण सवैया है। 'घनआ' का एक सगण हो गया, दूसरा सगण 'नं' को बिना ह्रस्व किए नहीं बन सकता। इस प्रकार कवित्त सवैयों की छन्दोंनुकूलता 'आनंदघन' या 'घन आनंद' किसी शब्द में नहीं है। फलत. कवि ने ह्रस्व दीर्घ का स्वानुकूल परिवर्तन कर लिया है।

शब्दों के विविधरूपों के जान लेने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि कवि को अपने नाम शब्द से अभिप्रेत अर्थ एक ही है या अनेक है। यदि अनेक हों तो अर्थानुरोध भी शब्द परिवर्तन का कारण हो सकता है। यदि एक ही अर्थ अभिप्रेत है तो परिवर्तन का कारण छंदोनुरोध ही मानना पड़ेगा।

उपर्युक्त प्रयोगों को परीक्षा करने पर दो प्रकार के अर्थ कवि के अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। एक तो 'आनंद के बरसानेवाले बादल' तथा दूसरा 'घनीभूत आनंदस्वरूप' या 'घनीभूत आनंदवाला'। दोनों अर्थ आनंदघन तथा घन-आनंद आनुपूर्वियों में आए हैं। जैसे—

आनंद के वर्षयिता के अर्थ में आनंदघन

बिरह नसाय दया हिये में बसाय आय।
हाय कब आनँद को घन बरसाय हो ।।

उसी अर्थ में घनआनंद

दुख धूम धुंधरि में घिरें घुटैं प्रान खग।
अबलौ बचै हैं जो सुजान तनकौ ढरैं ।।
बरसि बरसि घनआनँद अरस छाँडि।
सरस परस दै दहनि सब ही हरैं ।।

आनंदस्वरूप या आनंदवान के अर्थ में घन आनंद

घनआनँद है दुख तापत पावत।
क्यौं करि नाँवहि नाँव धरौं ।।

यह अर्थ बहुत थोड़े स्थलों में आया है। पहला अर्थ ही प्रायः व्यवहृत हुआ है।

इन दोनों शब्दों की अर्थपरंपरा पर विचार किया जाए तो घनआनंद और आनंदघन दोनों ही शब्द उपनिषद् आदि वेदांतग्रंथों में ब्रह्म के स्वरूप-बोधन के लिये प्रयुक्त होते हैं। सच्चिदानंदघन का खंड आनंदघन है। उसी के (ब्रह्म के) लिये कभी चिद्घनानंद विशेषण प्रयुक्त होता है। उसका अंश 'घनानद' या आनंदघन' हो सकता है। दोनों नाम साधुओं में अब भी प्रचलित हैं। ब्रह्म के चार गुण सत्ता, चैतन्य, घनत्व, तथा आनंदस्वरूपता माने जाते हैं। उनमें से 'आनंद' आनंदस्वरूपता का, 'घन' घनस्वरूपता का बोधक होता है। इस प्रसंग मे घन का अर्थ घनाभूत तथा अविचाली दोनों ही होते हैं। लुहार जिसपर रखकर लोहे को पीटता है पहले वह 'घन' या कूट कहलाता था। आजकल तो उसे 'निहाई' (संस्कृत निःस्थायी) या ऐन (सस्कृत अयन) कहते हैं और घन का अर्थ है बड़ा हथौड़ा। घन विशेषण द्वारा ही ब्रह्म को वेदांतियों ने कूटस्थ अविचाली बताया है। कवि ने भी दर्शन प्रसिद्ध अर्थ में उसी आनुपूर्वी के साथ चारों विशेषणों का एक पद में प्रयोग किया है। जैसे—

जै जै श्री वामन विशाल।
कृपासील महासील नरोत्तम नितहीं नित दीन दयाल।
सत्यंवद सत्वस्वरूप सत्यप्रतिज्ञ पूरन कृपाल॥
सच्चिदानंदघन अनर्घत्रिविक्रम पद नख जल जग सुजस जाल[१]

उपर्युक्त अर्थपरंपरा में घनानद में कर्मधारय तत्पुरुष समास माना जाता है। दोनों शब्द स्वतंत्र रूप से अपना अर्थ समर्पण करते हैं। कोई किसी का विशेषण नहीं बनता। साथ ही घनाआनंद यह असंहितरूप कभी प्रयुक्त नहीं होता। संस्कृत व्याकरण का यह प्रबल नियम है कि समस्त पद बिना संधि के नहीं रहता।[२]

कवि ने 'घन' शब्द को घनीभूत अर्थ में बहुत कम स्थलोंपर व्यवहृत किया है। प्रायः उसका बादल के अर्थ में प्रयोग किया है। आनुपूर्वी घनपूर्वक हो या आनंदपूर्वक इन्होंने 'आनंद के बादल' इसी अर्थ में प्रायः इसका व्यवहार

१—आ० प० ७३३

२—सिद्धांत कौमुदी समासाश्रय प्रकरण—"संहितैक पदे नित्या समासे।"

किया है। 'आनंदघन' 'आनंद के अंबुद' 'आनंद अमीबरस' आदि प्रयोग भेदों से भी यही मान्यता पुष्ट होती है। आनंदघन शब्द में तत्पुरुष समास माना है। घनपूर्वक आनुपूर्वी में भी आनंद के घन अर्थ को ही प्रायः माना है। इस अर्थ में फारसी शैली से शब्द में तत्पुरुष समास माना जा सकता है जिसमें उत्तर पद पूर्व पद बन जाता है जैसे दर्देदिल। आनंदघनजी 'आँसू प्रव'ह[२] के लिए 'प्रवाह आँसू' का प्रयोग करते हैं[१] इस प्रकार देखने में यही आता है कि अर्थ का अनुरोध शब्द परिवृत्ति का कारण नहीं है। 'आनंदघन' का भी उन्होंने आनंदस्वरूप अर्थ कहीं कहीं किया है जैसे—'जानप्यारे प्राननि बसत पै अनंदघन विरह विसम दसा मूक लौं कहनि है' इससे 'आनंदघन' और 'घन आनंद' दोनों के ही अर्थ 'आनंदस्वरुप' तथा आनंद के मेघ' अर्थ कवि ने दिखाए हैं। इनमें मेघ वाला अर्थ प्रधान रूप से आया है।

ऐसी स्थिति में यह निर्णय कठिन हो जाता है कि कवि का वास्तविक नाम क्या था। प्राचीन ऐतिहासिकों ने दोनों ही प्रकार से इसे समझा है। राधाचरण गोस्वामीजी ने 'भक्त वेलि सिंचन करी घनआनँद आनदघन' में दोनों का ही प्रयोग किया है। वास्तविक नाम कौनसा है यह नही कहा जा सकता। शिवसिंह, मिश्रबंधु तथा ग्रियर्सन ने आनंदघन ही नाम माना है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सबसे पहले इन्हें घन आनंद लिखा है। इसके बाद बहुगुना जी ने अपनी पुस्तक का नाम 'घन आनंद' रक्खा। कवि के नाम के विषय में बहुगुनाजी की यह संभावना है कि इनका वास्तविक नाम 'आनंद' था। इसी का विकसितरूप कवि ने 'आनंदघन' तथा 'घनआनंद' कर लिया है। इस संभावना में बहुगुनाजी ने युक्तियाँ देते हुए कहा है कि केवल 'आनंद' छाप से इनके कबित्त सवैये मिलते हैं। कवि राधा और कृष्ण दोनों का उपासक है। सुजान शब्द दोनों का ही विशेषण इन्होंने बनाया है। राधा के लिये 'आनंद की निधि' तथा श्रीकृष्ण के लिये 'आनंद को घन' शब्द का प्रयोग उसने किया है। बहुगुनाजी की आस्था है कि दोनों की भावना को प्रकट करने के लिये रसआनंद स्वरूप राधा का 'बोधक' आनंद और कल्याणकारी वृष्टि करनेवाले कृष्ण अथवा घनश्याम का 'घन' शब्द लेकर अपना नाम आनंदघन अथवा घनआनंद कवि ने रख लिया। इस नाम में मूलनाम तो आ ही गया

१—सुहि० १९६।
२—घ० क० ३९।

साथ ही उसकी राधा और कृष्ण की भक्ति का संकेत भी हो गया। इस तरह युगल छवि की उपासना के कारण कवि ने अपना नाम आनंद से विकसित कर आनदघन और घनआनद दोनों रूपों में रखा है।[१]

बहुगुनाजी ने इनका संबंध रीति के प्रसिद्ध कवि सोमनाथ शशिनाथ से किया है। शशिनाथ ने अपने वशवर्णन में आनंदनिधि नामक किसी अपने पूर्वज का उल्लेख किया है। बहुगुनाजी का यह भी अनुमान है कि ये आनंदनिधि आनंदघन ही थे। शशिनाथ का वंश वर्णन इस प्रकार है।

'सिद्धता में विमल वाशिष्ठ मुनिवर से,
और ज्यौतिष में नीलकंठ मित्र दिनकर से
तिनके पुत्र आनंदनिधि बड़े उजागर जानि'
तिनकौ जस सुदिगंत लौं महाउजागर आनि

आचार्य श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी इनके संग्रह ग्रंथ को 'घनआनंद ग्रंथावली नाम रखा हैं। 'घनआनंद नाम' खोज में 'घनआनंद कवित्त' के प्रकट होने के बाद व्यवहृत हुआ प्रतीत होता है। वही इस नाम व्यवहार का मूल प्रमाण है। रघुराजसिंह जू ने रामरसिकावली में 'घनआनंद ही नाम माना है।

'घनआनंद है नाम जिन सुनत हरत भव त्रास'

चचा हितवृंदावनदास ने आनंदघन नाम लिया है।

'आनंदघन कौ ख्याल इक गायो खुलि गऐ नैन'

हरिकलावेलि

भडौवाकार ने जो इनका समसामयिक था आनंदघन तथा घनआनंद दोनों ही नाम दिए हैं।

'वह ईस कहूं घनआनंद कौं जौं सुजान इजार की जूँ करतौ'
'मुडिया आनंदघन जानत जहान है।'

'सुधासार' संग्रह के संग्रहीता मथुरावासी नवीन ने 'आनंदघन जू के कवित्त' लिखा हे, यद्यपि कवित्तों में इनका नाम घनआनंद ही अधिक आया है। 'निबार्क माधुरी' में यही नाम दिया है। खोज में जितनी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं उनमें 'घन आनंद कवित्त' को छोड़कर सबमें आनंदघन ही नाम माना गया है। व्रजनाथ ने अपनी प्रशस्ति में घनआनंद

१—घनआनंद भूमिका पृ० ८४।

या आनंदघनजी नाम दिया है। श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल तो घनआनंद वास्तविक नाम तथा आनंदघन उपनाम मानते थे। वियोग बेलि की भूमिका में उन्होंने ऐसा ही लिखा है।

इस दशा में कोई दो टूक निर्णय करना बडा कठिन है। फिर भी कुछ हेतु ऐसे हैं जिनसे एक ओर विचारों का झुकाव अधिक होता है। कवि ने आनंद बरसानेवाला बादल अर्थ ही प्राधान्येन लिया है। यह बताया जा चुका है। यह अर्थ रूपक योजना का भी मूल समस्त कविता में बना है—यह शैली के विवेचन में स्पष्ट किया जाएगा। ऐसा अर्थ आनंदघन आनुपूर्व में ही अधिक सामंजस होता है। दूसरे जितने रूप आनंद पूर्वक आनुपूर्वी के मिलते हैं उतने घनपूर्वक के नहीं मिलते। धन पूर्वक के दो ही भेद प्रयुक्त हुए हैं। घनआनंद तथा 'पयोदमोद'। पर दूसरी आनुपूर्वी के १६ भेद मिलते हैं। अतः कवि का आग्रह आनदघन नाम पर अधिक प्रतीत होता है। यह आग्रह दो कारणों से ही हो सकता है। या तो यह कवि का वास्तविक नाम हो या काव्यनाम। फारसी साहित्य से प्रभावित आनंदघन काव्य नाम का उपयोग करते रहे हों यह संभावित है।

कवि वास्तविक नाम से भी अधिक आग्रही अपने काव्य नाम पर होता है। अतः जायसवाल जो का विचार कि आनंदघन कवि का काव्यनाम है ठीक प्रतीत होता है। फिर घनआनंद भी काव्यनाम का विकृत रूप है या कवि का वास्तविक नाम इसपर रघुराजसिंहदेव के प्रमाण से उसे वास्तविक नाम ही मानना चाहिए। घनानंद कवित्त पुस्तक का नामकरण भी उसी ओर संकेत करता है। व्यक्तिवाचक संज्ञा होने से घन आनंद में संधि अवश्य होनी चाहिए पर छंदोव्यवस्था के कारण असंहित रूप का व्यवहार हुआ प्रतीत होता है।

७—आनंद और आनंदघन

शिवसिंह सरोज में ही आनंदघन और आनंद दो कवि प्राप्त होते है। डाक्टर जार्ज ग्रियर्सन ने सबसे पहले दोनों की एकता स्वीकार की थी। इसी प्रकार राग कल्पद्रुम में आनंद और आनंदघन का अभेद माना है। मिश्रबंधु विनोद में आनंदकवि की दो पुस्तकें लिखी है 'कोकसार' और 'सामुद्रिक'। हमारे विवेच्य कवि ने अपना नाम आनंदघन के अतिरिक्त केवल आनंद भी रक्खा है—ज्यौं ज्यौं उत आनन पै 'आनंद सु ओप औरै। अतः आशंका का होना स्वाभाविक है कि दोनों कवि एक हैं या भिन्न भिन्न।

खोज रिपोर्ट में आनंद कवि की 'कोकमंजरी' रचना उपलब्ध हुई है। यह कामशास्त्र पर लिखी पुस्तक है। इसके अंत में कवि ने अपना समय दिया है संवत् १६६० की बसंत ऋतु।

'ऋतु वसंत संवत् सरस सोरह सौ अरु साठ।
कोक मंजरी यह करी धर्म कर्म करि पाठ॥'

कवि ने अपना नाम भी बताया है।

'कायथ कुल आनंद कवि बासी कोट हिसार
कोक कला इहि रुचि करन जिन यह कियौ विचार।'

इधर 'सुजानहित' आदि के लेखक आनंदघन कवि को किंवदंती प्रसिद्ध शायर अबुलफजल का शिष्य बताती है। इनका समय संवत १६०८ से १६५९ तक है। फिर यह संभव हो जाता है कि हमारे कवि ही कोकमंजरी के लेखक हों। सुजानहित में एक सवैया में कोकविद्या का अप्रस्तुतरूप में उल्लेख भी हुआ है।

''तरुनाई पै कोक पढ़ै सुघराई सिखावति है रसिकाई रसै।''

श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने इस आधार तथा अन्य इसी प्रकार के हेत्वाभास एकत्र कर प्रस्तुत कवि आनंदघन को सत्रहवीं शताब्दी विक्रमी का माना था। पर ये भूलभुलैया तभी तक विचारणीय थीं जब तक इनकी समस्त रचनाएँ उपलब्ध नहीं हो सकती थीं। अब तो 'मुरलिकामोद' में कवि का समय स्पष्ट हो गया है इसलिये ये सब विवेचन कवि के समझने की सीढ़ियाँ मात्र हैं।

८—जैनधर्मी आनंदघन

आनंदघन नाम वाले एक दूसरे कवि और हैं जो जैनधर्मानुयायी हैं। पहले यह संदेह किया जाता था कि वैष्णव धर्मानुयायी सुजान प्रेमी आनंदघन और जैनधर्मी आनंदघन एक ही हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इस विषय में सन् १९३८ में वीणा पत्रिका में एक लेख 'जैनधर्मी आनंदघन' शीर्षक से प्रकाशित किया था। उसमें दोनों को एक तथा रहस्यवादी माना था। इस संदेह की दृष्टि से ही विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने वैष्णव कवि आनंदधन की रचनाओं के साथ जैनी आनंदघन की रचनाएँ भी 'घन आनंद और आनंदघन' नाम से प्रकाशित की थीं और भूमिका में इसका उल्लेख किया कि दोनों कवि पृथक् पृथक् है।

एक स्वच्छंद प्रेम के कवि हैं दूसरे जैनधर्म के अनुयायी उदारभावना के कवि। वास्तव में जैनधर्मी आनंदघन का वैष्णव आनंदघन से कोई संबंध नहीं है। दोनों के समयों में लगभग सौ वर्ष का अंतर है। काव्यरचना में तो कोई साम्य है ही नहीं।

जैनधर्मी आनंदघन का दूसरा नाम लाभानंद भी था। जैन धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् 'ज्ञान विमल सूरि' ने इनके बाईस स्तवनों का जो 'आनंदघन चौबीसी' कहलाते हैं बालकपन से अभ्यास किया था। उन्होंने इन स्तवनों को लाभानंदकृत बताया है। दूसरे विद्वान् देवचंद्र ने अपनी 'विचार रत्नसार' पुस्तक में इनका एक पद्य उद्धृत कर उसे लाभानंदकृत बताया है। ५२ वें पद में स्वयं भी कहा है—

'नाम आनंदघन लाभआनंदघन'

लाभानंद जी के माता, पिता, स्थान आदि का ठीक ठीक पता नहीं चलता। रचनाओं का संवत् भी अज्ञात है। कवि का समय संवत् १६५० से १७१० तक प्रतीत होता है। आचार्य क्षितिमोहन सेन इनका समय संवत् १६१५ से १६७५ तक मानते हैं। जैन पंडित श्री यशोविजय ने इनकी प्रशंसा में अष्टपदी लिखी थी। यशोविजय जी ने मेड़ता नगर में इनके साथ कुछ समय बिताया था। इससे दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं। यशोविजय जी का समय निश्चित है। बड़ौदा के दभाई नगर में उनकी समाधि पर मृत्यु समय मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी संवत १७७५ लिखा है। यशोविजय द्वारा लिखी गई इनकी प्रशंसा से पता चलता है कि ये आयु में उनसे बड़े थे। अतः विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अंतिम भाग या १८ वीं शताब्दी के आरंभ में इनका मृत्युकाल माना जा सकता है।

जैन साधुओं की परंपरा में यह भी सुना जाता है कि इनकी भेंट दादू के शिष्य मस्कीन से हुई थी। दादू का जन्म समय १६०३ है तथा मृत्यु सं॰ १६६० है। इसके बाद मस्कीन का समय आता है। इस हिसाब से ये मस्कीन से आयु में छोटे थे।

इनके विषय में दो आख्यान प्रसिद्ध हैं :—

१—'लाभानंद जी कृत स्तवन एतला २२ दिसै छै यद्यपि बीजा हसैं तोही आपणे हाथे म थी। आव्य यशोविजय अणे आनंदघने लेख से उद्धृत।

१—कोई सेठ आनंदघन को वस्त्र भोजन दिया करते थे। एक बार आनंदघन के धर्मव्याख्यान के समय सेठ के आने में देर हो गई। लोगों के अनुरोध करने पर भी ये सेठ की प्रतीक्षा में बैठे नहीं। अपना कार्यक्रम समय पर प्रारंभ कर दिया। इसपर सेठ ने कुछ बुरा माना तो आनंदघन जी ने उनके वस्त्रादि उतारकर फेंक दिए।

२—एक बार किसी रानी ने अपने पति के वशीकरण के लिये इनसे मंत्र माँगा। इन्होंने उत्तर में लिख भेजा कि मैं तुम्हारे पति विषय में कुछ नहीं कर सकता। रानी ने इस लेख को ही मंत्र समझ लिया और ताबीज में बाँधकर गले में लटका लिया। अवसरवश उसका पति भी वशवर्ती हो गया।

यशोविजय सूर ने जो पद्य इनकी प्रशंसा में लिखे हैं उनमें से एक यह है :—

आनंदघन को आनंद सुजस ही गावत
रहत आनंद सुमति संग
सुमति सखि के संग नित नित दौरत
कबहूँ न होत दूर।
जस विजय कहे सुनो हो आनंदघन
हम तुम या मिलै हजूर—यशोविजयकृत आ० घ०, प० १

इनकी दो रचनाएं आनंदघन बहत्तरी तथा आनंदघन चौबीसी उपलब्ध हैं। दोनों मुक्तक गीतों के संग्रह हैं। चौबीसी में २२ ही पद्य हैं। और जब से इनका संग्रह उपलब्ध है तभी से इनकी संख्या २२ ही ज्ञात है। लोगों का तो यह विश्वास है, इन्होंने 'चौबीसी' नाम २४ तीर्थंकरों के कारण रखा होगा वास्तव में पद्य २२ ही लिखे हैं। इनमें से २२ तीर्थंकरों की स्तुतियाँ हैं। प्रत्येक के प्रारंभ में तीर्थंकर का नाम दिया है।

'रुषभ जिनेश्वर माहरोरे और न चाहू कंत।
रीझ्यो साहब संग न परिहरे मांगे सादि अनंत ॥'
आ० चौबीसी, पद १

परंतु इनके भावों में सांप्रदायिकता का संकोच नहीं है। कविता में तीर्थंकरों के प्रति प्रेमभक्ति प्रदर्शन किया गया है। दार्शनिक भाव भी

यत्र तत्र व्यक्त किए हैं। रहस्यवाद की शैली का कहीं कहीं प्रयोग किया गया है। उद्बोधन के एक पद में कवि कहता है:—

"हे दुलहिन तू बड़ी बावली है। तेरा पति जागता है और तू सोती है। हमारे पिया तो चतुर हैं और हम बिलकुल अज्ञानी। न जाने क्या होगा। चाहिए तो यही कि हम आनंदवर्षी प्रियतम के दर्शनों की प्यासी होकर अपना घूँघट खोल उसे देखें"।[१] यहाँ दुलहिन सुमति है पति परमसत्ता। भाषा राजस्थानी है। संस्कृत तथा अपभ्रंश की सी शब्दावली का प्रयोग है।

९— नंदगाँव के आनंदघन।

नंदगाँव के भी आनंदघन एक कवि थे। इनका इतिहास इस अंश में हमारे कवि से मिलता है कि दोनों वैष्णव हैं। नंद गाँव का उल्लेख हमारे कवि ने भी किया है।

"नंदगाँव बरसाने बसौं, सोभा निरखौं हरसौं लसौं"

पर नंदगाँव के आनंदघन ब्राह्मण थे, ये कायस्थ। उनके वंशज अभी तक नंदगाँव में विद्यमान हैं। उनका इतिहास निश्चित रूप से ज्ञात है। संवत १५५३ में जब श्री चैतन्य महाप्रभु नंदगाँव पधारे थे तो उन्होंने जिस मंदिर में भगवद्दर्शन किए थे उसके विग्रहों की स्थापना नंदगाँव के आनंदघन जी ने की थी। वे श्री चैतन्य महाप्रभु से मिले थे। अतः उनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ठहरता है। ये सुजान प्रेमी आनंदघन से १०० वर्ष से भी अधिक पहले के हैं।

१०—नानक के टीकाकार आनंदघन

डाक्टर श्री केशरीनारायण जी ने 'संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ' में घन-आनंद की रचनाओं पर लिखे एक विस्तृत लेख में संकेत किया है कि एक और भी आनंदघन हैं जो न जैनी हैं न प्रेमी और न वैष्णव भक्त। वे नानक जी के 'जप जी' के टीकाकार हैं। यह टीका गुरुमुखी लिपि मे लिखी प्राप्त है। डाक्टर साहब लंदन संग्रहालय से उसकी माइक्रो फिल्म ले आए है। इस टीका के आरंभ और अंत में कुछ पद्य हैं जिनमें लेखक ने अपने गुरु का नामोल्लेख किया है। ये सिक्खों के दसवें गुरु की शिष्य-परंपराओं में रामदयाल के शिष्य थे।

१—आनंदघन बहत्तरी, पद संख्या १९

श्री गुरु राम दयाल विशानंद करुणा रवण।
ना चरनन उन्यार आनंदघन बरनन करै ॥

टीका का विवरण तथा रचना काल संवत १८५४ है।

"गुरूनानक जपजी कियौ निजमत कौ निरधार
आनंदघन टीका करै ताकौ अर्थ विचार
संमित पुराण सति अर्द्धसत युगम अधिक है जासु
मानु मासु संकुपुरी कीन्हयो लिखन बिलासु"

टीका की भाषा पछाई है। श्री डाक्टर केशरीनारायण जी का विचार है कि आनंदघन पदावली में जो पंजाबी के पद मिलते हैं तथा 'इश्कलता' में भी पंजाबी का जो व्यवहार है वह संभवत: इन्हीं पंजाबी आनंदघन की रचनाएँ हों। केवल नाम साम्य के कारण विभिन्न कवियों की रचनाओं का एकत्र संग्रह हो गया हो। पर पंजाबी भाषा की रचनाओं का ब्रज की रचनाओं के साथ भावसाम्य वैसा ही है जैसा कवित्त सवैयों का पदावली से। अत: आनंदघन पंजाबी के पदों के इनके पदों के साथ मिलने की अधिक संभावना नहीं लगती। वृंदावन में 'जपजी' के टीकाकार का प्रसंग दुष्कल्प ही है। इस तरह आनंदघन तीन हो जाते हैं; जैनी, नंदगाँव के, और वृंदावनवासी सुजान प्रेमी।

"कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"

आनंदघन और ब्रजनाथ

आनंदघन की रचनाओं के संग्रह करनेवाले तथा उनके प्रशंसक एक ब्रजनाथ नामके व्यक्ति हैं। 'घनआनंद कवित्त' इन्हीं का संग्रह किया हुआ ग्रंथ है। इन्होंने आनंदघन की प्रशंसा कवि की ही शब्दाली में बड़े मार्मिक ढंग से की है। प्रशस्ति में मुख्यतया दो भावों का उल्लेख है। एक तो आनंदघन जी की कविता अपने समय के अन्य कवियों से विलक्षण सिद्ध की है, दूसरे प्रेमहीन व्यक्तियों की समझ में आनेवाली यह रचना नहीं है यह बताया गया है।

शिवसिंह सरोज में एक ब्रजनाथ का उल्लेख है जो रागमाला के कर्त्ता बताए गए हैं। इनका कविताकाल संवत १७८० है। 'धाम चमत्कार' में आनंदघन जी ने स्वयं यह कहा है कि उन्होंने ब्रज और वृंदावन के माहात्म्य का वर्णन ब्रजनाथ की प्रेरणा से किया है।

'ब्रज सरूप कछु मनमें आयो
सो हठ कै ब्रजनाथ कहायो'
धामचमत्कार

इससे ये आनंदघन जी के समसामयिक ही प्रतीत होते है। 'घनआनद कवित्त' में जो समस्त रचनाओं का संग्रह नहीं है इसका कारण भी यही प्रतीत होता है कि इस संग्रह के बाद भी आनंदघन जी कविता करते रहे होंगे।

प्रथम परिच्छेद (ख)

सुजान

यह बताया जा चुका है कि घनआनंद जी की कोई प्रेयसी थी जिसके अनुरोध से उन्होंने मुहम्मद शाह की सभा में 'ध्रुपद' गाया था और शहंशाह के कहने से नहीं गाया था। इस प्रेयसी का नाम 'सुजान' था यह भी किवदंती है। निश्चित प्रमाण कोई नहीं। इस प्रकार की व्यक्तिगत प्रेम की किसी न किसी प्रकार की किवदंती प्रेममार्गी सभी कवियों के साथ लगी है। बोधा, आलम, रसखान, ठाकुर सभी किसी न किसी स्त्री या पुरुष विशेष के प्रेम में आसक्त कहे जाते है। इस प्रकार का आभास इनकी कविताओं में भी मिलता है। घनआनंद ने अपने कवित्त और सवैयों में प्रायः 'सुजान' या उसके पर्याय का प्रयोग किया है। फलतः यह आशा होती है कि इस शब्द के प्रयोगों का परीक्षण किसी निश्चित लक्ष्य पर पहुँचाएगा। पर नीचे दिए गए प्रयोग विवरण से किसी प्रकार के निर्णय पर पहुँचने की अपेक्षा और अधिक संदेह में पड़ जाते हैं। यह निर्णय नहीं कर सकते कि 'सुजान' कौन थी। १०५५ के लगभग पद घनआनंद जी के उपलब्ध हो चुके हैं। उनमें 'सुजान' के दर्शन नहीं होते। ३५ उनकी निबंध रचनाएँ हैं उनमें से 'इश्कलता' में सुजान तथा उसके विभिन्न पर्यायों का प्रयोग किया गया है। कवित्त सवैयों में भी ऋतुवर्णन, दर्शन और भक्ति के पद इससे रहित हैं। सब मिला कर २५० बार 'सुजान' शब्द का प्रयोग हुआ है। विवरण निम्न प्रकार से है।

'सुजान १८२ बार'
'जान १४८ बार'

'जानराय १० बार'
'जानी ८ बार'
'जानमनि २ बार'
'ज्यानी १ बार'

अर्थ भी एक नहीं है। ११ प्रकार के अर्थों में यह प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। इसका आभास नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट होगा।

१—श्रीकृष्ण के अर्थ में

(क) "काहे को सोच मरै जियरा परी तोहि कहा विधि वातन की है
हैं घनआनंद स्याम सुजान सम्हारिहु चातक ज्यौं सुख जी है"
कृ० क० १५

(ख) "साधन पुंज परै अनलेखें पै हौं अपने मन एको न लेख्यौ
तातें सबै तजि स्याम सुजान सों साहस औरें हिये अवरेख्यौ"
वही १४

२—राधा के अर्थ में

(क) 'हाहा हे सुजान आजु दीजै प्रान दान नेकु
आवत गुपाल देखि लीजै बनतै बनै

सुहि ४०७

(ख) "गोकुल नरेस नंद बंस को प्रसंस चंद
सोभा सुख कंद प्रेम अमिय निवास है
सोहित चकोर चोंप तोहित मरयौ हो रहै
सुनियै सुजान सौन माधुरी बिसास है

× × × ×

"जगत में जोति एक कीरति की होति है पै
तो तैं राधे कीरति के कुल को प्रकास है"

सुहि० १३०

३—राधा और कृष्ण दोनों के अर्थ में
"दोऊ अदभुत देखौ रसिक 'सुजान' क्यों न
लेहिं देहि स्वाद सुख आनँद अदेह को

सुहि० ४३३

४—प्रिय पुरुष के अर्थ में

काहू कंजमुखी के मधुप है लुभाने जानै
फूले रसभूले घनआनंद अनत ही

× + ×

सुंदर 'सुजान' बिन दिन इन तम सम
बीतै तभी तारनिनौं तारनि गनत ही

सुहि० २७

५—प्रेयसी स्त्री के अर्थ में

(क) 'तेरी सों ऐरी 'सुजान' तो औंखिन देखिए आँखि न आवति मोपै ।
सुहि० १८५

(ख) 'अलबेली 'सुजान' के पायनि पानि परचौ न टरचौ मन मेरौ भवा'
सुहि० १३

६—ऐसे विशेषण रूप में जो स्त्री और पुरुष दोनों के लिये प्रयोक्तव्य हो

(क) 'रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहुँ नहिं आन निहारियै
एक ही जीव हुतो सुतो वार्‌यौ 'सुजान' सकोच औ सोच सहारियै
रोकी रहै न दहै घनआनंद बावरी रीझ के हाथनि हारियै
सुहि० ४१

(ख) घनआनँद मीत 'सुजान' लखै अभिलाखनि लाखनि भाँति रई।
सुहि० १४५

७ - ज्ञानी या चतुर के अर्थ में

(क) एजू 'सुजान' जनाऊ कहा बिन आरति हो अति या बिधि आरत
सुहि० ४३९

(ख) हिय की गति जानन जोग 'सुजान' हो
कौन सी बात जो आहि दुरी
सुहि० ३८४

८—घन आनंद या आनंद घन विशेषण रूप में

आनंद के घन के 'जान' राय हौजू
मिलेहू तिहारे अनमिलै की कुसल है
सु० ६१

(ख) 'नयौई रसिक घनआनँद 'सुजान' यह
किधौं प्यारी तेरे नैन मैन की निकाई है'

सुहि० ६५

९—'जान' अर्थात् जीवन के दाता के अर्थ में
(क) जीवहि जिवाय नीके जानत 'सुजान' प्यारे

सुहि० ३५५

(ख) 'सब ही विधि 'जान' करौ सुख दान
जियावत प्रान कृपातन हो'

वही ३५१

१०—प्रेमी के अर्थ में
'नित लाज भरे हित ढार ढरे
निखरे सुखरे सुखदायक है

× × ×

घिरि घूँघट पैंठत 'जान' हियौ
निपटे निबटे नटनायक हैं'

सुहि० ३७३

११—व्यक्ति वाचक संज्ञा के रूप में
(क) 'दुख घूम घूंघरि में घिरै घुटे प्रान खग
अब लौ बचे हैं 'सुजान' तन कौ ढरै'

सुहि० ५४

(ख) 'अधर लगे आनि करिकैं पयान प्रान
चाहत चलन ये संदेसौ लै 'सुजान' कौ'

वही ५४

शब्द का स्वरूप भी एक नहीं है। सुजान के अतिरिक्त पाँच पर्याय प्रयुक्त हुए हैं। जान, जानराय, जान, जानी तथा जानमनि। इनकी प्रयोग संख्या पहले बताई जा चुकी है।

जहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ घनआनंद शब्द भी किसी न किसी रूप में मिलता है। ऐसे पद्य तो हैं जिनमें 'घनआनंद' है सुजान नहीं। इसके विपरीत देखने में नहीं आया। जहाँ दोनों है वहां विशेष्य विशेषण भाव के तात्पर्य से प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं।

'मीत सुजान अनीति करौ जिन हाहा न हूजियै मोहि अमोही।'

× × ×

'हौ घनआनंद जीवन मूल दई कित प्यासिन मारत मोही।'

सुहि० ७

यहाँ पर 'घन आनंद' कोरा कवि नाम ही नहीं है। वाक्य में वह साभिप्राय प्रयुक्त है। अन्यथा 'प्यासनि मारत मोही' वाक्यांश निरर्थक हो जायगा। फलतः 'घनानंद' को सुजान का विशेषण मानना पड़ेगा। इसके विपरीत

'आन तिहारियौ हो घनआनँद कैसें उदास भए रहनो है।
जान है होत इते पै अजान जौ तौ बिन पावक ही दहनो है'

सुहि० ५

में घन आनंद विशेष्य लगता है जान उसका विशेषण। इस विशेष्य विशेषण भाव से यह धारणा संदिग्ध हो जाती है कि 'घन आनंद' प्रेमी हैं 'सुजान' प्रेयसी।

ऐसी स्थिति में कवि के शब्द प्रयोग की सहायता से किसी प्रकार का ऐतिह्य का निर्माण करना उचित नहीं हो सकता।

रचनाओं के परीक्षण से इतना निश्चित अवश्य हो जाता है कि सुजान नाम की कोई स्त्री थी जिसपर घन आनंद मुग्ध थे। उसके रूप सौंदर्य, विलास चेष्टाओं, वेश भूषा, नृत्य गान आदि का वर्णन जो कवि ने किया है वह स्वानुभूत, प्रत्यक्षदृष्ट है। सुजान के नाम से सब लिखा गया है जो पूर्वोक्त तत्व को प्रमाणित करता है।

सुप्तोत्थ सुजान का रूप वर्णन करते हुए कवि कहता है कि 'रस के आलस्य में सोई हुई सुजान सोकर उठी है। पीक पगी पलकैं अभी पूरी खुली नहीं हैं। मुख पर कुछ और ही चमक है। बाल मुख पर फैले हुए हैं। अँगड़ाती, जंभाई लेती, लज्जा अनुभव करती हुई वह दिखाई पड़ती है। अंग अंग में कामदेव की दीप्ति झलक रही है। ओठों में अर्ध-स्फुटित बातें है। इसपर लड़िकाई की आनि छलकती[1] सी है।

१—रस आरस मोय उठी कछु सोय लगी लसैं पीक पगी पलकैं।
घनआनँद ओप बढ़ी मुख औरै सु फैलि फबीं सुथरी अलकैं।
अँगराति जम्हाति लजाति लखें अँग अंग अनंग दिपैं झलकैं।
अधरानि में आधियै बात धरैं लड़कानि की आनि परैं छलकैं।

सुजान मदिरा पीती थी। उसके मद-डूबे सौंदर्य पर कवि मुग्ध हुआ है। वह हँसती है, झुक झुककर झूमती है और चौंककर देखती है। पलक कुछ खुल जाते हैं और फिर ढक जाते हैं। जक सी लग जाती है। अपने को जब सँभाल नहीं सकती तो नशे में भड़क कर बकने लगती है। ऐसे में लज्जा भी मानो रीझकर एक ओर खड़ी हो जाती है।[१]

वह नाचती थी तो अपने घूघरे कटाक्षों से धूम मचा देती थी। अंगों का मटकना, नाच का चटकना और उसकी विशेष प्रकार की भावमुद्रा के पीछे पीछे नेत्र लग जाते थे। नाच की अच्छाई पर तो बुद्धिमानी बिक जाती। घनानंद के प्राण उसके लाल तलुओं के नीचे नीचे लगे से डोलते थे।[२]

उसकी वाणी का सहज रूप इतना अच्छा था कि वीणा के बोल भी अच्छे नहीं लगते थे। हँस देती तो दाँतों की आभा से चंदन को भी फीका कर देती। इसे देखकर घनानंद जी का मन कामरस मे डूब जाता था। स्वर मदिरा के समान मादक था। इसके लिये सुजान का कंठ मानो सुराही थी; ओठ प्याले तथा पीनेवालों के कान कंठ थे।[३]

वह वीणा बजाती तो घनानंदजी लट्टू हो जाते थे। वीणा उसके हाथ में रहती और गूँजता था इनका मन। वह वीणा बजाती कि इनका मन स्वर भरने लगता था। सुजान मीड़ चढ़ाती और घनानद चौगुने रंग से गरजने लगते। प्यार से तार खीचती तो सुघड़ाई भी मानों लज्जित हो जाती थी।[४]

सुजान गाती थी तो लोग लोट पोट हो जाते थे। मानों उसके स्वर बाण थे जो बिना कमान से छूटे ही लोगों को घायल कर देते थे।[५] स्वर इसका महीन था मोटा नहीं और जोश के साथ गाती थी मानो नाराज हो गई हो। इसका कारण था रूप का गर्व।[६]

१—दृग छाकत है छवि नाकत ही मृगनैनी जबै मधुपान छकै।
घन आनंद भीजि हँसै हुलसै झुकि झूलति घूमति चौकि चगै।
पल खोलि ढकें लगि जात जकै न सम्हारि सकै बलकै रुबकै।
अलबेली सुजान के कौतुक पै अति रीझि इकौसी है लाज थकै।

२—सुहि० १२७

३—वही १३३. १८६

४—वही १३५

५—वही १११

६—रूप लाड़ जोबन गरूर चोप चटक सौं,
अनखि अनोखी तान गावै लै मिहीं सुरैं।

इसके भूषण सौंदर्य का अनेकत्र सामूहिक रूप से तथा एकैकशः वर्णन किया है जैसे उसकी साड़ी का, चूड़ियों का, छल्ले का आदि आदि। किसी दिन सजधज कर अपने मनभावन मीत घनानंद जी को रिझाने के लिये चली। मंजन किया। अंजन लगाया। भूषण वस्त्र पहिने। जुड़वा भौहे टेढ़ी तनकर शोभित हो गई। अंग अंग पर सौंदर्य की चमक छा गई। मानो शोभा की नदी उफनाकर चली हो। उसका देखने का ढंग दुलार भरा था। वाणी अमृत सी मधुर थी और श्वासों से सुगंधि निकलती थी।[1]

गौर वर्ण सुजान काली साड़ी पहनती तो ऐसी लगती मानो काली घटा में बिजली स्थिर हो गई है। अथवा चाँदनी की गोद में अमावस आ गई है। अथवा धूमपुंज में अगिनी ज्वाला है जो आँखों को शीतल लगती है या फिर शृंगार ही छवि पर छा गया है।[2]

उसके गोरे हाथों पर पन्नी की पहुँचियाँ नीलमणि की बनी पछेलिया और सुंदर चूड़ियों को देखकर तो कवि का मन सुजान के हाथों में हो जाता था।[3]

उसकी क्षीण कटि, कोमल पैर 'तन' उदर तथा मदघूर्णित नेत्र, सहज कटाक्ष आदि का वर्णन भी आलंकारिक ढंग से किया गया मिलता है।

उसके हास्य तथा लज्जा से जो सौंदर्यवृद्धि होती थी घनानंद के भावुक हृदय ने उसे भी अंकित कर दिया हैं। चंद्रमा से भी अधिक सुंदर उसका मुख सहज प्रिय था पर घनानंद के साथ हँसकर तो ऐसी लगती थी मानो चमेली की चौलरी माला वक्ष पर फैला दी गई हो। लज्जा के लिये घूँघट निकालती तो लज्जा ही लज्जित हो जाती। आँखों में बातें हो ही जाती थीं वस्त्रावरण व्यर्थ रहते। शील की मूर्ति सुजान पर लज्जा का यह सौंदर्य इतना बरसता कि वह देखने से भी दिखाई न पड़ती थी।[5]

उसके आलिंगन, सुरत, सुरतांत आलस्य, सुप्त सौंदर्य आदि के जो वर्णन किये हैं वे यथार्थ और अनुभूत लगते हैं। इन वर्णनों को पढ़कर यही अनुमान

१—वही १६७
२—वही २३८
३—वही ११५
४—देखिए सुहि० २०. १६, १०२, तथा १०६, १८, ४०२
५—सुहि० १७३, १७४।

होता है कि कवि ने अपनी प्रेयसी का वर्णन किया है, किसी कल्पित नायिका का नहीं। ऐसे पद्य भी मिलते हैं जिनमें आनन्दघन जी के व्यक्तिगत जीवन की कहानी कही गई मिलती है और उनमें सुजान के विरह का सन्ताप व्यक्त है। नीचे लिखा छप्पय देखा जाय। कवि अपनी दशा पर खेद अनुभव करता है कि उसके हृदय में जैसी बीत रही है वह किसे बताए। हृदय जला जाता है। दुःखजाल घेरे हुए है। सुजान का दुसह वियोग और ध्यान में उसी का संयोग सदा बना रहता है। समय बिताया नहीं जाता। मन इधर उधर भटकता है। दैव की रचना देखकर मन खीझता है कि मुझ जैसे को बनाने से उसका क्या काम सरा :

'कहियै काहि अनाथ हाय जो मो मधि बीतै।
बरनि बुझौं दुख जाल घरी निसि बासर रीतै।
दुसह सुजान वियोग बसै ताही संयोग नित।
बहरि परै नहि सकै भ्रमै जियरा जित कौ तित।
अहो दई रचना निरखि रीझ खीझ मुरझौ सु मन।
ऐसो बिरंचि बिरंचि को कहा सरचौ आनंदघन[१]॥

× × ×

इस पद्य में अध्यात्म दृष्टि चाहे कुछ भी अर्थ देखे पर यह भक्तिभाव की अभिव्यक्ति नहीं लगती। न ही परंपरागत विरह का वर्णन है। 'सुजान' शब्द ऐसे ढंग से प्रयुक्त हुआ है कि वह पद्य के भाव को अपने ऊपर केंद्रित करता है। कवि ने अपना दुःख इसमें गाया है।

कुछ बाह्य प्रमाण भी ऐसे मिलते हैं जिनसे आनंदघन जी का सुजान से प्रेम प्रमाणित होता है। ब्रज भारती, आषाढ़, संवत १९९८—पृष्ठ ८ में निम्न लिखित पद्य 'सुजान' संबंधी प्रकाशित हुआ है इसमें ऐसे व्यक्तियों का जो बाद में बड़े प्रसिद्ध संत बने हैं—बारांगनाओं से प्रेम दिखाया गया है—

चिंतामणि होकरियाँ उस विल्व मंगल छो सुरझाया।
रूपमंजरी रूपधर्‌या तब नंददास उरझाया।
फिर सुजान महबूब खूब से आनंदघन मन माया
श्री हरिदेव सुजान सखी अब श्रीधरनू अपनाया

× × ×

१—वही २८६

सुजान महबूब से आनंदघन का प्रेम इसी प्रकार था जिस प्रकार रूप-मंजरी से नंददास का, चितामणि से विल्वमंगल का तथा सुजान सखी से श्रीधर का। पद्य के लेखक श्री हरदेव हैं। पद्य का 'महबूब' (प्रिय) शब्द विशेष विचारणीय है। 'इश्कलता में अनेकों बार इस शब्द का व्यवहार हुआ है। "जिगर जान महबूब अमाने को बेदर्दी दैदा है" में महबूब 'जान' अथवा 'सुजान' का विशेषण है। ऊपर के पद्य में साहचर्य नियम से यह भी ध्वनित होता है कि सुजान कोई वेश्या थी। विल्वमंगल को अपने प्रेमपाश में बाँधनेवाली वेश्या ही थी।

लखनऊ के श्री भवानीशंकर जी याज्ञिक से आनंदघन के विषय में चार भड़ौवा छंद प्राप्त हुए हैं जिनसे सुजान के व्यक्तित्व और आनंदघन के साथ उसके संबंध पर प्रकाश पड़ता है।

पहले सवैया में भगवान से आनंदघन ने यह प्रार्थना व्यक्त की है कि वह उन्हे सुजान के इजारबंध की जू बना देता जिस से कभी सुजान खुजाने में उन्हें छू लेती या कभी वही रेंगता हुआ उसके अंगों का स्पर्श पा लेता। उसका रस पान (रक्त) भी कर लेता तथा कभी पकड़ा जाने पर उसके हाथ से मरने का सौभाग्य भी पा जाता।

कबहूँक खुजावन में छुवती तिहि आनंद कौ तब हौं भरतौ।
तब रेंगतो केहुक अंगन मैं निज भाग तिही रस सौं भरतौ।
कहुँ चौंकि कै भाग न मो गहती तब हौं उन हाथन सौं मरतौ।
वह ईस कहूँ घनआनँद को जो सुजान इजार की जूँ करतौ॥

× × ×

इस पद्य में घनानंद के ऐसे कवित्त सवैयों की ओर कटाक्ष है जिनमें वह सुजान के पैरों का भौंरा अपने मन को बताते हैं। अपने सिर को उसके पैरों पर घिसते हैं।

दूसरे कवित्त में आनंद घन को 'हुरकिनी को बंदा कहा है। तीसरे में कहा गया है 'हुरकिनी सुजान तुरकनी को सेवक है, तजि रामनाम वाको पूजै काम धाम है'।

चौथे पद्य में इसी प्रकार के जुगुप्सित अनेक संबंध घनानंद और सुजान के व्यक्त किए हैं। सारा पद्य ही उद्धृत करना ठीक रहेगा।

मुदित आनंदघन कहत विधाता सों यों, खाल को आसन दोजो गारी मोहि गावेगी।
मो मुख को पीकदान करियौ सुजान प्यारी, हुरकिनो तुरकिनो थुक्कै सुख पावेगी।

धोती को इजार दुपटी को पेशबाज और, देहुगे रुमाल ताको पूछना बनावेगी।
पगिया पायंदाज कीजियौ गरीबनिवाज, मरि गए मों मन पलंग पर आवेगी॥

× × ×

इसमें भड़ौवा कार की निंदा के झाड़ झंकार में कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होता है। यह तो सिद्ध होता ही है कि आनंदघन का सुजान से प्रेम था। साथ ही वह कुलटिनी अर्थात् यवनी वेश्या थी, यह भी प्रमाणित हो जाता है। घनानंद जी ने सुजान को ही भक्तिजीवन में भी पूज्य बनाया था, इसका भी संकेत—

'तजि राम नाम वाको पूजै काम धाम है'

में मिलता है। निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि 'आनंदघन' और 'सुजान' के प्रेम की कहानी सत्य है।

राग कल्पद्रुम में दो ऐसे राग मिलते हैं जो किसी सुजान के लिखे प्रतीत होते हैं। इनमें मुहम्मदशाह से भी उसका संबंध व्यक्त होता है। पहला पद्य इस प्रकार है—

किरपा करो रे मो मन सइयाँ तन मन धन
न्यौछावर करहूँ परहूँ पइयाँ।
मुहम्मदशाह सुजान अब कहि भाग हमारे जागे
लेहु बलैयाँ सुरजन सइयाँ

दूसरा यह है

सिपत मणि अल्ला नबीयमणि मुहम्मद दोउ जगमणि
चत्र दिश मासूम पीरनमणि मुरतजा अली कीन:
वासर मणि दिनकर रजनीमणि चंद्र तारनमणिध्रुव
मलकनमणि जबंरइल यह सब जगत में लीनो वीन:
पातालमणि शेष शेषमणि अवनी अवनिमणि नाम
नाममणि अरस अरसमणि कुरस लौहमणि कलमा
तुरंगमणि बुराक गजनमणि एरावत राजनमणि
इंद्र गिरनमणि सुमेर चंचलमणि मीन
किताबमणि कुरान दीनमणि कलमा अवदनमणि
आदम कामनमणि हवा रागनमणि भैरो भाषामणि

ब्रज की जोतिमणि दीपक दीपकमणि नार दोजक
शीतल भन्यो मिहिस्त एती मात 'सुजान' अस्तुति कीनी[१]

पहले पद्य में 'सुजान' मुहम्मदशाह से विनय करती प्रतीत होती है। सुजान का मुहम्मदशाह' का विशेषण मानें तो 'परहु पइयाँ' वाली पंक्ति का अर्थ समंजस नहीं होता। यह राग का पद है। सुजानस्यात यह कभी मुहम्मदशाह के सामने गाया होगा। दूसरे पद्य में तो केवल 'सुजान' का यवनी होना प्रमाणित होता है।

घनानंद के कुछ पद्य ऐसे भी हैं जिनमें केवल सुजान का व्यवहार है घनानंद का नहीं। संग्रहकारों ने उन्हें सुजान का समझ लिया है पर रचना शैली इन्हीं की है। नवीनकृत 'सुधासार संग्रह' में सुजान नाम से कुछ पद्य मिलते हैं जिनमें निम्नलिखित सवैया निश्चित रूप से आनंदघन जी का है। शृंगार संग्रह में उन्हीं के नाम से दिया भी है।

आपु ही तें तन हेरि हँसे तिरछे करि नैनन नेह के चाउ मैं।
हाय दई सु बिसारि दई सुधि कैसो जरौ सु कहौ कित जाउ मैं।
मीत सुजान अमीत कहा यह ऐसी न चाहिए प्रीति के भाउ मैं।
मोहनी मूरत देखिबैं कौं तरसावत हौ बसि एकही गाउ मैं[२]

× × × ×

दो पद्य और हैं जिनमें एक सवैया है दूसरा कवित्त।

वेदहु चारि की बात कौं बाँचि पुरान अठारहु अंग में धारैं।
चित्र हूँ आप लिखै समझै कवितान की रीति मैं वार तैं पारैं॥
राग कौं आदि जिती चतुराई 'सुजान' कहै सब याही के लारैं।
हीनता होय जौ हिम्मत की तौ प्रवीनता लै कहा कूप मैं डारैं॥

× × × ×

पहलै तौ नैनन सौं नैनन मिलाय फिर,
सैनन चलाय हरिलीनौ चित्त चाय चाय।
अब क्यों कहत गुरु लोगन की संक मोहिं,
मारत निसंक काम कासौं कहौं जाय जाय।

१—घनानद ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ६५ से उद्धृत
२—देखिए घनानंद ग्रंथावली, प्रकीर्ण २६।

एरे निर्दयी कान्ह कहत सुजान तोसों,
तेरे बिन देखे आँखें लहै झर लाय लाय।
दूर जो बसाय तो परेखौ हूँ न आय
अरे निकट बसाय मीत मिलत न हाय हाय[१] ॥

यह दोनों पद्य घनानंद की प्रेयसी द्वारा रचे माने जाते हैं[२]। राग कल्पद्रुम के प्राप्त हुए पद्यों की रचनाशैली इन पद्यों की शैली से भिन्न है। पहली रचना अत्यंत साधारण है। ये पद्य अपेक्षाकृत परिष्कृत शैली में हैं। सुजान वेश्या के विषय में कवयित्री होने की कोई किंवदंती तो प्राप्त नहीं होती है जैसी कि 'आलम के 'सेख' की है। इनके साथ ही पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने घनानंद ग्रंथावली की भूमिका में सुजान कृत ११ पद्यों का उल्लेख किया है। उनमें से एक तो यही है जो 'सुधासार' में प्राप्त है। 'पहले तो नैनन सों नैनन मिलाए' आदि और शेष दस आपने उद्धृत किए हैं, इन में से दूसरा पद्य निम्न प्रकार हैं—

'हेत पगी रस भींनी चितौन चितै हम त्यौं अँखियान में आवत।
रूप सलूंनी दिखाय महा हिय में अति आनँद को घन छावत ॥
सुजान ए प्रान लगे तुम ही सों सु क्यों निरमोही कहा तन तावत।
मोहनी डारि के मोहन जू वह मोहनी मूरत क्यों न दिखावत ॥[३]

× × × ×

यह पद्य घनानंद का है। दूसरी पंक्ति में 'आनँद को घन' नाम भी दिया हुआ है। पहली पंक्ति में उनकी अभ्यस्त शब्दावली दिखाई देती है। भूल से सुजान के नाम कुछ पद्य संगृहीत हो गए हैं। शेष नौ कवित्तों की शैली वही है जो सुधासार के पद्यों की है। कवि का नाम 'सुजान कहैं' या 'कहत सुजान' आदि शब्दों में आया है। यही शब्द उन दोनों पद्यों में है। अतः यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सभी पद्य एक 'सुजान' के लिखे हुए हैं। यह 'सुजान' मुहम्मदशाह की नर्तकी घनानंद की प्रेयसी ही है यह निश्चित प्रमाणों के अभाव में कहा नहीं जा सकता। इन्हीं में से एक पद्य में 'सुजानराय' नाम आया है। इसे देखकर अनुमान किया जा सकता है कि 'सुजान

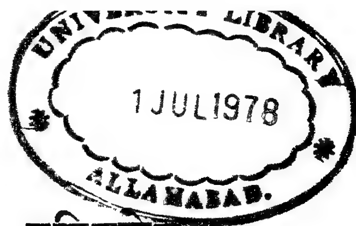
१—सुधासार, पन्ना २३४, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी खोज विभाग।
२—देखिए घनानंद ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ६२।
३—घनानंद ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ६२।

नाम से रचना करनेवाले का नाम 'सुजानराइ' है।[१] यह सुजानराइ 'पातुरराइ' की तरह वेश्या भी हो सकती है और दूसरा कोई पुरुष कवि भी। घनआनंद ने भी सुजान के लिये 'जानराइ' पर्याय का प्रयोग किया है यह दिखाया जा चुका है। इसलिये यह भी संभव है कि इन्होंने ही कुछ रचनाएँ 'सुजान' या 'सुजानराय' नाम से की हों पर यह अनुमान ही है। निश्चित आधार के बिना यह निष्कर्ष निकालना कि घनआनंद की प्रेयसी सुजान थी, उसी ने पद्य बनाए, उसका पूरा नाम सुजानराइ था आदि संदिग्ध है। संभव यही लगता है कि 'कहत सुजान' आदि शैली से अपना नाम रखनेवाला कोई दूसरा कवि है। राग कल्पद्रुम के दो राग भले हो नर्तकी सुजानकृत हों।

समस्त विमर्श का निष्कर्ष यही निकलता है कि घनआनंद जी की प्रेमिका सुजान नर्तकी थी। इसलिये उसके नाच, गान, वेष भूषा, सुरत, मदपान आदि का वर्णन इन्होंने किया है। यह मुहम्मदशाह के दरबार में भी गायिका थी जैसा कि राग कल्पद्रुम के रागों से व्यक्त होता है। उसका कवयित्री होना प्रमाणपुष्ट नहीं। घनआनंद ने जो अपनी रचनाओं में सुजान के अनेकों पर्याय विविध अर्थों के साथ प्रयोग किए हैं उसका कारण कवि की प्रेमपरक रहस्य दृष्टि है। भौतिक प्रेम को व्यापक आध्यात्मिक रूप देने की दृष्टि से व्यक्ति वाचक शब्द व्युत्पत्त्यर्थ के सहारे गुणवाचक विशेषण मान लिए हैं। सुजान का अर्थ सुजान (चतुर, ज्ञानी) अथवा सुजान जीवन देनेवाला मान कर स्त्री, पुरुष, ईश्वर, मनुष्य, सभी के लिये उसका यथावसर प्रयोग किया है। यही नियम उनके अपने नाम के विषय में लागू है। पद्य और निबंध रचनाओं में जो 'सुजान' का परित्याग हुआ है उसका कारण भक्ति जीवन का अपवाद प्रतीत होता है जो उन्हें सुजान की रट लगने से मिला होगा। इसका आभास हमें भडौआ की यह पंक्ति देती है 'तजि राम नाम वाकौ पूजै काम धाम है।'

अतः सुजान शब्द के विविध तथा असार्वत्रिक प्रयोग से प्रेयसी की सत्ता में आशंका करने की आवश्यकता नहीं।

१—तुम्हरे बिरह ते विकल दिन रात गोपी रहीं मुरझाय कबहुँ न देखी हँसती। कोलाहल केलि जहाँ जहाँ कीन्हीं तहाँ रची चीन्हीं वा कालिंदी कूल कुंजद्वार खजती। रावरे रहते ते लहत सब ठौर दिल अब उन्हें द्वारिका है सोममई लसती। मेरे लेखे यह ब्रज ऊजर सुजानराइ जिहीं ओर बसै कान्ह तिहीं ओर बसती।



द्वितीय परिच्छेद

'रचनाएँ'

१. इतिहास तथा रचनाओं का विवरण,

आनंदघन जी की कुछ रचनाओं का प्रथम प्रकाशन भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र ने 'सुंदरी तिलक' में कराया था। इसके बाद सन् १८७० में उन्होंने ही 'सुजान सतक' नाम से इनके ११९ कवित्त प्रकाशित किए। सन् १८९७ में श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'सुजान सागर' का प्रथम संस्करण काशी के हरिप्रकाश यंत्रालय द्वारा प्रकाशित किया। इन्होंने आनदघन के शब्दों की एक अनुक्रमणी भी तैयार की थी। वह काशी नागरीप्रचारिणी सभा के 'रत्नाकर संग्रह' में अद्यावधि सुरक्षित है। सन् १९०७ में काशी-प्रसाद जायसवाल ने 'वियोग बेलि', 'विरह लीला' नाम से नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कराई थी। 'सुजान सागर' में ही कुछ पद और मिला कर रसखान की कविताओं के साथ श्री अमीरसिंह के सपादन में 'रसखान और घनानंद' पुस्तक काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा सन् १९२९ में प्रकाशित हुई। इसी का संक्षिप्त संस्करण 'घनानंद रत्नावली' नाम से भारत वासी प्रेस प्रयाग, ने भी प्रकाशित किया था।

अब तक के इन प्रकाशनों में कवि की समस्त उपलब्ध रचनाओं के संग्रह करने का तथा उनका वैज्ञानिक परीक्षण करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। सन् १९४३ में लखनऊ के श्री शंभुप्रसाद 'बहुगुना' ने 'घन-आनंद' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें २०५ कवित्त, सवैये दोहे आदि, और ५८ गेय पद है। पद्यों का विषयक्रम से विभाजन किया है। उनके अपनी ओर से शीर्षक भी दिए हैं। कवि की जीवनी, काव्यानुशीलन, आदि पर ८५ पृष्ठ की विशद भूमिका भी भावुकतापूर्ण भाषा में आपने लिखी है। इसके अतिरिक्त 'वियोग बेलि' के ८१ पद्य और 'प्रेमपत्रिका' के २६ पद्य भी इसमें प्रकाशित हैं।

बहुगुना जी ने अपने समय की उपलब्ध समस्त सामग्री का उपयोग किया था जिसका उल्लेख उन्होंने भूमिका में निम्न प्रकार से किया है—

१. नागरीप्रचारिणी सभा की प्रकाशित खोज रिपोर्ट।

२. श्री भवानीशंकर जी याज्ञिक के संग्राहालय की हस्तलिखित पुस्तकें।

३. श्री नवीनचंद्र जी की 'वियोग बेलि' की प्रति।

४. कृष्णानंद व्यास का राग सागरोद्भव।

५. ब्रजनिधि ग्रंथावली।

६. नागर समुच्चय।

७. रसखान और घनानंद।

८. हिंदी साहित्य का इतिहास तथा शिवसिंह सरोज।

९. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, हिंदुस्तानी, सरस्वती, माधुरी, ब्रज भारती आदि।

१०. ब्रजमाधुरी सार।

११. कवि कीर्तन।

बहुगुना जी ने भूमिका में लिखा है कि 'छतरपुर दरबार में कहे जाने-वाले बड़े पोथे के विषय में दरबार से पूछ ताछ की गई तो लायब्रेरियन साहब ने उत्तर के पत्र में लिख भेजा 'घनानंद की कोई रचना अथवा ऐसा कोई ग्रंथ हमारे पुस्तकालय में नहीं है।'

इनकी रचनाओं को एकत्र करने का तथा उसका वैज्ञानिक संपादन करने का एक मात्र श्रेय पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को ही दिया जावेगा। इनके परिश्रम से पूर्व कवि की रचनाओं का दशांश भी प्रकाशित नहीं था। आपने तीन पुस्तकें इनकी रचनाओं के संग्रह की प्रकाशित की हैं।

पहला 'घनानंद कवित्त' है जिसमें ५०५ पद्यों का संग्रह है। इनमें ३ दोहे तथा दो सोरठे हैं। शेष पाँच सौ कवित्त सवैये हैं। इनमें भी सवैये २८८ हैं कवित्त २१४। यह कवि का सबसे प्राचीन संग्रह है। उन्हीं के समकालीन उनके प्रशंसक ब्रजनाथ ने इसे संपन्न किया है। संपादक ने दो सवैये प्रारंभ में और २ कवित्त तथा ६ सवैये अंत में कवि तथा उसकी कृति-प्रशंसा में लिखे हैं। संग्रह उन्हीं का है इसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने किया है। न जाने क्या कारण आ उपस्थित हुआ था कि ब्रजनाथ को इन पद्यों की रक्षा या संग्रह करने में बड़ा कष्ट हुआ। उन्हें अपनी लज्जा बड़ाई तथा स्वभाव

तक इनके लिये खोना पड़ा। इस कष्ट के अनेक हेतुओं की कल्पना की जा सकती है। एक तो आनंदघन की मृत्यु अकस्मात हुई थी। संभव है उनकी रचनाएँ एकत्र न रही हों। आनंदघन जैसे प्रेमोन्मत्त कवि ने अपनी रचनाओं की सुरक्षा की उपेक्षा रक्खी हो और उनके जीवन के उपरांत संग्रह का कार्य हो गया हो। ब्रजनाथ की यह उक्ति कि 'कहै ब्रजनाथ बहु जननि आए हाथ,' ऐसे ही किसी कष्ट की ओर संकेत करती है। दूसरा कष्ट यह भी हो सकता है कि कवित्तों में सुजान की छाप होने से वे वेश्या की प्रशंसा के समझे जाते हों और कविसमाज में इस लिए उनका आदर न होता हो। इस स्थिति में भी संपादक को संग्रह करने में कष्ट हो सकता है। ब्रजनाथ की नीचे लिखी कष्टोक्ति में ऐसी ही किसी बात की ओर संकेत है। वे कहते हैं—

'मैं अति कष्ट सों लीने कवित्त ये लाज बड़ाई सुभाव कों खोयकौ,
सो दुख मेरो न जाने कोऊ लै बखाने लिखाइये मोहूकों गोयकौ।

× × ×

लज्जा, बड़ाई तथा स्वभाव त्यागने में तथा छिपकर लिखने में तो काव्यकृति की किसी प्रकार की निंदा ही कारण हो सकती है। ब्रजनाथ तो यह सब इसलिये कर गए कि उनकी काव्यशैली तथा प्रेमानुभूति की सचाई एवं मार्मिकता पर अत्यंत मुग्ध थे। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'मैंने अनेकों दिन तथा रातें काव्य रस में 'मोय' कर बिताई है। इन कवित्तों का रस तो वही ले सकेगा जिसकी आँखों में प्रेम की चोट लगी होगी। पंडित होने से यहाँ कार्य न चलेगा।

'कैसी करों अब जाहु कितैं मैं बिताएँ है रैन दिना सब मोय कै।
'प्रेम की चोट लगी जिन आखिन सोई बहै कहा पंडित होय कै॥

× × ×

यह भी कल्पना की जा सकती है कि लौकिकानुभूति के प्रेम के पद्यों को कवि ने आरंभ में लिखा हो और संत होने के बाद सीधी सरल वाणी में गेयपद तथा लीलानिबंधों की ही रचना करना ठीक समझकर पहली कविता की उपेक्षा कर दी हो। कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि 'घनानंद कवित्त' का संग्रह बड़े कष्ट के साथ ब्रजनाथ ने ही किया है।

विश्वनाथ जी ने अपने संपादन का आधार श्री नवनीत जी चतुर्वेदी की प्रति को माना है। संपादक का विश्वास है कि प्रति अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन

है, शुद्ध स्पष्ट तथा व्याकरणसंमत तो है ही, जैसा कि पुस्तक के नाम से भी स्पष्ट होता है। उसमें कवि के गेय पदों का संग्रह नहीं है। कृपाकंद निबंध के भी कुछ ही पद्य संगृहीत हो चुके हैं सब नहीं। दानलीला तो मध्य में छंद संख्या ४०२ से ४१२ तक आ गई है। लीलानिबंधों का इसमें संग्रह नहीं है। संग्रह का नाम 'घनआनंद कवित्त' संग्रहकार का ही है या बाद में किसी का लिखा हुआ यह निश्चयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता। अनुमान यही होता है कि ब्रजनाथ जी ने ही यह नामकरण दिया था। उन्होंने इसी प्रकार के नाम की ओर अपने एक प्रशस्ति कवित्त में संकेत किया है।

चोर चित्त वित्त के कि पैठि बरजोर हियैं,
कैधौं विलसत ये कवित्त घन जी के हैं।

ब्रजनाथ प्रशस्ति ३

घन जी के कवित्त स्यात् घनआनंद कवित्त का ही सूचक है।

इसी पुस्तक (घनआनंद कवित्त) से हस्तलेख के आधार पर रत्नाकर जी ने 'सुजान सागर' प्रकाशित किया था। इसी के आधार पर बाबू अमीरचंद जी द्वारा संपादित 'सुजान रसखान' नामक पुस्तक का प्रकाशन नागरीप्रचारिणी से हुआ था। इन दोनों प्रकाशनों में संग्रह की खंडित प्रति का उपयोग हुआ है, वास्तव में नागरीप्रचारिणी सभा के तथा रत्नाकर जी के प्रकाशन के आधारभूत जो हस्तलेख हैं वह रत्नाकर संग्रह में भी विद्यमान है। वहाँ दो पुस्तकें है, एक मध्य में खंडित है दूसरी अंत में। इन दोनों को मिला लिया जाय तो संग्रह पूर्ण हो जाता है। पर उन दोनों संपादकों ने यह नहीं किया। अंत की खंडित प्रति के आधार पर संपादन किया। मध्य में खंडित हस्तलेख श्री नवनीत चतुर्वेदी का है। इसका उल्लेख तो रत्नाकर जी ने किया है पर प्रयोग उन्होंने नहीं किया ऐसे प्रतीत होता है। संभवतः उन्हें यह प्रति बाद में मिली है।

घनआनंद कवित्त में जो छंद क्रम है उसी क्रम के हस्तलेख दो प्रकार के प्राप्त हुए हैं। एक तो ४५४ पद्यों के और दूसरे ५०५ पद्यों के। अंतिम संग्रह प्रामाणिक तथा पूर्ण है।

घनआनंद कवित्त के संग्रह में ऊपरी दृष्टि से कवित्त सवैयों का साधारण संग्रह जान पड़ता है। पर ध्यानपूर्वक देखने से उनमें कुछ व्यवस्था की गई है, ऐसा भान होता है। संग्रह करनेवालों ने विषयक्रम से ही उन्हें रक्खा है। यद्यपि बीच बीच में प्रायः उसके नियम भंग हो जाते हैं पर फिर भी एक

भावधारा का क्रम बना रहता है। इसके प्रारंभ के दो पदों में आलंबन के रूप का वर्णन है। इसके अनंतर छंद संख्या ९८ तक विरह वेदना की विवृति है। फिर कवित्त संख्या २२३ तक प्रायः प्रेमोपालंभ के पद है। इसके बाद पद्य संख्या ३२७ तक संयोग वर्णन है जिसमें सुजान के रूप, स्वभाव विलास, चेष्टाएँ, नांच, आसवपान, शयन आदि प्रसंग तथा संमिलन कालीन अभिलाष का वर्णन हुआ है। पद्य संख्या ३२८ से ३६० तक कृपा संबंधी पद्य हैं जो 'कृपा कंद निबंध' के है। इनके अनंतर श्री कृष्ण, राधा और गोपियों की विविध मधुर लीलाओं का पद्य संख्या ४२१ तक वर्णन हुआ है। कवि की प्रसिद्ध दानलीला भी इन्हीं में आगई है। इस प्रसंग को 'मधुरा भक्ति' कह सकते है। बाद के ८४ पद्यों में फिर लौकिक शृंगार को आवृत्ति हुई है जिसमें मिलन, वियोग, उपालंभ रूपप्रभाव अभिलाष आदि सभी विषय प्रकीर्ण रूप से आए हैं। इस भाग में किसी प्रकार की व्यवस्था के दर्शन नहीं होते। संभवतः संग्रहकारने इस भाग को बाद में जोड़ दिया हो। जिस व्यवस्था का ऊपर उल्लेख किया गया है वह अविच्छिन्न नहीं है। मध्य मध्य में कुछ पद्य दूसरे प्रकार के आ जाते हैं पर विच्छेद ऐसा नही कि संग्रह में कोई व्यवस्था ही न प्रतीत हो।

घनआनंद और आनंदघन

इनका दूसरा संग्रह पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ही संवत् २००२ में प्रकाशित किया। इसमें कवि की अन्य रचनाओं के संग्रह का प्रथम प्रयास है। यहाँ कवित्त सवैयों के अतिरिक्त कवि के ५०० पद 'वियोगवेलि, इश्कलता, यमुनायश, प्रीतिपावस तथा प्रेमपत्रिका प्रकाशित हैं। आनंदघन जी जैन की रचनाएँ भी साथ में तुलना की दृष्टि से प्रकाशित हैं। कुछ कवित्त सवैयों की आवृत्ति हो गई है इसलिए छंद संख्या बढ़कर ७०१ हो गई है। कवित्त सवैयों का इसमें मुख्य संग्रह 'सुजानहित प्रबंध' है। इस संग्रह के विषय में संपादक महोदय का ध्यान है कि हितहरिवंशी संप्रदाय के किसी भक्त ने यह किया है। इसलिये इसके नाम में 'हित' शब्द जुड़ा हुआ है। प्रबंध शब्द इस संग्रह में प्रतीत होता है कवि के अन्य प्रयोगों के अनुकरण में हुआ है। कवि ने वर्णनात्मक प्रबंध जैसे प्रियाप्रसाद या कृष्ण कौमदी को प्रबंध कहा हैं यद्यपि ये सब वर्णनात्मक रचनाएँ हैं। 'सुजानहितप्रबंध', यह पूरा नाम यदि कविकृत होता तो इसकी व्याख्या में कोई दोहा आदि अवश्य होता

जैसे प्रिया।प्रसाद' आदि में है[१]। पर जैसी भावक्रम की व्यवस्था वर्णनात्मक निबंधों में रहती है वैसी सुजानहित में नहीं है, संग्रहकार ने कवि की समस्त रचनाओं में या उसकी चिंतनप्रवृत्ति में भलेही प्रबंधन देखा हो। इसके एक हस्तलेख में 'प्रबंध' नाम है भी नहीं। केवल 'सुजानहित' ही शीर्षक है। पं० विश्वनाथ जी ने अपनी 'घन आनंद ग्रंथावली' में 'सुजानहित' ही नाम रख रक्खा है। इसमें छंदों का क्रम धनआनंद कवित्त के क्रम से भिन्न है। इसके हस्तलेख दो प्रकार के मिलते हैं। एक प्रकार के हस्तलेखों में ४४८ छंद हैं। दोहों सोरठों की गणना नहीं की गई है। उन्हें भी गिनने से ४५४ छंद होते हैं। दूसरे प्रकार के हस्तलेखों में लगभग ५०० छंद संख्या मिलती है। और दोहो की गिनती करने से ५०५ छंद होते है। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि पहले प्रकार के हस्तलेखों की परंपरा किसी अधूरी प्रति के आधार पर चल पड़ी है। 'धनानंद कवित्त' से इसमें बड़ा भेद है। 'दान लीला' और 'कृपाकंद निबंध' इसमें पृथक कर दिए हैं। घनानंद कवित्त में वे मध्य में ही अंतर्भूत है। छंदों का क्रम भिन्न है। इसके आधार के विषय में श्री विश्वनाथ जी का विश्वास है कि 'घनानंद कवित्त' की कोई अस्तव्यस्त प्रति ही सामने रखकर सुजानहित संकलित हुआ है। इसलिये यह बाद का किया हुआ जान पड़ता है। पर छंदों के क्रम को देखकर तो अनुमान यह होता है कि 'घनआनंद कबित्त' इसका आधार नहीं है। यदि ऐसा होता तो संग्रह में किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था अवश्य होती। उसके अनुसार होती या उससे भिन्न। व्यवस्था के अभाव में इसके पश्चात्संकलन के अनुमान का हेतु भी सत्प्रतिपक्ष ही है।

कवित्त सवैयों के दूसरे संग्रह 'कवित्त संग्रह' तथा 'सुजान विनोद' के नाम से भी मिलते हैं जो परकालीन हैं। क्योंकि इनमें कुछ छंद नए भी मिलते हैं। जो छंद 'घनआनंद कवित्त' में नहीं है इनमें संगृहीत हैं।

कवित्त सवैयों का तीसरा संग्रह खंड 'कृपाकंद निबंध' है। वह भी प्रतीत होता है कि 'सुजानहित प्रबंध' के संग्रहीता का ही संग्रह है। निबंध शब्द उसी ओर संकेत करता है। मुक्तकों के संग्रह के लिये निबंध आदि शब्दों का व्यवहार उन्ही का किया हुआ प्रतीत होता हैं। वह इसमें पृथक से दिया हुआ है।

१—या प्रबंध को नामहू पायौ प्रियाप्रसाद, प्रि० प्र० ८८।

कवि की दूसरे प्रकार की रचनाएँ चौपाई दोहे आदि छंदों की वर्णना-त्मक निबंध शैली है। इनमें 'वियोग वेलि' का 'विरह लीला' नाम से प्रकाशन सबसे पहले सन् १९०७ में श्री काशी प्रसाद जी जायसवाल द्वारा काशी नागरीप्रचारिणी सभा से हुआ था। श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने भी फिर अपने 'घनानंद' में इसे संमिलित कर लिया। 'प्रेम पत्रिका' भी इन्होंने ही सर्वप्रथम अपने संग्रह में प्रकाशित की थी। इसके अतिरिक्त अन्य कोई निबंध कृति संवत् २००८ तक प्रकाश में नहीं आई। पं० श्री विश्वनाथ प्रसाद जी ने 'आनंदघन घनआनंद' में 'इश्कलता', 'यमुनायश', 'प्रीतिपावस' और 'वियोग-वेलि' प्रकाशित की। इसके प्रकाशन तक मिश्र जी को काशी नागरी प्रचारिणी की खोजों द्वारा जो सामग्री उपलब्ध हुई थी उसका उपयोग वे कर सके थे। इस संग्रह के प्रकाशन में जिन आधारों का आपने प्रयोग किया है उसका विवरण इस प्रकार है—

१. 'सुजान हित प्रबंध' चार स्थानों से मिला, राजपुस्तकालय बनारस से, म्यूनिसिपल म्यूजियम इलाहाबाद से, भदावरराज नवगांव आगरा से और विद्याविभाग कांकरौली से।

२. 'कृपाकंद निबंध' की केवल एक ही प्रति सरस्वती भंडार बनारस से मिली।

३. 'वियोगवेलि' भरतपुर और भदावर से प्राप्त हुई।

४. 'इश्कलता' आगरा से।

५. 'यमुनायश' म्यूनिसपल म्यूजियम, इलाहाबाद से।

६. 'प्रीति पावस' भदावर राज्य नवगांव आगरा से।

७. 'पदावली' मानससंघ रामवन सतना से।

८. 'रत्नाकर सग्रह' नागरीप्रचारिणी सभा काशी तथा 'सुधासार संग्रह' जो ना० प्र० सभा के ही खोज विभाग का हस्तलेख है।

इसके अतिरिक्त इसके पूर्व काल की जितनी सामग्री मुद्रित हो चुकी थी उसका आपने उपयोग किया। परंतु कवि की समस्त रचनाओं का इस समय तक परिचय प्रकट नहीं हुआ था। इसलिए प्रकाशन अपूर्ण ही रहा। आनंद-घन जी की अधिक से अधिक कृतियों का पता मिश्रबंधु विनोद से लगता है जिसमें इतिहासकार ने छतरपुर के राज्य पुस्तकालय के विशाल ग्रंथ का उल्लेख किया है।

'इनका ५४२ बड़े पृष्ठों का एक भारी ग्रंथ संवत् '८८२ का लिखा हुआ दरबार छतरपुर के पुस्तकालय में देखने को मिला, जिसमें १८११ निबंध विविध छंदों में तथा १०४४ पदों द्वारा निम्नलिखित विषय वर्णितहैं।—'प्रिया प्रसाद', 'ब्रजव्यौहार', 'वियोगवेलि', 'कृपाकंद निबंध', 'गिरिगाथा', 'भावना प्रकाश', 'गोकुलविनोद', 'ब्रजप्रसाद', 'धामचमत्कार', 'कृष्णकौमुदी' 'नाममाधुरी', 'बृन्दावन मुद्रा', 'प्रेमपत्रिका', 'व्रजवर्णन', 'रसवसंत', 'अनुभव चन्द्रिका, 'रंग बधाई', 'परमहंस वंशावली', और 'पद'।[1] प्रस्तुत प्रकाशन में आनंदघन की निबंध कृतियाँ 'केवल ३ हीं आई थीं', वियोग वेलि', 'कृपाकंद निबंध' और 'प्रेमपत्रिका'। 'इश्कलता' ऐसी रचना आ गई थी जिसका उल्लेख विनोद में नहीं था। इसलिये मिश्र जी को 'घनानंद और आनंदघन' की भूमिका में लिखना पड़ा कि 'यदि उक्त ग्रन्थ : छतरपुर के राजपुस्तकालय का ग्रंथ : नष्ट न हो गया होगा तो अभी मुझे उसके मिलने की पूरी आशा और विश्वास है'[2]। पद इसमें ५०० थे जब कि विनोद में १०४४ पदों का उल्लेख था।

इसके बाद संभवतः सन् १९४९ में निंबार्क माधुरी के संपादक श्री बिहारी शरण जी के द्वारा आनंदघन जी के एक विशाल हस्तलेख का अतर्कितोपनत लाभ श्री मिश्र जी को हुआ। इसमें कवि की कवित्त सवैयों के अतिरिक्त ३४ कृतियाँ संगृहीत थीं। इन में से : १ : कृपाकंद निबन्ध : २ : यमुना यश : ३ : प्रीतिपावस : ४ : दानघटा : ५ : इश्कलता : ६ : वियोगबेलि और : ७ : प्रेमपत्रिका सात रचनायें तो 'घनआनंद और आनंदघन' में संगृहीत हो चुकी थीं। शेष २७ रचनायें नवीन थीं। इनमें से प्रियाप्रसाद, वियोगवेलि, कृपाकंद निबंध, गोकुलविनोद, ब्रजप्रसाद, धामचमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, बृन्दावन मुद्रा, प्रेमपत्रिका, व्रजवर्णन, रसबसंत या सरस वसंत, अनुभव चन्द्रिका, रंग बधाई, तथा पद ये १५ रचनायें 'मिश्रवन्धु विनोद' में उल्लिखित थीं, व्रजव्यौहार, गिरिगाथा, भावनाप्रकाश, तथा परमहंस बंशावली चार रचनाएँ अभी तक ऐसी शेष थीं जो संग्रह में भी नहीं आ सकी थीं। यद्यपि १९ रचनाएँ ऐसी नवीन भी थीं जिनका उल्लेख विनोद में नहीं था, इसके अनंतर डा० श्री केशरी नारायण जी शुक्ल लखनऊ विश्वविद्यालय को लंदन

[1]—मिश्रबंधु विनोद २ य सस्करण पृ० ५७४।

[2]—घनआनंद और आनंदघन भूमिका पृ० २२।

संग्रहालय के हस्तलेख विभाग में दूसरा हस्तलेख इन का प्राप्त हुआ। इसमें छतरपुर वाले लेख की १७ रचनायें आ गई हैं। यह हस्तलेख साढ़े पंद्रह इंच ऊँचा तथा बारह इंच चौड़ा था। इसमें छोटे बड़े ३९ ग्रंथ संकलित थे। इनमें आनंदघन की २३ रचनाएँ हैं। यह ग्रन्थ भरतपुर के राजा दुर्जन-साल के संग्रहालय से लार्ड कोम्बरमियर ने प्राप्त किया था। उसने इसे 'डबलू विलियम्सविन' को भेंट कर दिया। इसका पूर्ण परिचय डाक्टर साहब ने अपने एक विस्तृत लेख द्वारा 'सम्पूर्णानंद अभिनंद ग्रंथ'[१] में दिया है। इस संग्रह की पुस्तकों का लिपि काल प्रायः नहीं दिया हुआ है। केवल तीन ग्रंथों का लिपिकाल संवत १८३९ से लेकर १८४३ तक है। एक भागवत के तृतीय स्कंध का हिंदी पद्यानुवाद है। जिसका लिपिकार भास्कर पंडित है। वह अंत में लिखता है :—

'लिपि कृत' काश्मीरी पंडित भाष्करेण, श्रीमतं श्रीमहाराजाधिराजं श्री ब्रजेंद्र श्री रणजीत सिंह पठनार्थं। संवत् १८३९ पौष कृष्णाष्टम्यां लिखितं' इसी प्रकार का हस्तलेख 'संग्रामसार' नाम की दूसरी पुस्तक का है। लिपि-कर्ता भाष्कर पंडित ही है। काल सवत १८३९ फागुन वदी ११ गुरुवार है। सोमनाथ के 'भागवत प्रदान' का जो दशमस्कंध उत्तरार्ध है लिपिकर्ता भी वही काश्मीरी पंडित है। इसका लिपिकाल १८४१ संवत् है। तुलसी के रामचरित मानस का लिपि काल संवत् १८४३ श्रावण शुक्ला ४ शनिवार है। आनंदघन की कृतियों में केवल ब्रजस्वरूप का अंतलेख मिलता है। उसमें लिपिकाल तो कुछ दिया नहीं है पर आनंदकृत बताया है। 'इति श्री आनंद कृत ब्रजस्वरूप संपूर्णम्।' जिन कृतियों का अंत लेख प्राप्त है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि आनदघन की कृतियों का लिपिकाल भी इन्हीं के आसपास होगा। पर यह अनुमान ही है।[२] लंदन सग्रहालय वाले संग्रह में आनंदघन जी की १७ रचनाएँ ऐसी आ गई हैं जिसका उल्लेख छतरपुर वाले हस्तलेख में किया गया है। केवल एक 'ब्रजवर्णन' नहीं आया है और इस हस्तलेख में रचनाओं का जो पूर्वापर क्रम है वही विनोद में दिया हुआ है। विनोद का क्रम ऊपर दिया जा चुका है। लंदन संग्रहालय के हस्तलेख का क्रम इस पकार है:—

१—संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ—प्रकाशक का० ना० प्र० सभा काशी।

२— डा० श्रीकेशरी नारायण शुक्ल—घनानंद की रचनाएँ विषयक लेख, संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ।

१. प्रिया प्रसाद प्रबंध
२. ब्रजव्यौहार
३. वियोगवेलि
४. कृपानंद निबंध
५. गिरिगाथा
६. भावना प्रकाश
७. गोकुलविनोद
८. ब्रजप्रसाद
९. धामचमत्कार
१०. कृष्णकौमुदी
११. नाम माधुरी
१२. वृन्दावन मुद्रा
१३. पदावली
१४. कवित्त संग्रह
१५. प्रेमपत्रिका
१६. रस वसंत
१७. अनुभव चंद्रिका
१८. रंगबधाई
१९. परमहंसवंशावली
२०. मुरलिकामोद
२१. गोकुलगीत
२२. ब्रजविलास प्रबंध
२३. ब्रजस्वरूप

इस संग्रह में चार पुस्तकें 'ब्रज व्यौहार', 'गिरिगाथा', 'गोकुल-विनोद' तथा 'परमहंस वंशावली' तो ऐसी हैं जो वृंदावनवाले संग्रह में नहीं हैं। चार रचनाएँ 'मुरलिकामोद', 'गोकुलगीत' 'ब्रजविलास' तथा 'ब्रजस्वरूप' ऐसी हैं जो छतरपुर संग्रह में भी उल्लिखित नहीं है। छतरपुर संग्रह की एक रचना 'ब्रज वर्णन' किसी संग्रह में भी अभी नहीं आया। इसके विषय में दो कल्पनाएँ हो सकती हैं। या तो यह 'ब्रजस्वरूप' ही है जो ग्रंथावली में आ गया है दूसरी कोई पृथक रचना नहीं या फिर अभी तक अप्राप्य पुस्तक हैं। छतरपुर संग्रह की पुस्तक सूची के क्रम तथा लंदन संग्रहालय के हस्त-लेख का पुस्तक क्रम देख कर तो यही अनुमान होता है कि इसका उस हस्तलेख से कुछ संबंध है जिसको मिश्रबंधुओं ने देखा था। क्रम उभयत्र समान है। छतरपुर के संग्रह में पदों के अतिरिक्त छंदों की संख्या १८११ दी है। जिन रचनाओं का उस में उल्लेख है उनके छंद जोड़ कर कवित्त सवैये के अतिरिक्त कुल संख्या १४२० होती है। इसे १८११ तक पहुँचने के लिए ३९१ छंद और अधिक अपेक्षित होते हैं। कवित्त सवैयों के संग्रह का कोई ग्रंथ इस सूची में उल्लिखित न होने से उनकी संख्या इस में सम्मिलित नहीं की जा सकती। फलतः ब्रज वर्णन पुस्तक की छंद संख्या ३९१ होनी चाहिए या उसके कुछ आसपास। ब्रजस्वरूप में १२२ छंद हैं। अतः इस अनुमान में

अधिक बल दिखाई नहीं देता कि छतरपुर संग्रह का 'ब्रजवर्णन' ब्रजस्वरूप ही है। उक्त पुस्तक को बड़ा होना चाहिए जैसा कि उसका नाम बताया है।

घन आनंद ग्रंथावली

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने वृंदावनवाले तथा लंदन संग्रहालयवाले दोनों हस्तलेखों का उपयोग कर तथा अन्य विकीर्ण सामग्री को भी एकत्र कर 'घनआनंद ग्रंथावली, का प्रकाशन गत वर्ष संवत् २००६ में किया है। लेखक ने तो वृंदावनवाली प्रति का हस्तलेख के रूप में ही उपयोग किया था। ग्रंथावली तब तक प्रकाशित नहीं हो पाई थी। इस ग्रन्थावली में ३८ पुस्तकें आनंदघन की प्रकाशित हैं जिनका विवरण नीचे दिया जाता है। अभी तक 'प्रेमसरोवर' तथा तथा 'प्रेमपहेली' की अपूर्णता तथा 'ब्रजवर्णन' का अभाव कवि के व्यक्तित्व को पूर्ण प्रकाश मे आने से रोके हुए है। क्या पता इन कृतियों में कवि के इतिहास का ही कोई सूत्र निकल आए और कुछ संदेहों की निवृत्ति हो जाए। ग्रंथावली में दिखाए गए 'सुजानहित' का संस्करण बड़ा है। 'घन आनंद आनंद घन' पुस्तक मे दिए 'सुजान-हित में ४५४ छद है। इसमे ५०७ है। ग्रंथावली के कृपाकंद निबंध में छद संख्या ६२ है। पहली पुस्तक में ८९। लेकिन इसमें छंद संख्या ५४ से आगे 'प्रेमपद्धति' संगृहीत हो गई थी। ग्रंथावली में ८ पद और बढ़ा दिए हैं। प्रतीत यही होता है कि यह 'कृपाकंद निबंध' संग्रह केवल कवित्त सवैयों का ही है। कुछ दोहे सोरठे भले ही इसमें आगए हों पद इसका भाग नहीं। है 'घन आनंद आनंदघन' में पदों की संख्या ५१० थी। ग्रंथावली में ये १०६८ है। बाकी निबंध रचनाएँ सर्वाधिक संख्या में हैं। संपादक महोदय ने भविष्य के अनुसंधान की सुविधा के लिये हस्तेलेख के स्वरूप को संपादन में विकृत नहीं किया है। 'प्रेम पत्रिका' के अंतर्गत ६९ तथा 'वृंदवन मुद्रा' में ५ कवित्त आ गए हैं। वे निश्चय इस रचना का भाग नहीं है। पर इससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि कवित्त सवैयाकार तथा निबंध रचनाकार कवि एक ही है। फलस्वरूप 'सुजानहित' के अतिरिक्त 'प्रेम पत्रिका, 'वृंदावन मुद्रा' तथा 'प्रकीर्णक' में ७३ कवित्त सवैयों का संग्रह हुआ है। इस तरह अब तक आनंदघन जी की समस्त रचनाओं का विस्तार इस प्रकार है।—

कवित्त सवैये	६८६
गेयपद	१०६८
दोहे चौपाई तथा अन्य छंद जो दो पंक्तियों के हैं	२३५४
कुल योग	४१०८

काव्य के गुणों की कथा पृथक रही, रचनाविस्तार की दृष्टि से भी आनंदघन हिंदी के महाकवियों में आते है।

'कोकसार, अथवा 'कोक मंजरी' की गणना भी आनंदघन की कृतियों में की जाती रही है। खोज में आनंदघन या घन आनंद नाम के किसी कवि की कोकसार रचना प्राप्त हुई है।[१] इसकी प्रतिलिपि संवत १७९१ में हुई थी। कवि का नाम आनंद है। जिसे डा० हीरालाल तो काल्पनिक नाम मानते है और बा० श्यामसुंदरदास घनानंद से अलग मानते हैं। इसकी शैली, भाषा आदि के विषय में श्री शंभुप्रसाद बहुगुना लिखते है कि कोकसार अथवा कोममंजरी को देख कर यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि यह रचना कहाँ की गई और आनंद कवि आनंद घन या घनानद हो सकते हैं। अपनी बात का विश्वास दिलाने के लिए सौगंध खाने की प्रवृति कोकसार के कवि में इतनी अधिक है कि हमें विश्वास सा होने लगता है कि आनंद अलग व्यक्ति है 'कोकसार' या कोकमंजरी का आनंदघनकृत होने में विश्वास का कारण यह और हो जाता है कि उन्होंने सुजान सौंदर्य की प्रशंसा में 'कोकविद्या' का उल्लेख किया है।

'तरुनाई पै कोक पढ़ै सुघराई सिखावति है रसिकाई'

पर इस विश्वास में बल अधिक नही है। कोकसार का रचनाकाल संवत् १६६० है जैसा कि उसके अंतलेख से प्रतीत होता है।

कायथ कुल आनंद कवि वासी कोट हिसार
कोक कला इहि रुचि करन जिन यह कियो विचार,
रितु बसंत संवत सरस सोरह सै अरु साठ।
कोक मंजरी यह करी धर्म कर्म करि पाठ,[३]

१—खोज रिपोर्ट का० ना० प्र० स० १९२६ १० एक तथा १९२३ १०बी
२—घनआनंद भूमिका पृ० २३,
३—उपर्युक्त खोज रिपोर्ट से उद्धृत।

यह समय आनंदघन के समय से बहुत पहले है। अतः यह हमारे कवि आनंघन की रचना नहीं कही जा सकती।

आनंदघन की रचनाएँ दो प्रकार को हैं मुक्तक तथा निबंध। मुक्तक के फिर दो भेद हैं—कवित्त सवैये और गेयपद। इनमें मुक्तक रचनाओं का परिचय उनके विषयविभाजन द्वारा तथा निबंधों का उनके वर्ण्य विषय के संक्षिप्त वर्णन द्वारा दिया जाता है।

१—कवित्त सवैयों का संख्यानुसारी विषयविभाजन

विषय	पद्य संख्या
१—संयोग कालीन मनोदशाएँ तथा चेष्टाएँ	३०
२—प्रिय का निर्मोह या छली रूप	३०
३—सुजान का रूप सौंदर्य	५८
४—साधारण नायिका सौंदर्य	२८
५—विरह व्यथा	१७
६—विरह संदेश	२६
७—विरही का प्रकृति वर्णन	२१
८—खंडिता वचन	११
९—मान	४
१०—विरहोपालंभ	५९
११—फाग झूला आदि पर्व	३०
१२—प्रेमाभिलाष	२७
१३—ब्रज महिमा	१३
१४—प्रेम की दशा	१९
१५—प्रेम का स्वरूप	३२
१६—श्री कृष्ण जन्म बधाई	२
१७—वेणुवादन	११
१८—राधा	१२
१९—भक्ति	५२
२०—यमुनायश	६

१—देखिए आनंदघन का समय विवेचन, प्रथम परिच्छेद।

२१—श्री कृष्ण १५
२२—राधाकृष्ण विहार ६
२३—दार्शनिक विचार १७
२४—उद्बोधन ६
२५—सखीरूप का गर्व २४
२६—मेंहदी १
२७—साधुलक्षण १

२—पदावली का संख्यानुसारी विषयविभाजन

विषय	पद
१—भक्ति : सात्विक	१६०
२—स्तुतियाँ	
गंगा, सूर्य, चैतन्य, नारद, वामन, बलदेव, शंकर, गोवर्धन आदि	१५
३—ब्रज वृंदावन प्रेम	२७
४—बधाई वर्षगाँठ (राम कृष्ण राधा)	५१
५—[illegible]	२५
६—मुरली माधुरी	६५
७—प्रेम, पूर्वराग, अनन्यता अभिलाष स्वरूप आदि	१५२
८—विरह वेदना	६८
९—प्रेमोपालभ	६२
१०—खंडिता वचन	४१०
११—राधा (रूप, महिमा, सौभाग्य, मान, क्रीड़ा वेशभूषा आदि	५८
१२—राधा (सुरतांतरूप)	१५
१३—शृंगार (संयोग केलि)	७५
१४—दूती वाक्य	११
१५—लीलाएँ (छाँक, पनघट, गोचारण, दान; गोदोहन, गोवर्धन, रास आदि)	५७
१६—राधा के पर्व	१४
१७—ऋतु वर्णन	
वसंत	१२
फाग	११६

वर्षा

शरत	×	६
ग्रीष्म	×	१
१८. संत महिमा	×	२

३ कृपाकंद

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'घन आनंद और आनंदघन' पुस्तक में इसका नाम 'कृपाकंद निबंध' दिया है। ग्रंथावली में निबंध शब्द हट गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल को इसी के नाम के विषय में कृपाकांड का भ्रम हुआ था। यह संभवतः अंग्रेजी अक्षरों में लिखे रहने के कारण था। रचना में २१ कवित्त, २६ सवैया, ९ पद, ४ दोहे, १ सारंग और १ छप्पय है। कुल ६२ पद हैं। इनमें से ९ पद्य ३७ से ४४ संख्या तक 'सुजानहित' में भी आगए हैं। भगवत्कृपा का महत्व इन सब कविताओं का विषय है। प्रतीत होता है कवि ने स्वयं रचना का नाम कृपाकंद या कृपाकंदनिबंध ही किया है। कृपाकंद शब्द कृपा के घन के अर्थ में अनेकत्र व्यवहृत हुआ है।

४. वियोग बेलि

इसमें ८१ पद्य हैं। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का भावावेशपूर्ण वियोग इसमें वर्णित हुआ है। भाषा ब्रज है, पर भावों की शैली फारसी की है। भाव-बक्रता तथा वचनवक्रता कवित्त सवैये की सी व्यवहृत हुई है। रास के मध्य से श्री कृष्ण के अंतर्ध्यान हो जाने पर जो गोपियों का वियोगवर्णन भागवत में हुआ है वही यहाँ है। रचना भावों की मार्मिकता के लिये विशेष उल्लेखनीय है।

५. इश्कलता

इसमें १४ दोहे, १२ अरिल्ल, ९ माझ तथा १९ निसानी छंद के पद्य हैं। प्रिय के रूप का मादक प्रभाव, उसके विरह की पीड़ा तथा प्रेमभावना

---

१. 'कवित्त में : पनऊँची दीठि नीठि नीचियौ न होत कहूँ ऐसे मन चातक भए जे कृपाकंद के' कृ० प० ५९।

आनंद आरतकंद वंदनीय प्रानन को। वही १८

पदों में कृपा कंद आनंदकंद हौ, पतित पपीहा द्वार परचौ। वही ५१

कृपाकंद आनंदकंद है पतित पपीहा तपति हरो॥ वही ५२

का फारसी शैली से वर्णन किया गया है। इसमें कुछ पद्य उर्दू और पजाबी भाषा के हैं। कुछ ब्रज के दोहे शुद्ध ब्रज भाषा में लिखे गए हैं। प्रिय को 'अरे बे' 'तू' आदि शब्दों से संबोधित किया गया है जिससे स्नेह की निकटता की व्यजंना होती है। रचना का परिचय देते हुए कवि ने लिखा है कि हृदय के चमन में इश्कलता हरी भरी होती है। विरह के काँटों से उसकी बाढ़ की जाती है और आनंद का घन इसे सींचता है'। भक्ति के प्रेमाधिक्य में मस्त होकर रचना लिखी गई प्रतीत होती है। स्याम सुजान के विरह की पीड़ा जब सताती थी तो इश्कलता से ही आनंद का लाभ हो ा था।

"स्याम सुजान बिना लखै लगे विरह के सूल।
तामैं इश्कलता भई घन आनँद को मूल ॥"

फारसी और पंजाबी के पद्य नागरीदास की रचनाओं में भी मिलते हैं। उन्होंने 'इश्क चमन' लिखा भी है। रसखान ने भी 'प्रेमवाटिका' लिखी है। प्रेमी कवियों में प्रेम का बाग लगाने की रीति सी है। उसी परंपरा का इसमें अनुसरण है। उर्दू फारसी की शैली तथा शब्दप्रयोग से आशिकाना शैली की रचना लगती है। चमन, बुलबुल आदि वर्ण्य विषय फारसी के ही हैं। कवि ने अंत में उसे भक्तिपरक बताया है।

"इश्कलता ब्रजचंद की जो बाँचै दै चित्त।
वृंदाबन सुखधाम सो लहै नित्त ही नित्त ॥"

६. यमुनायश

यह भक्ति भाव की रचना है। इसमें ६० अर्धालियों के अंत में एक दोहा है। भक्ति भाव से यमुना का महत्व वर्णित हुआ है। रचना कीर्तन के ढंग की है। अर्धालियाँ तथा दोहों का प्रारंभ 'जमुना' शब्द से हुआ है। आनंदघन जी गोकुलघाट पर यमुना के किनारे रहा करते थे। इसका प्रमाण इस रचना में मिलता है। इसमें उन्होंने लिखा है कि मैं यमुना के किनारे पर फूला फूला फिरता हूँ। जिन्होंने गोकुलघाट पर यमुना का पानी पिया है वही यमुनारस की महिमा जानते हैं।

"या यमुना में नित ही न्हाऊँ"
× × यमुनायश २२

"जमुना के तट फुल्यौ फिरौ"
\+ \+ यमुनायश २७
"गोकुलघाट पियौ जिन पानी
जमुनारस महिमा विन जानी"
\+ \+ यमुनायश ३७

७. प्रीतिपावस

इसमें १०६ अर्धालियाँ हैं। पावस ऋतु में श्री कृष्ण के गोप गोपियों के साथ वनविहार का इसमें वर्णन किया गया है। ऋतु के अतिरिक्त प्रेमवर्षा का भी वर्णन किया गया है, श्री कृष्ण आनंद के घन हैं। ये आनंद की वृष्टि करते हैं। ब्रज में यह प्रीति का पावस प्रत्येक ऋतु में बना रहता है। श्रीकृष्ण को आनंदघन मान कर कल्पना करने की प्रवृत्ति कवित्त सवैयाकार आनंदघन की है। वही कल्पना निबंध रचना 'प्रीतिपावस' में मिलती है। इससे सिद्ध है कि निबंधों तथा कवित्त सवैयों का रचयिता एक ही है। इसके अतिरिक्त सरल भाषा में कवित्त सवैयों की सी भाववक्रता यहाँ प्राप्त होती है। जैसे—

"अचरज झर लाग्यौई दरसै,
घन तरसै, चातक रुचि बरसै।" १ प्रीति पावस ५२।

× × ×

"प्यासनि बरसत अति रस भरै,
अचरज घन दामिन संचरै।" वही ५५

× × ×

८. प्रेमपत्रिका

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'घन आनंद' ग्रंथावली में इस रचना के ६५ पद्य दिए हुए हैं, जिसमें प्रारंभ में २६ पद्य प्लवंग छंद के हैं। इनके बाद कवित्त सवैये संगृहीत हैं। उनमें २८ सवैये, १ छप्पय, १ सोरठा तथा ३६ कवित्त हैं। कवित्त सवैये प्रारंभ होने से पूर्व कवि का नाम आ गया है और रचना का प्रयोजन भी कवि ने बता दिया है। इससे सिद्ध होता है कि 'प्रेमपत्रिका' वहीं समाप्त हो जाती है। दूसरे कवित्त सवैयों में प्रेम की पत्रिका के भाव नहीं है। विरह का वर्णन है। कवित्त संख्या ३०, ३१,

३२, ३३ बृंदाबन मुद्रा के क्रमशः पद्य संख्या ५४, ५५, ५६, ५७ हैं। अतः कह सकते हैं कि 'प्रेमपत्रिका' तो २६वें पद्य पर ही समाप्त हो जाती है। बाद में किसी ने उनके मुक्तक पद्य संगृहीत कर दिए हैं। इससे यह भली-भाँति प्रमाणित होता है कि निबंधकार तथा मुक्तककार एक ही आनंदघन हैं। विरहिणी गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेमपत्र वा संदेश इसका वर्ण्य है। भाव और भाषा की वक्रता कवित्त सवैयों की सी है, भाव भी वे ही हैं जो कवित्त सवैयों में हैं।

१२. अनुभव चंद्रिका

इसमें ३ दोहे तथा ५२ अर्धालियाँ हैं। ब्रजभूमि के महत्व के विषय में कवि ने अपने अनुभवों को व्यक्त किया है। ब्रज श्रीकृष्ण के आनंद का मूर्तिमान स्वरूप है। यह रसमयरूप अमल, अखंड, अगम्य तथा अनूप है, परमधाम का भी धाम है। भगवत्प्रेम का पूर्ण प्रण लेने पर ही इसका महत्व समझ में आता है। कवि ने अपना प्रसंग भी दिया है कि यहाँ के सर सरिताओं का जल पीने से जले हृदयों को भी शांति मिलती है। वह चाहता है कि ब्रज में रह कर श्री कृष्ण का कीर्ति गायन करता रहे। राधा के चरणों में सिर झुकाता रहे। इस प्रकार मनमें आनंद की लहर उठती है। उन्होंने ब्रज रसिकों के सत्संग से ब्रजमहिमा सुन बूझ कर लिखी है।

"ब्रज बन सर सरिता जल पीएँ।
उपजै सान्ति जरिगए हिएँ॥
ब्रज बन बसि ब्रजनाथ हि गाऊँ।
श्री गोपी पद रज सिर नाऊँ॥
ब्रज बन रसिक संग अभिलखौं।
तिन तैं सुनि बूझै कछु भाखौं॥"

अनुभ० च० ३७, ४२, ४७।

× × × ×

१३. रंग बधाई

नाम से जैसा स्पष्ट है, रचना श्रीकृष्ण जन्म की बधाई के वर्णन में है। गोप गोपियों, नंद यशोदा आदि के इस अवसर के आनंदोल्लासों का भक्ति भाव से वर्णन है। इसमें तीन दोहे और ५० अर्धालियाँ हैं।

निंबार्क संप्रदाय वाले नियमतः जन्म बधाई का वर्णन करते हैं। मुक्तक पद्यों में भी बधाई के बहुत से पद्य इनके विद्यमान हैं। इससे कवि का निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होना प्रमाणित होता है।

१४. प्रेमपद्धति

यह १४३ पद्यों की रचना है। इसमें ३५ दोहे १०८ अर्धालियाँ हैं। वर्ण्य विषय है प्रेम-लक्षणा-भक्ति। प्रेम का महत्व एवं दुरवगाहता बताते हुए गोपी-कृपा को उसका प्राप्तिसाधन बताया है। गोपियों ने ही प्रेम की यथार्थता को पहचाना था। उन्हीं का अनुसरण करने से प्रेम की सच्ची अनुभूति हो सकती है। कवि ने अपने संप्रदाय की स्पष्ट व्यंजना की है, कि 'दुष्प्राप्य' प्रेम भी गोपी-पाद-प्रसाद से उसे सुलभ हो गया है। उसने गोपियों के अनुसार अपना प्रण पूरा किया है।[1]

१५. वृषभानपुर सुषमा वर्णन

इसके प्रारंभ में एक दोहा और बाद में ४० अर्धालियाँ हैं। वृषभानपुर का थोड़ा वर्णन करने के बाद कवि अपने को राधा की सखी के रूप में वर्णित करता है। वह राधा की चेरी है। सदा उसी के पास रहती है। राधा ने उसका नाम बहुगुनी रखा है। वह शृंगार के सब सामान सजाना, भूषा बनाना, रसमयी उक्ति से राधा का हर्ष बढ़ाना, छंद, कवित्त आदि का चटक से गाना जानती है। ललिता, विसाखा आदि सखियाँ उसका आदर करती हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि आनंदघन सखीभाव के उपासक थे।

१६. गोकुल गीत

इस छोटी सी रचना में २१ अर्धालियाँ और अंत में दो दोहे हैं, भक्ति-

---

१—प्रेम पद्धति ७, १०२।

२—"राधा की हौ चौकस चेरी। सदा रहति घर बाहिर नेरी॥
नीको नाम बहुगुनी मेरौ। बरसाने ही सुंदर खेरौ॥
रस सिंगार सौज सजिजानौ। कबरी सोधौ बहुविधि बानौ॥
राधा नाँव बहुगुनी राख्यौ। सोई अरथहि मैं अभिलाख्यौ॥
उकति जुकति रस भरी उठाऊँ। भाग मेरी कौ हरख बढाऊँ।"
वृष० सुषमा व० ८, ६, १४, १५, १८, १६

भाव से श्रीकृष्ण के कारण गोकुल के महत्व का वर्णन है। कवि ने गोकुल देखने की अभिलाष प्रकट की है।

"यह गोकुल नित नैननि दरसौं
प्राननि पै आनँदघन बरसौं"

१७. नाम माधुरी

इसमें ४२ अर्धालियाँ हैं। राधा के नाम संकीर्तस की रचना है। 'गोपाल सहस्र नाम' आदि की शैली से राधा के अनेक नामों का कीर्तन की पद्धति पर स्मरण किया गया है।

१८. गिरि पूजन

इसमें केवल ३४ अर्धालियाँ हैं। गोवर्धनपूजा का सजीव तथा भावपूर्ण वर्णन किया गया है। पूजन के समय का वर्णन भी है और कृष्ण की कुछ बाल चेष्टाओं को भी दिखाया है जो बड़ी सजीव हैं।। रचना आकार में छोटी है। पर स्वाभाविक सजीवता के लिये विशेष उल्लेखनीय है।

१९. विचार सार

वृंदाबनवाली हस्तलिपि में इसका शीर्षक विचार सार निबंध दिया है। कवि ने स्वयं इसे निबंध बताया है।

"सब विचार कौ सार है या निबंध कौ ज्ञान"[१]

रचना में कृष्ण नाम का कीर्तन है। ८६ अर्धालियाँ हैं। अंत में २ दोहे हैं। कवि के अनुसार श्रीकृष्ण का नामस्मरण समस्त विचारों का सारहै।

२०. दान घटा

इसमें १३ सवैये और अंत में तीन दोहे हैं। गोपसहित श्रीकृष्ण का राधा सहित गोपियों के साथ दान लीला का वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण को आनंदघन समझकर रचना को दान घटा कहा है। सरल भाषा में बड़े सजीव सवैये लिखे गए हैं। उन्हें पढ़कर नरोत्तमदास का स्मरण होता है।

१—विचार सार ८७

२१—भावनाप्रकाश

यह २२० अर्धालियों की रचना है। विषय की दृष्टि से इसके दो भाग हो सकते हैं। पहले में राधा और कृष्ण का मिलन है। दूसरे में व्रजराज की महिमा कीर्तन की शैली से वर्णित है। रचना इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यहाँ स्पष्ट शब्दों में कवि ने अपनी भावदशा का वर्णन किया है जिसकी व्यंजना कवित्त सवैये में होती है। "आनंदघन रस में भींगे रहते हैं। व्रजवन की लीला में अवगाहन करते हैं। क्षण क्षण में भावों की तरंगें उठती हैं। छबि देख देख कर उनके निमेष थक जाते हैं। मन मधुर रस के पान से तृप्त होता है। विवश दशा में शरीर रोमांचित हो जाता है। झूम झूमकर वन वीथियों में डोलते हैं। मौन धारण किए मन ही मन बोलते हैं।"[1]

२२—व्रज स्वरूप

इसमें १२२ अर्धालियां हैं। श्रीकृष्ण के कारण व्रज की महत्ता, श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ क्रीड़ाविहार, आनंदोल्लास आदि का वर्णन है। व्रजस्वरूप निगमों को भी अगम है पर व्रजरज की उपासना से सुगम हो जाता है। कवि यहाँ रह कर गोचारण, गोदोहन, व्रजमोहन की नव नव रंगरलियां तथा त्यौंहारों की चहल पहल देखना है। कवि की स्पष्ट उक्ति है कि—

"सुबस लह्यौ व्रजवास बसेरौ"
वृंदावन मुद्रा ५३

+ + ×

२३. प्रेम पहेली

११ अर्धालियों की इस छोटी सी रचना में किसी गोपी या राधा के प्रेम प्रसंग को प्रारंभ किया है पर इसकी समाप्ति नहीं की गई है। रचना अधूरी है। कवि का नाम नहीं है जैसा कि और रचनाओं में मिलता है।

× × ×

१—आनंदघन रस भीज्यौ रहे। व्रज लीला निधि रस अवगहै।
छिन छिन भाव तरंग विसेषै। देखि देखि छवि थके निमैषै॥
महा मधुर रसपान छकै मन। विवस दशा अति रोमांचित तन॥

२४—रसनायग

२८ अर्धालियों की इस छोटी सी रचना में रसना (जिह्वा) की प्रशंसा इसलिए की गई है कि वह भगवन्नामसंकीर्तन करती है। प्रत्येक अर्धाली 'रसना' शब्द से प्रारंभ होती है।

२५. गोकुल विनोद

इसमें एक ही छंद के ६४ पद्य हैं। रचना औरों की अपेक्षा प्रौढ़तर है। भाषा समासात्मक सुसंगठित संस्कृतबहुल है। कृष्ण बलराम के राजस विहार का वर्णन है। गोकुल के घर, स्नान, तड़ाग, प्रियतमाएँ, जलकेलि, आदि वर्ण्य है। जलकेलि का शृंगारात्मक सजीव चित्रण किया गया है।

२६. कृष्ण कौमुदी

इसमें ७५ दोहे और ९ अर्धालियाँ हैं। प्रारंभ में श्रीकृष्ण की नामावली विष्णु सहस्र नाम की शैली पर संगृहीत है। बाद में श्री कृष्ण का नखशिख वर्णन महापुरुषों की तरह मुकट से प्रारंभ कर चरण पर समाप्त किया है। मोहन के यौवन सौंदर्य का भी वर्णन हैं। रचना उत्कृष्ट है। कवि ने इसको प्रबंध संज्ञा दी है। "कृष्ण कौमुदी नाम यह मोहन मधुर प्रबंध। सरस भाव कुमुदावली प्रफुलित परम सुगंध।" सरल, सरस और स्वच्छंद भाषा में भाव व्यक्त किए गए हैं। चौपाइयों की अपेक्षा दोहे अधिक कवित्व पूर्ण और सरस हैं।

२७ धाम चमत्कार

७० अर्धालियों की इस रचना में वृंदावन के महत्व का भक्ति-भाव-पूर्ण वर्णन है। धाम महत्व श्रीकृष्ण के कारण है। इसे भक्त ही देख सकते हैं। विचारों की दृष्टि से रचना महत्वपूर्ण है। इसमें आनंदघन जी ने वृंदावन के विषय में वैष्णव दर्शन की भावनाएँ दिखाई है। वृंदावन आश्चर्य-धाम है जिसे देखने की आखें और ही होती हैं। इस अगाध रससागर में आनंदघन नित्य ही बरसते हैं। ब्रजबन परमानंदमय है जहाँ मन का प्रवेश भी नहीं होता। परमतत्व का सार इसकी धूलि में समाया हुआ है। यहां

सर्वदा एकसा आनंदोदय रहता है। भगवान श्रीकृष्ण ने अपना स्वरूप देखने के लिये इसे दर्पण बनाया है। 'रसकदंब स्याम' यहाँ मुग्ध बने रहते हैं। इसकी महिमा निगमागम के लिये भी अगम है। इनके आश्चर्यमय रूप को विरले ही कह सकते हैं। आनंदघन से तो ब्रजनाथ ने हठ पूर्वक यह कहला लिया था। 'ब्रज स्वरूप कछु मन में आयो, सो हठ के ब्रजनाथ कहायो'। ये ब्रजनाथ 'घनानंद कवित्त' के संग्रहीता ही प्रतीत होते हैं।

× ×

२८. प्रियाप्रसाद

इसमें ६५ अर्धालियाँ और ६५ दोहे हैं। प्रारंभ में राधा का नाम-संकीर्तन है। बाद में कवि ने अपनी स्वामिनी और स्वयं को उनकी चेरी बताया है। सखीभाव की उपासना के भावावेश में वह राधाकृष्ण की 'शृंगारसेवा करता है, वह राधा की चटकीली, चितबढ़ी 'चेरी है जो सदा उनके पास रहती है। उन्हें गीत सुनाती है, पैर दबाती है, दोनों को पंखा करती है। राधा की जूठन खाने की भी वह इच्छुक है। उनके शरीर से उतरा वस्त्र पाकर वह धन्य हो जायगी। राधा और मोहन दोनों एक हैं। राधा श्याम बिना नहीं रहती अतः कवि राधा का ही भक्त हैं। रचना कवि के सांप्रदायिक भावों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उन्होंने स्वयं इसका नाम 'प्रियाप्रसाद' रक्खा है।

२९. वृंदावन मुद्रा

"प्रियाप्रसाद प्रबंध कौ पाय सवादहि लेन"

× × ×

'घन आनंद ग्रंथावली' के अनुसार इसमें ५८ पद्य है। ५ कवित्त, १ दोहा और ५२ अर्धालियाँ हैं। वर्ण्य विषय है वृंदावन की महिमा। कवित्त रचना का भाग नहीं प्रतीत होते हैं। वृंदावन विषयक होने से इसमें संगृहीत हो गए हैं। वैसे ये ही पद्य ग्रंथावली 'प्रकीर्णक के ९१, ९३, ९४, ९५ और ९६ वे हैं। ५३ वीं अर्धाली में कवि का नाम आगया है जिससे रचना के वहीं पर पूर्ण होने का अनुमान होता है, अस्तु—

संग्रह से कवित्तकार तथा प्रबंधकार के एक होने का प्रमाण अवश्य मिल जाता है। कवि ने अपने निवास स्थान का भी इस में परिचय दिया है।

"आनंदघन वृंदावन बसै"

× × ×

यह वृंदावन राधा और कृष्ण दोनों का निवास स्थान है। वे इसे पुतलियों की तरह नेत्रों में रखते हैं। यहां दंपत्ति का प्रेम लहलहाता है। आनंद घन नित्य यहाँ बरसते हैं। यह श्रीवपु के समान है। उसकी प्रार्थना यही है कि वृंदावन सदा उनकी आँखों के आगे विद्यमान रहे और उसकी अपूर्व ज्योति उसके लिये सदा जगती रहे

× × ×

३०. व्रज प्रसाद

इसमें १०८ अर्धालियाँ हैं। व्रज की महिमा तथा शोभा इसके वर्ण्य विषय हैं। इसके महत्व का कारण भगवान श्रीकृष्ण हैं। मोहन व्रज हैं, व्रज मोहन है। अंत में कवि की धारणा है कि व्रज के सुख को तो कोई भी नहीं कह सकता। मैं तो मौन धारण किए देखता रहता हूँ।

× × ×

३१. गोकुल चरित्र

यह ४० अर्धालियों की छोटी सी रचना है जिस में कृष्ण के चरित्रों का वर्णन है। गोकुल के मार्गों में श्रीकृष्ण क्रीड़ा करते है। उनका सरस गोचारण, पनघट आदि और बालचेष्टित आदि विशेष रूप से वर्णित है।

× × ×

३२. मुरलिका मोद

५१ अर्धालियों की इस छोटी सी रचना में श्रीकृष्ण के मुरलीवादन और गोपियों के उसपर मुग्ध होकर घर बार की लज्जा त्याग स्वच्छंद प्रेम का आचरण करने का वर्णन हुआ है। रचना का महत्व इसलिये बढ़ गया है कि कवि ने इसमें समय का संकेत किया है।

"गोपमास श्रीकृष्ण पक्ष सुचि
संवत्सर अठानवै अतिरुचि।" मुरलिका मोद ५०

× × +

३३. मनोरथ मंजरी—

३० पद्यों की यह सांप्रदायिक रचना है। कवि अपने को राधा की अंतरंग सखी मान कर उनकी रहसकेलि की सेवाओं का वर्णन करता है। वह उनकी शय्या तैयार करता है। रहसकेलि में पान पात्र भरता है, रसभेद की बातें सुनाता है। सुरतकाल में बाहर आकर उनके रसालापों को सुनता है, राधाकृष्ण के सभोग सुख से स्वयं सुखी रहती है।

सखीसंप्रदाय का आदर्श है कि सखियाँ राधाकृष्ण की गुह्यतम केलियों की साक्षिणी होकर भी मादन भाव का अनुभव नहीं करतीं। कृष्ण में पतिभाव की कामना नहीं करतीं। साथ ही साधना का उत्कर्ष राधा की अंतरगता प्राप्त करने से होता है। यहाँ पर कवि अत्यंत अंतरंग भाव की भावना मादन-भाव रहित होकर प्रकट करता है। इस रचना से स्पष्ट है कि आनंदघन जी सखी भाव की सांप्रदायिक प्रेमसाधना में पारंगत थे।

× × × ×

३४. ब्रज ब्यौहार

यह अपेक्षा कृत बड़ी रचना है। कुल २३७ पद्य हैं जिनमें २६ दोहे हैं शेष अर्धालियाँ हैं। गोचारण, छाकलीला, दानलीला, ब्रजमहिमा, गोपी-प्रेम-महिमा तथा ब्रजव्यवहार का महत्व आदि इसके वर्ण्य विषय हैं। रचना साधारण है। इसमें ८ दोहे प्रेमसरोवर के भी आ गए हैं।

× × × ×

३५. गिरि गाथा

इसमें ४ दोहे और ५० अर्धालियाँ है। गोवर्धन का महत्व वर्णन रचना का विषय है। गोबर्धन ब्रजवासियों की गौओं का पालन करता है। कृष्ण के केलिविलासों के लिये कंदराओं में स्थान देता है। गोपिकाओं को मार्ग प्रदान करता है। भगवान की लीलाओं का साक्षी है।

३६. छंदाष्टक

८ छंदों की इस लघु रचना में रास के अनंतर अंतर्हित हुए श्रीकृष्ण के वियोग में व्याकुल गोपियों की विरह भावनाएँ और अन्वेषण के प्रयत्न दिखाए है। सवैयों की सी सरस संगठित शैली है।

× × × ×

३७ त्रिभंगी

यह ५ त्रिभंगी छंद के पद्यों का संग्रह है। जीव को भगवद्भक्ति का उपदेश रचना का विषय है। संस्कृतबहुल समस्त भाषा शैली का आश्रयण इसमें हुआ है।

× × ×

३८. परमहंसावली

यह रचना ५३ दोहों की 'गुरुमुखी' है। निंबार्कसंप्रदाय के गुरुओं की 'हंस' सनक से प्रारंभ कर वृंदावनदेव जी तक की नामावली का यत्र तत्र गुण वर्णन के साथ उल्लेख हुआ है। कवि का संप्रदाय निश्चित करने में रचना महत्वपूर्ण है। जिन गुरुओं के नाम इसमें आए हैं वे यथाक्रम 'संप्रदाय' के प्रसंग में दिखा दिए गए हैं। ये सभी निंबार्क संप्रदाय के गुरु हैं।

× × ×

३९. कर्तृत्व तथा शीर्षक परीक्षा

इन रचनाओं के आदि, अंत या मध्य में कवि ने अपना नाम कम से कम एक बार अवश्य दिया है। नाम 'आनंदघन' ही नियत रूप से आया है। रचनाओं का नामकरण निम्नलिखित रचनाओं में कवि ने स्वयं किया है।

इश्कलता—

"विरह सुन सों वारि करि घन आनँद सों सींच।
इश्कलता झलर रही हिये चमन के बीच ॥"

यमुनायश—

'जमुना जस वरन्यो विसद निरवधि रस को मूल।
जुगल केलि अनुकूल है बसिबो जमुना कूल ।"

प्रीति पावस—

"सुरस प्रीति पावस ज्यों बरसै।
त्यौं ही सब रितु को सुख सरसै ॥"

प्रेम पत्रिका—

"या पाती को देखि पथिक प्रानै लहै" २६
"अकथ कथा की पाती छारो है भई ६"

प्रेमसरोवर—

"प्रेम सरोवर अमल वर ढिग कदंब तरुपाँति । १"

ब्रजविलास—

"ब्रज विलास दरसै सदा ब्रज मंडन को साथ । ६८"

सरस वसत—

"सरस वसंत प्रीति की गोभा । प्रगटित होत विराजत शोभा । २०"

अनुभव चंद्रिका —

"प्रकटी अनुभव चंद्रिका अमतम गयो विलाय । ५४"

रंग बधाई—

"रंग बधाई को सुख जैसो । मन लोचन नहि जानत तैसो ।।"

प्रेमपद्धति—

"प्रगट प्रेम पद्धति कही लही कृपा अनुसार । १०६"

गोकुल गीत—

"नंदराय को गोकुल गाऊँ । आप वरनि आप ही सुनाऊँ ।"

गिरिपूजन —

"गिरि गोधन पूजन ढिग आयो । ब्रजवासिन को अति मन भायो ।"

विचार सार—

"सब विचार को सार हैं या निबंध को मान । ८७"

दानघटा –

"दान घटा मिलि छबि छटा रस धारनि सरसाय । १४"

कृष्णकौमुदी—

"कृष्ण कौमुदी नाम यह मोहन मधुर प्रबंध । ८४"

प्रिया प्रसाद—

"या प्रबंध को नाम हू पायौ प्रिया प्रसाद । ८८"

"प्रिया प्रसाद प्रबंध कौ पाय सवादहि लेत । ८६"

ब्रजस्वरूप—

"ब्रजस्वरूप बरनै ब्रजबानी । और कौन की बुद्धि अमानी । १०५"

गोकुल विनोद -

"नंद गोकुल बरनि बानी विसद जोदि निवास । १"

"वन बिनोद प्रसाद सों पावन अखिल ब्रह्मंड ।" ६४

ब्रजप्रसाद—

"ब्रज प्रसाद ब्रजरस उदगार । रसिक सजीवन प्रान अधार । १५२"

व्रतव्यौहार—

"मोहन ब्रज त्योहार बखानौ । हिये बैठि रसना पै आनौ । १३८"

आलोचना—

४ पदावली और निबंध रचनाएँ

पदावली तथा निबंध रचनाएँ आनंदघन जी के भक्ति काल की हैं जैसा कि उनकी जीवनसंबंधी किंवदंतियों से प्रतीत होता है। कवित्त सवैयों में अनुभूत्यात्मक लौकिक प्रेम के भाव हैं। वे उनके शृंगारी जीवन की कृति कही जाती हैं। कवित्त सवैयों से दूसरे प्रकार की रचनाओं में अनेक प्रकार का अंतर स्पष्ट प्रतीत होता है। एक तो कवित्त सवैयों में जो वक्रतापूर्ण शैली का आश्रयण है वह इन रचनाओं में कहीं कहीं अत्यंत अल्प मात्रा में मिलता है। शब्दावली तो निःसंशय वही है जो कवित्त सवैयों में है पर वाक्य रचना अपेक्षाकृत सरल तथा सीधी है। कवित्त सवैयों के कवि से उसके उत्तरकाल में जिस प्रौढ़ि तथा परिमार्जन की आशा की जा सकती थी उसका भी यहाँ अभाव है। वितनशैली में अंतर है। इन रचनाओं का विषय भक्ति है। कवित्त सवैयों में भी भक्ति भाव के कुछ पद्य आए हैं। कृपाकंद निबंध, दान घटा तथा वृंदावन संबंधी पद्य सभी भक्तिभाव पूर्ण हैं। पर उन में शैली जैसी चमत्कार पूर्ण, प्रभविष्णु एवं गंभीर है उसका यहां अभाव है। यही नहीं भावों की उन्मुक्तता के दर्शन जैसे कवित्त सवैयों में होते हैं वैसे पदावली में तथा निबंधों में नहीं है। वहाँ परमेश्वर का स्वरूप दार्शनिक अधिक है अवतार स्वरूप कम। केवल लीलावर्णन मे कृष्ण का रूप अवतारी है। भक्ति के भाव भी भक्ति शास्त्र की परंपरा से बद्ध नहीं है। भक्तिभावना में किसी संप्रदाय विशेष का अनुसरण वहाँ नहीं किया गया प्रतीत होता है। प्रेमशृंगार के भाव भी इसी प्रकार शृंगार शास्त्र या साहित्य शास्त्र की परंपरा से मुक्त हैं। दो शब्दों में कवि का स्वरूप वहाँ रीतिमुक्त है। पर

पदों एवं निबंधों में राधा कृष्ण के नाम पर जो भक्तिभाव व्यक्त किए है वे सांप्रदायिक हैं। निबंधों में राधा कृष्ण के बन बिहार (व्रजव्यौहार) जल बिहार (गोकुलविनोद) तथा सुरतादि (मनोरथ मंजरी में) के वर्णन आए हैं वे पर्याप्त खुले हुए हैं। शिष्टता और भावात्मकता जैसी कवित्त सवैयों में हैं उसके यहाँ दर्शन नहीं होते। पदावली में भी सुरत, सुरतांत, परकीया, रति प्रच्छन्न रति आदि भाव के पद मिलते हैं। सुरतवर्णन यथा:—

"भुज भुरि भरि गाढ़ै लगाई री सुनू छतियां प्यारे,
आनन पियराई, घरक हियराई बहुत बनियां प्यारै
पीक कपोल सुहाय, छाय जगी लगी आवनि आखैं मदमतियां प्यारै।
अंग अंग ऊठ अनूठी भई आनंद घन घुरि घुरि ढुरि ढुरि
भिजई रिझाई सब रतियां प्यारै[१]"

अभिसार के लिये नायिका को उद्यत कराती हुई दूती के वचन:—

'कहा तू अंजन दै करि है हे।
"पिय की हियतैं हस्यौ सहज ही अवधौं कहा हरिहै हे।"

× × ×

"आनंद घन सौ दामिन है मिलि चंद चरयौ ढरिहै हे।[२]"

नायिका को नायिक के हाथ सौपती हुई दूती के वचन ये हैं:—

"ल्याइहौ मनाइ करि करि मनु हारि
अब तुम लेहु निहोरि रसिकवर समुझि संभारि।
जाके अंग अंग सुख चहिए ताकी सहियै रारि गारि।
आनंद घन तुम सुघरराय रस राखियै विचार।[३]"

सुरतांत सौंदर्य का वर्णन भी मिलता है।—

"चितवन और अरसीली बोलनि सुरसीली डोलनि ढीली ढीली।
पिय समीप निसि सुख की झलक मुख विथुरी अलक।
अरु लगी ललित कपोलनि पीक लीक छबीली।

१—आ० प० ६७६
२—वही ४७४
३—वही ५१२

अंग अंगरानि जंभानि जानि झुकि मरगजी सारी अति सुबसीली।
मुकुर देखि अवरेखि मनहि मन आनंद घन कछु भौंहनि होतिहि सीली।[1]"

प्रच्छन्न परकीया रति

'लई कन्हैयां नै हों घेरि,
"खोरि साँकरी माँझ सँझोखे आइ गयौ कितहूँ ते हेरि।
कोरी भरी ऊपरी औचका अकली काहि सुनाऊँ टेरि।
आनंद घन घुरि सराबोर करि पठई घरलौ निपट घेरि।[2]"

\+ \+ \+

पदावली में प्रेम का स्वरूप परिवारिक भी कहीं कहीं हो गया है। कवित्त सवैयों में इस तत्व के कहीं भी चिह्न नहीं मिलते। यहां श्री कृष्ण के साथ गोपिका प्रेम को 'ननदिया' दूर से पहचान लेती है।—

"अब तो जानि है जू जानी ब्रजमोहन सुखदानी।
मेरी तिहारो लाग ननदिया दूरि कितहु पहचानी।
चौकस भई रहति है बैरिनि जोऽत्र निकसियै पानी।
वाकैडर सूखति आनंदघन इतके झर नकबानी।।

आ० घ० पदा० २३३

इस तरह से कवित्त सवैयों से पदावली तथा निबंधों में शैली और भावों का भेद प्रतीत होता है। इस भेद के कारण आपाततः यही अनुमान होता है कि स्यात् आनंदघन और घन आनंद दो पृथक पृथक कवि हैं। कवित्त सवैयों का कवि प्रेमी घन आनंद है, जो आवश्यकता वश अपने को आनंदघन भी लिखता है और निबंध तथा पदावली का रचयिता भक्त आनंद घन ही है। कवित्त सवैयों में जिस प्रकार आनंदघन और घन आनंद दोनों प्रयोग मिलते हैं उस प्रकार इन रचनाओं में नहीं। यहाँ केवल आनंदघन ही नाम आता है केवल एक बार 'घन आनंद' शब्द पदावली में प्रयुक्त हुआ है। 'घन आनंद और आनंद घन' 'पुस्तक का संपादन करते समय श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को भी ऐसी धारणा हो गई थी। आनंदघन जो नंदगाँव के ब्राह्मण थे इन भक्ति प्रधान कृतियों के रचयिता मान लिए गए थे। फलतः मिश्र जी ने

१—१११
२—वही १६७

घनआनंद से पृथक् ही आनंदघन भक्त को इस संग्रह में रखा है। उनका विश्वास था कि जबतक पक्का प्रमाण न मिल जाय तबतक आनंदघन को भी एक मानने को जी नहीं चाहता। इस संदेह का कारण यह भी है कि इन रचनाओं में 'सुजान' छाप नहीं है।

पर यह संशय तबतक ही पुष्ट प्रतीत होता था जबतक कवि की पूर्ण रचनाएँ उपलब्ध नहीं हुई थीं। 'मुरलिका मोद' से उनके समयका निर्धारण हो गया और कालभेद के कारण नंदगांव के आनंदघन तथा निबंधकार आनंदघन दो पृथक् पृथक् ही व्यक्ति मानने पड़े। इसके अतिरिक्त और भी अनेकों प्रमाण निबंध तथा पदावली के कर्त्ता को कवित्त सवैयाकार कवि से अभिन्न सिद्ध करते हैं।

१—कृपाकंद निबंध तथा दानघटा का रचयिता कवि कवित्त सवैयाकार से अभिन्न है इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं होता। भाव और भाषा, दोनों की शैली, नाम आदि उभयत्र एक से हैं। छतरपुरवाले ग्रंथ में पदावली तथा निबंधों के साथ ही कृपाकंद निबंध की भी गणना की गई है। 'सुजानहित' तथा 'घन आनंद' कवित्त के हस्तलेखों में भी दानघटा और कृपाकंद निबंध संमिलित है। अतः कृपाकंद निबंध एक ओर तो कवित्त सवैयाकार से संबद्ध है दूसरी ओर पदकार से।

२—प्रेमपत्रिका निबंध होने से भक्त आनंदघन की रचना है पर उसी के हस्तलेख में ६७ कवित्त सवैये तथा एक सोरठा और एक छप्पय भी जो 'घन आनंद' कवित्त के हैं सम्मिलित हैं। इस तरह वृंदावन मुद्रा में पाँच कवित्त घन आनंद कवित्त के संगृहीत हैं। इस प्रकार ९ गाने के पद कृपाकंद निबंध में संगृहीत हैं। इससे प्रतीत होता है कि संग्रहकार ने दोनों रचनाओं का कर्त्ता एक ही समझा है। हस्तलेखों के संग्रह भी इसी ओर संकेत करते हैं।

३—वृंदावन से जो हस्तलेख की प्रति प्राप्त हुई है उसमें निबंध और पदों का ही संग्रह प्राधान्येन है। पर 'कृपाकंद निबंध' और 'दानघटा' उन्हीं रचनाओं के साथ साथ संगृहीत हैं। लंदन संग्रहालय वाली प्रति में तो कृपाकंद निबंध के अतिरिक्त 'कवित्त संग्रह' भी साथ ही संगृहीत है। 'सुजान हित' के साथ हस्तलेखों की एक ही जिल्द में 'वियोगवेलि' 'यमुनायश' और 'प्रीतिपावस' मिलते हैं। अतः प्रतीत ऐसा होता है कि

आनंदघनजी की शृंगारपरक रचनाएँ भक्तिपरक रचनाओं से पृथक् बहुत पहले ही संगृहीत कर ली गई थीं। कहीं साथ ही साथ और कहीं पृथक् पृथक् सुरक्षित की गई थी। रचनाएँ एक ही कवि की समझी जाती थीं।

४—आनंदघनजी की जीवनी संबंधी प्रमाणों में प्रायः उनके गानप्रवीण होने के साथ साथ सुजानप्रेम की चर्चा की जाती है। इससे सुजान प्रेमी व्यक्ति को ही गेय पदों का कर्त्ता होना चाहिए।

५—शब्दावली तथा मूल चिंतन प्रवृत्ति कवित्त सवैयों तथा पदों में एक सी ही हैं। प्रिय को आनंद का वर्षयिता घन मानना, संयोग वियोग दोनों में अभिलाषातिरेक का बना रहना, प्रेम मार्ग में बुद्धि को नगण्य मानना, प्रिय को घन अथवा चंद्र, तथा प्रेमी को पपीहा या चकोर बताकर अनन्य प्रेम की साधना करना, प्रिय को बहु प्रेमासक्त तथा प्रेमी को अनन्य प्रेम का साधक दिखाना आदि भाव उभयत्र समान हैं। प्रीति पावस कवि की साधारण रचना है। इसमें किसी प्रकार की वक्रता के दर्शन नहीं होते पर शंभुप्रसाद बहुगुना उसकी तुलना कवित्त सवैयों से करते हुए लिखते हैं कि 'रचना की शैली में शिथिलता है, इसमें कोई संदेह नहीं किंतु उसमें विद्यमान भावधारा वही है जो घनानंद की अन्य रचनाओं के मूल में है। उद्वेग अवश्य तीव्रता पर नहीं है। किंतु आकांक्षा के मूल में चातक की प्यास निहित है। बिंदु के समान वह पावस की बूँदों में व्याप्त है। बरसकर फैलकर सागर वह अभी नहीं हुई। कुररी का रुदन अभी शेष था। विरह ने प्रेम के सागर को लहराया है जिसकी झलक वियोग की वेलि से दिखलाई देने लगती है।

६—पदावली में एक बार आनंदघन : पद संख्या ४०६ : तथा चार पाँच बार 'सुजान' शब्द का भी व्यवहार हुआ है।

७—'वियोग बेलि' 'प्रीतिपावस' 'धाम चमत्कार', गोकुलविनोद आदि निबंध रचनाओं में तथा कतिपय गेयपदों में शैली की हल्की वक्रता भी मिलती है।

८—कुछ ऐसे बाह्य कारण है जिनसे शैली का भेद हो सकता है।

क—शैली विवेचन में लेखक ने आनंद घन का एक पद उद्धृत किया है जिसमें उनकी लौकिक छलछंदपूर्ण वाणी से घृणा तथा भक्तिपूर्ण रचनाओं

से स्नेह प्रकट होता है। दूसरी ओर भड़ौत्रा छंदों में कवि की सुजान छाप से लिखी रचना की निंदा की गई है। इससे अनुमान होता है कि कवि ने जान बूझ कर वक्रतापूर्ण शैली का उत्तर काल में त्याग कर दिया था। भक्ति भाव की तन्मयता में साहित्यिक चमत्कार और भाषा की साजसज्जा त्याग दी थी।

ख—पदावली के पद गेय हैं। उनका आकार छोटा है। प्रायः सबके साथ राग ताल का विवरण दिया हुआ है। वृंदावन के मंदिरों के अधिकारियों की बहियों में इनके पद तत्तद् अवसरों पर गाने के निमित्त पहले से ही संगृहीत चले आ रहे हैं। राधावल्लभ संप्रदाय के श्रीरूपलाल गोस्वामी से लेखक ने सैकड़ों पद उतार कर लिए हैं पर वे नवीन नहीं हैं। दूसरे राग संग्रहों में भी इनके पद संगृहीत हैं। ऐसे यथार्थतः गेयपदों की भाषा सरल सीधी होना अपेक्षित है।

ग—निबंधों में बहुतसी तो कीर्तन की रचनाएँ हैं। उनमें काव्यविच्छित्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। शेषमें से कुछ में चमत्कारांश हैं भी। कुछ में चौपाई छंद का आश्रयण करने से नहीं रहा। यह छंद ब्रज भाषाके अनुकूल नहीं पड़ता।

घ—भावपरिवर्तन के तत्व जो दिखाई पड़ते हैं उनका भी हेतु है। कवि मूलतः रसवादी है। इसलिये सुजानप्रेमी आनंदघन 'बहुगुनी' सखी बन गया था। इसलिये उसने परमेश्वर को परमरमण महारस की मूर्ति 'आनंद घन' रसिक रसिया माना था। रसवाद या आनंदवाद का बुद्धिवाद से विरोध है। इसलिये आनंदघन ने प्रेमप्राप्ति में बुद्धि को अधिकारिणी नहीं माना। फलतः इन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में रसमग्न होकर भावोद्गार व्यक्त किए जो प्रचलित रीतिमार्ग के विरुद्ध सिद्ध हुए। इसलिये कवि अपने लौकिक काव्य में तो रीति मार्ग की तुलना में स्वच्छंद हो गया। पर भक्तिभाव पूर्ण रचनाओं में बुद्धिवाद था ही नहीं। उसकी भावना का किसी से विरोध नहीं हुआ। वह भक्ति मार्ग में परंपरानुयायी ही रहा। भक्ति विह्वल हृदय की सहज प्रवृत्ति में इतनी कठोरता रहती भी नहीं कि वह साहित्य के मार्गादि का चिंतन करे। अतः भक्ति के क्षेत्र में ये परंपरा के अनुयायी फिर हो गए। उत्तरकाल में चमत्कार का त्याग सभी कवि कर देते हैं।

---

१. घनानंद पृ० १६

६—कवित्त सवैये तथा निबंध एवं गेयपदों की एककर्तृकता में सबसे प्रबल प्रमाण तो नीचे दिए गए साम्य हैं जिनमें पद्य के पद्य, कहीं कहीं तो ज्यों के त्यों भाषांतरित कर दिए गए हैं। नीचे लिखे उदाहरण स्थाली-पुलाक न्याय से कुछ ही दिए हैं। आपस में मिलनेवाले पदों की संख्या और भी प्रचुर मात्रा में है।

रचनाओं के परस्पर साम्य—

१—'अंजन यहै सूझ हू यहै। व्रज रज सरन गहै रज रहै।

ब्रजस० ८३

'रमन भूमि रज अंजन परसै। तब लीला सरूप कों परसै।

भा० ६६

'मोहन दरस हियौ अभिलाखै। रजकों परस दृग निरज राखै।

भावना प्र० ११२

'लखि लै सुख संपति दंपति मैं। ब्रज की रज आँखिन अंजन कौ।

सु० हि० ४८०

जै ब्रज बन निज दरपन है कियौ। निरखत स्याम सिरावत हियौ।

धाम चमत्कार ४१

वृंदावन सोभा नई नई रसमई गोभा,
कहत बनै ना स्याम नैन पहचान हीं।
राधिका दरस को सुदेस आदरस याहि,
चाह्योई करत जब जब जैसे जानहीं।

प्रे० पत्रिका ३०

२—[illegible] रहै।

युगल अंग जे रंग बिराजैं ते बन दल फल फूलनि आँजै।

वृ० मुद्रा० २६

वृंदावन माधुरी अचंभे सों भरी है देखौ।
स्याम को अनूप रूप त्यौंही याहि देखियै॥

प्रे० पत्रिका ३२ फूल

३—रजही सेऊँ रजहि अराधौं । या रजतें रजही अभिलाखौं ।।
या रज में रस पुंज समोयो । या रज में परमारथ मोयो ।।
भावना प्रका० १२६, १२६

सीसहि चढाइ घनआनँद कृपा ते पाऊँ।
प्रेमसार धरयौ है समोय ब्रज धूरि में ।।
प्रेम पत्रिका ५८

४—राधिका चरन बंदन करि बखानौ ।
पाय जिन बल नंद नंदन हि हाथ करि ।।
चैन भरि नैन मधि देहु थिर थानौ ।
पदावली ८६

स्याम के सरूप को कछुक निरधार होय ।
ज्यौ कछु कह्यौ परै अगाध प्रेम राधा को ।।
प्रे० पत्रिका ३२

५—हरि चरनन की रज आँखिन आँजौ मोहि यहै अभिलाष रहै नित ।
पवन वीर तेरे पाय परति हौं आनंदघन,
पिय तन न ढरकि जाहु हा हा कर हित ।
पदा० ७३

एरे वीर पवन तेरो सबै ओर गौन वारी ।
तोसो और कौन मनै ढरकौंही बानि दे ।।
विरही विथाहि मूरि आँखिन मैं राखौं पूरी ।
धूरि तिन पायनि को हा हा नैकु आनिदै ।।
सु०हि० २५४

६—अपार गुन ग्राम हौं कहा गाऊँ ।
तीरहि गए थकित मति गति होति,
तुमलौं कहौं यौं हौं क्यौ करि आऊँ ।
अमित चरित की तरल तरंगनि बिसमय बूडि न ठिक ठहराऊ ।
है उपाय आनंदघन मो हित वो हित सुदृढ़ कृपा जौ पाऊँ ।।
पदा० १

मेरी मति बावरी है जाय जानराय प्यारे ।
रावरे सुभाय के रसीले गुन गाय गाय ।।
सु०हि० १२२

प्रेम को महोदधि अपार हेरि के विचार।
बाबरो हहरि बार ही तें फिरि आयौ है ॥

सु० हि० ११६

७—कैसे धीरज रहै हाथ मैं मुरलीधुनि बौरावै हो।
बैरिन मारि जिवावै हो ॥

पदा० १३

उतऊतर पाय लगी महदी सुकहा लगि धीरज हाथ रहै।

सु० हि० १४०

ज्याय कैं मारत मारि जिवावत।

सु० हि० २६५

८—पहिरी चुनि चोंपनि सों सीधे सँवारी सारी सूही।

पदा० १६

कैसी फबी घनआनंद चोंपनि सों पहरी चुनि साँवरी सारी।

सु० हि० २१८

९—आँखिन गही अति अनखानि।
पीठि दै मो तन तरकि तोरी तिनक लौं कानि ॥

पदा० ३२

रूप निधान सुजान लखें बिन आखिन मो तन पीठि दई है।

सु० हि० ३

१०—निपट निठुर तिहारी बानि दैया तुम यों ही करी पहचान।

पदा० ४३

भए अति निठुर मिटाय पहचान डारी
याही दुख हमें जक लागी हाय हाय है।

प्रकी० ६

११—ब्रजमोहन पै मोहे कहूँ न कहा जानौ अकुलानि
हम भोरी तुम चतुर सनेही कौन रची बिधना यह आनि।
आनंदघन है प्यासनि मारत प्रान पपीहनि जानि।

पदा० ४३

हौ मन मोहन मोहे कहूँ न बिथा बिमनैन की मानौ कहा तुम।
बौरे वियोगिन आप सुजान ह्वै हाय कछू उर आनौ कहा तुम।
आरतिवंत पपीहन को घन आनँद जू पहचानौ कहा तुम।

सु०हि० ४०४

१२—ऐसी भाँति भरियत मरियत नित एक गाँव बसि भए प्रवासी।

पदा० ७२

जियौ तुम ही तैं बिना तुम्हैं मरि मरि जावे
एक गांव बसि- बैरी ऐसी राखियै मरक।

कृपाकंद निबंध ३६

१३—मेघ आनंद घन छाय छाय उघरे हैं।

पदा० १४२

यौं उघरे घन आनंद छाय कै हाय परी यह पहचान पुरानी

सु०हि० ३१२

अंतर में बैठे कहा दुख देत निकसि क्यौ न आवत अँखियन आगे।

पदा० २५१

अंतर मैं बैठे पै प्रवासी कौसो अंतर है
मेरी न सुनत दैया आपनी यौ ना कहो।
मूरति मया की हा हा सूरति दिखैयै नेकु
हमैं खोय या विधि हो कौन धौ लहा लहौ।

सु०हि० २७१

१४—कैसे मिलैं क्यौं अब अनमिलैं तुम्है जो किये विरह छत छतियाँ।

पदा० ८७८

महा अनमिलन मिलई जब मिलौ

सु०हि० ३७०

१५—काहि कौ मन मोहि लियौ तब कहि कहि कैं हित बतिया।
आनंद घन कितहू बरसौ पै इतहू लगी औलतियाँ।

पदा० ८७८

क्यों हँसि हेरि हन्यौ हियरा अरु क्यौं हितकै चित चाह बढाई।
काहे को बोलि सुधासने बैननि बैननि मैननि सैन चढ़ाई।
सो सुधि मोहियमें घन आनंद सालति क्यौ हु कढ़ै न कढ़ाई।

सु०हि० २१

१६—बिरहा होली खेलन आयौ।

कहा कहौं ब्रज मोहन जू जैसो इन सीस उठायौ।
रंग लियौ अबलानि अंग तें धीर अबीर उडायौ।
प्रान अरगजै राखि रही हैं तुम हित वास वसायो।
नकवानी करि नाक नचावत चौंचंद महा मचायौ।
चोवा चैन न रहन देत है जतन चाइ चरचायौ।

पदा० ४६०

रंग लियौं अबलानि के अंग तें च्वाय कियौ चित चैन को चोवा।
और सबै सुख सोधे सकेलि मचाय दियौ घन आनंद ढ़ोवा।
प्रान अबीरहि फेंट भरे अति छाक्यौ फिरै मति गति खोवा।
स्याम सुजान बिना सजनी ब्रज यौं बिरहा भयौ फाग बिगोहा।

सु०हि० ४७

१७—मोहन मूरति मेरी आंखिन आगेई रहे

ज्यौ खोलों मूदौ त्यौं त्यौं ही त्यौ ही दृष्टि गहै न बात कहे।

पदा० ३४५

दीठि आगे डोलैं जौन बोले कहा बस लागे

सु०हि० ६४

१८—तुमहि बहुत तुम एक हमारे गति चकोर ससि लौं है।

पदा० २१६

मुझ जैसी उसनूँ बहुतेरी बंदी दा अकेलरा।

पदा० ७७५

मोहि तुम एक तुम्हैं मोसम अनेक आँहि
कहा कछू चंदहि चकोरन की कमी है।

सु०हि० १८७

१९—आसा तुम्हैं जो लागि रहै ।
कृपापियूष पोष सों तोषित अति लहलहनि लहै ।
हो जिहि तुम अवलंब कलपतरु सौभग बेलि बहै ।
चढ़ि गुन निटपनि लवढि बढै नित कितहु सिथिल न है ।
मन थांवरे विराजो थिर है तिहि रस रासि यहै ।

पदा० ३१

जहाँ राधा केलि बेलि कुछ की छवनि छायो
लसत सदाई कूल कालिंदी सुदेस थरु ।
महाघन आनंद फुहार सुखसार सींचे
हित उत सवनि लगाय रंग भयो फरु ।
प्रेम रस मूल फूल मूरति विराजो मेरे
मन आल बाल कृस्न कृपा को कलपतरु ।

कृपाकंद निबंध १३

२०—पुकारो मौन मैं कहिबो न आवै ।

वियोग बेलि० १६

विहारी विचारनि की मौन में पुकार है ।

सु०हि० ११८

२१—अचंभे की अगनि अंतर जरो हो ।
परो सियरो भरो नाहीं मरो हो ।

वियोग बेलि० १७

सीरी परि सोचनि अचंभे सों जरो भरौं

सु०हि० २०६

२२—कहीं तब प्यार सो सुख दैन बातें ।
करो अब दूर ते दुख दैन घातें ।।

वियोग बेलि० ५

पहलें घन आनंद सींचि सुजान कहीं बतियाँ अति प्यार पगी ।
अब लाय वियोग की लाय बलाय बढाय बिसास दगानि दगी ।

सु०हि० ८

२३—हिये मैं लै दिए दिए विरहा अभूनैं ।

वि० बे० ९

बारि दियौ हिये में वियोग की अभूनौ है ।

सु० हि० ४६०

२४—उसारौ जौ हमें काकों बसै हो

वि० बे० १०

रावरी बसाय तो बसाय न उजारिये

सु० हि० २१८

२५—हीन भये जल मीन छीन बुधि मैंडी पीरन पावै है ।
लाय कलक यार अपने कू तैं ही छिन मरि जावै है ।
आनंदघन इस दिल दी वेदन लहै सुजान बिहारी है ।

इश्कलता ४१

हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै ।
नीर सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै ।
या मन की जु दसा घन आनंद जीव की जीवनि जान ही जानै ।

सु० हि० ४

२६—सुखी रहौ सुख दैन हमारी हम भरैं ।
बाकौ बार न होउ असीस सदा करैं ।

प्रेम पत्रिका २५७

नित नीकै रहौ तुम्है चाउ कहा पै असीस हमारियौ लीजियैजू ।

सु०हि० २५७

२७—लाज लपेट्यौ चाव

अ० विला० २१

लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी

प्रकी० १

२८—संग लगैं डोलैं सदा बोलैं नाहिन बात

अ० विला ३०

दीठि आगे डोलै जो न बोले कहा बहा बस लागै

सु०हि० ६४

२९—एक बात बूझै सु क्यों अनमिल की कुसरात

व्र० विलास ३०

मिलेहू तिहारे अनमिले की कुशल है

सु०हि० ६१

चाय बाबरो गाँव सब भूलन माँझ सम्हार

व्र० वि० ३३

उहि भूलनि संग लागी सुधि है

सु०हि० ६६

३०—व्रज मोहन मैं है रह्यो देखत विरही लोग।
याते कछु कहत न बनै अचिरज विरह सजोग।

व्र० वि० ३८

दुसह सुजान वियोग बसौं ताही संजोगनित।
बहहि परै नहि समै गमै जियरा जित कौ तित।

सु०हि० २८६

३१—कबै मिलै बिछुरे कबैं बिसम बिसासी स्याम।
मिलै अमिल आमिलै मिले ये कपटिन के काम।

सु०हि० ४५

मिलहू न मिलाप मिलै तन को उर की गति क्यों करि व्यौरि परै

सु०हि० ७२

३२—महापरम व्रज प्रेम को कना बरनियै ताहि।
मोहन गुन गहि बूड़ियै कौन सकै अवगाहि॥

व्र० वि० ४८

घन आनंद एक अचंभो बड़ो गुन हाथ हू बूडत कासों काहों

सु०हि० १३

तरिवौ सुन्यौ हो गुन गहैं घन आनंद पै,
जान प्यारे गुननि तिहारे गहि बोरी हों।

सु०हि० १३

३३—कृस्न राधिका रूप तें जगमग जगमग होति।

सरस वसंत २

आनंद की निधि जगमगति छबीली लाल

प्रकी० १

३४—मोहन चंदहि कियौ चकोर

प्रेम पद्धति २५, २६

तेरो पपीहा जुहै घन आनंद, है व्रज चंद पै तेरो चकोर है।

सु०हि० ३७२

३५—आनंद घन विनोद झर बरसै।

गोकुलगीत १८

सरसौ घन आनंद बारसकौं जु रसा रस सौं बरसाय हौ जू।

सु०हि० ३४६

३६—रीझि अपुनपौं वारि विहारै

भावना प्रकाश० ७२

रीझ हू रीझति विवश है लखि रसिक रिझवार।

गो० वि० ५६

रीझौ रीझि भीजै घन आनंद सुजान महा।

सु०हि० १५४

३७—लह लहानि जरे बन उदै व्रज मोहन अंग अंग।
महारूप सागर उभरि उठत अमोघ तरंग॥

कृष्ण कौमुदी १५७

अंग अंग तरंग उठै दुति की परिहै मनोरूप अबैं धर च्वै।

प्र० २

अंग अंग स्यामरंग रस की तरंग उठै

सु०हि० ३२

३९—वृंदावन मौन पुकारति

ब्र० स्व० ७५

त्यों पुकार मधि मौन

सु०हि० ४५१

४०—उर भौन मैं मौन की घूँघट कै दुरि बैठी विराजति बात बनी।

सु०हि० १५२

भावना नव वधू मुखतें देति घूँघट खोलि

गो० वि० ४०

४१—राधा वदन विकास रस मोहन मधुप सुजान।
सरस बसंत सहज तन सोभा। तैसिय बन प्रगटत गुन सोभा।

सरस वसंत

बैस की निकाई सोई रितु सुखदाई तामैं, तरुनाई उलह मदन मयमंत है।
अंग अंग रंग भरे दल फल फूल राजैं सौरभ सुरस मधुराई कौ न अंत है।
मोहन मधुप क्यों न लट्टू है लुभाय भट्ट प्रीति को तिलक भाल धरे भागवंत है।
सोभित सुजान घन आनंद सुहाग सींची तेरे तन बन सदा बसत बसंत है।

सु०हि० ५९

४२—आनंद घन कहूँ कौंध कहु झर ब्रज मोहन
सब भांतिन है सब ही को।

पदा० ३५१

कहूँ घन आनंद घमडि उघरत कहूँ

सु०हि० ११३

४३—नंद सूनू पद लालन लोभै।
रमा रसिकिनी पावति छोभै

कमला तप साधि अराधति है अभिलाष महोदधि भंजन कै।
हित संपति हेरि हिराय रही जित रीझ बसी मन रंजन कै।

सु०हि० ४६७

४४—यह ब्रजरज मंजन को मंजन। यह रज परमांजन कों अंजन।

भा० प्र० १३०

ब्रज रस स्याम सरूपहि सूझै बिन रज लहै न कोऊ बूझै

ब्र० स्व० ७१

घन आनंद रूप निहारन कौ ब्रज की रज आँखिन अंजन कै।

सु०हि० ४६७

४५—घूमति फिरति भरति भाँवरी। नित संगम रंगनि साँवरी।

य० य० १५

ऐसे रसामृत पूरित है भरिबोई करै अभिलाषनि भाँवरी।
है अमुना जमुना घन आनंद सांवरे संगम संगनि साँवरी।

सु०हि० ४७१

४६—रीझनि लै भिजई आनंदघन मतिभई भोरी है।

पदावली ५२२

घन आनंद लाज तो रीझनि भीजै
मोह में आवरी है बुधि बावरी।

सु०हि० ३७

४७—अचरज झर लाग्यौई दरसै। घन तरसै चातक रुचि बरसै।

प्री० पा० ५२

ज्यौ ज्यौ उत आनन पै आनंद सुओप ओर
त्यौं इत चाहनि मैं चाह बरसति है

प्र० १३

४८—मति अति रीझि विचार बिकाई

य० य० ६

रीझि बिकाई निकाई पै रीझि थकी गति हेरत हेरत की गति।
जीवन घूमरे नैन लखैं मति बौरी भई गति वारि कै मोमति ।।

सु०हि० ३४

४६—आँखिन कहा दिखावौ मन बैठे रहौ।
निकसि गए तजि नेह प्रान पैठे रहौ ।।

प्रेमपत्रिका १६

ऐसें कहाँ कैसे घन आनंद बताइ दूरि
मन सिंघासन बैठे सुरत महीप हौ।

सु०हि० ६४

तीसरा परिच्छेद

भाषा

'ने ही महा ब्रजभाषा प्रवीन ।'
'भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै ।'

(ब्रजनाथ)

आनंदघनजी के भाषा संबंधी विचारों से प्रतीत होता है कि वे काव्य के इस अंग के विषय में विशेष सचेष्ट थे। भाषा संबंधी उनके अपने निजी कुछ आदर्श है जिनका उन्होंने अपनी रचनाओं में पालन किया है। आदर्श ये हैं।

१—कला की भाषा में एक प्रकार का आवरण रहता है। वह खुली नहीं होती। आनंदघनजी ने भाषा को वनिता जैसी लजीली बताया है, जो मौन का घूँघट डाले रहती है,—'उर भौन मैं मौन को घूँघट कै दुरि बैठि विराजत बात बनी।'

२—इसी लिये इसे बुद्धिमत्ता के साथ सुजान समझ सकते हैं। वह सर्व साधारण की समझ की वस्तु नहीं है।

'घन आनंद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी।'

३—कला की भाषा का यदि स्वानुभूति से जन्म होगा तो उसका रूप दूसरे भाषा स्वरूपों से भिन्न होगा—

'अचिरज यहै औरै होते सुर लाग मैं।'

४—श्रेष्ठ भाषा वही है जिसका उत्थान अनुभूति के कारण हुआ हो। शब्द वक्ता के श्वास के धागों का बुना हुआ वस्त्र है जिसपर उसी के अनुराग का रंग चढ़ा रहता है—

सूछम उसास गुन बुन्यौ ताहि लखै कौन,
पौन पट रंग्यौ पेखियत रंग राग मैं।

सु० हि० ४४२

५—वाणी मनुष्यों में भ्रांति भी पैदा करती है और सत्य का अवगम भी कराती है। यद्यपि सत्य वाणी से परे है फिर भी उसकी ओर संकेत वाणी द्वारा किया जाता है। अतः वाणी के यथार्थ रूप को जाने बिना उसका उचित उपयोग नहीं किया जा सकता। यथार्थ रूप का परिचय जीवन के तत्व का बोध कर लेने तथा उसमें मस्त हो जाने से मिलता है। कोरा वाचनिक ज्ञान भी भाषा पर अधिकार करने के लिये पर्याप्त नहीं।—

अच्छर मन कों छरै बहुरि अच्छर ही भावै।
रूप अच्छरातीत ताहि अच्छरै बतावै॥
तत्व बोध बौरानि मैं अच्छर गति अच्छर लहै।

प्रकीर्णक ७१

इन आदर्शों से यह निष्कर्ष सरलता से निकल आता है कि आनंदघन जी की दृष्टि में काव्य की भाषा का स्वरूप साहित्यिक है और वे मर्मज्ञों के लिये वाक्यरचना करते थे, सर्वसाधारण के लिए नहीं। दूसरे अनुभूति का भाषा के साथ नित्य संबंध मानते थे। भाषा के गुण उनकी दृष्टि में अनुभूति से ही आते हैं।

इन आदर्शों की छाया में आनंदघनजी की भाषा का परीक्षण किया जाए तो प्रतीत होता है कि कवि ने अपनी काव्य भाषा के गुणों को आदर्श का रूप दे दिया है। उनकी रचना भक्ति संबंधी हो चाहे लौकिक प्रेम संबंधी उसकी भाषा सर्वत्र साहित्यिक है। इनके शब्द चुने हुए हैं। व्याकरण व्यवस्था का संघटन पूर्णरूप से वर्तमान है। रसानुकूल कोमलता तथा सरसता उत्तम कोटि की उसमें विद्यमान है। लक्षणाओं का योग उसे और अधिक प्रतिभावेद्य बनाता है। अतः वह साहित्यिक ही है पर कृत्रिम और निर्जीव नहीं है। मुहावरों के प्रचुर प्रयोग द्वारा वह सजीव है साथ ही व्यावहारिक भी। मुहावरों के प्रकारों की परीक्षा करने पर भी वे नागरिक सिद्ध होते हैं ग्रामीण मुहावरे नहीं हैं। वैसे मुहावरों तथा लोकोक्तियों का जितना प्रयोग अशिक्षित जन समाज में होता है उतना शिक्षित में नहीं। जायसी ने जो मुहावरे अपनी भाषा में व्यवहृत किए हैं वे जनपदीय हैं। पर सूर और आनंदघन के मुहावरे नागर हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ब्रजभाषा के नागर तथा ग्रामीण रूपों में अधिक अंतर नहीं होता था। अशिक्षित जन समाज की भाषा संपत्ति ही नगरों में व्यवहृत होती है। दूसरे

आनंदघनजी को मुहावरों के प्रयोग की प्रेरणा फारसी साहित्य से मिली है। फलतः नागरता का इसके साथ योग होना स्वाभाविक था। इस तरह व्यवहारिकता, सजीवता और साहित्यिक उच्चता तीनों गुण इनकी भाषा में संयुक्त हुए हैं।

जनपदीय शब्दाली का भी इन्होंने पर्याप्त प्रयोग किया है। उन्हें साहित्यिक भाषा में मिला कर परिष्कृत कर लिया है और व्यावहारिक होने से उनकी जो विशेष अर्थद्योतन क्षमता है उसका सदुपयोग किया है। सोवर (प्रसूतिका गृह), टेहुले (शुभ अवसरों के अनुष्ठान), गरैंठी (पूरे भरे पात्र से कुछ कम), बरहे (जंगल), सल (पता या ज्ञान), सँजोखे (संध्या का अंतिम भाग), लथेरि (लपेटकर), उजैना (उद्यापन करना), नाज (अन्न), न्यार (चारा), पैंछर (पैर की आवाज), झगां (सब के सब), औटपाय (उपद्रव), बेड़ी (रोक), इत्यादि शब्द जनपदीय हैं जिनका प्रयोग उन्होंने किया।

इस तरह आनंदघनजी की भाषा में नागरिक साहित्यिकता, मुहावरों की व्यावहारिक सजीवता तथा व्याकरण व्यवस्था का ऐसा अपूर्व संयोग हुआ है कि इनके सिवाय उस समय के अन्य कवि की भाषा में वह नहीं दृष्टिगोचर होता।

बिहारी की भाषा भी साहित्यिक तथा व्यवस्थित तो है पर सजीव और लाक्षणिक वह नहीं है, जैसा कि आनंदघनजी की भाषा है। उपर्युक्त विशेषताएँ इनकी भाषाविज्ञता का परिचय देती हैं। इसी से संबंधित गुण लाक्षणिकता का है। हिंदी तथा संस्कृत के लक्षण ग्रंथों में लक्षणा और व्यंजना की स्थापना, उसके गुण आदि की प्रशंसा तो बहुत की गई है। उसके भेद उपभेद भी हजारों की संख्या तक पहुँच गए थे। पर लक्षणा का उपयोग प्रायः नहीं हुआ। भाषा अभिधाप्रधान ही बनी रही थी। जितने लाक्षणिक प्रयोग अलंकारों की परिधि में आ गए थे उतने ही कवियों ने व्यवहार में लिए। आनंदघनजी ने हिंदी साहित्य में लक्षणा शक्ति का प्रथमावतार किया है और वह उच्चकोटि का है। इनके से व्यक्तिगत सूक्ष्म भाव भेद और अंतर्दशाएं अभिधाप्रधान भाषा द्वारा व्यक्त ही नहीं की जा सकती थीं। इन्होने भाषा की इस नवीन अक्षय शक्ति का इसके लिये उपयोग किया। यह इनका नवीन दिशान्वेषण है। लक्षणा भाषा का बहुत बड़ा बल है। इसके सहारे थोड़े शाब्दकोष की भाषा भी गहरी और सूक्ष्म अभिव्यंजना

कर सकती है। आजकल हिंदी की अर्थद्योतन क्षमता बढ़ाने की समस्या जैसी विद्यमान है उस संबंध में आनंदघनजी दिशानिर्देशक हैं। यह सूझ भी भाषा के साधारण सिद्धांतों की मर्मज्ञता का परिचय देती है।[१]

इनकी भाषा विशुद्ध है। ब्रजभाषा के ये कवि हैं। इनके समय में ब्रजभाषा का जैसा स्वरूप विद्यमान था, उसका समस्त अच्छाइयों के साथ उपयोग इन्होंने किया है। दूसरी भाषा के शब्दों का मिश्रण उसमें नहीं किया। आश्चर्य की बात यह है कि पद पद पर फारसी से प्रेरणा लेनेवाले आनंदघन ने अपने भाषा क्षेत्र में फारसी उर्दू की खजूर बेरिया नहीं उगने दी। इनके मित्र नागरीदासजी ने अपनी भाषा को फारसी की शब्दावली से पर्याप्त प्रभावित किया था। पर आनंदघन इससे सर्वथा अछूते रहे। केवल इश्कलता में फारसी के शब्द व्यवहृत हुए हैं। वह छाया रचना सी प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त सभी अन्य रचना शुद्ध ब्रजभाषा में ही की है। बिहारी जैसे भाषामर्मज्ञ भी जब फारसी के प्रभाव से न बच सके तब उसकी अनेकों अच्छाइयों को पचाकर हजम करनेवाले आनंदघन ने उसका बाहरी प्रभाव अपने काव्य में नहीं आने दिया। यह कम महत्व की बात नहीं। फारसी ही नहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी इनके काव्य में नहीं के बराबर है। जो शब्द हजारों वर्षों के प्रयोग के अनंतर भी अपने तत्सम रूप में ही रहे हैं जैसे तप, योग, प्रान, मीन, कंज, खंजन, विष आदि, वे ही उन्होंने अक्षतरूप में लिखे हैं। शेष सब का तद्भव रूप ही व्यवहृत किया है। उच्चारण ध्वनि विकार आदि से वे ब्रजभाषा के बन गए हैं। अगिलाई, उदेग, अथिर, निहकाम (निष्काम), सुतंतर, दुखहाई, त्रसरेनि (त्रसरेणु), अकह, वेदनि, सौनि (सुवर्ण) आदि शब्द इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। व्याकरण व्यवस्था बिहारी की सी इनकी भाषा में है। शुक्लजी का यह कथन कि बिहारी और घनानंद को मिलाकर ब्रजभाषा का समूचा व्याकरण तैयार किया जा सकता है सत्य है। क्रिया और कारकों का रूप विकास, कृदंत तद्धित विकास, वचन और लिंग के अनुसार शब्दों के परिवर्तन आदि सब ब्रजभाषा के नियमों के अनुसार किए गए हैं। अठारहवीं शताब्दी में उर्दू फारसी के अंतःपात होने से ब्रजभाषा का जो रूप विकृत हुआ था, उसका परिचय रीतिकाल के अर्वाचीन कवियों की भाषा में मिलता है। उस समय

१—लक्षणा का विवरण सहित विमर्श आगे किया जाएगा।

आनंदघनजी ने विशुद्ध तथा संयत ब्रजभाष में श्रेष्ट साहित्य की सृष्टिकर भाषा का गौरव भी बढ़ाया और उसकी विकृति की अनवस्था को रोकने का प्रयत्न किया। यह इनके ब्रजभाषप्रवीन होने की देन है।

इन्होने अपनी स्वतंत्र प्रतिभा से कुछ नए शब्द भी बनाए हैं जैसे भकभूर, मलोलेमई, भूतागति, दिनदानी आदि। अपने ढंग से शब्दों के रूप विकास भी व्यवस्थित किए हैं—जैसे तत्पुरष समास नामरूपों के समान क्रियारूपों में भी किया है, अनचाहनि के समान 'अविलोकिवे' तथा 'ननिहारनि' आदि रूप बनाए हैं।

इसी प्रकार ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग की बात है। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग कवि की भावुकता के परिचायक होते हैं। इनमें वाचक शक्ति कुछ की होती है कुछ की नहीं होती। पर अपनी ध्वनि द्वारा अर्थ का द्योतन सब करते हैं। इस तरह अभिधा के संकेत और ध्वनि की व्यंजना से कहीं कहीं भाव की द्विगुण प्रतीति भी हो जाती है। इनका सर्जन भावुक प्रतिभा द्वारा होता है। आनंदघनजी ने अनेकों ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। बादलों के आकाश में घिर आने का वर्णन महाप्राण अक्षरों के शब्दों द्वारा तथा वायु के सरसराते हुए स्वरूप का उसी के समान ध्वनिवाले शब्दों द्वारा निम्नलिखित सवैया में किया है। शब्दों की ध्वनि से ही बादल फिरते हुए और वायु सरसरासता हुआ सा लगता है।

घूटँ घटा चहुँघा घिरि ज्यौं गहि काढै करेजौ कलापिन कूकैं।
सीरी समीर शरीर दहै चहकै चपला चख लै करि ऊकैं॥
सु० हि० ८४

रास में रूटतार तथा मटवने की ध्वनि के शब्दों का प्रयोग निम्नलिखित पद में मिलता है।

चटक कटतारनि की अति नीकी लटक सों नाचै मटक भरयौ मौंहन।
कर चरन न्यास, अभिनय प्रकाश, मुख सुख विलास, मन उरझै घुघरारी भौंहन।
आ० घ० पदा० ६१

वियोगाग्नि से तचे प्राणी का चित्र यह है--
"अंतर आंच उसास तचै अति
अंग उसीजै उदेग की आवस

ज्यौं कहलाय मसोसनि ऊमस
क्यौं हू कहूं सुधरै नहिं थ्यावस"

सु०हि० १७०

हहरि, घंघोइ, धूंमरि, धौलै, भकभूर, लहाछेह, चोंप, रसमसे, उभिल भुलनि, मोमति, चहकि, चोज, चुइल, सुरभ, गुरभनि, आदि अनेकों शब्द इसी प्रकार के हैं जो कवि ने अपने काव्य में प्रयुक्त किए हैं। इस तरह मुहावरे, लक्षणा, नवीन शब्दों तथा रूपों का निर्माण, ध्वन्यात्मक शब्दों का रसानुकूल प्रयोग, आदि गुणों से आनंदघनजी को 'भाषा प्रवीन,' एवं ब्रजभाषा के शुद्ध संयत, सरस कोमल रूप के प्रयोक्ता होने के कारण 'ब्रजभाषा प्रवीन' कहना सर्वथा उचित है। इनके विषय में ब्रजनाथ की ये दोनों उक्तियाँ मार्मिक और सत्य हैं।

इनके भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के प्रमाणक अन्य भी प्रयोग हैं। शैली के परिच्छेद में यह बताया गया है कि इन्होंने चार प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। वक्र समस्त तथा वक्र असमस्त, ऋजु समस्त तथा ऋजु असमस्त। शब्दावली सर्वत्र एक सी ही रहती है। उनके द्वारा वाक्यरचना प्रतिपाद्य विषय के भेद के कारण भिन्न प्रकार की हो गई है। कवित, सवैया तथा पदावली में कुछ रचनाएँ वक्र भाषा में हैं कुछ ऋजु में। कवि को चमत्कार की अभिव्यक्ति जहाँ अभीष्ट होती है वहाँ लक्षणा द्वारा वक्र वाक्यों की रचना करता है। जहाँ वह अनुभूति के मार्मिक रूप व्यक्त करना चाहता है, वहाँ ऋजु वाक्यों का व्यवहार करता है। भाव जहाँ घने और गंभीर हैं वहाँ समस्त वाक्य आए हैं। अन्यत्र असमस्त। इनका सोदाहरण विस्तृत विवेचन शैली के प्रसंग में किया गया है। वाक्यरचना के चार भेदों में कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार व्यक्त होता है। वक्र ढंग की वाक्यरचना के विषय में इतना विशेष विचारणीय होता है कि उनमें दुरूहता नहीं है। कवि की प्रतिपादन शैली से एक बार परिचित हो जाने पर भाव की गाँठें सरलता से खुल जाती हैं। इसका कारण यह है कि घनानंदजी का चिंतन बड़ा स्पष्ट और स्वानुभूतिमय है। जो बात वह कहना चाहते हैं उसका कण कण उनके हृदय का देखा हुआ है। परतः प्राप्त वस्तु उनमें कुछ नहीं है। क्लिष्टता जितनी होती है वह भावों की सूक्ष्मता की या गंभीरता की होती है। अभि-व्यक्ति पूर्ण एवं स्पष्ट है। अतः भाषा का जहाँ तक संबंध है कवि दुरूह नहीं

कहा जा सकता। नीचे एक सवैया ऊपर के प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जाता है—

हाय बिसासी सनेह सों रूखे रुखाई सो ह्वै चिकने अति सोहौ।
आपुनपौ अरु आप हु तें करि हाते हतौ घन आनंद को हौ।
कौन घरी बिछुरे हौ सुजान जु एक घरी मन तें न बिछोहौ।
मोह की बात तिहारी असूझ पै मो हिय कों तौं अमोहियौ मोहौ।

इसमें वाक्य सरल नहीं है पर वक्रता या सरलता भावकृत है। इसकी शब्दावली और वाक्यरचना विलक्षण है। बहुत से कवित्त सवैये घनानंद का नाम न होने पर भी इनकी रचनासंग्रह में संमिलित हैं। इनमें इनकी शब्दावली तथा वाक्यरचना स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। विहारी के दोहों पर उनके व्यक्तित्व की छाप की जो बात कही जाती है वह व्यभिचरित भी हो सकती है। घनआनंद के कवित्त सवैयों में किसी कवि का पद्य नहीं मिलाया जा सकता। भाषा में इतनी वैयक्तिकता इन्होंने रखी है।

ऊपर जो चार प्रकार की भाषा के व्यवहार की बात कही गई है उस पर पहले संदेह प्रकट किया जाता था; कि स्यात् आनंदघन नाम के दो कवि हैं। पर रचना के प्रसंग में अनेक समानताएँ दिखा कर स्पष्ट प्रमाणित किया गया है कि कवि एक ही है; वह अपनी मनोवृत्ति के अनुसार भाषाशैली का परिवर्तन कर लेता है। इतना ही नहीं वह ब्रजभाषा के अतिरिक्त पंजाबी, राजस्थानी तथा अवधी भाषा का भी व्यवहर्ता है। इन विभिन्न भाषाओं के पद्यों में कवित्त सवैये या पदों के भावों का ही रूपांतरण है। इतना साम्य दो कवियों की रचनाओं में नहीं हो सकता। डा० केशरी नारायण शुक्ल ने अपने घनआनंद विषय के लेख में[1] यह संभावना प्रकट की है कि पंजाबी भाषा का व्यवहर्ता आनंदघन नानकजी का शिष्य आनंदघन है जिसने जपजी की टीका लिखी है। पर इस तरह अवधी और राजस्थानी भाषाओं के कारण उनका भी कोई पृथक् कवि कल्पित करना पड़ेगा। अतः जिस प्रकार भावसाम्य के आधार पर इन भाषाओं की रचनाओं को प्रस्तुत आनंदघनजी की ही माना जाता है उसी प्रकार पंजाबी की रचनाओं को भी इन्हीं की मानना चाहिए। नागरीदासजी ने भी इस प्रकार विविध भाषाओं

१—श्री संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ, ना० प्र० सभा, काशी।

के प्रयोग का कौतुक दिखाया है। वही कौतुक आनंदघनजी की विविध भाषाओं के प्रयोग में लक्षित होता है। व्रजनाथ ने स्यात् इसलिये भी इन्हें भाषाप्रवीन कहा हो। पंजाबी आदि भाषा के प्रयोग में कोई साहित्यिक सूक्ष्मता तो लक्षित नहीं होती। इससे यही अनुमान करना पड़ेगा कि ये भाषाएँ किसी कौतुकी ने उनका विशेषज्ञ न होने पर भी काव्य में प्रयुक्त की है।

भाषा के परिवर्तन में नाम से संज्ञा तथा संज्ञा से नाम का विकास बड़े महत्व का होता है। इसके द्वारा वस्तुवाचक शब्द भाववाचक और भाववाचक शब्द वस्तुवाचक बन जाते हैं। जिनका भाषा पर पूर्ण अधिकार होता है, वे इस प्रकार के परिवर्तन द्वारा अपनी आवश्यकता पूरी करते हैं। आनंदघनजी ने धातुओं से विशेषण तथा संज्ञाएँ ब्रजभाषा की स्वभाव सीमा में जिस प्रकार बनाई है उसी प्रकार संज्ञा या विशेषणों से क्रियाएँ भी बनाकर प्रयुक्त की हैं। संस्कृत व्याकरण में इस परिवर्तन को नामधातु कहा जाता है। इनकी रचनाओं में 'अधिक' से 'अधिकाति', 'सामुहें' से 'समुहाति', लज्जा से 'लजाति', 'पीर' से 'पीरों' आदि क्रियावाचक शब्द प्रयुक्त किए है। इसी प्रकार इच्छार्थक प्रक्रिया में 'देखना' से 'दिखास', आदि शब्द एवं वीप्सार्थ में चितंना से 'चितार' अर्थात् बार बार देखना आदि शब्द व्यवहृत किए हैं। ऐसे शब्द संस्कृत जैसी समस्त भाषाओं में अधिक मात्रा में व्यवहृत होते थे। पर हिंदी में भी इस प्रकार के कुछ शब्द यत्र तत्र बोलचाल में विकीर्ण पड़े हैं। भाषा तत्ववेत्ता उनका मूल्यांकन कर साहित्य में व्यवहार करते हैं। साधारण शब्दों की अपेक्षा प्रक्रिया शब्द द्विगुण अर्थ देते हैं। 'दिखास' का अर्थ देखने की इच्छा होना है। स्वाभाविक है कि अर्थद्योतन की दृष्टि से ये शब्द औरों से अच्छे है।

वाक्यरचना में निपातों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इनके प्रयोग द्वारा बड़े सूक्ष्म भाव व्यक्त किए जा सकते है। आनंदघनजी ने ई (ही) ऐ इहे (एव) आदि ब्रजभाषा के निपातों का अर्थव्यंजना के लिये प्रयोग किया है। नीचे लिखे काकु वाक्य के सवैये में 'ई' की अर्थव्यंजना इसी श्रेणी की है—

रूप सुधारस प्यास भरी नित ही असुवाँ ढरिबोई करेंगी।
पावन साव असाध मई इहि जीवनि यौं मरिबोई करेंगी।

हाय महादुख है सुखदैन विचारौ हियैं भरिबोई करेंगो।
क्यो आनंदघन मीत सुजान कहा अखियां बहिबोई करेंगो।

सु०हि० ४५८

यहाँ 'ढरिबोई' आदि में 'ई' भविष्य के संयोग सुखकी निराशा के आक्षेप से प्रिय की कठोरता की व्यंजना करता है। इस प्रकार 'प्रान पपीहा पनैई पढ़ैं' तथा 'चोरेई लेति लुनाइयै की लछिमी' आदि वाक्यों में 'ई' निपात विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है।

'आरतिवंत पपीहन कौं घनआनंद जू पहचानौ कहा तुम'।

तथा—

'इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उराहनो दीजियै जू'।

आदि वाक्यों में 'जू' पद अपराधी प्रिय के प्रति सत्कार का वाचक होकर मधुर आक्षेप की व्यंजना करता है। इस प्रकार की एक पदद्योत्य व्यंजनाओं की सिद्धि के लिये निपातों का घनानंद ने प्रचुर प्रयोग किया है। इनका काव्य में बड़ा महत्व माना जाता है।

इसी प्रकार कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य वाक्यों के भेद का भी अर्थ-व्यंजना में उपयोग किया जा सकता है। कर्तृवाच्य वाक्यों में कर्ता, कर्म वाच्य में कर्म तथा भाववाच्य वाक्यों में व्यापार प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं। इन प्रधानताओं द्वारा भाव की सूक्ष्मताएँ व्यक्त की जाती हैं। भाव के कुछ कण इतने कोमल होते हैं कि इनको वाचक शब्दों द्वारा कहने का प्रयत्न किया जाए तो ओस कणों के समान बिखर जाते हैं। इनकी अभि-व्यक्ति अभिधा द्वारा न होकर व्यंजना द्वारा ही हो सकती है। ऊपर बताई गई निपात व्यंजनाएँ ऐसे कोमल कार्य का साधन ठीक करती हैं। आनंदघनजी की वाच्यरूपों द्वारा अर्थव्यंजना नीचे लिखे वाक्यों में देखी जा सकती है——

१—यौं घनआनंद रैनिदिना नहि बीतत जानियै कैसे बिताऊँ।

सु०हि० ३३३

इस वाक्य में कर्मवाच्य की अपेक्षा में कर्तृवाच्य वाक्य द्वारा दिन बिताने की क्रिया का बरबस करना व्यंजित होता है।

२—आँखि बिसासिनि आसगही न तजै इतने पर बाट चितैबो।

वही ४६१

में चितैबो व्यापार की प्रधानता व्यंजित है जो सब कुछ तज देने पर भी नहीं तजी जाती।

३—जीवन मरन जीव मीच बिना बन्यौ आय,
हाय कौन विधि रची नेही की रहनि है।
वही १९६

में जीवन, मरन तथा रहनि क्रियार्थक संज्ञाओं के प्रयोग से व्यापार को प्रमुखता दी गई है। इस प्रकार भाषा के प्रत्येक संभव उपाय द्वारा कवि ने अर्थव्यंजना का प्रयत्न किया है। इससे उनको भाषाप्रवीणता का परिचय मिलता है।

इनकी भाषा रसानुकूल भी अधिक से अधिक है। कवि का रस शृंगार ही है। उसके लिये जिस प्रकार की कोमलकांत भाषा का व्यवहार होना चाहिए वैसा ही इन्होंने किया है। पद्य के पद्य पढ़ जाने पर भी कठोर रसप्रतिकूल शब्द कर्णगोचर नहीं होता। ब्रजभाषा को जो शृंगार और भक्ति की भाषा बताया जाता है उसका स्वरूप और साक्ष्य आनंदघनजी को भाषा में सबसे अच्छा मिलता है। शृंगार और भक्ति का एक एक पद्य इसके उदाहरण में दिया जाता है—

शृंगार—

रस आरस मोय उठी कछु सोय लगी लसैं पीक पगी पलकैं।
घन आनंद ओप बढ़ी कछु औरै सुफैलि फबी सुथरी अलकैं॥
अंगराति जम्हाति लजाति लखैं अंग अंग अनंग दिपै झलकैं।
अधरानि में आधियै बात धरैं लड़कानि की आनि परैं छलकैं॥

भक्ति—

हारे उपाय कहा करौं हाय भरौं किहि भाय मसोस यौं मारैं।
रोवनि आसूँ न नैनि देखैं मौन में व्याकुल प्रान पुकारैं॥
ऐसी दसा जग छायो अंधेर बिना हित मूरति कौन सम्हारैं।
है तिन ही की कृपा घनआनंद हाथ गहै पिय पायनि डारैं॥

शब्दमैत्री का व्यवहार भी आनंदघनजी का अनुकरणीय है। वह पद्यों में न तो भाषाप्रवाह का अवरोध उत्पन्न करता है न अर्थ की स्पष्टता को झमेले में डालता है, साथ ही ऐसे स्थलों पर रसानुकूल कोमलता अक्षुण्ण बनी रहती है। शब्दमैत्री का व्यवहार रीतिकाल के कवियों में इतना बढ़ गया था कि उसको

सिद्धि के लिये अर्थ की स्पष्टता, भाषा की स्वच्छंदता तथा रसानुकूलता आदि गुण लुप्त हो जाते थे। अनुप्रास ही अनुप्रास रह जाता था। वह बात इनकी भाषा में नहीं है।

यथा—

सोए हैं अंगनि अंग समोए सुभोए अनंग के अंग निस्यौं करि।
केलि कला रस आरस आसव पान छके घनआनंद यौं करि।
पै मनसा मधि रागत पागत लागत अंकनि जागत ज्यौं करि।
ऐसे सुजान विलास निधान हो सोएं जगै कहि ब्यौरियै क्यौं करि।

इस पद्य में 'सोए' और 'मोए' 'अंग' 'अनंग' और 'रंग' 'केलि' और 'कला' 'रस' आरस और 'आसव' 'मनसा' और 'मधि' 'पागत' 'लागत' और 'जागत' 'सुजान' तथा 'निधान' शब्दों में अनुप्रास का योग है। पर पद्य में प्रेमी और प्रेमिका की सुप्त दशा का चित्र जैसा कवि देना चाहता था वह ज्यौं का त्यों सजीव उतरा है। शब्दमैत्री के लिये अनावश्यक कोई शब्द नहीं आया और नहीं कुछ अनुक्त छुटा है। अनुप्रास पर अत्यधिक आग्रह भी कवि को नहीं है। ऐसे पद्यों की संख्या कम नहीं है, जिनमें अनुप्रासादिशब्द-सज्जा का तनिक भी ध्यान इन्होंने नहीं किया। इनका ध्येय भावनिवेदन है। उसकी क्षति कहीं नहीं होने दो। अनुप्रासहीन भाषा में भावनिवेदन नीचे लिखे सवैया में देखने को मिलता है—

जौरि कै कोरिक प्राननि भावते संगलियैं अँखियानि में आवत।
भीजै कटाछन सौं घनआनंद छाय महारस कौं बरसावत।
ओट भएँ फिर या जियकी गनि जानत जावनिहै जु जगावत।
मीत सुजान अनूठिये रीति जिवाय कै मारत मारि जिवावत।

भाषा आदि अर्थगर्भित होती है तो उसकी प्रवाहशीलता, सरलता, कोमलता आदि न्यून हो जाती है। सार्थक शब्द चुने हुए ही हो सकते हैं। उनकी वाक्यरचना भी मुखसुख या ध्वनिसाम्य की दृष्टि से नहीं की जा सकती, अर्थ की दृष्टि से की जाती है। फलस्वरूप भाषा को प्रवाहशील बनाने में अर्थगर्भितता कम हो जाती है। अर्थगर्भितता की सिद्धि करने में प्रवाह लुप्त हो जाता है। आनंदघनजी इस नियम के अपवाद हैं। उन्होंने इन दोनों गुणों का संयोग अपनी भाषा में किया है। सवैया तथा दोहे चौपाइयों में

अर्थगर्भितता के साथ सरस प्रवाह के सर्वत्र दर्शन होते हैं यद्यपि कवित्तों तथा गीतों में इसकी स्फूर्जना उतनी नहीं है। पर सवैयों में सरल और कोमल भाषाप्रवाह स्पष्ट लक्षित होता है। प्रबंध रचनाओं में वियोग बेलि और दान घटा इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी भाषा में जितना अर्थ-गांभीर्य है उतना ही प्रवाह भी है। उदाहरण के लिये नीचे लिखा सवैया उद्धृत किया जाता है—

सूने परे दृग मौन सुजान जे ते बहुरयौ कब आय बसायहौ।
सोचनि ही मुरझ्यौ पिय जो हिय सो सुख सींचि उदेग नसायहौ।
हाय दई घनआनंद है करि कौ लौं वियोग के ताप नसायहौ।
एहो हँसी जिन जानौ हहा हमें ख्वाय कहौ अब काहि हँसायहौ ॥
+ + +
दिखाई दीजियै हाहा अमोही, सनेही है रुखाई क्यों बसोही।
तुम्है विन सांवरे ये नेन सूनै, हिये मैं लै दिये बिरहा अभूनै।
उजारौ जो हमें काको वसैहौं, हमें यौं ख्वाय के औरें हँसैहौ।

लक्षणा

१—कारण

लक्षणा का जन्म भाषा के इतिहास में क्यों हुआ इस विषय में महाकवि 'शेली' के विचार महत्वपूर्ण हैं। उनका कहना है कि यह कल्पना का वाहन है। कल्पना जाति की किसो विशेष आयु में नही उत्पन्न होती, वरन् वह जन्म की सहचरी है। मानव को जबसे बुद्धि मिलती है तभी से उसकी क्रिया कल्पना भी उसे मिलती है। पर संसार के शब्द कल्पना को व्यक्त करने के लिये नहीं बनते। कल्पना व्यक्तिगत संपत्ति है। वह व्यक्ति के हिसाब से न्यूनाधिक किंवा विभिन्न रूप की होती है। शब्दों का सर्जन और भाषा का निर्माण सामूहिक प्रयत्नों के लिये होता है। इसीलिये हमारे शब्द अधिकतर प्रमेय वस्तुओं जैसे वृक्ष, नदी, पर्वत, गाय आदि के सकेत पर है। भाववाचक शब्द जाति के विचारों के समृद्धिकाल में, जब कि व्याकरण के द्वारा भाषा के बालों की खाल निकाली जाने लगती है, प्रत्ययादि के परिवर्धन द्वारा बनाए जाते है। वे भी संख्या में बहुत कम होते है और भावों की एक सामान्य दशा के रूप के परिचायक होते है। उदाहरण के लिये वेदना शब्द तो एक है पर व्यक्तिगत रूप से वेदना के अनंत भेद होते है। इन बारीकियों, व्यक्तिगत अनुभूतियों के लिये शब्दों की सदा से कमी रही है। जिस

अनुपात से नूतन भावों की उत्पत्ति होती गई उस अनुपात से उसके प्रत्यायक शब्दों की सृष्टि न हो सकी और उन्हीं पुराने शब्दों की संगति बैठाकर रूपक के रूप में उनका व्यवहारकर उससे नए अर्थ के उद्देश्य की सिद्धि की गई। भावों की अभिव्यंजना के समय कवि अनुभव करता है कि भाव का ठीक ठीक द्योतन करनेवाला शब्द तो नहीं है पर ऐसे शब्द अवश्य विद्यमान हैं जो हैं तो वस्तु विशेष में संकेतित ही पर जिनमें अभिद्योत्य भाव के गुण वर्तमान हैं। वह उसी वस्तु विशेष के वाचक शब्द को लेकर उसे भाव का वाचक या लक्षक बना लेता है।[१] प्रिय के रूप पर रीझ जाने से प्रेमी के हृदय में जो एक विशेष प्रकार की अशांति उत्पन्न हुई वह वही जानता था। उसके लिये नियत संकेतवाला जब कोई शब्द उसे नहीं मिला तो उसने 'विलोना' क्रिया का उसके लिये प्रयोग किया यद्यपि विलोना दही का होता है। 'रीझ विलोएई डारति है हिय'[२]। इसी प्रकार हल्के वस्त्रों में से बाहर दिखाई देनेवाली आ...रंगी सुजान की अंगदीप्ति का कवि 'बरसति अंग रंग माधुरी बसन छनि' वाक्य द्वारा अभिव्यंजन करता है। 'अंग अंग आली छबि छलक्यौ करति हैं, 'लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी' आदि वाक्य उपर्युक्त आवश्यकता की ही सृष्टि हैं। इस प्रकार शब्दों की परस्पर में कलम लग जाने से बड़े मधुर और अपूर्व फल आते हैं। इसी को संस्कृत के आचार्यों ने आरोप नाम से कहा है जो लक्षणा का स्वरूप-लक्षण है।[३]

इसलिये शेली उन लोगों से सहमत नहीं है जो कहते हैं कि भाषा की आढ्य दशा में ही काव्य की सृष्टि हो सकती है। उनका कहना है कि समाज की शैशवावस्था में भाषा स्वयं ही काव्य है। अत वे लोग भ्रम में है जो काव्य की स्थिति एक विशेष युग में हो समझते हैं।[४] समाज की शैशवावस्था काव्यमय भाषा के होने का सबसे उत्तम निदर्शन ऋग्वेद की भाषा है। स्वर्गलोक का वर्णन करता हुआ ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि 'हम उन स्थानों पर जाने की कामना करते हैं जहाँ ऊँचे और बड़ी सींगों वाली गाएँ जाती

---

१ रोमांटिक साहित्य शास्त्र-महाकवि शेली प्रकरण।

२ सु०हि० १७५

३ लक्षणारोपिता क्रिया। काव्यप्रकाश

४ डा० देवराज उपाध्याय, रोमांटिक साहित्य शास्त्र पृ० ८८, ८९

हैं।[१]" यहाँ गाएँ ऊर्ध्वगामिनी सूर्यकिरणें हैं जो ऊपर को सींग कर भागती हुई गायों जैसी ऋषि को प्रतीत हुई। इसी प्रकार उषा का वर्णन किया गया है।

'जिसका बछड़ा चमकीला है। वह स्वयं भी चमकीली है। उसके लिये कृष्ण रात्रि ने स्थान खाली कर दिए हैं। वे दोनों समान रूप की बहन हैं। अमृत हैं। एक दूसरे के अनुगत हैं, और स्वर्ग से आकाश में घूमती हैं,[२] यहाँ चमकीला बछड़ा सूर्य है। रात्रि और उषा को बहन कहा गया है; उन्हें अमृत तथा एक दूसरे की अनुवर्तिनी भी बताया गया है। यह सब लक्षणा के श्रेष्ठ रूप हैं।

इस तरह लक्षणा भाषा की वह अक्षय शक्ति निधि है जो उसकी आढ्य दशा में कम हो जाती है और प्रारंभ की दीन हीन अवस्था में अधिक से अधिक बढ़ती है। इसके रहते भाषा में किसी प्रकार का सामार्थ्याभाव नहीं भासित होता।

२—शास्त्रीय विवेचन

ऊपर बताया गया है कि जब एक शब्द से कोई भाव या स्थिति का पूर्ण अभिव्यंजन नहीं हो सकता तो कवि दूसरे शब्दों का प्रयोग करता है। वह प्रयुक्त शब्द प्रकृत में संगत नहीं होता। 'विकानि की बानि पै आनि बखेरी' में बखेरना व्यापार का आन के साथ संबंध असंगत है। इसे शास्त्रों में अनुपपत्ति कहा है। वह कभी अन्वय की होती है जैसे इसी वाक्य में और कभी तात्पर्य की होती है। दूसरे प्रकार के स्थलों में अन्वय तो ठीक हो जाता है पर तात्पर्य ठीक नहीं बैठता। किसी निर्दय साहूकार से ऋणी की यह उक्ति कि 'आपने बड़ा अच्छा किया। मेरी जमीन तो ले ही ली थी मकान भी ले लिया।' दूसरे प्रकार की है। इसमें तात्पर्य की अनुपपत्ति

१—ऋग्वेद १, १५४ : ६ तां वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः।

२—ऋग्वेद १, ११३ : २

रुशद्वत्सा रुशतीश्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः
समान बन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने।

३—मिलाइए 'झूठकी सचाई छाक्यौं त्यौं हित कचाई पाक्यौ।
तामे गुन गन घन आनँद कहा गनैं।'

है। तात्पर्य ही वाक्यों में मुख्य होता है। अतः मुख्यार्थबाधादि जो तीन हेतु लक्षणा के लिये आवश्यक माने जाते हैं वे सार्वत्रिक नहीं हैं। तात्पर्य पर विशेष दृष्टि रखनेवाले वैयाकरण इसलिये लक्षणा नहीं मानते। उनका कहना है कि मुख्यार्थबाधादि के बिना भी विपरीत लक्षणा के स्थल में तात्पर्य बदलना पड़ता है। अतः यह मानना चाहिए कि शब्दों की अर्थद्योतन शक्ति सीमित तथा अपरिवर्तनीय नहीं होती। प्रसंग के अनुसार वह बढ़ या परिवर्तित हो जाती है। जिसे लक्षणा माननेवाले लक्ष्यार्थ कहते हैं वह वाच्यार्थ के ही क्रोड में आ जाता है। लक्षणा की आवश्यकता नैयायिक अधिक समझते है। उसका हेतु उनका अतितार्किक स्वभाव है।

शब्दों की अभिधाशक्ति में किस प्रकार शनैः शनैः परिवर्तन आ जाते हैं इसका इतिहास स्वयं लक्षणाविवरण ही उपस्थित करता है। आचार्य मम्मट ने 'यह व्यक्ति अपने कार्य में कुशल है'—इस वाक्य में लक्षणा मानी है। विश्वनाथ ने यह कहकर इसका खंडन किया है कि कुशल शब्द का चतुर वाच्यार्थ ही है। यहाँ लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं। मम्मट कुशल शब्द का वाच्यार्थ कुशों का लानेवाला (कुश-ल) समझते थे। विश्वनाथ ने अपनी मान्यता में यह उक्ति दी है कि शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त कुछ और होता है तथा व्युत्तिनिमित्त कुछ और।[१] पर वास्तव में व्युत्पत्तिनिमित्त (योगार्थ) ही पहले पहल शब्द का वाच्यार्थ या प्रवृत्ति-निमित्त होता है। यदि ऐसा न होता तो वह अर्थ ही न कहलाता। जिस शब्दार्थ संबंध का व्यवहार नहीं है वह संबंध भी नहीं माना जा सकता। जब कोई शब्द अपने पहले अर्थ से संबंधित दूसरे किसी अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है तो साधारण लोग उसी को लक्षणा कहते हैं। पहले वह लक्षणा प्रयोजनवती होती है। समयांतर में व्यवहाराभ्यास के कारण वह प्रसिद्ध हो जाती है। प्रयोजन का मान मंद पड़ जाता है। यह 'रूढ लक्षणा' है। तीसरे विकासक्रम में लक्षणा की भी अनुभूति नहीं होती। वह शब्द लक्ष्यार्थ वा रुढ़िवाचक बन जाता है। पशु, कुशल, मृग, महाशय, गुरु आदि शब्द इसी अर्थपरिवर्तन के इतिहास को बताते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में वाग्देवतावतार मम्मट का 'कुशल' शब्द में लक्षणा मानना तथा १४ वीं

१—अन्यद्धि शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तम् अन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तम्—साहित्य-दर्पणद्वितीय परिच्छेद।

शताब्दी के अंत में साहित्यिक विश्वनाथ का उसके चतुर अर्थ को वाच्यार्थ कहना दोनों ही ठीक हैं। शब्दार्थसंबंध के विकास क्रम के द्योतक दोनों पक्ष हैं। विवाद केवल शब्दशक्ति के परिवर्तन सिद्धांत को न मानने से खड़ा हुआ था। समय का अंतर इसका कारण था। रुढ़िमूल तथा प्रयोजनवती लक्षणाओं के भेद भी, इस प्रकार, शब्द के विकास क्रम के ही भेद हैं। लक्षणा के मूल स्वभाव में कोई अंतर नहीं होता। दोनों एक ही प्रकार की लक्षणाएँ होती हैं। रुढ़िमूला में प्रयोजन का मान व्यवहाराभ्यास से घिसकर मंद हो जाता है। सर्वथा लोप फिर भी नहीं होता। 'कलिंग साहसी देश है।' इसमें भी 'समस्तता' की प्रतीति प्रयोजन है जो कलिंग-वासी कहने से नहीं सिद्ध होती। रुढ़िमूला लक्षणाओं में ही नहीं मुहावरों में भी, जो रुढ़ लक्षणाओं के भी घिसे रूप हैं, प्रयोजन की प्रतीति होती है। रात बीतती है न कहकर 'रात भीजती है' कहने से रात के चौथे पहर में ओस की सजलता तथा आर्द्रता की धीमा प्रतीति होती है। तभी आनंदघन 'जीव सूक्यो जाय ज्यों ज्यों भीजति सरवरी' में विरोध की व्यंजना करते हैं।

शास्त्रकारों ने लक्षणा को जघन्यवृत्ति माना है। इसके समझाने और संगति बिठाने में बुद्धि को परिश्रम करना पड़ता है। यदि उसके प्रयोग में कोई विशेष फल न हो तो यह कष्ट प्रयास करणीय ही न रहे। इसलिये अनुभव यही बताता है कि प्रत्येक लाक्षणिक प्रयोग में चाहे वह रुढ़ हो या सप्रयोजन, प्रयोजन अवश्य रहता है। फलतः रुढ़ा और प्रयोजनवती भेद व्यंग्यार्थ की मंदता तथा स्पष्ट प्रतीति के कारण होते हैं। उसकी विद्यमानता तथा अविद्यमानता के कारण नहीं। वैयाकरणों ने शब्दार्थ संबंध के इस परिवर्तमान स्वरूप को पहचानकर लक्षणा वृत्ति को नहीं माना वे लोग केवल अभिधा और व्यंजना दो वृत्तियाँ मानते हैं। अभिधा का वाच्यार्थ दो प्रकार का होता है प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध। दूसरे लोग जिसे लक्ष्यार्थ कहते हैं वह वैयाकरणों के यहाँ अप्रसिद्ध वाच्य अर्थ है।

व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करने का कारण यह है कि उसके द्वारा ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जिसका शब्द से संबंध नहीं रहता। वाक्यगत प्रसंग के बल से उसका भान होता है। अभिधा वृत्ति संबंधित मात्र अर्थ का प्रत्यायन करा सकती है असंबंधित अर्थ का नहीं। लक्षणा के द्वारा

जिस अर्थ की उपस्थिति होती है वह संबंधित ही होता है[१]। अतः अभिधा लक्ष्यार्थ की प्रतीति तो करा सकती है व्यंग्यार्थ नहीं। व्यंजक वाक्यों में लक्ष्यार्थ केवल तर्क की संगति करने के लिये आता है। अन्यथा प्रयोजन तो व्यंग्यार्थ होता है। इसलिये उसे मानने या न मानने से कोई अंतर नहीं पड़ता।

व्यंग्यार्थ की सिद्धि भी लक्षणा में किसी प्रकार होती है इसपर विचार होना चाहिए। क्या व्यंग्यार्थ ऐसी कोई वस्तु है जिसकी पहले कोई सत्ता न थी। व्यंजक वाक्य में एक विशेष प्रकार के प्रसंग से घटित हो जाने से इसकी अकस्मात् उत्पत्ति हो गई या उसका कोई रूप या रुपवीज पहले से वाक्य में वर्तमान रहता है? इसके उत्तर में यही कहा जायगा कि व्यंग्यार्थ की जिस रूप में व्यंजक वाक्य द्वारा प्रतीति होती है वह उस रूप में पूर्व सिद्ध नहीं हैं। नहीं तो वाच्यार्थ हो जाता! सर्वथा अमूल प्रतीति भी उसकी नहीं होती। उसके कुछ बीज वाक्य के शक्यार्थ में निहित रहते हैं! लक्षक वाक्यों में वाच्य अर्थ का भी सर्वथा विनाश नहीं होता। उसकी प्रतीति लक्ष्यार्थ के साथ साथ होती रहती है। यद्यपि वह स्फुट नहीं होती। उपादान लक्षणाओं में तो वाच्यार्थ का भान सब मानते ही है। लक्षण लक्षणाओं में भी यह लुप्त नहीं होती। 'गंगा में झोंपड़ी है, वाक्य को प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा का भेद माना जाता है। अर्थात् यहां वाच्यार्थ का भान नहीं होता यह इसका सारांश सिद्ध होता है। पर शीतलता तथा पावनता की प्रतीति जो इस लक्षणा का प्रयोजन है वह गंगा के वाच्यार्थ प्रवाह का ही गुण है। इसलिये तो 'गंगा के किनारे झोपड़ी हैं न कह कर गंगा में झोपड़ी है'—कहा जाता है! वास्तव में सभी प्रकार की लक्षणाओं में वाच्यार्थ की गंध बनी रहती है। उससे मिलकर ही लक्ष्यार्थ व्यंग्यार्थ की उपस्थिति करता है। 'मनै ढरकौंही बानि दै', 'लाजन लपेटी चित,' 'लड़-कानि की आनपरी छलके," नैननि बोरति रुप के भौंरि," 'मानस को बन है जग,' 'प्रान धरे मुरझै,' आदि आनंदघनजी लक्ष्यक वाक्यों में 'ढरकौहीं': 'लपेटी', 'छलकै', 'बोहति', 'मुरझैं' आदि लक्षक शब्दों द्वारा जो अनुभूति की एक दशा की ओर संकेत करते हैं वह वाच्यार्थ के आधार पर

१—नैयायिकों ने संबंध को ही लक्षणा माना है। शक्य संबंधी लक्षणा' उनका सिद्धांत है। देखिए विश्वनाथ पंचानन की न्याय मुक्तावली—शब्द प्रकरण।

झाना शब्द मुरझाई कलियों की सी प्राणों की स्थिति का द्योतन वाच्यार्थ द्वारा ही करता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ का बड़ा योग रहता है। महाकवि देव ने जो अभिधा को सब वृत्तियों में श्रेष्ठ माना है वह ऐसे ही व्यापक गुणों के कारण माना है। विरोधादि चमत्कार जहाँ लक्षक वाक्यों में आते हैं वे सब भी वाच्यार्थ पर ही आश्रित होते हैं। उदाहरण के लिये 'गति लै चलनि लखि मति गति पंगु होति,' 'जतन बुझै हैं सब जाकी झर आगैं', 'इत मौन में व्याकुल प्रान पुकारैं' 'बूझत बूझत बौरई लीबौ,' 'मरिबो अनमीच बिना जिय जीबौ,' आदि वाक्यों में विरोध वाच्यार्थ ही में है। लक्ष्यार्थ तो उसकी उलटी संगति मिलाता है। अतः निष्कर्ष में यही आता है कि लक्षणा वाक्यों में वाच्यार्थ की उपस्थिति अप्रकटरूप से होती ही है। विपरीत लक्षणाओं के विषय में शंका हो सकती है कि वहाँ शक्यार्थ का तनिक भी भान नहीं होता। पर नहीं। वहाँ भी लक्ष्यार्थ यदि विध्यात्मक है तो वह वाच्यार्थ निषेधात्मक पर आधारित है उसी प्रकार लक्ष्यार्थ निषेधात्मक है तो वह वाच्यार्थ के विध्यात्मक रूप का सहारा लेता है। जैसे—'झूठ को सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ ताके गुनगन घनआनंद कहा गनौं' में गुनगन का अर्थ अवगुण गण है। इस प्रकार बिना वाच्यार्थ के वहाँ भी लक्ष्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः यह एक व्यवस्था सिद्ध होती है कि लक्षक वाक्यों में अस्फुटरूप में वाच्यार्थ का अवश्य भान होता है और लक्ष्यार्थ के साथ उसी के योग से व्यंग्यार्थ की सिद्धि होती है। उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा का भेद भी फिर वाच्यार्थ की प्रकट तथा अप्रकट प्रतीति के कारण बनता है उसके सर्वथा उपस्थित होने या न होने के कारण नही बनता। इस प्रकार लक्षणा के चार भेद रूढ़ा, प्रयोजनवती, उपादान लक्षणा, तथा लक्षण लक्षणा, बहुत अधिक तात्विक नहीं है। दो भेद शेष रह जाते हैं गौणी तथा शुद्धा। ये लक्षणाओं के मौलिक अंतर पर आधारित हैं। शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सादृश्य तथा सादृश्येतर दो प्रकार का संबंध हो सकता है। पहले संबंध में पहली और दूसरे में दूसरी लक्षणा होती हैं।

३—लक्षक वाक्यों में कवित्व का स्थान

प्रश्न उठ सकता है कि कवित्व का अधिवास किस अर्थ में है? वाच्यार्थ किंवा व्यंग्यार्थ? आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वाच्यार्थ में रमणीयता मानी

है वह चाहे उपपन्न हो चाहे अनुपपन्न। उन्होंने साकेत के दो उदाहरण इस विषय में दिए हैं पहला—'जीकर हाय पतंग मरे क्या'। इसमें 'मरे क्या' क्रियार्थ 'जीकर' के साथ आने से अनुपपन्न होकर लक्षक बनता है। इसका लक्ष्यार्थ है 'कष्ट भोगना।' व्यंग्यार्थ है 'कष्ट का अतिशय'। इतना अतिशय जितना मरने में होता है। शुक्लजी ने स्पष्ट किया है कि यदि 'मेरे क्या' के स्थान पर 'कष्ट भोगे' या 'अत्यंत कष्ट भोगे' कहा जाय तो काव्य की वह चारुता नष्ट हो जाएगी जो यहाँ विरोध से उत्पन्न हुई है। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार नहीं रह जाएगा। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण उर्मिला के कथन से दिया है।

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कछु देर लगाऊँ
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उन को लाऊँ

इस में भी वाच्यार्थ अनुपपन्न है। वह स्वयं मिट जाएगी तो फिर लाएगी कैसे ? फलतः उसके अत्यंत औत्सुक्य का व्यंजन द्वारा मान होता है। पर यदि उपपन्न अर्थ ही का कथन हो तो उसमें किसी प्रकार का चमत्कार भासित न होगा। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है। व्यंग्यार्थ वा लक्ष्यार्थ नहीं।[1] इस मत के विरुद्ध पं० रामदहिन मिश्र ने व्यंग्य में ही काव्य माना है। इसमें उन्होंने अनेकों तर्कसंगत प्रमाण भी उपस्थित किए हैं।[2] डा० नगेंद्र भी दूसरे मत के पक्षपाती हैं।[3] विस्तार के साथ विवेचन करते हुए डा० नगेंद्र ने बताया है कि कवित्व का अर्थ चमत्कार नहीं अनुभूति है। रमणीयता का अर्थ है हृदय के रमाने की योग्यता, और हृदय का संबंध भाव से है। वह भाव में ही रम सकता है क्योंकि उसके समस्त व्यापार भावों के द्वारा ही होते हैं। अतएव वही उक्ति वास्तव में रमणीय हो सकती है जो हृदय में कोई रम्यभाव उद्बुद्ध करे और यह तभी हो सकता है जब वह स्वयं इसी प्रकार के भाव की वाहिका हो। यदि उसमें यह शक्ति नहीं है तो वह बुद्धि

१—इंदौर के हि० सा० संमेलन के सभापति पद से दिया गया आ० शुक्ल का भाषण

२—काव्यालोक—लक्षणा प्रकरण।

३—साहित्य संदेश वर्ष १५ अंक १—'कवि का अभिवास वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में।' शीर्षक का लेख।

को चमत्कृत कर सकती है चित्त को नहीं और इसलिए रमणीक नहीं कही जा सकती। ऐसे स्थलों पर दो दृष्टि से विचार हो सकता है। एक तो यह कि लक्षणा और व्यंजना अभिधा में आनेवाली अनुपपन्नता को दूर करने के साधन मात्र हैं। चमत्कार अभिधा में ही होता है और काव्य की चारुता या काव्यत्व चमत्कारनिष्ठ है। इस पक्ष में तो अवश्य काव्यत्व का अधिवास अभिधा या वाच्यार्थ में होगा। लक्षणा-व्यंजना अथवा लक्ष्यार्थ-व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के सहायक मात्र होंगे। पर यह अलंकारवाद का ही दूसरा रूप है। काव्य के बाह्य पक्ष का इस में अत्यधिक आदर किया गया है। अनुपपन्नता में चमत्कार माननेवाले और विरोधमूलक उक्तियों में अलंकार का दर्शन करनेवाले एक तरह से एक ही माने जाएँगे।

दूसरा पक्ष यह भी है कि कवि का प्रेषणीयतत्व जिसे वह अपने भावुक पाठक के हृदय में भेजना चाहता है वह काव्य है। यह प्रेषणीयतत्व वस्तु और भाव दो होते हैं। वस्तु के दो रूप हैं। चमत्कार सहित वस्तु और चमत्कार-हीन वस्तु। प्राचीन आचार्यों ने पहले का नाम अलंकार और दूसरे का नाम वस्तु दिया है। भाव एक ही प्रकार का होता है। इन दोनों तत्वों का प्रेषण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से होता है। व्यंजनावादी मम्मटादि का मत है कि अप्रत्यक्षपद्धति से अर्थात् व्यंजना द्वारा जहाँ वस्तु और भाव व्यक्त किए जाते हैं वह उत्तम काव्य है[1]। दूसरे मध्यम या अधम काव्य होते हैं। यह ध्वनिवाद है। पर रसवादियों का आग्रह यह है कि काव्यभाव है। वह प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से व्यक्त किया जाय सदा काव्य ही रहेगा। इसलिये अभिधा से व्यक्त होनेवाला रस उत्तम काव्य का उदाहरण इन लोगों ने माना है। यह रस अथवा भाव अभिधीयमान तो न रसवादियों के मत से है न ध्वनिवादियों के मत से। दोनों के मत से व्यंग ही है। अंतर केवल वस्तु और भाव का है। ध्वनिवादी वस्तु में भी काव्यत्व मानता है यदि वह व्यंजना द्वारा आएगा तो रसवादी उसे निकृष्ट काव्य मानेगा। वह चाहे व्यंग्य हो चाहे वाच्य। इसका आग्रह रस पर है। अनुभूति को काव्य का सर्वस्व मानकर रसवादी चलता है।

१—इदमुत्तममतिशयिनी व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। मम्मट-काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

अब देखना यह है कि इस अनुभूति को प्रकट करने का काम अभिधा का है या लक्षणा का, अथवा व्यंजना का। स्पष्ट है कि यह कार्य व्यंजना का ही है। इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता। अभिधा स्थूलावगाहिनी है। दूसरे रस सिद्ध नहीं होता साध्य होता है। भावुक स्वयं अपनी मानसिक क्रियाओं द्वारा उनका अनुभव करता है। उसके अनुभव से पहले वह वर्तमान नहीं। अभिधा की पहुँच सिद्ध पदार्थों तक ही होती है। अभिधा अथवा वाच्यार्थ तो स्वयं ही अपने चमत्कारों के साथ व्यंग्य (रस) का साधन या माध्यम है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि काव्य का अधिवास व्यंग्यार्थ में है वाच्यार्थ में नहीं। चमत्कार वाच्यार्थ में ही रहता है। इतना कह सकते हैं कि काव्य का स्वरूप कहीं तो चमत्कार और कहीं अनुभूति दोनों ही होते हैं। भले ही दूसरा उत्तम और पहला मध्यम हो। दूसरे का अधिवास निःसंदेह व्यंजना में और पहले का अभिधा में होता है।

३—लाक्षणिक प्रयोगों के भेद

ऊपर बताया जा चुका है कि भावानुभूति व्यक्ति व्यक्ति की पृथक् होती है। साधारण रूप में वह औरों के समान होकर भी अपने सूक्ष्म व्यक्तिगत रूप में उनसे भिन्न ही होती है। उसकी अभिव्यंजना लोकप्रचलित साधारण शब्दों द्वारा नहीं हो सकती। इसलिये लक्षणा का आश्रयण किया जाता है। नीचे आनंदघन के कुछ ऐसे लाक्षणिक प्रयोग दिए जायँगे जिनमें इनकी भावानुभूतियों के सूक्ष्म भेद प्रकट हैं। साधारण रूप से इनके लाक्षणिक प्रयोग तीन प्रकार के हैं। कुछ चमत्कार को प्रकट करने के लिये और कुछ अनुभूतियों को प्रकट करने के लिये। तीसरे प्रयोग ऐसे हैं जो न चमत्कार की सिद्धि करते हैं न अनुभूति की अभिव्यक्ति। केवल अर्थ का साधारण बोधन करते हैं। वे निष्प्रयोजन हैं। चमत्कार कहीं भावसहजात है कहीं भावअनुजात। भाव का स्वरूप ही जहाँ चमत्कृतियुक्त है वह पहला भेद है। जहाँ भाव के स्वरूप की सिद्धि हो जाने के अनंतर उसकी युक्ति को चमत्कारिणी बनाने का कवि ने बुद्धिपूर्वक प्रयत्न किया है वह दूसरा भेद है। यह चमत्कार अधिकतर विरोध का है। कहीं कहीं विलक्षण उक्तियों का है जिनका संबध अनुभूतियों से भी है।

भावसहजात चमत्कारों की सिद्धि के लिये लाक्षणिक प्रयोग—

१—मो गति बूझि परे तब ही जब होहु घरीक हू आप तें न्यारे
—सु०हि० १७७

२—दुरि आपुन पै हू इकौसे मिले। —वही २६६

३—मरिबौ अनमीच बिना जिव जीवौ। —वही १४८

४—जानै वेई दिनराति बखाने तें जाय परै दिनराति को अंतर।
—वही २०७

इन स्थलों पर अनुपपन्न उक्तियों का चमत्कार हैं। जैसे पहले वाक्य में व्यक्ति का अपने से पृथक् होना संभव नहीं है इसलिये इसे भावसहजात चमत्कार की साधक लक्षणाएं कहा जायगा। भावअनुजात चमत्कार की सिद्धि के लिये लाक्षणिक प्रयोग—

१—दीपति समीप की बिछोह माँहि पोहियत।

२—जतन बुझै हैं सब जाकी झर आगें।

३—जिन ही बरुनीन सों बेध्यौ हियौ तन ही दृग हाय सिवावत हौ।

४—जान प्यारे गुननि तिहारे गहि बोरी हों।

५—उर गाँठि त्यों अंतर खोलति है।

६—झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ।

७—हाय बिसासी सनेह सों रूखे रुखाई सों ह्वै चिकने अति सोहौ।

८—औसर सम्हारौ न तौ अन आयबे के संग
दूरि देस जायबे कौं प्यारौ नियराति है।

इन प्रयोगों में अनुपपत्तिमूलक लक्षणाएँ हैं। पर लाक्षणिक प्रयोगों के स्थान पर लक्ष्यार्थ का वाचक यदि वाक्यांतर प्रयुक्त किया जाय तो अर्थ-प्रतीति में कोई अंतर नहीं पड़ेगा केवल चमत्कार का लाभ न होगा। उदाहरण के लिये पहले वाक्य के स्थान पर 'वियोग में आप समीपस्थ से लगते हैं' वाक्य कहा जाय तथा दूसरे वाक्य की जगह 'जिसकी तीव्रता के सामने सब प्रयत्न निष्फल हो जाते है' वाक्य का प्रयोग हो तो अर्थ में कोई अंतर नहीं होता। अर्थात् लक्षणा किसी विशेष अर्थ की सिद्धि यहाँ नही करती। केवल बिछोह और समीप, झर और बुझै, बेध्यो और सिवावत हो, आदि लक्षक शब्द विरोध के चमत्कार की प्रतीति कराते हैं।

इन लक्षणोक्तियों में चमत्कार अभिधाजन्य है। चमत्कार काव्य का विशेष महत्वपूर्ण तत्व नहीं माना जाता। इसलिये लक्षणाएँ भी यहाँ बहुत

बड़े अर्थ की सिद्धि नहीं करतीं। फिर भी इतनी विशेषता वहाँ है कि अन्य कवियों ने जिन चमत्कारों को लाने के लिये अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग किए हैं, उनके रूप को विकृत किया है और वाक्य अजीब बनाए हैं उन्हीं की सिद्धि यहाँ परिचित शब्द तथा वाक्यों में सरलता के साथ हुई है। चमत्कार की मात्रा उनकी अपेक्षा अधिक बढ़ी हुई है।

दूसरे प्रकार की लक्षणाएँ अनुभूति का परिचय कराती हैं। वास्तव में लक्षणा जैसी क्लेशकारिणी वृत्ति की सफलता इन्हीं रूपों में होती है। इनका स्थान अभिधा नहीं ले सकती। भावों के सूक्ष्म भेद तथा उनका तीव्रता के विभिन्न स्तरों का प्रत्यायन जैसा इनके द्वारा होता है वैसा उपायांतरों से नहीं हो सकता। इन स्थलों में अनुभूति के व्यक्तिगत रूपों की प्रतीति के अतिरिक्त कभी अरूप वस्तु रूपवान बनकर तथा कभी रूववान अरूप बनकर विशेष प्रेषणीय हो जाती है। अचेतन वस्तु चेतन एवं सूक्ष्म स्थूल जैसी हो जाती है। इससे भाव की रमणीयता कहीं अधिक बढ़ जाती है। जैसे—

१ लड़कानि की आनि परी छलकैं।

२ बरसति अंग रंग माधुरी बसनछनि

३ बिकानि की बानि में कानि बखेरौ।

४ अंग अंग स्याम रस रंग की तरंग उठै।

५ अलबेली सुजान के कौतुक पै इत रीझि इकौसी ह्वै लाज थकैं।

६ डीठि हिनू तिन तोरति है।

७ भीजनि पै रंग रीझनि मोहै।

८ मोहि नीको लागत री राधे तेरे लोने इन
अंग अंग अररात रंग मेह नेह को,

९ ज्यौं ज्यौं इत आनन पै आनंद सु ओप औरै,
त्यौं त्यौं इत चाहनि मैं चाह बरसति है।

१० अंग अंग आलि छबि छलक्यौ करति है।

इसी प्रकार कभी भाव को प्रधानता देने के लिये जातिवाचक संज्ञाओं के स्थान पर भाववाचक संज्ञाओं का प्रयोग होता है। 'नेत्र उजड़ गए हैं' कहने से उजाड़ की उतनी प्रमुखता तथा अधिकता नहीं प्रतीत होती जितनी 'उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ' में उजरनि को कर्ता बनाकर प्रमुखता देने से होती है। इसी प्रकार 'प्राण व्याकुल हो गए हैं' न कह

कर 'अकुलानि के पानि परयौ दिन राति सुज्यौ छिनकौ न कहूँ बहरै' कहने से आकुलता की तीव्रता और अधिक व्यंजित हो जाती है। ऐसे स्थल विशेषण व्यत्यय के हैं और इनमें अनुभूति की तीव्रता व्यंग्य है। निम्नलिखित प्रयोग इसी प्रकार हैं—

१ पियराई छाई तन।

२ अरसानि गही उहि बानि कछू।

३ जोई रात प्यारे संग बातन न जानी जाति
सोई अब कहा ते बढ़नि लिए आई है।

४ कान्ह परे बहुतायन में अकलैनि की वेदनि जानौ कहा तुम।

५ वेदनि की बढ़वारि कहाँ लौं दुराइयै।

× × ×

इनसे भी श्रेष्ठ लाक्षणिक प्रयोग वे हैं जिनमें भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतर्दशाओं का अभिव्यंजन ही लक्ष्य होता है। महाकवि शैली की पूर्वोद्धृत उक्ति है कि 'वेदना कहने को एक ही है पर भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न हृदयों में उसकी अनुभूति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है और उन सूक्ष्मता भेदों के स्वरूप का दूसरे हृदयों में लक्षणा द्वारा ही हो सकता है।'—ऐसे प्रयोगों की ही प्रशंसा में है। आनंदघन अपने भावना भेदों को इनमें व्यक्त करने की क्षमता पा सके थे। इनमें यह अभासित होता है कि कवि की अनुभूति अपनी अभिव्यंजना प्राप्त करने के लिये प्रचलित भाषा में साधन न पाकर उपायांतरों को खोज कर रही है। प्राणों की विरह व्यथा की अंतर दशाएँ व्यक्त करता हुआ कवि कहता है कि 'निसदिन लालसा लपेटेई रहत लोभी'; कभी 'देखन के चाय प्रान आँखिन में झाँकै आय' से अपना भाव व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। कभी मुरझाने के व्यापार का उनमें आरोप करता है—'प्रान धरैं मुरझैं उरझैं' कभी वे पुकारने लगते हैं—'मौन में व्याकुल प्रान पुकारैं।' कभी प्राणों का घोटना हो जाता है 'प्रान घट घोटिबो' से तथा कभी उन्हें कष्टों में पिसता हुआ बताया जाता है 'प्रान पिसे चपि चपिरे।' अनुभूति की तीव्रता से बाधित होकर कवि ने ऐसे प्रयोग किए हैं और इनमें अनुभूति के व्यक्तिगत सूक्ष्म भेदों को व्यक्त करने के लिये नवीन नवीन आरोप ढूँढे गए हैं।

नेत्रों की विभिन्न वेदनास्थितियों का आभास देने के लिये निम्नलिखित लाक्षणिक प्रयोग द्रष्टव्य है।

१ दीठि थकी अनुराग छकी ।
२ दीठिहि पीठि दई है ।
३ जिनहीं बरुनीन सों बेध्यौ हियौ तिनही दृग हाथ सिवावत हो ।
४ देखन के चाय प्रान आँखिन मैं झाकैं आय ।
५ रूप अनूप को पुग्दूरि सुवावरे नैनन के मग बैंड़े ।
६ अँखियाँ दुखियाँ कित भोरी भईं ।
७ कौन वियोग भरे अँसुवा जो संयोग में आगे ई देखन धावत ।
८ उजरनि बसी हैं हमारी अँखियानि मैं ।
९ जिन आँखिन रूप चिन्हारि भई तिनकी नित नीदहि जागनि है ।
१० दीठि लालसा के लोयननि लै लैं आँजि हौं ।
११—नैननि बोरति रूप के मौर में ।
१२—डीठि हितू तिन तोरति है ।
१३—गति हंस प्रशंसित सौं कवधौं सुख तैं अँखियानि में आय हौ जू ।
१४—लाजनि लपेटी चितवनि भेदभाय भरी ।

इन में नेत्रों के प्रेमव्यापारों पर विभिन्न धर्मों का जैसे छकना, पीठ देना, उजड़ना, डूबना, झाँकना आदि के आरोप किए गए हैं। जितने आरोप हैं उतनी अंतर्दशाएँ अभिव्यक्त की गई हैं।

कुछ लाक्षणिक प्रयोग भावों की तीव्रता और व्यापकता की प्रतीति के लिये किए गए हैं। कुछ में अनुभूति का यथार्थरूप व्यक्त होता है। इन लक्षणाओं में भाषा की अंतर्हित ऐसी शक्ति का पता चलता है जो भावाभि- व्यक्ति के लिये नए नए मार्ग निकाल देती है। संसार की प्रत्येक वस्तु में प्रिय के रूप के दर्शन हो जाने की अभिव्यक्ति के लिये—'जग जोहनि अंतर जोहतु है'; मार्मिक पीड़ाओं को दबाने में चुप्पी साधने के लिये—'त्यौं पुकार मधि मौन'; प्रिय और प्रेमी की अनुभूति दशाओं में भेद दिखाने के लिये—'मोगति बूझि परै तबही जब होहु घरी कहू आपुते न्यारे'; विरह व्यथा में घुटन का जीवन बिताने के लिये—'मरिबो अनमीच बिना जियजीबौ'; अनुभूति दशा में आत्मविस्मृत हो जाने के लिये—'मोहितो मेरे कवित्त बनावत'; स्वतः कृपाशील स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिये—'मनै ढरकौं ही बानि दै'; पीड़ित व्यक्ति की पीड़ाओं को अनुमात्र समझने के अर्थ में—'कछू मेरियौ पीर हिये परसौ' एवं परमेश्वर की भ्रामक अथच व्यापक सत्ता का आभास कराने के लिये—'उघरि छए हैं पै पसारि आपनो पसारि'—

आदि वाक्यों के प्रयोग अभिव्यक्ति के नवीन मार्गों की खोज के परिचायक हैं। इनमें अनुभूति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों का यथार्थ रूप अभिव्यंजित होता है।

इसी प्रकार भाव जहाँ असाधारण रूप से तीव्र होता है तब भी लक्षणा-वृत्ति का आश्रयण होता है। इनके प्रयोगों में अनेक इस श्रेणी के वाक्य हैं। प्रिय के रूप को देखने में जो तृष्णातिरेक होता है उसके लिये 'रूप का पान करना' कहा है,—'मादिकरूप रसीले सुजान को पान किएँ छिन कौन छकै को।' अनुराग के कारण विचलित हुए हृदय की स्थिति बिलोडन व्यापार द्वारा व्यक्त की है, 'रीझ बिलोएई डारति है हिय,' आसक्ति के अतिरेक के कारण 'मूरति शृंगार की उजारी छबि आछी भाँति दीठि लालसा के लोयननि लै लै आंजहौं' कहा जाता है। नीचे भाव की तीव्रता के द्योतक कुछ और प्रयोग उद्धृत किए जाते हैं।

१—आपौ न मिलत महा विपरीत छाई है।
   व्यंग्य-अपनी व्यथा पर आश्चर्य की तीव्रता।
२—कूक भरी मूकता बुलाय आपु बोलि है।
   व्यंग्य-मौन साधन की तीव्र शक्ति।
३—गाढ़े भुज दंडनि के बीच उर मंडन कौं
   धरि घन आनंद यौं सुखनि समेटि हौं।
   व्यंग्य-सुखों के भोग में अतृप्ति की तीव्रता।
४—चाहनि अंक में चापति है।
   व्यंग्य-चाह का अतिरेक।
५—बात के देसते दूरि परे
   व्यंग्य-बातों की अनभिज्ञता का अतिरेक।
६—होनि सों मढ्यौ है अनहोनि जाके बीच भरी
   जा मैं चलिजाइबे बनाई रहठानिहै
   व्यंग्य-संसार आभासमान रूप में अनित्यता का आधिक्य।
७—बेदनि की बढ़वारि कहां लौं दुराइयै।
   व्यंग्य-वेदनाओं की अत्यधिक वृद्धि।
८—अंग अंग तरंग उठै दुति की।
   व्यंग्य-सौंदर्य का अत्यधिक प्रस्फुरित रूप।
९—रसनिचुरत मीठी मृदु मुसिकानि मैं

व्यंग्य-मुसकानि की मधुरता का अतिरेक।

१०—ज्यौं ज्यौं उत आनन पै आनंद सुओप ओरै,

त्यौं त्यौं इत चाहनि मैं चाह बरसति है।

व्यंग्य-अभिलाषतिरेक।

इनके लाक्षणिक प्रयोगों में एक विशेषता यह और है कि कवि की दृष्टि लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त वाच्यार्थ पर सदा बनी रहती है। विरोध या विरोध-मूलक असंगति आदि, श्लेष तथा विधि आदि अलंकार प्राय: वाच्यार्थ के आधार पर ही कवि ने दिखाए हैं। 'मेरो मनोरथ हू बहियै अरु ह्वै मो मनोरथ पूरनकारी' में योगार्थ मनोरथ को लेकर श्लेष बाँधा है। 'उत ऊपर पाँय लगी मेंहदी सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।' वाक्य में पैरों में मेंहदी लगने की संगति हाथों में धैर्य के न रहने से की गई है।' यह विरोध का उल्टा विधि अलंकार वाच्यार्थ पर आधारित है। इसी प्रकार 'भरी विरह रितौन की'[१]। 'खोयबो लहा लहौं[२]। 'मौनहि सों कछु बोलति है'[३]। 'उर गाँठि त्यों अंतर खोलति है' आदि वाक्यों में विरोध अलंकार का चमत्कार वाच्यार्थ पर ही आधारित है।

ऊपर जितने प्रयोग दिखाए गए हैं वे सप्रयोजन हैं। कहीं चमत्कार प्रयोजन है तो कही अनुभूति की तीव्रता, यथार्थता किंवा व्यापकता पर कुछ प्रयोग ऐसे भी मिलते हैं जिनमें केवल वचनवक्रता प्रयोजन हो है अन्य कोई प्रयोजन नहीं। ऊपर बताया जा चुका है कि ऐसे प्रयोग लक्षणा के निकृष्ट रूप हैं। लक्षणाओं में वाक्यार्थ को समझने में जो बुद्धिप्रयास होता है उसका फल किसी भाव या चमत्कार का आस्वाद अवश्य होना चाहिए। काव्य में निष्प्रयोजन लक्षणा को वाक्य का नेयार्थ दोष माना है।[४] प्रयोजन की सत्ता पहचानने का उपाय यही है लक्ष्यार्थ का वाचक वाक्य प्रयुक्त करने

१—सु०हि० १५५

२—२४२ पद्य सुजानहित।

३—वही २४७

४—नैयार्थत्वं रूढ़ि प्रयोजनाभावाद् अशक्ति कृतम् लक्ष्यार्थ प्रकाशननम्।

—साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद :

पर यदि कोई अर्थ हानि का अनुभव नहीं होता तो समझना चाहिए कि लक्षणा निष्प्रयोजन है।

नीचे लिखे वाक्यों में लक्षणाओं का कोई प्रयोजन लेखक का अनुभूत नहीं होता।

१ सूझत बूझि की दीठि सु तानौ

सु० हि० २०

२ भूल कौं सौंपि सबै जु सबै सुधि

सु० हि० १३४

३ जौ लौं जगैं न मूल तौं लौं सोवे सुरति सुख

सु० हि० ३६६

पर ऐसे प्रयोगों की संख्या अत्यल्प है।

मुहावरे रुढ़िमूल लक्षणाओं के घिसे रूप हैं। लक्षणाओं में लक्ष्यार्थ के साथ साथ वाच्यार्थ का भान अप्रकटरूप से सर्वत्र विद्यमान रहता है। मुहावरों में चिरप्रयोग के कारण इसका लोप सा हो जाता है। लक्ष्यार्थ ही लक्ष्यार्थ रह जाता है। यह नियतरूप से संबंद्ध होकर वाच्यार्थ जैसा बन जाता है। जैसे हाथ में पड़ना या हाथ पड़ना वाक्य मूलरूप से हाथ में किसी वस्तु के गिर पड़ने के व्यापार का बोधक है। पर लक्षणा द्वारा मुहावरों में यह अधीन होने के अर्थ का द्योतक बनता है। 'प्रान लै साथ परी पर हाथ', 'मीत के पानि परे को प्रमानै'—आदि वाक्यों में उसी अर्थ की प्रतीति होती है। कुछ प्रयोग ऐसे भी मिलते है जिनमें वाच्यार्थ की अप्रकट प्रतोति रुढ़िमूल लक्षणाओं की तरह होती है। और वे लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त प्रयोजन के रूप में व्यंग्यार्थ की भी उपस्थिति करते हैं। जैसे अर्थ का उन मुहावरों द्वारा ज्ञान होता है वैसा वाचक शैली के वाक्य से नहीं हो सकता था। 'बिक जाना' मुहावरा मुग्ध होकर अत्यधिक अधीन हो जाने का अर्थ देता है पर 'अत्यधिक अधीन हो जाना' वाक्य से अधीनता की उस मात्रा की प्रतीति नहीं होती जो बिक जाना वाक्य से होती है। अर्थात् यह वाक्य अन्य लक्षक वाक्यों की तरह व्यंग्यार्थ प्रयोजन का प्रत्यायक होता है।

मुहावरों की लक्षणाएँ प्रायः सादृश्यमूला ही होती हैं। सादृश्येतर संबंधमूला नहीं होती। दूसरे इनका स्वरूप वाक्य का होता है। उनमें मुख्य क्रिया के रहने से अपने पूर्व अर्थ की उपस्थिति होती है। इस तरह कह सकते हैं कि मुहावरों में लक्षक अर्थ परिवर्तन की प्रगति में होते हैं। कुछ तो वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर अपने लक्ष्यार्थ को ही वाच्य के रूप में अंगीकार कर लेते हैं और कुछ में वाच्यार्थ का भान लक्षक वाक्यों के अर्थ की अपेक्षा मंदतर होता है।

मुहावरे जीवित भाषा के प्राण होते हैं। इनके द्वारा उसकी सजीवता की वृद्धि होती है। लक्षक वाक्यों का अर्थ तीक्ष्ण बुद्धिगम्य होता है, क्योंकि लक्ष्यार्थ प्रसिद्ध नहीं होता। वाचक वाक्यों में किसी प्रकार की चमत्कृति या अभिव्यंजन की व्यापकता नहीं होती। मुहावरेदार वाक्यों में वाचक वाक्यों की अपेक्षा चमत्कार और अर्थद्योतन की विस्तृत भूमि तो अधिक होती है पर लक्षणाओं की सी दुरूहता इनमें नहीं होती। इसलिये इसका सर्वसाधारण के लिये प्रयोग किया जा सकता है।

आनंदघनजी ने मुहावरों के प्रयोग द्वारा काव्य चमत्कृति का लाभ किया है। विरोधादि चमत्कारों के लिये केशव तथा उनके मार्गानुयायी लोग जो द्वयर्थक शब्दों के प्रयोग करते हैं उनमें सरलता भी नहीं रहती और चमत्कार भी बहुत अतात्विक हो जाता है। 'विषमय यह गोदावरी अमृतन कौ फल देति'[१] में विष शब्द का जल अर्थ अप्रसिद्ध है और जहर अर्थ का गोदावरी से कोई संबंध नहीं। इस तरह चमत्कार लँगड़ा है। लेकिन 'हाथ चढ़ें जिहि स्याम सुजान कहुँ तिहिं पायन रे परते तें'[२] 'पाँय डारि कित मूढ़ चढ़ावत मदन को'[३] में विरोध चमत्कार में उपर्युक्त दोनों दोष नहीं हैं।[४] इसी प्रकार हिंदी जैसी व्यावहारिक सजीव भाषा की इस अभिनव संपत्ति का काव्य चमत्कार की सिद्धि के लिये प्रयोगकर आनंदघनजी ने अपनी भाषाप्रवीनता का परिचय दिया हैं। इसके अतिरिक्त भावों की अभिव्यक्ति के लिये भी मुहावरों का प्रयोग इन्होंने किया है। ऐसे स्थलों

१—केशव रामचंद्रिका पंचवटी वर्णन

२—कृपाकंद निबंध १०

३—प्रेम पत्रिका

४—इसी प्रकार 'जीवसख्यौ जात ज्यौं ज्यौ भीजत सरबरी 'घनानंद'

पर वे बड़े व्यंजक प्रतीत होते हैं । उदाहरण के लिये नीचे लिखे वाक्यों में मुहावरों से विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति की गई है ।

१ मति दौरि थकी न लहै ठिकठौर अमोही के मोह मिठास ठगी
२ रस प्यास के प्यास बढ़ाय के आस विसास में यौं विष घोरिये जू
३ सुरति सुजान चैन-बीचिनि सों सींची जान,
वही जमुना पै आली वह पानी बहिगो

इनमें 'अति चंचल हो गई ।' कहने से उस अर्थ की प्रतीति नहीं होती जो 'न लहै ठिक ठौर', कहने से होती है । इसी प्रकार "विश्वासघात करना" कहने की अपेक्षा 'विसास में यौं विष घोरियै जू' कहने से अधिक तीव्रतापूर्ण अनुभूति का भान होता है ।

यह विशेष विचारणीय है कि आनंदघन की तरह रसखान ने भी हिंदी मुहावरों का प्रयोग किया है । यद्यपि उनकी संख्या इनकी अपेक्षा न्यून है । कुछ मुहावरे तो मिलते भी हैं। इससे यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि आनंदघनजी या तो रसखान की इस प्रवृत्ति से परिचित हैं या दोनो को किसी समान स्रोत से प्रेरणा मिली थी । फारसी साहित्य की भाव-भाषा प्रवृत्तियों की जानकारी तथा विशुद्ध हिंदी में काव्य रचना करने की शैली ये दोनों गुण इन दोनों भक्त प्रेमियों में विद्यमान है । इसलिये फारसी की सी चमत्कृतिप्रधान रचना की सिद्धि दोनों ने मुहावरों के प्रयोग द्वारा की है। उर्दू फारसी की कविताओं में काव्य चमत्कार के लिये मुहावरों का प्रयोग बड़ी प्रचुरता से किया जाता है । नीचे कुछ उदाहरणों में वह बात स्पष्ट झलकती है ।

१ अय बरहमन हमारा तेरा है एक आलम ।
हम ख्वाब देखते हैं तू देखता है सपना ।।
२ बोला चपरासी जो मैं पहूँचा बउम्मीदे सलाम ।
फाँकिये खाक आप भी साहब हवाखाने गए ।।
३ आँखें बिछाएँ हम तो उदू की भी राह में ।
पर क्या करें कि तुम हो हमारी निगाह में ।।

फलतः प्रतीत होता है कि आनंदघन और रसखान को यहीं से इसकी रप्रेणा मिली थी । रसखान तथा आनंदघन में इतना अंतर है कि पहले

ने मुहावरों द्वारा काव्य के किसी विशेष चमत्कार की सृष्टि नहीं की। दूसरे ने की है।

लोकोक्तियाँ मुहावरों से भिन्न हैं। लोकोक्तियों में जीवन के किसी साधारण व्यापार का कथन होता है जो साम्य का समर्पक बनता है। इनके प्रयोगों में प्रायः वाक्यार्थ उपमान बनता है। कभी कभी साम्य के आधार पर ही उसका प्रतीकवत् प्रयोग होता है। मुहावरों की अपेक्षा इनमें अर्थव्यंजना सीमित होती है। साम्य की सिद्धि हो जाने से लोकोक्ति प्रयोग स्वयं एक प्रकार का चमत्कार हो जाता है। इसलिये हिंदी के कवियों ने इसे एक पृथक् अलंकार मान लिया है। ठाकुर ने लोकोक्तियों का प्रयोग अधिक किया है। जैसे—

हमें को गनै कासों परोजन है सुनिबे में न बीन बजाइबे में।

ठा० ठ० १६२

अधिरात भई हरि आए नहीं हमें ऊमर की सहिया करिगे।

वही १६५

ठाकुर जी पैं यही करने तौ कहा मन मोहनी क्रोध करैहै।
है है नहीं मुरगा जेहि गाँव भटू तिहि गाँव का भोर ना हैहै॥

वही १६७

जग एकन को भट वाइरे वोर सो एकन को पथ दीजतु है।

वही १६९

चलु दूर भट्ट हौं वृथा भटकी लगें दूर के डोल सुहावने री।

वही १७३

नीचे आनंदघनजी द्वारा प्रयुक्त मुहावरों का विवरण दिया जाता है। लक्षणा भाषा का अक्षय बल होता है और मुहावरे प्रचलित अथच प्रसिद्ध लक्षणाएँ होती हैं। अतः लेखक के विचार से हिंदी भाषा की क्षमता बढ़ाने का यह भी एक प्रयत्न होगा यदि श्रेष्ठ कवियों के मुहावरेदार वाक्यों को संगृहीत किया जाए और उनके से प्रयोग व्यावहारिक भाषा में किए जाएँ।

मुहावरे

१—आँखों में बसना—ध्यान बने रहना ।

कब तें सुजान प्रान प्यारे पुतरीन तारे ।
आँखिन बसे हौ सब सूनो जग जोहिए ॥

२—आँखों में आना—दिखाई पड़ना ।

सुख लै अँखियान में आय हौ जू ।

३—आखों में छाना—सदा दिखाई पड़ना ।

प्यारो घनआनंद सुजान छायो आँखिन में ।

४—आँख तले लाना—मूल्यांकन करना ।

ल्यायौ न काहु वै आँखि तरे ।

५—आ बनना—संयोग बन जाना ।

हमें आनि बनी इन लोगन सों इन ।

६—आड़ माना—रुक जाना ।

आड़ न मानति चाड़ भरी उघरी ही रहैं अति लाग लपेटी ।

७—आड़े होना—बीच में बाधक होना ।

कहाँ ते दुन्यौ सो बैरी आड़े आनि है भयौ ।

८—आसपास न होना—बहुत दूर पड़ जाना ।

सपने रस आसहू पास नहीं ।

९—औसर सम्हारना—अवसर के योग्य कार्य करना ।

औसर सम्हारौ न तो अनआइबे के संग ।
दूर देस जाइबोकों प्यारौ नियराति है ।

१०—उघड़ कर नाचना—स्पष्ट रूप से किसी कार्य को करना ।

उघरि नचै हैं लोक लाजतें बचे हैं ।

११—उघड़ पड़ना—रहस्य खुलना, निर्लज्ज होना ।

छाय तऊ उघरेई परौ ।

१२—उघरी रहना—निर्लज्ज होन

उदाहरण उपर्युक्त ही ।

१३—उसर जाना—छिन्न भिन्न होना।
आएँ द्यौस अवसर उसासहि उसरि जैहै।

१४—उसास छकना—निरास जीवन बिताना।
निस द्यौंस उदास उसास छकों।

१५—कलधरना—चैन आना।
धरै कल कौ अकुलानि थई है।

१६—कान खोलना—श्रवणोन्मुख करना।
कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलि है।

१७—कान में रुई देना—न सुनने का प्रयत्न करना।
रुई दिए रहोगे कहाँ लौ बहाराइबे की।

१८—कान करना—सुनना।
घनआनंद कानन आन करे।

१९—गुहार लगाना—सहायता करना।
जान प्यारे लागो न गुहार तो जुहार करि,
बूझिहै निकसि टेक गहें पन धारे की।

२०—गोहन लगना—पीछे पड़ना।
लाग्यौ हैं गोहन ही प्रान प्रान घात कों।

२१—गौ गहना—अनुकूल होना, लाभ देना।
घनआनँद मीत सुजान सुनौ,
तब गौ गहि क्यों अब यौं अरसौं।

२२—घर उजाड़ना—अपनी हानि आप करना।
करौं कित दौर और रहौं तौ लहौं न ठौर,
घर कों उजारि कै बसन बन जाय है।

२३—गैल रहना—साथ रहना।
उर आवति यों छवि छांइ ज्यौं हौं व्रज छैल की गैल सदाई रहीं

घरबसे—उपपति।

एहो घरवसे राति कौन घर बसे हो।

२५—घर बसाना—उपपति बनना ।

भोर भए आए भाँति भाँति मेरे मन भाए,
एहो घरबसे आज कौन घर बसे हो ।

२६—घाव का नमक होना—कष्ट पर कष्ट देना ।

आना कानी दैबो दैया घाव कैसो लोन है ।

२७—धूर करना—नष्ट करना ।

उड़ाय हौं सरीरै घनआनँद यौं धूरि कै ।

२८—चवाई जोड़ना—निंदा करना ।

कोऊ मुँह मोरौ जोरौं कोरिक चवाई क्यौं न ।

२९—चित्त पर चढ़ना—प्रिय लगना ।

चितचढ़ी मूरति सुजान क्यों उतारियै ।

३०—चित्त छोलना—कष्ट देना ।

घनआनँद जान महाकपटी चित काहें परेखनि छोलि परी ।

३१—चित्त में धरना—याद करना ।

है घनआनँद जीवनमूल धरौ चित में कित चातिक चूकैं ।

३२—छाप देना—प्रभाव डालना ।

चित पै हित हेरनि छाप दई ।

३३—छाती पर चढ़े रहना—सामने ही कष्ट पहुँचाना ।

पैने नैन तेरे से न हेरे मैं अनेरे कहूँ,
घाती बड़े काती लिए छाती पै रहैं चढ़े ।

३४—जक लगना—स्वभाव बन जाना ।

जक लागियै मोहि कराहनि की ।

३५—ठिक ठौर लेना—शांति या स्थिरता प्राप्त करना ।

मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर अमोही के मोह मिठास पगी

३६—ठौर रहना—किसी के घर बैठ जाना, किसी की पत्नी बन जाना

हाय दई न बसाय बिसासी सों ठौर रहेन को ठौर कहाँ है ।

३७—ठौर रहे—किसी के अनन्य प्रेम में डूबना ।

ठौर रहे न कौ ठौर कहाँ है ।

३८—ढर जाना—अनुकूल होना, कृपा करना, पक्ष में होना।
दई गयौ तुहूँ निरदई ओर ढरि रे।

३९—ढही देना—पड़े रहना।
निहारियै पौरि पै देहु ढही।

४०—तलुओं से लगना—सिर से पैर तक जलना।
पायनि तेरे रची मँहदी लखि सौतिन के तरवानि तें लागति।

४१—तन बढ़ना—सुख मिलना।
वेई कुंज पुंज जिन तरे तन बाढ़त हो।

४२—तारे गिनना—रात में प्रतीक्षा करना।
बीतै तभी तारनि की वारनि गनत ही।

४३—तृण तोड़ना—प्रेम व्यक्त करना।
डरि डीठि हितू तिन तोरति है।

४४—दिन पारना—विपत्ति डालना।
दिन पारि इतै उत रातें पढ़ै।

४५—दिन फिरना—परिस्थिति बदल जाना।
दिनन को फेर मोहि तुम मन फेरि डार्‌यौ।

४६—दूरि देश जाना—मरना।
औसर सम्हारौ न तो अनआयबे के संग,
दूरि देस जायबो क्यों प्यारी नियराति है।

४७—द्वार पड़ना—शरण में आना।
आस मर्‌यौ गहि द्वार परियौ जिय।

४८—दृष्टि छिपाना—दिखाई न देना।
प्रीतिपगी अँखियानि दिखायकै हाय अनीति सु दीठि छिपैयै।
हितू जेऊ आरते ये लेखन दुराव ही। रसरखान सु० र० २००,

४९—नाक चढ़ाना—अनिच्छा अथवा हल्का रोष प्रकट करना।
पैठत प्रान खरी अनखीली, सु नाक चढ़ाएई डोलत टेंढ़ी।

५०—नाँव रहना—यश का बना रहना।
मन मोहन नाँव रहे सु करौ।

५१—पट्टी पढ़ना—शिक्षा लेना।

यह कौनसी पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

५२—ताबड़ी पड़ना—क्रोध करना।

आवरी है बावरी तू तावरी परति काहे।

५३—नाँव सहना—अपयश सहना।

नाँव धरै जग में घनआनँद नाँव सम्हारो तौ नाँव सहौ क्यौं।

५४—नाँव सम्हारना—नाम को सार्थक करना।

नाँव धरे जग में घनआनंद नाँव सम्हारौ तौ नाँव सहो क्यौं।

५५—पाँव रखना—डट जाना।

हेतखेत धूरि चूरि चूरि साँस पाँव राखि।

विष समुदेग वान आगे उर ओटिबो।

५६—पानी बहजाना—परिस्थिति बदल जाना।

वही जमुना पै हेनो वह पानी बहिगौ।

५७—परस परोस—स्पर्श।

गैल संग डोलै पे न परसपरोस है।

५८—पायन लगना—प्रणाम करना।

तुव पायनि लागि न हाथ लगै।

५९—पैरों में मँहदी लगना—चलने से रुकना।

उत ऊतर पाँय लगीं मिहदी सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।

६०—पीठ देना—विमुख होना, उदासीन होना।

आँखिन दोठहि पीठि दई है।

६१—पैडे रहना—पीछे लगना।

मुराई हमारेई पैडे परे—आ० घ०

यह हेरनि तेरेई पैडे परेगी—रसखान

६२—पाँय पसारना—आग्रह करना।

इते पर हाथ को पाँय पसारै।

६३—पाले पड़ना—अधीन होना।

प्रेम के पाले परैं जिय जाको

६४—प्राण आँखों में आना—देखने के लिये व्याकुल होना, अत्यधिक लालायित होना।

६५—प्राण जुड़ाना—धैर्य अथवा सान्त्वना मिलना।

जोरि कै कोरिक प्राननि भावते
संग लिए अंखियानि में आवत।

६६—प्रान सूखना—कष्ट का अनुभव करना।

मेरे प्रान सोचन ही सूखत सदा रहैं।

६७—प्राणों का होठों लगना—मरणासन्न होना।

अधर लगैं हैं आनि करिके पयान प्रान।

६८—झराँ जाना—सबके सब जाना।

धीर कैसे धरौं मन सो धन झराँ गयौ।

६९—बनी का मोल—करनी का फल।

आगे न विचारयौ अब पाछे पछताएँ कहा
जान मेरे जियरा बनी कों कैसो मोल है।

७०—बादल घिरना—उमड़ना, अनुकूल होना।

अब देखियै कौ लौं घिरे घन आनँद।

७१—बाँट आना या बाँट करना—भाग में आना।

तेरे बाँट आयौ है अंगारनि पै लोटिबो।
इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उलाहनौ दीजिए जू।

७२—बाँह पकड़ना—अवलंब या सहायता देना।

दई गहि बाँह न बोरियै जू।

७३—बात की बात—शीघ्र ही।

बात की बात सु बात विचारयौ।

७४—बाट नापना—प्रतीक्षा करना।

तेरी बाट हेरत हिराने औ पिराने पल
थाके ये विकल नैन ताहि नपि नपि रे।

७५—बिक जाना—दास बन जाना, अत्यधिक मुग्ध होना।

रीझ बिकाई निकाई पै रीझ। आ० घ०

सिगरो ब्रज वीर बिकाइ गयो है। रसखान।

७६—बोरना—विपत्ति में डालना।

दई कित बोरत हो बिन पानी।

७७—भाग जगना—परिस्थिति अनुकूल होना।

भाग जागें जो कहूँ विलोकै घनआनँद तो।

७८—भरना—कष्ट उठाना।

हौ ही भरों इकली कहों कौन सों।

७९—मुँह मोड़ना—विमुख हो जाना।

कोऊ मुँह मोरो जोरो कोरिक चबाई क्यों न।

८०—मुँह लगना—बड़प्पन पाना, आत्मीय बनना।

ओछी बड़ी इतरानि लगी मुँह नेको अघाति न आंनि निपेटी।

८१—मूड चढ़ाना—अत्यधिक महत्व देना।

पाय डारि कित मूँड चढ़ावत मदन कों।

८२—रंग उड़ना—फीका पड़ना, हतप्रभ होना।

उड़ि चल्यो रंग कैसे राखियै कलंकी मुख।

८३—रात भीजना—रात बीतना।

जीव सूक्यो जात ज्यों ज्यों भीजत सरवरी।

८४—रीझ बूझ करना—ध्यान देना।

रीझ न बूझ तऊ मन रीझत। आ० घ०

रीझ की कोऊ न बूझ करेगो। रसखान

८५—रीझ में भीजना—स्नेहार्द्र होना।

बावरे लोगन सों घन आनँद

रीझनि भीजि कै खींजि बकै को।

८६—रुख लेना—किसी की ओर होना।

एक ही टेक न दूसरी जानति जीवन प्रान सुजान लियैं रुख।

८७—विश्वास में विष घोलना – छल करना।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यों विष घोरियै जू।

८८—साँस भरना—कठिनता से जीवित रहना।
रोम रोम रही भीय रोय परौं साँस भरौं।

८९—सातौं सुधि भूलना—बुद्धि का निष्क्रिय हो जाना।
भूलै सुधि सातौं दसा बिवस गिरत गातौ।

९०—सिर घूमना—चक्कर आना, भ्रांति में पड़ जाना।
घूमत सीस लगै कब पायनि।

९१—सीधे पैर न पड़ना—इतराना।
घनआनँद रूप गरूर भरी धरनी पर सूध न पाय परै।

९२—सीरा पड़ना— जीवनहीन हो जाना।
सीरी परि सोचनि अचमेसों जरों भरों।

९३—सीस घिसना—अनुनय विनय करना।
हित चायनि च्वै चित चायनि कै नित पायनि ऊपर सीस घिसौं।

९४—सीस धुनना—पश्चाताप करना।
दुखिया जिय सोचनि सीस धुनै।

९५—हटतार लगना या फिरना—निष्क्रिय हो जाना, निरर्थक बन जाना।
वह रूप की रासि लखी जब तें सखि आंखिन की हटतार भई।

९६—हाथ पड़ना, या हाथ मे पड़ना या
हाथ लगना, हाथ रहना,
हाथ चढ़ना—अधिकार में होना, वशवर्ती होना।

९७—हाथ पड़ना—
प्रान लै साथ परो पर हाथ।
मीत के पानि परं को प्रमानै। घनानंद
रसखानि परी मुसकानि के पानि। रसखान

९८—हाथ चढ़ना—मिल जाना।
हाथ चढ़ै जिहि स्याम सुजान कहूँ तिहि पायन रे परसे तैं।

९९—हाथ मीड़ना—पछताना।

मीडिबे के लेखकर मीडिबोई हाथ लग्यौ।

हाथ रहना—अधिकार में रहना।

सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।

हाथ लगना—वश में रहना।

तुव पायनि लागि न हाथ लगै।

१००—हाथ पकड़ना—सहायता देना।

हाथ गहै पिय पायनि डारै।

१०१—हाथ सीना—निरर्थक बना देना।

जिन ही बरुनीन सों बेध्यौ हियौ तिन ही दृग-हाथ सिवावत है।

रसखान के मुहावरे

१०२—गाँठि पड़ना - मिलना, प्राप्त होना।

सौगुन औगुन गाँठि परैगी।

१०३—अंग ढलना—किसी के रंग में रंगजाना।

सहसाढरि राँग सो आँग ढरयौ है।

१०४—छटाँक न देना—कुछ न देना।

मन लेहु पै देहु छटांक नहीं। आनंदघन। सु०हि० २६७

मन लीनौ प्यारे चितै पै छटाँक नहि देत। रसखान

१०५—घर करना—बैठना, निवास करना।

रसखानि करयौ घर मो हिय में।

१०६—बाट परना—विघ्न पड़ना।

तेरो न जात कछू दिन रात विचारे बटोही को बाट परैरी।

१०७—नगाड़ा ठोककर—खुल्लमखुल्ला।

तौ सजनी फिरि फेरि कहौं पिय मेरो वही जग ठोकि नगारो।

१०८—अगूंठा दिखाना—उपहास करना।

नैन नचाइ चितै मुसकाय सु ओट है जाइ अँगूठा दिखायौ।

१०९—मन मारना—मन को वश में करना, इच्छा को दबाना।

मन मारि के आपु बनी हौं अहेरी।

११०—पहाड़ हो जाना—दुर्गम बनना।

पग पावत पौरि पहाड़ भई।

१११—नाच नचाना—आज्ञा का अनुवर्तन करना।

नचियै सोई जो नाच नचावै।

११२—काले का विष राख से उतारना—कठिन समस्या को साधारण उपाय से सुलझाना।

कारे विसारे को चाहै उतारयौ अरे विष बांवरे राख लगाइके।

११३—दाम सवारना—देखभाल करना।

वारि कै दाम सँवार करौ।

११४—ताक में रखना—दूर करना।

इहि पाख पतिव्रत ताक धरौ जू।

११५—नेह भीजना—स्नेह मुग्ध होना।

नेह भीज्यौ जीव तऊ गुड़ालौं उढ़्यौ चहै।

११६—रंग में ढलना—अनुवर्ती होना।

मानि हे काहू की कानि नहीं जब रूप ठगी हरिरंग ढलंगी।

११७—गांठ खोना—शिथिल करना।

लाजगांठन खोल है।

व्याकरण

आनंदघन जी के समस्त वाङ्मय में निश्चित व्याकरण व्यवस्था विद्यमान हैं। वह व्यवस्था ब्रजभाषा की है। क्रिया, कारकों का रूपविधान, ध्वनियों का उच्चारण, तद्भव रूपों का प्रयोग, कृदंत-तद्धित की व्यवस्था आदि सब भाषाविकास ब्रजभाषा के स्वभाव के अनुसार हैं। साथ ही समास, नवीन रूप और शब्दों का निर्माण कवि के भाषा संबंधी साधारण विकास के सिद्धांतों का परिचय देते हैं। व्याकरण व्यवस्था नीचे दी जाती है।

नाम रूप

कारक

कर्त्ता कारक

	एक वचन	बहुवचन
अकारांत	राग, रागौ	राग, रागहि, रागन
	आरत	आरतें
आकारांत	लता	लतानि
इकारांत	आंखि	अँखियाँ अँखियानि आंखें
उकारांत	आंसु	अँसुवा

कर्म कारक

विभक्ति चिह्न नि, ऐ, एँ, न, हि, हिं, औ, कों, ।

नि, यानि	एक बचन	बहुवचन
अकारांत स्त्री०	चख	चखनि, चखन
अकारांत पु०	पुंज	पुंजनि
आकारांत स्त्री०	भावना	भावनानि
इकारांत स्त्री०	आंखि	आंखिन अँखियानि
उकारान्त स्त्री०	हितू	हितूनि
एँ या ऐ		
	विषे	दोषै
	प्राने	मनै
हि...	चंदहि, अबीरहि	
औ...	आपुनपौ, करेजौ	
कों...	देखिवेकों, गुननिकों, पपीहाकों	

करण कारक

विभक्ति चिह्न सों, ऐं,

	एक ब०	ब० ब०
सों···	अचंभे सौं	अपराधनिसों, नैननिसों
ऐं···	परखें मरोरैं	
निर्विभक्तिक···	सोच	सोचनि, सोचन

संप्रदान कारक

विभक्ति चिह्न को, कों, हि

	एक व०	बहु ब०
	मोकों	परकाजहि
निर्विभक्तिक		प्राननि

अपादान कारक

विभक्ति चिह्न ते, तें, सों, हि।

एक वचन	बहु वचन
सुधाते	हमतें
जबतें	दिनानितें
अजसों	
अजहि।	

संबंध कारक

विभक्ति चिह्न का, के, की, को।

एक वचन	बहु वचन
प्रानके	प्राननके
पौनको	अमोहिन को
चाहिनकी	नैननिकी

अधिकरण कारक

विभक्ति चिह्न ऐं, मधि, मैं, मांझ, पै, बीच,

एक वचन	बहु वचन
हियें	
पाती मधि	

हिये मैं
करेजे वीच

नैननिमधि
नैननि में
अंगारनि पै

विशेषण

ब्रजभाषा में विशेषण अपने विशेष्य के लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। पुलिंग एक वचन में ओकारांत, बहुवचन में एकारांत, स्त्री लिंग के एक वचन तथा बहु वचन में ईकारांत, विशेषण आते हैं। अनेक स्थलों पर रूप परिवर्तन नहीं भी होता। उदाहरण के लिये नियमित रूप—

एक वचन	बहु वचन
अकेलो जीव	वियोग भरे असुवा
मति आवरी बावरी।	प्यासभरी अँखिया

अपवाद⋯मूरतिवंत महालक्ष्मी।
अथिर उदेगगति।

समास

अव्ययीभाव समास

नैन	उ	नैनउ—नेत्र भी
आपा	उ	आपौ—आप भी
मीच	उ	मीचौ—मृत्यु भी
लागी	इ	लागियै—लगीही
मेरी	इ	मेरियै—मेरी भी
एक	ए	एकै—एक ही
पंख	नि	निपाँख—पंखरहित

तत्पुरुष समास

संबंध⋯अतन + जतन = अतनजतन।— कामदेव का प्रयत्न।
पीर + मीर = पीरमीर—अनेकपीड़ाएँ
आसू + प्रवाह = प्रवाहआंसू—आसुओं का प्रवाह
रुसनि + रस = रसरुसनि—अप्रसन्न होने का रस

देखी + न = अनदेखी—न देखी हुई
निहारनि + न = ननिहारनि—न देखने को

द्वंद्व समास

रैनि + दिना दिनरैनि या रैनिदिना—दिन और रात।

समासोत्तरतद्धित

अनकान + आनाकानी—न सुनना।

क्रिया

अभिधानभाव (Indicative mood)

वर्तमान काल

प्रथम पुरुष	स्त्रीलिंग	एक वचन	बहु वचन
		परति, परति है	परति, परति हैं
		बरसै, बरसै है।	बरसैं, बरसैं हैं।
	पुंलिंग	लसत	
		तरसै	तरसैं
		मरहि	
मध्यमपुरुष	पुंलिंग	जानत	जानत
		जानै	जानैं
		जानत हौ	जानहौं
	स्त्रीलिंग	जानति है	जानति हौं
		जानै	जानैं
उत्तमपुरुष	स्त्रीलिंग	असीसति	असीसत
		देखति हौं	रोवति हैं
	पुं०	धावत	धावत
	स्त्री० पुं०	जरौं	रमैं
		बिताउँ बितावैं	

पूर्णवर्तमान

	पुं०	लाग्यो है	बुझे हैं
	स्त्री०	छाई है	गई हैं

अपूर्णवर्तमान

	पुं०	मचाय रह्यौ	
	स्त्री०	उमगियै रहति है	

भूतकाल

	ए० व०	ब० व०
पुं०	उधरौ	
	देख्यौ	हेरे
	ढरिगौ	ढरिगे
	मुरझानी	मुरझाने
स्त्री०	छाई	छाईं
	हिरानी	हिरानी
	करी कीनी की	करीं कीं कीनीं
पुं०	कियौ करयौ	किये कीने करे

भविष्यकाल

प्रथम पुरुष पु०	दहैगौ	लेहिंगे
स्त्री०	चलैगी	चलेंगी
	बोलिहै	बोलिहैं
मध्यम पुरुष स्त्री० पु०		जगौगे
		बसाय हौ
	पालिहौं	पालिहै जै हैं

(Imperative mood)

आज्ञाभाव

चाहौ	अरसाहु

प्रार्थनाभाव

परेखियै[1]	कीजीयिजू[2] हूजै

विधिभाव

पहचानौ	पहचानैं
जताइयै	
पहचाना	
देहुँ	

१—चातिक विचारे सौं चूकनि परेखियै घ० क० १६

२—इस रूप में 'जि' विकरण पहले से अधिक बढ़ गया है।

लहैं[1]

हेतु हेतु मद्भाव

पावतौ[2]

स्वभावभाव

निहोरत है, बरस्यौ करै[3]

कर्म वाच्य तथा भाव वाच्य

बखानियै, लहै, वारे[4] हरयौ बितैयै, ढूकियौ

पूर्वकालिक क्रिया

√बढ़ा–बढ़ाय; √ग्रा–ग्रानि कै; √बो–बै, बोय; √हो–है; √खो–खोय।

विभिन्न कर्तृक पूर्व कालिक क्रिया

√हेर हेरैं; √ग्रा ग्राएँ[5],

क्रियार्थक क्रिया Infinitive mood

√देख देखनकौं, अविलोकिबेकों

क्रियार्थक संज्ञा Verbal noun

प्रत्यय–नि √उरझ उरझनि; √बतरा–बतरानि; √घोट–घोटिबो

भाववाचक संज्ञा

ई प्रत्यय √बौर–बौरई, √निठुर–निठुराई, √ताई प्रत्यय, ग्रमिलताई, रि प्रत्यय बढ़वारि।

१—रोम रोम रसना है लहै जौं गिरा के गुन तऊ जान प्यारी निबरैं न मैं न ग्रारतैं। घ० क० ३२

२—जौ जिय रावरी प्यार न पावतौ"""तौ रुखे भये को परेखौ न ग्रावतौ।

३—ग्रंग ग्रंग रूप रस ग्रंग बरस्यो करै, घ० क० ७५

४—वारे ये बिचारे प्रान घ० क०

५—पूर्वकालिक क्रिया का कर्ता व्याकरण नियमानुसार वही होना चाहिए जो उत्तरकालिक क्रिया का होता है। पर ऐसे वाक्यों में जहाँ भिन्न कर्तृक पूर्व काल क्रिया हो तो उपर्युक्त रूप बनते हैं। वे धातु से भाववाचक संज्ञा बना कर उसके ग्रधिकरण रूप प्रतीत होते हैं जैसे संस्कृत में ग्रस्तंगते सवितरि मुनि रात्रिगतवान्।

प्रक्रियाएँ

नाम धातु

अपन अपनाय हौ जु। अरस— अरसाहु। अधिक—अधिकाति।
प्रमान—प्रमानैं।

प्रेरणार्थक

√बढ़—बढ़ाय हौ

इच्छार्थक

√देख—दिखास

वीप्सार्थक

चितार√चित

चतुर्थ परिच्छेद

शैली

१—भाषा शैली

आनंदघन की शैली के दो भाग किए जा सकते हैं, वक्र तथा ऋजु। भक्ति संबंधी रचनाओं में ऋजु तथा रसात्मक रचनाओं में वक्र शैली का प्रयोग किया गया है। इन दोनों के भी दो उपभेद किए जा सकते हैं। १—संश्लिष्ट तथा २—विश्लिष्ट अथवा साधारण। ऋजु शैली में वर्णनात्मक निबंध तथा गेय पदों की रचना हुई है। ये रचनाएँ भक्ति भाव की सरल मस्ती में या कीर्तन की धुन में लिखी गई हैं। इसलिये भावों की गहराई और वक्रता का चमत्कार दोनों को ही कवि ने छोड़ दिया है। रसात्मक रचनाओं का स्वरूप लौकिक तथा रहस्यात्मक होने से, प्रतीत होता है, वृंदावन के संतो में उनका विशेष आदर नहीं हुआ। कवि को स्वयं इससे संतोष नहीं हुआ यद्यपि भक्ति भाव के मार्मिक भाव उनमें भी पर्याप्त संख्या में व्यक्त हुए है। इसके फलस्वरूप कवियों की चमत्कारप्रधान शैली का त्याग कर संत शैली में भक्ति के भाव उन्होंने पदों तथा निबंधों में व्यक्त किए हैं। यह परिवर्तन सहेतुक था इसका संकेत भड़ौआ छंदों में तथा कवि के एक गीत में मिलता है। भड़ौवाकार ने उनके विषय में 'हुरकिनी सुजान तुरकिनी को सेवक हैं, तजि राम नाम वाकों पूजै काम धाम है। तथा 'बैंन कों चुरावे वाको मजमून लावै।' आदि लिखा है। प्रतीत होता है कि भड़ौवाकार को सुजान छाप के वक्रतापूर्ण छंदों में फारसी के भावों की चोरी तथा वेश्याप्रेम की गंध आती थी। एक पद में कवि स्वयं भक्ति भाव की रचना करने पर संतोष प्रकट करता हुआ कहता है।

रसना गुपाल के गुन उरझी।
बहुत भाँति छल छंद बंद बकवाद फंदतें सुरझी।।[१]

१—आनंदघन पदावली ६८७।

यहाँ 'छल छंद बंद तें सुरभी' में वक्र शैली के त्याग की व्यंजना प्रतीत होती है। कारण कुछ भी हो शैली के दो भेद स्पष्ट हैं।

ऋजु शैली के संश्लिष्ट रूप में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया गया है जो वक्र शैली में नहीं मिलता। नृसिंह भगवान की स्तुति का निम्नलिखित पद्य इसका निदर्शन है।

'जयति जयति नरसिंह-प्रह्लाद-आरति-हरन वत्सल-विपुल-बल
विनोदकारी।
पुरन-प्रताप, अरितम-विहंडन, खंड-खंडनि-प्रचंड-जसतुंड-चारी।
सत्य-संकल्प-संदोह-संसर्ग-संग्राम-जृंभा-असुर-संघहारी।।[1]' इत्यादि

इसका दूसरा रूप सीधी सरल भाषा का मिलता है जो पदों में तथा वर्णनात्मक निबंधों में व्यवहृत हुई। निबंधों में सरलता अपेक्षाकृत अधिक है। केवल 'गोकुलविनोद' संश्लिष्ट शैली में लिखा गया है। इस सरल शैली की विशेषता यह है कि जिन भावों को कवि ने लक्षणा आदि के क्लेश के साथ व्यक्त किया हैं उन्हें ही यहाँ सीधी सरल भाषा में प्रकट किया है। चमत्कार और प्रभाव अवश्य कम है। 'प्रेमपहेली' में गोपिकाबचन देखिए।

'मोहन इत है निकसै आय, हों ठाडी अपने जु सुभाय।
डीठि डीठि मिलि भयौ मिलाप, ढुरि ढुरि मिली आप ही आप।
फूलि भूलि वेहू अरु हौंहूँ, रहे लोभ लगि डरु अरु गौंहूँ।
उनकी वे जानें क्यों कहिए, पै अपनी मन कहूँ न लहियै।
बहुत पची अपनो सो ऐंचि, हँसि चितवनि लैगई सुखैंचि।'

गेय पदों में भी प्रयः ऐसी ही शैली का प्रयोग किया गया है। जैसे—

'बनवारी रे तैं तो बावरी करी।
बिसवासिनि विषभरी बाँसरिया तनिक बजाइ सब सुरति हरी।
मन की बिथा कौनसों कहियै बीतत जैसे घरी घरी।
आनँदघन सनेह झर झूकनि घर बाहिर अब उबरि परी।[2]'

१—वही १६६। २—वही ५०१।

सरल शैली में भी कहीं कहीं कवित्त सवैयों की सी लाक्षणिक वक्रता मिलती है।

'निकसत लसत साँवरो छैल। रोकत मन नैनन की गैल।
अटक मटक की भेंट अटपटी। हित कनौड़चित चाह चटपटी।

ब्रजरस उफनि बढ़ै हिय सोत। रसना है है प्रगटित होत।' ब्रजस्वरुप, 'भावत रंगनि करि बढवारि। वै-सम्हार ह्वै रहे सम्हारि।' भा० प्रकाश पर ऐसे उदाहरण अत्यल्प हैं। उन्हें अपवाद माना जा सकता है। जहाँ कीर्तनादि के उद्देश्य से रचना की गई है वहाँ काव्य के गुण, चमत्कार, मार्मिकता आदि नहीं हैं। आराध्य के नाम गुण आदि का स्मरण मात्र किया गया है। 'प्रियाप्रसाद' की प्रत्येक पंक्ति 'राधा' नाम से तथा 'रसनायश' की 'रसना' शब्द से प्रारंभ होती है। इस प्रकार ऋजु शैली के संश्लिष्ट तथा विश्लिष्ट दोनों स्वरूप इनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

दूसरी शैली वक्रतापूर्ण है। कवित्त सवैयों को रसात्मक रचना इसी शैली में की गई है। इसमें संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया है। भावों की मार्मिकता तथा गंभीर प्रभावशीलता इसके गुण हैं। वक्रता का आधार लक्षक भाषा है। मुहावरे भी जिन्हें रूढ़ि मूल लक्षणा का घिसा हुआ रूप कह सकते हैं इस प्रयोजन के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

लाक्षणिक प्रयोग जैसे—

'जतन बुझे हैं सब जाकी झर आगे,
अब कबहूँ न दबै भरी भभक उमाह की।[1]'
'रीझि विलोएई डारति है हिय[2]'
देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटिनि की।'
'भसमी विथा पै नित लंघन करति हैं।[3]
'जान प्यारी सुधि हू अपुनपो बिसरि जाय।[4]'

इनमें जो लक्षणाएँ की गई हैं वे पूर्वसिद्ध नहीं हैं। इसलिये इन्हें प्रयोजनवती कहा जाएगा। इनका यह रूप कवि ने ही प्रयुक्त किया है। दूसरे रूप मुहावरों को लक्षणाओं के भी हैं। जैसे—

१—सुहि० ६१
२—वही १७८
३—वही २०० सुहि० ११८

'घनआनँद जान न कान करैं इनके हित की कित कोऊ कहै।'
'उत ऊतर पाँय लगी मेंहदी सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।'

इसमें 'कान करना,' पैरों में मेंहदी लगाना तथा 'हाथ रहना' मुहावरों का प्रयोग है। हाथ, पैर, कान तीन इंद्रियों का एकत्र नाम आ जाने से मुद्रालंकार भी हो गया है। इसे विश्लिष्ट वक्रशैली कह सकते हैं।

वक्र शैली में भी संश्लिष्ट और विश्लिष्ट दो भेद हैं। जहाँ विचारों की प्रचुरता है, वहाँ कवि कम से कम शब्दों में उन्हें व्यक्त करना चाहता है। इन स्थलों में शैली संश्लिष्ट हो गई है। संश्लिष्टता भाषा की उतनी नहीं है जितनी विचारों की है। ऐसी रचनाएँ अपेक्षाकृत कठिन भी हैं। अनुप्रासादि शब्दालंकारों का लोभ भाषा को और क्लिष्ट तथा संश्लिष्ट कर देता है। जैसे—

'सोभा-लोभ-लागि अंग-रंग-रंग प्रीति पाग,
जागि जागि नेंको न निमेष टेक तें टरी।
बोलनि, चितौनि, चारु ढोलनि, कपोलनि सों,
चाहि चाहि रंक लों सु संपति हियें धारी।'

सु०हि० ११८

'विष को दवा है, कै उदेग को अवा है, कल
पलकौ न चाहैं अथवा है चक बात को।
बीजुरी को बंधु, किधौं दुख ही को सिंधु है कि,
महा मोह अंध दंड अतन अलात को।
देह को दिनेस कै उजार निज देस किधौं,
आतम कलेस है, कि जंत्र सुख घात को।'

सु०हि० २४५

'बैरी मन मेरो घनआनँद सुजान प्यारे,
कैसे हित सीख्यौ जू तिहारे पच्छपात को।'

सु०हि० २४४

जहाँ इस प्रकार का कोई कारण क्लिष्टता का नहीं है वहाँ सरल भाषा में मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति हुई है। शैली की मार्मिकता जितनी इस सरल साधारण रूप में व्यक्त हुई है उतनी संश्लिष्ट रूप में नहीं। संश्लिष्ट

शैली रीति परपरा का अवशेष जैसी लगती है। वह बुद्धि को जगा कर विचारों की गहराई में पाठक को व्यस्त करती है। पर साधारण शैली हृदय का सीधा स्पर्श करती है और उसे ऐसे भावों में डुबा देती है जो परिचित से हैं। जैसे—

'लैही रहे हौ सदा मन और को दैबो न जानत जान दुलारे।
देख्यौ न है सपने हूँ कहूँ दुख त्यागे सँकोच और सोच सुखारे।
कैसो संजोग वियोग धौं आहि फिरौ घनआनँद ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तब ही जब होहु घरीक हू आप तें न्यारे।'

सु० हि० १७७

इस प्रकार शैली के चार रूप इनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं। इनमें श्रेष्ठ रूप सरल सीधी प्रसादगुणयुक्त शैली का है।

१—भाव प्रधानता—

शैली का आंतरिक रूप भावप्रधान है, विभावप्रधान या वस्तुप्रधान नहीं। हिंदी साहित्य की परंपरा को देखें तो यह विशेषता बड़ी असाधारण सिद्ध होती है। रससिद्धांत के प्रभाव के कारण हिंदी और संस्कृत के साहित्य में प्रबंध तथा मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाओं के लिये विभाव-प्रधान शैली का ही अवलंबन किया जाता रहा है। भाव चेष्टाओं तथा घटनाओं द्वारा व्यक्त किए जाते है साक्षात् नाम लेकर नहीं। उनका सीधा वर्णन तो 'स्वशब्द वाच्यत्व' दोष माना गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी वस्तुप्रधान शैली की ही रसमीमांसा में सराहना की है।[१] साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने भावों के साक्षात् वर्णन को भी कहीं ठाक ठीक बताया है। कभी कभी एक ही चेष्टा अनेक भावों के कारण उत्पन्न होती है अतः अनेक भावों की व्यंजिका भी हो सकती है। जैसे, कंप, भय, शीत, शृंगार आदि बहुत से कारणों से हो सकता है। विश्वनाथ का यह दिशादर्शन मात्र है। अनेक स्थल ऐसे हो सकते हैं जहाँ भावों का साक्षात् वर्णन ही उचित ठहरता है। वस्तुप्रधान प्रबंध काव्यों के लिये विभावप्रधान शैली तथा भावप्रधान मुक्तकों के लिये भावप्रधान शैली को पाश्चात्य आलोचक ठीक समझते हैं। मुक्तककार कवि यदि अंतर्मुख वृत्ति का है तो उसके भाव बड़े

१—रसमीमांसा विभावप्रकरण।

सूक्ष्म तथा गंभीर होते हैं। वे कवि हृदय में अल्प क्षणों के लिये ही आते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के लिये यदि वह अनुरूप चेष्टाओं तथा वस्तुओं की बौद्धिक खोज करेगा तो वे लुप्त भी हो सकते हैं। उसे तो शीघ्र से शीघ्र उन्हें भाषा में बाँधना चाहिए।[१] आनंदघन के नीचे लिखे सवैये में छोटे छोटे भाव इतनी शीघ्रता से परिवर्तित होते प्रतीत होते हैं कि उनके लिये वस्तुविधान किए जाएँ तो काव्यत्व ही नष्ट हो जाए—

'खोय गई बुधि, सोय गई सुधि, रोय हँसे, उन्माद जग्यौ है।
मौन गहैं, चकि चाकि रहै, चलि बात कहैं तैंन दाह दग्यौ है।'

इत्यादि

वस्तुप्रधान शैली विवेकप्रमुख साहित्य के लिये, जो शास्त्रीय मार्ग का होता है, उपयुक्त है। स्वच्छंद मार्ग के भावप्रधान कवि के लिये तो भावों का सीधा वर्णन उचित होता है।

आनंदघन की शैली में भावों तथा हृदय की अंतर्दशाओं का प्रत्यक्ष वर्णन है। वस्तु द्वारा परंपरा से नहीं। इनमें रमणीयता तथा अनुभूति-योग्यता लक्षणा द्वारा उत्पन्न होती है। लक्षणा की वक्रता कहीं साम्यादि द्वारा अरूप भावों को रूपवत्ता प्रदान करती है, कहीं उक्ति के चमत्कार से विच्छित्ति का योग बढ़ा देती है। अभिलाष का वर्णन करता हुआ कवि कहता है।

'रस सागर नागर स्याम लखौं अभिलाखनि धार मँझार बहौं।
सु न सूझत धीर को तीर कहूँ पचिहार कै लाज सिवार गहौं।'

सु० हि० १२.

× × ×

यहाँ अभिलाष भाव 'धार' उपमान का, 'धीर' भाव 'तीर' का तथा लज्जा भाव 'सिवार' का रूप धारण कर प्रत्यक्ष योग्य हो जाते हैं। फलतः अभिलाषामग्न व्यक्ति का जलमग्न व्यक्ति के समान चित्र बन जाता है।

१—साहित्यमीमांसा—डा० सूर्यकांत—'वे (मनोवेग) क्षणभंगुर हैं। हृदय में इनकी चिनगारियाँ सी उठती हैं और क्षणभर चमककर वहीं विलीन हो जाती है।' पृ० ८।

नीचे लिखे सवैये में लाक्षणिक वक्रता के सहारे भाववर्णन में चमत्कार का पुट लगाया गया है ।

'रीझि निकाई निकाई पै रीझि, थकी गति हेरत हेरन की गति ।
जीवन-घूमरे नैन लखें मति बौरी भई गति वारि कै मो मति ।
बानी बिलानी सुबोलनि पै, अनचाहनि चाह जिवावति है हति ।
जान के जीकी न जानि परै घनआनँद या हू तें होति कहा अति ।'

सु॰ हि॰ ३४

इसी प्रकार—

साहस सयान ज्ञान ताकत तुम्हें सुजान,
तब ही सबनि तजी अब हौं कहा तजों ।
रावरेई राखै प्रान रहे, पै दहै निदान,
यों ही इन काज लाज विन हूँ खरी लजों ।

सु॰हि॰ ६३ ।

उपर्युक्त दोनों पद्यों में रीझ, ममता, चाह, मति, हेरनि, वाणी, साहस, सयान, ज्ञान, लज्जा आदि का साक्षात् वर्णन है । उन्हें लक्षणा द्वारा चमत्कारी तथा रसनीय बनाया गया है । इस तरह बुद्धि तथा हृदय दोनों की तृप्ति का पदार्थ आनंदघन के काव्य में निहित रहता है । भावप्रधान शैली का ऐसा सरस एवं चमत्कारपूर्ण रूप उपस्थित कर कवि ने हिंदी साहित्य में एक नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है और पुरानी बातों को ही नए ढंग से कहने वाले रीति मार्गी कवियों की रचना से अतृप्त बौद्धिक वृत्ति के रसिकों के रसास्वादन के लिये नया क्षेत्र निर्मित किया है ।

भावों की अतिरंजना

वेदना की विवृति, प्रेम की एकपक्षीयता, विरह की प्रधानता, भाव-प्रधान शैली का आश्रयण, आदि तत्व इनकी रचनाओं में फारसी प्रभाव से आए हैं । भाषा की लाक्षणिकता तथा भावों की अतिरंजना की प्रवृत्ति भी उसी स्रोत से आए हैं । उनमें भावों की अतिरंजना की मात्रा तो बहुत कम है । जितनी है, वह एक सीमा के अंतर्गत है । लाक्षणिकता के गुण को इन्होंने बहुत अपनाया है पर वह उर्दू-फारसी का अनुकरण नहीं है । अपनी भाषा के गुणों का ही उसमें उपयोग किया है । फारसी से केवल प्रेरणा

ली है। उसका विशद विवेचन भाषा के प्रसंग में किया जाएगा । भावों की अतिरंजना की परीक्षा की जाय।

फारसी साहित्य में विरह के कष्ट तथा वेदनाओं का चित्रण इतना अतिरंजित होता है कि विरह या तो करुण रस में परिवर्तित हो जाता है या फिर बीभत्स में। भारतीय मनीषियों ने शृंगार को उज्ज्वल और शुभ्र माना है अतः कोई अशोभनत्व इसमें नहीं आता। आनंदघन ने इस विषय में हिंदी की रसपरंपरा की रक्षा की है। विरहकष्टों का प्रचुरता से वर्णन करने पर भी उसे बीभत्स रूप नहीं दिया। रक्त मांसादि का प्रदर्शन न कर प्राणादि की तड़पन तथा भावों में हलचल दिखाते रहे हैं । फिर भी कुछ मात्रा में अतिरंजना विद्यमान है। 'प्राण कष्टों के कारण होठ, आँखों आदि में आ बसते हैं। वे पखेरू होकर रूप का चुगा लेकर विरह के फंदे में पड़ गए है। उन्हें विरहव्याध ने निपाँख कर दिया है। 'शरीर में विरह की दावाग्नि भड़कती है तो हृदय फट जाता है, साँस बाँस की तरह चटक जाते हैं। सुजान की पीठ, अनखौंहा स्वभाव, उसका न देखना आदि पर कवि अपने प्राण न्यौछावर करता है । सुजान अपने कंठ को सुराही में वचनों की शराब लेकर अधर के प्याले में भरती है और कानों के द्वारा प्रेमियों के प्राणों को पिला देती है पर उनकी चेतना को स्वयं पी लेती है।' इन भावों में फारसी प्रभावित चिंतन झलकता है। दो एक स्थानों पर यह प्रवृत्ति कुछ आगे बढ़ गई है। प्रेमी अपने पत्र में प्रिय को हृदय के घाव लिखता है। नेत्र-बाणों से बिंधे प्राण सिसकते हैं, उठ नहीं सकते। प्रीति के बोझ से दब कर कुबड़े हो गये हैं। चिंतन में तो सभी रीतिकाल के कवि थोड़ी बहुत मात्रा में फारसी साहित्य से प्रभावित थे। रसलीन, कुंदनशाह आदि तो उसका अनुकरण ही करने लगे थे। आनंदघन ने उसे पचाकर अपने साहित्य के अनुकूल रूप में भावों को रक्खा है, कहीं कहीं सीमा का उल्लंघन भी है।

४, रहस्यवाद

इनकी शैली में रहस्य भावना की भी झलक कहीं कहीं प्राप्त होती है । कहीं संपूर्ण पद्य में, कहीं उसकी एक पंक्ति या वाक्य में ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे प्रेम भाव के अतिरिक्त आध्यात्मिक भावों की भी व्यंजना होती है। प्रस्तुत के भाव या व्यापारों के वर्णन में परमेश्वर की व्यापकता, अंतर्यामिता, एकता

आदि गुणों के संकेत किए गए हैं। प्रिय आनंदघन के दर्शन के समय प्रेमी उनके तेज से हतप्रभ होकर उन्हें पूरा नहीं देख पाता। 'घन आए तो साथ ही बिजली की कौंध भी आई जिसने प्रिय को देखने ही नहीं दिया। बाद में बुद्धि को संदेह होने लगा कि वे आनंदघन सचमुच हैं भी या नहीं।

'चेटक रूप रसीले सुजान दई बहुतै दिन नैकु दिखाई।
कौंध में चौंध भरे चख हाय कहा कहौं हेरनि ऐसें हिराई।
बातें बिलाय गई रसना पै, हियो उमग्यौ, कहि एकौ न आई।
साँच कि संभ्रम हौ घनआनँद सोचनि ही मति जाति समाई।'

सु० हि० ३५३

यहाँ प्रस्तुत वर्ण्यभाव प्रियामिलन है पर वह घन के अप्रस्तुत व्यापारों द्वारा व्यक्त किया गया है। अंतिम पंक्ति में परमेश्वर की सत्ता के अस्ति-नास्ति के संदेहों की ओर भी संकेत किया गया जान पड़ता है। इसकी छाया में ऊपर की तीनों पंक्तियों का अर्थ परमेश्वर को प्रिय मान कर तत्परक किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रेमी प्रिय आनंदघन को लक्ष्य कर कहता है।

'उघरौ जग छाय रहे घनआनँद चातिक त्यों तकियै अबतौ।

यहाँ संसार के आँखों से हट जाने तथा आनंदघन के ही छा जाने से विरक्तों की उस स्थिति की व्यंजना प्रतीत होती है जब कि संसार की आसक्ति छुट जाने पर केवल परमेश्वर का ही ध्यान शेष रह जाता है। हृदयस्थ प्रिय को प्रेमी उपालंभ देता है कि तुम हो तो हृदय के निवासी पर हम तुममें प्रवासी का सा अंतर बना हुआ है। इसी तरह इसका यह भी उपालंभ है कि न जाने कब से प्रिय और प्रेमी साथ साथ रहते आए हैं पर आपस में एक दूसरे की 'चिन्हारि' नहीं हो सकी। ऐसी उक्तियों में कोरे भौतिक प्रेम का वर्णन नहीं किया गया प्रतीत होता, अध्यात्म सत्ता की ओर भी संकेत किया गया प्रतीत होता है। कुछ पद्यों में तो दार्शनिक भाव ही प्रस्तुत रूप से व्यक्त किए गए हैं। पर वे भी वर्णित हुए हैं आनंद के घन के व्यापारों द्वारा ही। जैसे—

'थिरता अथिर सोई थिर देखियत देखौ,
सब ही के जिय नैकौ मीच सों न है चिन्हारि।
होनि सो सही है अनहोनि हूँ वही है, ऐसी,
होनि-अनहोनि को न सोच कोउवै विचारि।

उघरनि छावनि सुजान घनआनँद मैं,
उघरि छए हैं पै पसारो आपनो पसारि।'
सु० हि० ४२९

यहाँ संसार की नश्वरता तथा अस्थिरता का वर्णन कर उसे आनंद के घन परमेश्वर का ही प्रसार बताया है जिसमें स्वयं परमेश्वर भी छिप गया है। 'तद् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्।' इस प्रकार की उक्तियों को समासोक्ति या अप्रस्तुत अलंकार कह कर आलंकारिक अभिव्यक्ति नहीं कही जा सकती। इनमें तो बादल और चातक, प्रेमी और प्रियतम, तथा ज्ञानी भक्त और भगवान् इन सभी का योग रहता है। अतः इसे रहस्य भावना ही मानना चाहिए।

इसकी मूल प्रेरणा का विचार किया जाय तो इनसे पूर्व चार परंपराएँ रहस्य भावना की प्राप्त होती हैं। ज्ञानमार्गी कबीर आदि की, सूफियों की, वैष्णवों की तथा फारसी साहित्य की। इनमें ज्ञानमार्गी निर्गुण संतों की रहस्य भावनाओं में अध्यात्म भावों की प्रमुखता रहती है। वे काव्य में प्रस्तुत होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के लिये विविध प्रकार के अप्रस्तुतों का उपयोग किया जाता है। इसे अप्रस्तुत प्रशंसापद्धति का रहस्यवाद कहना चाहिए। आनंदघन ने सब कुछ घन के व्यपारों द्वारा ही कहा है। वह घन भी घनश्याम है, वही प्रस्तुत है। अतः कबीर आदि ज्ञानमार्गी संतों की रहस्य-शैली से इनकी शैली भिन्न है। उन्होंने तो प्रस्तुत आनंदघन श्रीकृष्ण प्रिय का ही वर्णन प्रमुखतया किया है। अरूप, व्यापक, परमेश्वर की प्रतीति तो यत्र तत्र हल्की सुगंध सी भासित हो जाती है। इस रूप में वे सूफियों की परंपरा से मिलते हैं पर सूफियों का अध्यात्म साम्प्रदायिक होता है और उसकी व्यजना समस्त कथा द्वारा की जाती है। आनंदघन का अध्यात्म सर्वसाधारण दार्शनिक भावना है—जैसे परमेश्वर की व्यापकता, एकता, अंतर्यामिता आदि। इस तरह दार्शनिक सिद्धांतों की दृष्टि से आनंदघन सूफियों से भिन्न हैं। दूसरे इनकी अध्यात्म भावना कथा द्वारा व्यंग्य नहीं है। परमेश्वर का क्षणिक तथा अर्ध-आभास होना, उनका गुप्त-प्रकट बने रहना, प्रकृति में छिपे रहना आदि परमेश्वर विषयक धारणाएँ सूफियों के प्रभाव से बनी तो प्रतीत होती हैं पर ये भारतीय दर्शनों में भी विद्यमान हैं। निंबार्क संप्रदाय में भी परमेश्वर के साथ भेदाभेद संबंध माना जाता है। अतः इतना ही कहा जा सकता है कि चिंतन पक्ष में इनपर सूफियों का प्रभाव हो सकता है, अभिव्यक्ति पक्ष में

नहीं। आनंदघन स्वयं सखी संप्रदाय के उपासक थे। जिसमें गुह्य, रहस्य की भावना नियतरूप से वर्तमान रहती है। दूसरी ओर फारसी साहित्य का 'मिस्टीसिज्म' भौतिक प्रेम में अध्यात्म प्रेम की भावना का ही नाम है। यह सिद्धांत सौंदर्य धर्म का है जिसके अनुसार स्वर्गीय पूर्णता जगत के अपूर्ण सौंदर्य के आधीन समझी जाती है।

आनंदघन द्वारा फारसी साहित्य से अनेक प्रेरणाएँ स्पष्टतया ली गई प्रतीत होती हैं तो रहस्यभावना में भी उसका प्रभाव अवश्य होना चाहिए। इनके प्रेम की अनुभूति का स्वरूप भी फारसी की तरह लौकिक ही है। राधा और कृष्ण तो तत्कालीन काव्यपरंपरा के कारण काव्य में गृहीत हुए हैं। अतः सखी संप्रदाय, फारसी साहित्य तथा सूफी कवि, इन तीन को रहस्यभावना से कवि ने प्रेरणा ली प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त इनकी व्यक्तिगत भावना भी इसमें हेतु है। उन्होंने अपने समस्त काव्य की आधार वस्तु 'आनंद के घन' को बनाया है। प्रेम, भक्ति, ज्ञान आदि के सब भाव घन के द्वारा ही व्यक्त करने को एक शैली कवि ने बना ली है। इसीलिये आनंदघन के व्यापार प्रतीकवत व्यवहृत हैं। उपमानों का प्रतीकवत आश्रयण रहस्य-भावना का तत्व हैं। कवि अपने नामार्थ को समस्त काव्य में व्याप्त करना चाहता है। यह बात घन के व्यापारों को प्रतीक बना कर ही किया जा सकता था। वही इन्होंने किया है। परमात्मा के सदा ध्यान में बने रहने को, 'घन का छा जाना' तथा संसार की दृष्टि से हट जाने को 'उघडना' कवि ने कहा है। इस तरह आनंदघन के प्रस्तुत वस्तु के व्यापारों को हां जहाँ जहाँ प्रतीकवत् वर्णित किया है वहीं वहीं रहस्यभावना का अंश आ गया है। प्रतीक पद्धति के आश्रयण के कारण ही इनकी रहस्य शैली भारतीय रहस्य शैलियों के निकट कम है फारसी रहस्यवाद के निकट अधिक है। फारसी काव्य में प्रणय व्यापार प्रतीक बन कर ही दार्शनिक, सामाजिक आदि भाव समर्पित करते हैं। महाकवि हाफ़िज़ कहते हैं—चाहे जितना ही पवित्र मनुष्य क्यों न हो लेकिन तब तक वह स्वर्ग में नहीं जा सकता जब तक मेरे समान अपने वस्त्रों को शराबखाने में रहन नहीं कर देता। यहाँ शराब आत्मविस्मृति प्रेम का प्रतीक ही कहा जायगा।

१—अयोध्या प्रसाद गोयलीय, शेर ओ शायरी, पृ० ६४ पर उद्धृत।

इन्होंने अपने दार्शनिक विचार भी ऐसे व्यक्त किए हैं कि परमेश्वर विषयक मान्यता में रहस्यभावना का अंश प्रतीत होता है। परमेश्वर में 'उघरनि' और 'छावनि' अर्थात् प्रकट होना तथा गुप्त रहना दोनों गुण वर्तमान हैं। कवि प्रिय परमेश्वर को उपालंभ देता हुआ कहता है कि—

'आप रसीले हो। मेरे कहे का बुरा न मानना। मेरा मन तो तुम्हारे गुण गा गा कर उनमें और उलझ गया है। अभिलाष यही है कि जिस प्रकार कानों से सुना है उस प्रकार आँखों से देखें भी। पर तुम दिखाई नहीं देते हो। वैसे सर्वत्र छाए हुए हो। हे घनआनंद, तुम ऐसे आश्चर्यपूर्ण हो कि तुम्हें पाकर भी हम खोए खोए से रहते हैं। हम तुम एक वास में रहे हैं पर कभी आपस में परिचय नहीं हो सका।'

'भले हो रसीले अरसीले सुनि हूजियै न,
गुननि तिहारे उरभयौ है मन गाय गाय।
काननि सुनी हैं तैसें आँखिन ह्र देखैं जातें,
दीखत नहीं औ सब ठाँव रहे छाय छाय।
ऐसें घनआनँद अचंभे सों भरे हौ भारी,
खोए से रहत जित तित तुम्हें पाय पाय।
एक वास बसैं सदा बालम बिसासी, पै न,
भई क्यों चिन्हारि कहूँ हमैं तुम्हैं हाय हाय।'

सु० हि० ४९८

इसी प्रकार पदावली के पद में कवि ने कहा है—हे प्रभु मन मोहन, तुम्हारे अगणित गुण जितने हैं उनका वर्णन नहीं हो सकता। वे कुछ उघड़े हैं कुछ ढके हुए। कुछ पता नहीं चलता कि तुम निकट हो या दूर हो।

'इते ढके अरु उघरे वेते।
कैसे कै कहि सकौ रावरे मनमोहन अगनित गुन जेते
निकट दूरि लहि परत नहीं कछु आनँदघन रसमगन सचेते।
हाइ हाइ बिसवासी बालम कबहूँ तौ आँखिन सुख देते।'

पदा० ७८

इनकी रहस्यभावना की यह विशेषता है कि उसका प्रभाव प्रकृति वर्णन पर विशेष नहीं पड़ता। प्रेम व्यापार का स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है। काव्य की सरसता दर्शन की रूक्षता से विकृत नहीं होती।

५ उक्ति की वक्रता—

वक्रता इनकी शैली की प्रमुख विशेषता है। वक्रता का अर्थ है टेढ़ी या असाधारण उक्ति। भारतीय अलंकार शास्त्र में इसे वक्रोक्ति कहा गया है। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति को अलंकार मार्ग, रीतिमार्ग आदि की तरह काव्य का एक पृथक मार्ग ही प्रतिपादित किया है। उसका स्वरूप यह है—

काव्य का प्राण रस है। कवि का वही लक्ष्य है। कवि को अपनी रचना द्वारा श्रोताओं तथा सामाजिकों में काव्यरस का उद्रेक करना चाहिए। काव्यरस अलौकिक एवं असाधारण वस्तु है। अतः कवि का प्रयत्न असाधारण होगा तभी उसकी सिद्धि हो सकेगी। अर्थात् शब्द और अर्थ का निबंधन परस्परोत्कर्ष का हेतु होना चाहिए। कवि के प्रयत्न का ही अर्थ है अभिव्यक्ति। फलतः सरांश यही हुआ कि काव्य को प्रभावशील बनाने के लिये कविप्रतिभा को असाधारण अभिव्यक्ति करनी चाहिए। आचार्य कुंतक ने इसी असाधारण अभिव्यक्ति को वक्रोक्ति कहा है। उन्होंने स्वभावोक्ति से इसका भेद बता कर इसके छ भेद बताए हैं। पदवक्रोक्ति, पदपरार्धवक्रोक्ति, पदपूर्वार्धवक्रोक्ति, वाक्यवक्रोक्ति, प्रकरणवक्रोक्ति, और प्रबंधवक्रोक्ति। वक्रोक्ति की सब से छोटी इकाई पदार्थ भाग और सबसे बड़ी इकाई प्रबंध हैं। ये सभी अभिव्यक्ति के स्वरूप हैं। वाक्य पर्यंत शब्द के भेद हैं शेष दो अर्थ के हैं। इससे वक्रोक्ति शब्दगत तथा अर्थगत दो प्रकार की हो जाती है। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति के प्रसंग से ही रस का विवेचन भी किया है। इससे वक्रोक्ति की रसानुकूलता सिद्ध होती है। कुंतक अलंकार मार्गी थे। उनकी वक्रोक्ति अलंकार का सामान्यवाचक शब्द है। अलंकार भी रसानुकूल ही काव्य में ग्राह्य होता है। वक्रोक्ति भी रसोपकारक होनी चाहिए। शास्त्रीय एवं व्यावहारिक विचारों तथा भावों की अभिव्यक्ति के लिये मनुष्य जिस प्रसिद्ध, सरल मार्ग का आश्रयण करता है उसका त्याग कर काव्यगतरस को बढाने के लिये जो विलक्षण पदपदार्थयोजना, वस्तुयोजना करता है वह वक्रोक्ति है। अंग्रेजी में जो आक्षेप सूचक वाक्य (Ironical Speech) या वक्र कथन (Crooked Saying) है वह इससे भिन्न है। बाद में जो वक्रोक्ति नाम का एक शब्दालंकार माना जाने लगा था यह उससे भी भिन्न है। इसका एक ओर रस से संबंध है दूसरी ओर असाधारणता से या चमत्कार से। कुंतक का विश्वास है

कि साधारण भणिति से किसी प्रकार के रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती जिससे यह संभव है वह वक्रोक्ति है।

अलंकारों की तरह यह भी भावसहजात और भावान्तरजात दोनों प्रकार होती है। कवि के हृदय में भाव साधारण रूप से उत्पन्न हों और बौद्धिक प्रयास से बाद में वह असाधारण शब्दप्रयोग या वाक्यरचना द्वारा उनके साथ चमत्कार का योग कर दे तो वह भावान्तरजात वक्रोक्ति होगी !

मान तजो गहि सुमति वर पुनि पुनि होत न देह।
मानत जोगी जोग को हम नहिं करत सनेह।

यहाँ पहले वाक्य 'मान तजो गहि' का 'मानत जो गहि' अर्थ बौद्धिक प्रयास से किया गया है। कवि के हृदय में किसी असाधारण भाव की उत्पत्ति नहीं हुई। यह भावान्तरजात निकृष्ट प्रकार की वक्रोक्ति है। आनंदघन की विरोधचमत्कार को उत्पन्न करने वाली उक्तियाँ इसी कोटि में आएँगी। जैसे—

'जान घनआनंद पै खोइबो लहालहौं'
× × × ×
'जतन बुझै हैं सब जाकी झर आगैं अब
कबहू न दबै भरी भभक उमाह की।'
× × × ×
'ढीली दसाही सों मेरी मति लीनी कसि है।'
× × × +
'अनखि चढ़ै अनौखी चितचढ़ि उतरैं
मन मग मूंदै जाको बेह सब ओर तें।'

आदि वक्र उक्तियाँ भाव जनित नहीं हैं, वे केवल चमत्कार की जननी हैं, ऐसी वक्रतायें भावांतर जात हैं।

पर इसके अतिरिक्त आनंदघन ने जो भावव्यंजक लक्षणाएँ की हैं वे भावसहजात वक्रोक्तियाँ कही जाएँगी। उनका जन्म भावाकुल हृदय से हुआ है। जब किसी आसाधारण प्रकार के भाव की अनुभूति हृदय में होती है तो वह अपने अनुकूल ही भाषानिर्माण स्वयं कर लेती है। संसार के वाङ्मय का संबंध प्रचलित भाव या विचारों से होता है। उन्हीं को वह व्यक्त कर सकता है। पर कवि की यह अनुभूति सर्वथा नवीन होती है। उनकी अभिव्यक्ति के लिये तो नवीन ही शब्द या वाक्य चाहिए। श्रेष्ठ

कवियों की रचनाओं में जो नए शब्द मिलते हैं उसका कारण यही है। तुलसीदास जी का 'घूम धूसर' आनंदघन के 'भूनागति' 'घूम की घूमरि 'मलीले मई' 'चितार' 'दिखास' आदि शब्द भाव की ऊष्मा से ही सृष्ट हुए हैं। इसी प्रकार पूर्वसिद्ध शब्दों का विलक्षण योग कर विलक्षण वाक्य बना दिए जाते हैं। एक वस्तु के धर्म का योग वस्त्वंतर से कर दिया जाता है। जैसे—

१—लड़कानि की आन परै छलकै।

२—लाजन लपेटी चितवन।

३—रसनि चुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।

४—अँग अंग तरंग उठै दुति की परि है मनोरूप अबै धर च्वै।

इन्हें लक्षक या लक्षणायुक्त वाक्य कहा जाएगा। वास्तव में यह भी वक्रोक्ति है। आचार्य कुंतक का वक्रोक्ति से ऐसा ही तात्पर्य था। पहले वाक्य से इनमें इतना अंतर है कि ये भाव सहजात हैं। इसलिये इनसे भाव की व्यंजना होती है। पहले वाक्य कवि की चमत्कारप्रवण बुद्धि ने रचे थे उनसे चमत्कार का ही जन्म होता था।

वक्रोक्ति मार्ग के अनुयायी आचार्यों का तो यह भी मत है कि चमत्कार का रस के साथ अविनाभाव संबंध है। रस बिना चमत्कार के सिद्ध ही नहीं हो सकता। चमत्कार का काव्य में कोई हेय या नगण्य स्थान नहीं है। चित्त की तीन भूमिकाएँ होती हैं—द्रुति, दीप्ति, और विस्फार। श्रृंगार, करुण और शांतरस में द्रुति का जन्म होता है। वह श्रृंगार से अधिक करुण में और उससे भी अधिक शांतरस में उत्पन्न होती है। वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस में दीप्ति का जन्म होता है। वह हृदय की ज्वलनशीलता की स्थिति है। वह भी वीर से अधिक वीभत्स में और उससे भी अधिक रौद्र में होती है। हास्य, अद्भुत और भयानक में उत्तरोत्तर क्रम से चित्त विकसित या विस्फारित होना है। विस्फार दशा को ही विस्मय आश्चर्य या चमत्कार आदि शब्दों से कहा जाता है। आचार्यों का मंतव्य है कि चित्तविस्फार विशेषरूप से हास्य अद्भुत आदि रसों में उत्पन्न होता है। पर सामान्यरूप से सब रसों में उसकी विद्यमानता है। अलौकिक रस बिना किसी न किसी प्रकार की लोकोत्तरता के निष्पन्न नहीं हो सकता। यह लोकोत्तरता ही चित्तविस्फार की जननी है और वक्रोक्ति लोकोत्तरता का शब्दार्थमय शरीर है। वक्रोक्ति संप्रदाय के मूल में

चमत्कार की सर्वरसव्यापिनी सत्ता की अनुभूति ही रहती है। रसानुभूति में अन्य आचार्यों ने भी चमत्कार के योग को स्वीकार किया है। आनंदवर्धनाचार्य ने रसास्वाद को 'चेतश्चमत्कृति विधायी' माना है। अभिनवगुप्त ने भी उन्हीं के अनुगमन से इसको 'चमत्कारात्मा' कहा है। पंडितराज जगन्नाथ ने चमत्कार को 'आह्लादात्मा' बताया है जो इसका ही संकेतक प्रतीत होता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने चित्तविस्तार या विस्फार को सत्वगुण का पर्याय माना है। चित्त में सत्व के उद्वेग से जो परिमित प्रमातृ भाव आता है वह विस्तार ही है, यह विश्वनाथ का तात्पर्य है। इन सबसे यही स्पष्ट होता है कि प्रत्येक रसानुभूति में चमत्कार का प्रयोग नियतरूप से रहता है। इसलिये कुंतक ने रसपूर्ण वाणी को कथामात्र पर आश्रित वाणी से भिन्न बताया है। इस तरह वक्रोक्तिमार्गियों की वक्रोक्ति रस पर्यंत जाती है। उन्होंने प्रबंधवक्रता प्रकरणवक्रता आदि में विविध प्रकारों से रसजन्य चमत्कार का अंतर्भाव दिखाया है। फलतः आचार्य कुंतक की वक्रोक्ति अभिव्यक्ति की असाधारणता का समानांतर एक व्यापक तत्व है जो कवि के लोक विलक्षण शब्दों से लेकर उसकी लोक विलक्षण अनुभूति तक फैला हुआ है। बाद में रसमार्ग के स्थापित होने के अनंतर इसका महत्व क्षीण हो गया। रसमार्ग में अनुभूति की मार्मिकता और सहजता पर अधिक बल दिया गया। इसके फलस्वरूप वक्रोक्ति एक साधारण अलंकारमात्र माना गया।

आनंदघन की वक्रता का स्वरूप भी शब्दों की बाह्य वक्रता मात्र नहीं है। उसके दोनों रूप मिलते हैं। कुछ तो केवल बाह्य चमत्कार की सृष्टि करती हैं और कुछ अनुभूति की असाधारणता का द्योतन करती हैं। दूसरी श्रेणी की वक्रताएँ नवीन प्रयोजनवती तथा रुढिमूला लक्षणाओं में व्यक्त हुई हैं। विरोध तथा निरोधमूलक असंगति आदि अलंकारों के चमत्कार वाली पहली है। इनकी कुछ उक्तियाँ हिंदी के अलंकारों की सीमा में समा जाती हैं। पर कुछ ऐसी हैं जो केवल लक्षणा कही जा सकती हैं। किसी अलंकार विशेष के लक्षण से वे व्याप्त नहीं होती हैं। है सब वक्रताएँ ही। आचार्य कुंतक का भी कुछ ऐसा ही अभिप्राय था। वे अलंकार मार्ग को सीमित समझते

१— [illegible]।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः

वक्रोक्ति जीवित प्र० २-२५

थे। वे अलंकारमार्ग की मूल भावना उक्ति की असाधारणता की उपादेयता तो अनुभव करते थे पर उसे गिने गिनाए अलंकारों में बांधना अनुचित समझते थे। इसलिये उन्होंने वक्रोक्ति को प्रकरण तथा प्रबंध तक व्याप्त बनाया और वक्रता को मुख्य माना जो कवि की प्रतिभा के समान अज्ञेयरूप है। आनंद घन कुंतक के सिद्धांत से परिचित थे,—यह तो नहीं कहा जा सकता। ऐसी कोई सभावना नहीं है। पर इनके चिंतन में दो परंपराओं का मेल हुआ है। फारसी तथा हिंदी-संस्कृत की परंपराओं का। फारसी साहित्य में उक्ति की वक्रता का अत्यंत प्राधान्य रहता है। उनमें अधिक संख्या तो बाह्य चमत्कार-जनक वक्रताओं की ही होती है। कुछ आंतरिक अनुभूतियों से भो संबद्ध रहती है।

ए आँसुओ न आवे कुछ दिल की बात लब पर
लड़के हो तुम कहीं मत अफ़शाए राज़ करना।

(अशफाए राज़ = रहस्य का उद्घाटन)

यहाँ कवि कोरा चमत्कारवादी ही प्रतीत होता है अन्यथा करुणा रस में आंसुओं को लड़के कहकर भाव को हल्का न करता। आनंदघन ने प्रेरणा तो फारसी साहित्य से ही ली थी। क्योंकि प्रयोग में उनके समय में दूसरी कोई पद्धति ऐसी न थी जिसमे उक्ति वक्रता का आदर हो। कुंतक का मार्ग तो रस मार्ग के प्रभाव से दब गया था दूसरी ओर लक्षणा के प्रयोग को अलंकारमार्ग ने सीमित कर दिया था। वैयाकरणों ने लक्षणा को जघन्य वृत्ति कह कर उसके मुक्त प्रसार को अवरुद्ध कर दिया था। अतः कवियों की वाणी में लाक्षणिक प्रयोग नहीं के बराबर होते थे। अभिधामार्ग ही समाश्रित था। विहारी, देव, पद्माकर जैसे गंभीर चिंतनशील कवियों की वाणी का प्रसार भी अभिधामार्ग से ही हुआ है। देव ने अभिधामार्ग को सर्वश्रेष्ठ माना है। लक्षणा प्रचलित अलंकारों तक ही सीमित है। रीतिकारों ने तो इसका विवेचन भी छोड़ दिया था। दास, देव जैसे कुछ ही आचार्य कवियों ने इसको विवेचन में लिया है। उन लोगों ने भी पुराने उदाहरणों पर ही पूर्व प्रचलित विमर्श किया है। न नया विचार किया न नए उदाहरण ही दिए। क्योंकि लक्षणा का व्यवहार काव्य के क्षेत्र में रुक गया था। अतः आनंदघन के लिये हिंदी साहित्य में वक्रता की प्रेरणा का कोई अवकाश नहीं था। फारसी इस तत्व से भरी पड़ी थी। इसलिए इन्होंने वहीं से प्रेरणा

प्राप्त की। पर और क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी उन्होंने इसको भारतीय स्वरूप प्रदान किया। लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि जो हिंदी में प्रचलित थे उनके द्वारा वक्रोक्तियाँ कहीं हैं। कुछ प्रचलित अलंकारों के द्वारा व्यक्त कीं और कुछ स्वतंत्ररूप से स्वकल्पित लक्षणाओं के रूप में उपस्थित की। जैसे—

अलंकार रूप—

'बदरा बरसै रितु मैं घिरिकै नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं।'

'नीर भीज्यौ जीव तऊ गुडी लौं उड्यौ चहै।'

'सोचनि ही पचियै घनआनंद हेत लग्यौ किधौं प्रेत लग्यौ है।'

'घनआनँद जान अजौ नहि जानत कैसे अनैसे हैं हाय दई।'

यहां क्रमशः व्यतिरेक, विरोध, संदेह, तथा विरोध अलंकार कहे जा सकते हैं।

मुहावरों के रूप में

'उघरौ जग छाय रहे घन आनँद चातिक त्यौं तकियै अब तौ।'

'जीव सूख्यौ जाय ज्यौ ज्यौं भीजत सरवरी।'

'अकुलानि के पानि पर्यौ दिन राति सु ज्यौ छिन कौ न कहूँ बहरै।'

'उत इतर पाँय लगी मँहदी सु कहा लगि धीरज हाथ लगै।'

इनमें कुछ न कुछ अलंकार है ही पर प्राधान्य मुहावरों के प्रयोग का है। मुहावरे हिंदी के ही हैं। अतः फारसी की प्रेरणा से प्राप्त वक्रता का यह भारतीयकरण है।

तीसरी वक्रताएँ ऐसी हैं जो कवि की अनुभूति से ही जन्मी हैं। इनमें प्रायः प्रयोजनवती लक्षणाओं का प्रयोग हुआ है। इनमें मार्मिक अनुभूति की व्यंजना होती है। इन्हें देखकर पाठक यही कहेगा कि यदि यहाँ वक्रोक्ति न होती तो भाव स्फुट न हो पाता। वे भाव की समानकार सी लगती हैं।

जैसे—

'लाजनि लपेटी चितवनि'

'अँग अंग तरंग उठै दुति की परि है मनौरूप अबै धर च्वै।'

'जगमगति छबीली बाल।'

'मोहन-सोहन-जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति।'

'जीव की जीवनि जान ही जानै।'

'रोकी रहै न दहै घनआनंद बावरी रीझ के हाथनि हारियै ।'
'जो दुख देखति हौं घनआनँद रैनि दिना बिन जान सुतंतर ।'
'जानें बेई दिन रात बखानैं ते जाय परै दिन राति कौ अंतर ।'

इत्यादि

इनमें से दो एक को ठोक पीटकर अलंकारों के साँचे में फिट भी किया जा सकता है पर वह ऐसा ही होगा जैसे आनंदघन की रसभीजी उक्तियों को नायिका भेद के घेरे में घेरना ।

वास्तव में इनकी इस प्रकार की उक्तियाँ स्वतंत्र हैं । कवि की अनुभूति ने अपने आप अपनी अभिव्यक्ति कवि को समर्पित की है । इनमें से किसी एक वाक्य पर विचार किया जाए तो वह भावसहजात और सप्रयोजन लक्षणा-युक्त मिलेगा । लज्जायुक्त न कह कर 'लाजनि लपेटी' कहने में तथा लज्जा को बहुवचन से व्यक्त करने में कवि ने एक विशेष प्रकार की व्यंजना की है जो लज्जायुक्त या लजीली आदि किसी शब्द से व्यक्त न हो सकती थी । इसी प्रकार 'अंग अंग तरंग उठे दुति की' में दुति की तरंगें उठा कर उसे तरल बताना सौंदर्य को शरीर में लबालब भरा हुआ बताना, तथा सुंदरी के हाव भाव का मूर्त चित्रण करना आदि न जाने कितने प्रयोजन सिद्ध किए हैं ।

अनुभूति के साथ चमत्कार का यह योग आनंदघन की शैली की सर्वोपरि विशेषता है । फारसी में कोरा चमत्कार था । हिंदी में जहाँ अनुभूति थी वहाँ चमत्कार न था, चमत्कार था तो अनुभूति नहीं थी । आनंदघन ने दोनों का योग किया है । उसका कारण इनकी कोमल और गंभीर अनुभूति थी । इनकी रचनाओं में ऐसे पद्यों की ही संख्या अधिक है जिनमें अनुभूति-मूलक वक्रताएँ विद्यमान हैं । नीचे लिखा सवैया भी ऐसा ही है ।

जीव की बात जनाइयौ क्यों करि जान कहाय अजाननि आगौ ।
तीरनि मारिकै पीर न पावत एक सौ मानत रोइबो रागौ ।
ऐसी बनी घनआनंद आनि जु आन न सूझत सो किन त्यागौ ।
प्रान मरैंगे भरैंगे विथा पै अमोही सों काहू को मोह न लागौ ।

यहाँ "जान कहाय अजाननि आगौ" 'अमोही सों काहू को मोह न लागौ" में विरोध, 'तीर, पीर' 'आने,' 'आनि' तथा मरैंगे, भरैंगे' के अनुप्रास चमत्कार विच्छित्ति के जनक हैं। प्रेमी न कहकर जीव कहने

तथा प्राणी न कह कर प्राण कहने को लक्षणा में जो अनुभूति की उत्कटता व्यक्त की है उसका चमत्कार से संबंध नहीं भावों से है।

इन्हें इस विषय की प्रेरणा फारसी से ही मिली थी इसलिये इसका प्रभाव भी कहीं कहीं विद्यमान है। भाव तक मिल गए हैं। कहने के ढंग तो समानरूप हैं ही।

जैसे —

'आली घनआनँद सुजान सों बिछुरि परें
अरी न मिलत महा विपरीति छाई है।' आनंदघन
'होश ही मुझको न था जब पहलुओं में लूट थी।
मुझको क्या मालूम क्या जाता रहा क्या रह गया।' साकिब
'तेरो अंग संग लहे लाडौ लड़कात है।'
'अलबेली सुजान के कौतुक पै अति रीझि इकौसो है लाज लजै।' आनंदघन
'दिल में तुम आँखों में तुम छिपते फिरे किस वास्ते।
तुमको शर्म आती नहीं आशिक से शर्माते हुए।' आजाद

इनमें वक्रोक्ति का प्रकार एक सा ही है। केवल शब्दों का अंतर विद्यमान है। उर्दू फारसी में जो वस्तुवक्रता है वह उन्होंने कहीं नहीं अपनाई। वह उनके गंभीर अनुभूति के अनुकूल नहीं पड़ती थी। इन्होंने भावों का तथा हृदय की अंतर्दशाओं का सीधा वर्णन किया है। आँसुओं को लड़का बताकर रोने के वर्णन का पद्य पहले उद्धृत किया जा चुका है उसकी तुलना में इनके नेत्रों की अंतर्दशा यह है।

'जिनकों नित नीके निहारति हीं तिनकों अखियाँ अब रोवति हैं।
पल पाँवड़े पायनि चायनि सों अँसुवान की धारनि धोवति हैं।
घनआनंद जान सजीवनि कों सपने बिन पाएई सोवति हैं।
न खुली मुदी जानि परै कछु ये दुखहाई जगे पर सोवति हैं।'

अंतर स्पष्ट है। पहले में चमत्कार की वस्तुवक्रता है और दूसरे में भाव-व्यंजक मनोदशा का वर्णन।

अचेतन में चेतनत्वारोप

फारसी के प्रभाव के कारण ही शरीर के अवयव नाक, कान, आँख, प्राण पलक आदि में मानवीय व्यपारों की योजना भी प्रचुरता से इन्होंने की है।

प्राण मन आदि को संबोधन कर बातें कहने की प्रथा तो हिंदी साहित्य में भी है पर उनमें मानवीय व्यापार अधिक नहीं दिखाए जाते। इन्होंने इसको अनेक बार आवृत्ति के साथ प्रदर्शित किया है। आँखें बाट जोहती है, कान प्रिय के वचनामृत के लिये लालयित हैं, नाक चढ़ी चढ़ी डोलती है, प्राण प्रियदर्शन के लिये कभी आँखों में कभी कानों मे आते है कि प्रिय के दर्शन प्राप्त कर सकें; उनके वचन सुन सकें। जो व्यापार प्रेमी के दिखाने चाहिएँ वे उसके अवयवों में दिखाए जाते है। नेत्र तड़पते है, प्राण दुःख धूम की धूँधार में घुटते हैं आदि। यह लक्षणा का ही परिणाम विशेषणाव्यप्रत्यय है। पर काव्य में पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुआ है। वह शैली का एक प्रमुख गुण सा लगता है।

७. नाम का प्रयोग

कवि ने अपने नाम का प्रयोग भी एक विशेष प्रकार के सौंदर्य के साथ किया है। अपनी प्रेयसी सुजान तथा अपना नाम कवित्त सवैये में प्रायः सर्वत्र प्रयुक्त किया है। पर रीतिकाल के कवियों की तरह 'भूषन भनत' या 'कहै पद्माकर' आदि की शैली का आश्रयण नहीं किया। दोनों शब्दों के वाच्यार्थ 'आनंद के बादल' तथा 'चतुर' के अर्थ में श्रीकृष्ण और राधा का वाचक दोनों शब्दों को बनाया है। जैसी उस समय की शैली थी प्रेम शृंगार का वर्णन उन्हीं के व्याज से किया है। कुछ स्थलों पर यथार्थतः राधा और कृष्ण का ही वर्णन है। इन दो शब्दों में भी प्रधान आनंदघन शब्द है। समस्त रसात्मक तथा भक्तिभावपूर्ण रचनाओं का वही आधार है। प्रिय को आनंद की वृष्टि करनेवाला बादल माना है और हर्ष, शोक, पीड़ा, व्यथा, उपालभ तथा विरह की विविध अंतर्दशाओं का मार्मिक चित्रण करते हुए भी घन ही भावो का आलंबन बना है। प्रिय चातक है वही अपना विरह निवेदन करता हुआ सर्वत्र मिलता है। ज्ञान वैराग्य तथा भक्ति के भाव भी इसी आधार पर कहे गए हैं। उस स्थिति में 'आनंदघन' (बादल) एक प्रकार का प्रतीक बन गया है। साथ ही कवि की दार्शनिक मान्यता का भी आभास मिलता है। ये प्रिय परमेश्वर को आनंददाता मानते हैं। इससे ब्रह्म का सच्चिदानंद स्वरूप जो कृष्णावतार में उनकी विविध लीलाओं तथा रास विहारो में साकार हुआ था, इनको मान्य है। घन के रूप को कवि ने और भी अधिक बढ़ाया है। अधिक संख्या मे ऐसे उपमानों का प्रयोग

किया है जिनका बादल से संबंध है। भक्त या कवि के हृदय में विविध अभिलाषाओं के उदय को 'चहुँ का बरसना' प्रेमासक्ति को 'भीजनि', प्रिय परमेश्वर की व्यापकता को 'बादरों का घिरना' या 'छा जाना', उसके हट जाने को 'उघड़ना', प्रिय के अभाव में मिलनेवाले कष्टों को 'धूम धुमरि में दम घुटना', धूम या अग्नि से संताप पाना, प्रिय की कृपा या दर्शन का 'संताप मिटानेवाली वृष्टि' आदि कहा है। तात्पर्य यही है कि इनकी रचनाओं का बहुत सा भाग बादल के उपमान पर रचा गया सांग रूपक कहा जा सकता है। समस्त भावों को घनव्यापारों पर केंद्रित करने के लोभ से पुनरावृत्ति दोष भी यत्र तत्र आ गया है। सुजान तथा आनंदघन दोनों गुणवाचक विशेषण मान लिए गए हैं। फलतः विशेषण-विशेष्य-भाव भी दोनों का होता रहता है। कभी सुजान का विशेषण आनंदघन कभी आनंदघन का विशेषण सुजान बना है। ऐसे स्थल कुछ ही मिलेंगे जहाँ आनंदघन या घनआनंद कवि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हो, प्रसंगार्थ में अन्वित न हो। अपने तथा अपनों के नाम का सौंदर्य के साथ काव्य में प्रयोग आनंदघन की एक विशेषता मानी जायेगी।

८—आत्मनिवेदन

हिंदी संस्कृत के प्रेम व्याख्याता कवियों की शैली में आत्मनिवेदन की परंपरा का अभाव रहा है। प्रेमी या प्रिय के मनोगत भावों को, उनकी मनोदशाओं को ये लोग किसी न किसी माध्यम द्वारा व्यक्त करते थे। वह माध्यम सखी दूती आदि होता है। जिन कवियों के जीवन में ही प्रेम की घटनाएँ घटी हैं उन्होंने आत्मनिवेदन द्वारा भाव व्यक्त किए हैं जैसे बिल्हण ने अपनी 'चौर पंचाशिका' में उत्तमपुरुष द्वारा ही सब भाव निवेदन किया है। भर्तृहरि ने भी कुछ पद्य उत्तमपुरुष द्वारा व्यक्त किए हैं। राज-महलों में जाने से ग्लानि का भाव प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि 'हम न नट है न विट है; नाहीं विदूषक हैं। न हम सभा में व्यर्थ की बहस करने-वाले पंडित हैं। स्तनों के भार से झुकी युवती भी हम नहीं हैं फिर राज-महलों से हमारा क्या प्रयोजन'। शृंगार के भी उन्होंने अनेकों पद उत्तम पुरुष द्वारा कहे हैं। उनका प्रसिद्ध श्लोक जिसमें उनके वैराग्य का कारण कहा गया है उत्तम पुरुष में ही लिखा गया है। उसका भाव है कि "मैं जिस-की निरंतर चिंता करता हूँ वह मुझसे विरक्त है। वह भी जिससे प्रेम करती है वह दूसरी किसी सुंदरी में आसक्त है। हमारे लिये तो कोई और ही

परितोष प्रदान करती हैं। उसे, मुझे, उस पुरुष को तथा इस मदन को धिक्कार है।" संस्कृत के उपर्युक्त दोनों कवियों (विल्हण और भर्तृहरि) ने अपनी जीवनकथा उत्तम पुरुष प्रधान पद्यों में कही है। उन्होंने इसे आत्मानुभूति के रूप में व्यक्त किया प्रतीत होता है काव्य शैली के रूप में नहीं। निरुक्त शास्त्र के आचार्य यास्क ने वैदिक ऋचाओं में आत्म-निवेदन की एक शैली बताई है जिसमें वेद का थोड़ा सा भाग लिखा गया है। उन्होंने आकार की दृष्टि से ऋचाओं के तीन भेद किए हैं—प्रत्यक्षाकृत, परोक्षाकृत तथा आध्यात्मिक। आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तम पुरुष की क्रिया तथा उत्तम पुरुष का ही कर्ता आता है।[१] उन्होंने इसके लिये ऋग्वेद के समूचे तीन सूक्तों का उदाहरण दिया है। उस समय यह रचना की शैली प्रतीत होती है।

संस्कृत प्राकृत के काव्यों में इसे शैली के रूप में अपनाने के उदाहरण नहीं मिलते। फारसी साहित्य में यह एक शैली के रूप में ही व्यवहृत होता है। कवि अपने को प्रिय अथवा प्रेमी मान कर भाव निवेदन करता है। स्वच्छंद धारा के कवियों में आलम और आनंदघन ने इस शैली को अपनाया है। प्रतीत होता है, स्वयं प्रेमी होने के नाते प्रेमकथा को अपने आप ही कहना इन्हें अच्छा लगा। अपने प्रेम में सामाजिक स्वच्छंदता होने के कारण इन्हें भारतीय समाज की उस मान मर्यादा की आवश्यकता नहीं थी जो रीतिकाल के अन्य कवियों ने अपने प्रेम वर्णन में सुरक्षित की है।

इनकी शैली की एक विशेषता यह भी है कि पद्यों की सभी पंक्तियाँ समान बल की होती हैं। किसी एक में काव्य का प्राण निहित हो और शेष पंक्तियां उसकी भूमिका या उत्थानिका का कार्य करती हों ऐसी बात इनकी रचनाओं में देखने को नहीं मिलती। उदाहरण के लिये नीचे लिखा पद्य देखा जा सकता है:—

'रावरे रूप की रीति अनूप नयौ नयौ लागत ज्यौं ज्यौ निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आनि तिहारियै।
एक ही जीव हुतौ सुतौ वारयो सुजान सकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न दहै घनआनँदन बावरी रीझ के हाथनि हारिए।

इसके अतिरिक्त अनुभूतिप्रधानता, विरोध की प्रवृत्ति, चिंतन की सूक्ष्मता तथा गंभीरता विरोध की सविशेष प्रवृत्ति आदि गुणों का भी इनकी शैली में प्राचुर्य है। इनका विवेचन अन्यत्र किया गया है।

१—निरुक्त ७२।

छंदों का विधान

छंद और कविता

कविता का छंद से नित्य संबंध है। जब से भाषा का जन्म हुआ है संभवत: तभी से प्रत्येक देश और काल में कविता और छंद का मूलगत आंतरिक संबंध रहा है। डा० नगेंद्र का इस विषय में विचार है कि साधारणत: हमारे रक्त की धारा एक विशेष समगति से बहती रहती है। यह समगति जो हृदय की धड़कन और श्वास प्रश्वास से नियमित आरोह अवरोह में मूर्त होती रहती हैं, स्वभावत: लययुक्त है, क्योंकि नियमित आरोह अवरोह ही तो लय है। भावोच्छ्वास की अवस्था में रक्त की गति तीव्र हो जाती है। हृदयकंपन तथा श्वास के आरोह अवरोह में भी उसी के अनुसार अंतर पड़ जाता है और इस प्रकार उस मूलगत सम लय में विशिष्टता आ जाती है। यह लय स्थिर और मंद न रह कर अस्थिर और तीव्र बन जाती है। यह विशिष्ट लय इतनी सशक्त होती है कि इनका हम स्पष्ट अनुभव करते है। यही अपने आप शारीरिक क्रियाओं में जैसे हाथ पैर उलछना आदि में व्यक्त हो जाती है। आरंभ में नृत्य का जन्म इसी प्रकार हुआ और इसी प्रकार कुछ दिनों के बाद इसी आंतरिक लय की भाषा पर आरोप कर मनुष्य ने सहज रूप से छंद का भी अविष्कार कर लिया। सभी वास्तविक कविता का जन्म हुआ और तभी छंद का।[१] पल्लव की भूमिका में श्री सुमित्रानंदन पंत ने भी इस विषय में छंद का कविता से आंतरिक संबंध अनुभव करते हुए लिखा है कि "कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ट संबंध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत हैं, छंद हृदयकंपन। कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा गति को सुरक्षित रखते हैं जिसके बिना वह अपनी ही बंधनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठता है उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पंदन, कंपन, तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ो में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियंत्रित सांसें नियंत्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जातीं, उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असंबद्ध झंकारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें

१—रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृ० २३४

परिपूर्णता आ जाती है। छंदबद्ध शब्द चुंबक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (Magic Field) तैयार कर लेते हैं। उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एकरूप, एक विन्यास आ जाता, उसमें राग की विद्युत धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"

भारतीय छंदविधान स्वर और व्यंजन के वाणी विभाग पर आश्रित है। इनमें व्यंजन की अपेक्षा स्वर कोमल होता है। इसलिये भाषा विकास में कठोर व्यंजन कोमल में और कोमल व्यंजन स्वर में परिवर्तित होता है। जो भाषाएँ संश्लेषणात्मक होती हैं उनमें समास बहुलता के कारण वर्णों की एक शृंखला सी बन जाती है। ऐसी भाषा के लिये वर्णिक छंद अनुकूल पड़ते हैं। इसीलिये संस्कृत में वर्णिक छंदों की बहुलता है। यद्यपि शृंगारादि कोमल भावों की कविताएँ वहाँ भी आर्या आदि मात्रिक छंदों में ही की जाती थीं। लोकभाषाओं का स्वरूप व्याकरण आदि के बंधन से मुक्त होकर अपने सहज रूप से बहता है वह प्राय: विश्लेषणात्मक होता है। अत: मात्रिक छंदो का ही प्रयोग उनमें प्राय: देखा जाता है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में उस समय भी मात्रिक छंदों का प्रयोग अधिक हुआ था। जब कि संस्कृत में वर्णिक छंदों का व्यवहार प्रचुरता से होता था। हाल की सप्तशती मात्रिक छंदों में ही लिखी गई है जो लोक विकीर्ण कविताओं का संग्रह तथा कवि की रचना दोनों का संमिलित रूप बताया जाता है।

हिंदी की प्रकृति विश्लेषणात्मक है। अत: मात्रिक छंद उसकी प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं। वीर गाथा काल में कुछ वर्णिक छंदों का प्रयोग हुआ है पर प्रधानता दोहा, छप्पय आदि मात्रिक छंदों की ही रही। भक्तिकाल के संत भक्तों की सरस्वती तो गेय पदों के रूप में ही मुखरित हुई जो मात्रिक छंदों का कोमलतम रूप कहा जा सकता है। छंदों की दृष्टि से महात्मा तुलसीदास की वाणी भक्ति काल में सर्वतोमुखी रही है। पर सर्वत्र वे सफल भी नहीं हुए। गेय पदों में जो कोमल सहजरूपता कबीर, सूर और मीरा के पदों में प्राप्त होती है वह तुलसी के पदों में नहीं है।

भक्तिकाल के उपरांत रीतिकाल में गेयपदों की परंपरा केवल भक्त संतों ने ही सुरक्षित रखी है। पर इन भक्तों की संख्या अत्यल्प है। आनंदघन रीतिकाल के ऐसे ही संत हैं। उनके पद आकृति में ही नहीं स्वभाव में भी

वस्तुतः गेय हैं। ऐसे गेयपदकार संतों का वृंदावन में जमघट था। संतों के अतिरिक्त कवि लोगों ने दो वर्णिक छंद, सवैये और घनाक्षरी का इतना प्रचुर प्रयोग किया कि वही एक मात्र छंद इस काल का बन गया।

छंद और रस

छंद और रस का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। भावाभिव्यक्ति के जितने साधन हैं, जैसे मूर्तिकला, संगीत, नाट्य तथा छंद आदि इन सब में छंद श्रेष्ठ है। मूर्तिकला चित्रकला आदि में केवल एक भाव का ग्रहण होता है। अतएव वे छद की अपेक्षा स्थूल हैं। संगीत के स्वरों की सीमित परिधि में भी मानव वृत्तियों के समस्त व्यापारों का समाव नहीं हो पाता। केवल छंद ही ऐसा है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और गंभीर से गंभीर भावों की व्यंजना करता है। साहित्यिक आचार्यों ने पहले से छंद और रस का अभेद्य संबंध माना है। किस रस के अनुकूल कौन छंद है, इसका नियमन बहुत पहले से ही होता आया है। वैदिक ऋषियों ने भाव के अनुसार विभिन्न छंदों का प्रयोग किया है। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में कात्यायन के मत का उल्लेख किया है कि वीरों के भुजदंडों के वर्णन में स्रग्धरा तथा नायिका वर्णन में वसंततिलका छंद उपयुक्त होता है[1]। अपने मत से शृंगारस में आर्या, वीररस, में जगती, करुण में शक्वरी आदि का प्रयोग उचित माना है। क्षेमेंद्र ने सुवृत्त-तिलक' के तृतीय परिच्छेद में रस के अनुगत अनेक छंदों का विधान किया है—जैसे आक्षेप, क्रोध, धिक्कार में पृथ्वी छंद और वर्षा या प्रवास के वर्णन में मंदाक्रांता का प्रयोग होना चाहिए[2]। आचार्य मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में करुणरस में मंदाक्रांता और पुष्पिताग्रा, शृंगार में पृथ्वी, वीर में स्रग्धरा, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित और हास्य में दीपक का प्रयोग बताया है। अग्निपुराण के अनुसार प्रबंध काव्य के लिये ११ से १३ मात्रावाले छंदों का प्रयोग करना चाहिए। प्रबंध काव्य में रस का संतान बनाने के लिये ही एक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग होता है। सर्ग के अंत में भाव-परिवर्तन होने पर छंद भी परिवर्तित हो जाता है। यदि एक ही सर्ग में विविध प्रकार के भाव विद्यमान हों तो मध्य में भी छंद परिवर्तित कर दिया जाता है। अंगरेजी तथा फारसी साहित्य में भी रसानुगुणछंद प्रयोग की

१—नाट्यशास्त्र १४, १२, वही अध्याय १६।

२—देखिए लेखक का 'आचार्य क्षेमेंद्र', पृ० १०९।

प्रवृत्ति पाई जाती है। 'बैलड' प्रेम और युद्ध के वर्णन के लिये, 'इलैजी' करुण रस के लिये, 'ओड' आराध्य के प्रति गरिमा अभ्यर्थना आदि प्रकट करने के लिये, और ब्लैंकवर्स ओजप्रधान भावों को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। फारसी का भी गजल करुण तथा शृंगार में, मसनवी प्रबंध काव्य की अखंड धारा में तथा कसीदा स्तुति आदि में प्रयुक्त होता रहा है।

पुराने कवि कालिदास आदि ने अपने काव्यों में रस के अनुसार ही छंदों का प्रयोग किया है। करुण में वैतालीय तथा वियोग में मंदाक्रांता छंद उनका प्रसिद्ध है।

रसानुकूल छंदों का जैसा विधान हमारे संस्कृत साहित्य में पहले था वैसा हिंदी साहित्य में नहीं रहा। वैसे छंदों के प्रसंग से रसानुकूलता तथा रस प्रतिकूलता आदि का हिंदी के कला मर्मज्ञ भी विचार करते हैं। घनाक्षरी तथा सवैया छंदों को शृंगार, वीर, हास्य, (वीभत्स में केवल सवैया) और शांत रस के लिये उपयुक्त मानते हैं। आचार्यों की तरह हिंदी के कवियों ने भी छंदों की विषयानुकूलता तथा प्रतिकूलता का वर्णन किया है। सुमित्रानंदन पंत ने पल्लव के प्रवेशक में सवैया के विषय में लिखा है कि "सवैया और कवित्त छंद भी मुझे हिंदी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से उसमें एक प्रकार की जड़ता और एकस्वरता आ जाती है। कवित्त के विषय में वे लिखते हैं, कवित्त छंद मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह हिंदी का औरसजात नहीं, पोष्य पुत्र है। न जाने यह हिंदी में कैसे और कहाँ से आगया है। अक्षर मात्रिक छंद बँगला में मिलते हैं, हिंदी के उच्चारण की वे रक्षा नहीं कर सकते। कवित्त को हम संलापोचित छंद कह सकते हैं।"

प्लवंगम छंद के विषय में पंतजी का विचार है कि वह करुण रस के लिये विशेष उपयुक्त है। अरिल्ल उन्हें निर्झरिणी की तरह कल कल छल छल करता हुआ बहता प्रतीत होता है। पंद्रह मात्रा का चौपई छंद अनमोल मोतियों का हार है। इसका उपयोग बाल साहित्य के लिये होना चाहिए, इसकी ध्वनि में बच्चों की सासें, बच्चों का कलरव मिलता है। बच्चों की तरह इधर उधर देखता हुआ अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बालकल्पना के पंखों में खूब उड़ता है[1]।

---

१. पल्लव की भूमिका।

उत्पत्ति

सवैया तथा घनाक्षरी छंदों की उत्पत्ति के विषय में छंदोविद् विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डा० नगेंद्र का विचार है कि 'सवैया' शब्द सपाद का अपभ्रंशरूप है। इस में छंद के अंतिम चरण को सब से पूर्व तथा अंत में पढ़ा जाता था। चारपंक्तियां पांच बार पढ़ी जाती थीं। वह पाठ में 'सवाया' होने से छंद सवैया कहलाया। संस्कृत के किसी छंद से भी इसका मेल नहीं है। अतः यह जनपद-साहित्यका ही छंद बाद के कवियों से अपनाया होगा—ऐसा अनुमान किया जाता है।[1] यदि यह अनुमान सत्य हो तो प्राकृत, अपभ्रंश आदि के साहित्य में उस छंद का स्वरूप अवश्य मिलना चाहिए, जो हिंदी में रूपांतरित किया गया है। पर ऐसा कोई छंद नहीं प्राप्त होता। लेखक को तो ऐसा प्रतीत होता है कि तेईस वर्णोंवाले संस्कृत के उपजाति छंद के १४ भेदों में से किसी एक का विकृत रूप सवैया बन गया है। ध्वनियों के उच्चारण से भी कठिन लय का उच्चारण होता है। अतः उसके अधिक विकृत होने की संभावना रहती है। सवैया २८ अक्षरों से लेकर २६ तक का होता है। उपजाति २२ अक्षरों का छंद है। अक्षरों का लघु गुरु भाव सवैया में भी पर्याप्त परिवर्तन ग्रहण करता है। वैदिक छंदों का भी लौकिक संस्कृत छंदों तक आते आते बड़ा परिवर्तन हो गया है। इसी प्रकार उपजाति का परिवर्तित रूप सवैया हो जो सवाया बोलने से सवैया कहलाया यह संभव लगता है। इसका स्वरूप 'प्राकृत पैंगलम' में मिलता है, यद्यपि वहां इसे सवैया नाम नहीं दिया गया पर ८ मगण वाला किरीट और ८ सगण वाला दुर्मिलम ये दो छंद वहां आए हैं। 'प्राकृत पैंगलम' का रचना काल संवत् १३०० के आसपास माना जाता है। अतः अनुमित होता है कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में सवैया का प्रयोग अवश्य होने लगा था।

घनाक्षरी के प्रथम दर्शन भक्तिकाल में ही होते हैं। कुछ विशेषज्ञों की धारणा है कि ध्रुपदराग में गाए जानेवाले पद इस से मिलते हैं। सूर सागर का एक पद इसके उदाहरण में रखा जाता है जो यह है—

सेज रचि पचि साज्यौ सघन कुंज,
चित चरननि लाग्यौ छतिया धरकि रही।

---

१. रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृ० २३६

हा हा चलि प्यारी तेरो प्यारो चौंकि चौंकि परै
पातकी खरक पिय हिय में खरक रही ।
बात न धरति कान तानति है भौंह बान,
उत न चलति वाम अँखिया फरक रही ।
सूरदास मदन दहत पिय प्यारी सुनि ज्यौं ज्यौं,
कहो त्यौं त्यौं बरु उतको रुकि रही ।

रूप घनाक्षरी से यह पद्य मिलता है। इनके प्रचलन का प्रारंभ कब से हिंदी में हुआ इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। शुक्लजी ने अकबरी दर्बार के कवियों के प्रसंग में लिखा है कि फुटकल कविताएँ अधिकतर इन्हीं विषयों को लेकर छप्पय, कवित्त, सवैयों और दोहों में हुआ करती थीं। हिंदी के आरंभकाल में इनके प्रयोग का उन्होंने उल्लेख नहीं किया। उस समय की जो काव्यसामग्री प्राप्त हुई है उसमें भी इस के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। चंद के पृथ्वीराज रासो में भी दोहा तथा छप्पय छंदों की प्रचुरता है यद्यपि छंद और भी प्रयुक्त हुए हैं। पर सवैया घनाक्षरी का वहाँ भी प्रयोग नही हुआ।

'कवित्त' शब्द प्राचीनकाल से अनेक छंदों के लिये व्यवहृत होता था। रासो में छप्पय को कवित्त कहा है। 'घनानंद कवित्त संग्रह' में छप्पय और सवैया को भी कवित्त माना है। भक्तिकाल के आते आते छप्पय का प्रचलन रुक गया था। आरंभकाल का दूहा दोहा के रूप में ज्यौं का त्यौं रहा। गेय पदों का व्यवहार विशेषरूप से होने लगा। सूफियों ने दोहा चौपाई को अपना छंद बना लिया था। इस तरह सूरदास के आविर्भाव तक हिंदी में सवैया और कवित्तों का प्रचलन नहीं हुआ था। जगनिक के आल्हा खंड में कुछ सवैया प्राप्त होते हैं पर इनकी भाषा से यही अनुमान होता है कि वे बाद में किसी ने जोड़ दिए हैं।

इस तरह भक्ति काल के भी प्रारंभ होने समय इनका प्रयोग नहीं होता था। प्रामाणिक रूप से इन छंदों का प्रयोग अकबर के काल से प्रारंभ होता है। उस समय अकबर, बीरबल, गंग, नरोत्तमदास, तथा तुलसीदास, आदि बड़े बड़े कवि इसके प्रयोक्ता थे। नरोत्तम दास तथा तुलसीदास के सवैयों के रूप विशेष परिमार्जित हैं। नरोत्तमदास तुलसीदास से भी

अधिक व्यवस्थित और प्रांजल छंद के प्रयोक्ता सिद्ध होते हैं। वे हैं भी इन सब में अर्वाचीन। उस समय तक इसका स्वरूप पूर्णरूप से व्यवस्थित और परिमार्जित हो चुका था। पर नरोत्तमदास और अकबर आदि के काल से इतना बड़ा अंतर नहीं है कि उसमें ही इन छंदों का स्वरूप उत्पन्न भी हो गया और उसी समय वह इतना परिष्कृत तथा परिमार्जित भी हो गया जैसा नरोत्तमदास के सवैये हैं। अवश्य अकबर से पूर्व भी इनका व्यवहार काव्य में रहा होगा, भले ही वह मौखिक हो या जनपद साहित्य में हो।

सवैयों का स्वरूप

सवैया बड़ा व्यवस्थित वर्णवृत्त है। गणों तथा अंत के लघु गुरु अक्षरों के भेद से इसके अनेक भेद होते हैं। छंदप्रभाकर में श्री जगन्नाथप्रसाद ने इसके बारह भेद माने हैं। इसके प्रमुख भेद तीन हैं। भगणाश्रित, सगणाश्रित तथा जगणाश्रित। इनमें भगणाश्रित छह हैं, जगणाश्रित तीन और सगणाश्रित तीन। प्रत्येक का पारिभाषिक स्वरूप इस प्रकार है।

भगणाश्रित

मदिरा	भगण ७ + ऽ
मोद	भगण ५ + मगण + सगण + ऽ
मत्तगयंद	भगण ७ + ऽ
चकोर	भगण ७ + ऽ।
अरसात	भगण ७ + रगण
किरीट	भगण ८

जगणाश्रित

सुमुखी	जगण ७ + । ऽ
मुक्तहरा	जगण ८
बाम	जगण ७ + यगण

सगणाश्रित

दुर्मिल	सगण ८
सुंदरी	सगण ८ + ऽ
अरविंद	सगण ८ + ।

इसके लय सौष्ठव को सभी आचार्यों ने प्रशंसा की है। कवित्त की अपेक्षा अधिक प्रिय होने का कारण इसकी लयचारुता ही है। एक ही प्रकार के ध्वनि समूह (गण) की सात सात आठ आठ बार आवृति होने को संगीत की ताल का निर्माण होता है। ध्वनि का आरोह अवरोह विषम को मधुर समता उत्पन्न करता है . इसकी प्रशंसा में डा० नगेंद्र के विचार हैं कि इस छंद की गति और लय एक ही गण अर्थात् ध्वनियोजना की अनेक आवृत्तियों पर आश्रित रहने हैं। इसलिये उसमें एक निश्चित स्वरविधान होता है। यह लय रागवृत्तियों की शृंखला सी बनाती है। जिसमें एक निश्चित क्रम से झंकोरें सो उत्पन्न होती चलती है और अंत में तुक पर जाकर एक और लपेट पड़ जाती है। नियमित रूप से राग का यह स्वरपात सवैया में एक अनूठी संगति पैदा करता है[१]।

आनंदघन ने सवैया छंद के प्रयोग में रुचि की विविधता का प्रदर्शन नहीं किया है। प्रसिद्ध भेद दुर्मिल, मत्तगयंद, किरीट, अरसात आदि का जो भगणाश्रित और सगणाश्रित हैं प्रयोग किया है। भगण की लय अवरोह-मूलक तथा सगण की आरोह मूलक है। दोनों का प्रयोग शृंगार में समलय के विधान के साथ अनुकूल है। जगणाश्रित लय में मध्य में गुरु अक्षर का उत्थान होने से लय में अपेक्षाकृत कम मसृणता होती है। उसका प्रयोग इन्होंने बहुत कम किया है।

दुर्मिल सगण ८

सगण	सगण	सगण	सगण	सगण	सगण	सगण	सगण
।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ
झ ल कै	अ ति सु	द र आ	न न गौ	र छ के	दृ ग रा	ज त का	न नि छ्वै

सगण	सगण	सगण	सगण	सगण	सगण	सगण	सगण
।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ
हँ सि बो	ल नि में	छ बि फू	ल न की	ब र षा	उ र ऊ	प र जा	त है ह्वै

यहाँ उपान्त्यवर्ण 'है' का उच्चारण लघु है।

---

१. रीति काल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता। पृ० २३९

मत्तगयंद भगण ७ + ऽऽ

भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण गुरु

ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ

ही न भ ए ज ल मी न अ धी न क हा क छु मो अ कु ला नि स मा नै

भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण गुरु

ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ।। ऽ

नी र स ने ही को ला य क लं क नि रा स ह्वै का य र त्या ग त प्रा नै

इसमें द्वितीय पंक्ति के द्वितीय भगण का द्वितीय तृतीय अक्षर 'ही' 'को' लघु उच्चारित है।

किरीट भगण ८

ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ।

मो ह न सो ह न जो ह न को ल गि यैं र है आँ खि न के उ र आ र ति

अरसात भगण ७ + रगण

भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण रगण

ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ

से की र है न द है ध न आ नँ द वा ब री री झ कै हा थ नि हा रि यै

मुक्तहरा जगण ८

जगण—

न ई सु धि अं ग भ ई म ति पं ग न ई क छु बा त ज ता व ति हौ न

जगण—

। ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ।

दु रा व कि ये क हा हो त स खी रँ ग औ र भ यौ ढँ ग ऊ त र कौ न

यहाँ भावानुकूल छंद का प्रयोग है। सखी नायिका के मन की बात जान कर अपनी उपेक्षा प्रकट करती हुई उसे टकटोरती है वैसा ही सारस-गति छंद दो लघु के बाद एक गुरु का धीरे धीरे विशेष आरोह से चलता है। पहली पंक्ति में मति और अंग हीं लय भी लँगड़ी है।

सवैया छंद का शृंगार में जो विशेष रूप से प्रचलन हुआ है वह उसकी कोमल मसृण लय के कारण है। सफल सवैयाकार वे ही कवि कहलाए हैं जिनके छंद की पंक्तियों में ऐसे शब्दों की संख्या कम या बिलकुल न हो जो मध्य में रोड़े की तरह खटकें और अपनी कर्कशता के कारण भिन्न प्रकार का बेसुरा स्वर उत्पन्न करें। आनंदघन के सवैये अधिक संख्या में ऐसे ही हैं, जो अत्यंत कोमल शब्दावली में लिए गए हैं, और जिसमें संगीत की मधुर गूँज उत्पन्न होती है। समस्त छंद में एक भी प्रतिकूल या कठोर वर्ण नहीं आता। यति का अवसान भी प्राय: शब्द के मध्य में नहीं आता। नीचे लिखा ८ सगण का दुर्मिल सवैया इस दृष्टि से देखने योग्य है।

'कंत रमैं उर अंतर में सु लहै नहिं क्यों सुख रासि निरंतर।
दंत रहैं गहैं आंगुरी ते जु वियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनँद रैन दिना बिन जान सुतंतर।
जानैं वेई दिन राति बखानै तें जाय परै दिन राति को अंतर'।

यहाँ परतंत्र का 'परतंतर' आनंद को 'आनँद' स्वतंत्र को 'सुतंतर' कर देने से छद की लय में लेश का भी गति-अवरोध नहीं रहा। समतल वाहिनी सरिता की तरह छंद बह रहा है। 'अंतर' का अनुप्रास संगीत में गुंजार भर रहा है।

आनद घन के छंदों में शब्दयोजना की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे शब्दमैत्री के रूप की रचना करते हुए भी कोमल प्रसिद्ध शब्दों का व्यवहार करते हैं। कवित्त में यह बात कम है, सवैयों में अधिक है। इसलिये सवैये कवित्तों की अपेक्षा अधिक सफल है। नीचे लिखा सवैया इसका उदाहरण है।

'रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आन तिहारियै।
एक ही जीव हुतो सुतो वारचौ सुजान सकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न, दहै घनआनँद बावरी रीझ के हाथनि हारियै।

आनदघन के सवैयों में नरोत्तमदास तथा मतिराम की सी सरसता और कोमलता मिलती है।

घनाक्षरी—

घनाक्षरी का इतिहास सवैयों के साथ ही साथ है। कुछ लोग इसे हिंदी का अपना छंद ही नहीं मानते। कहीं से आया हुआ विजातीय छंद समझते हैं। उनकी दृष्टि बंगाल के 'पयार' छंद पर पड़ती है, जो थोड़े परिवर्तन के साथ हिंदी में कवित्त का स्वरूप लेकर आया है। इसे विजातीय कहनेवालों में सुमित्रानंदन पंत प्रमुख हैं। उनका कहना है कि 'कवित्त मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हिंदी का औरसजात नहीं, पोष्यपुत्र है। न जाने यह कहाँ से कैसे हिंदी में आ गया[१]।' दूसरे लोग इसे वैदिक छंद अनुष्टुप का विकसित परिवर्तित रूप मानते हैं। इसकी लय की अवस्थाएँ विकसित हुई हैं। अक्षरों की संख्या वही है। इन अक्षरोंवाले छंद में अंत का सप्तक वैदिक उष्णिक (७ अक्षर) छंद का अवशेष प्रतीत होता है। वैदिक युग का अनुष्टुप छंद आज तक भारत की अनेक भाषाओं में अनेक रूप धारण कर व्यवहृत हुआ है। वैदिक काल से ही इसका व्यवहार अत्यधिक मात्रा में ही होता था। अतः ऐसे छंद का परिवर्तित रूप मूल रूप से अधिक भिन्न हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।[२]

उत्पत्ति की तरह इसकी लयमाधुरी में भी मतभेद है। पंत के अनुसार 'कवित्त छंद हिंदी के स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के पालन पूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु अक्षर रख दें चाहे लघु, एक ही बात है। छंद की रचना में अंतर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को चाहे वह गुरु हो या लघु एक ही मात्रा काल मिलता है, जिससे छंदबद्ध शब्द एक दूसरे को झकझोरते हुए परस्पर टकराते हुए उच्चरित होते हैं। हिंदी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई अड़ती खिजती एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है।[३]' निराला इसके विपरीत धारणावाले हैं। उनके अनुसार 'यदि हिंदी का कोई जातीय छंद चुना जाए तो वह यही होगा। कारण, यह छंद चिरकाल से इस जाति के कंठ का हार

१—पल्लव प्रवेश, पृ० २६

२—श्री पी० एल० शुक्ल—'आधुनिक हिंदी काव्य में छंद' थीसिस हस्तलेख, पृ० २१४

३—पल्लव प्रवेश, पृ० २७

रहा है। दूसरे इस छंद में विशेष गुण यह भी है कि इसे चौताल आदि बड़ी तालों में तथा ठुमरी की तीन तालों में सफलतापूर्वक गा सकते हैं। और नाटक आदि के समय इसे काफी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते है—छंद में आर्ट आव रीडिंग का आनंद मिलता है[१]।'

यह दो परस्पर विरुद्ध धारणाएँ, प्रतीत होता है, कवियों की भावुकता का परिणाम हैं। पंत की कोमल भावुकता पौरुषपूर्ण छंद की सबलता को हृदयग्राही नहीं समझ सकी और निराला की उदात्त विशाल पौरुषकला के लिये वह विशेष अनुकूल लगा। इस छंद में मधुर भावों की अभिव्यक्ति उतनी सफलता के साथ नहीं हो सकती जितनी ओजपूर्ण रचनाओं की हो सकती है। वीर, भयानक, वीभत्स, आदि रसों के लिये यह अधिक उपयुक्त छंद है। पहले जो इसका प्रयोग स्तुतियों और नराशंसाओं में कवियों ने किया था वह इसकी प्रकृति के अनुकूल है। शिखरिणी आदि को तरह दीर्घ-काय होने के कारण यह स्तुतियों का छंद है। रीति काल में इसकी प्रकृति का विचार नहीं किया गया। शृंगार उस समय का सर्वप्रधान रस था। उसमें प्रचलित दोनों छंदों का प्रयोग किया गया, सवैया का और इसका। तुलसी-दास, भूषण, पद्माकर, चंद्रशेखर, तथा वाजपेयी आदि ने इसका प्रयोग वीर रस में किया है तो उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। कवित्त सवैयों के रसानुकूल प्रयोग तुलसी की कवितावली में अधिक हैं। लंकाकांड के वर्णन में प्रायः कवित्तों का प्रयोग है। रीतिकाल के कुछ शृंगारी कवियों ने लय और शब्दावली के अधार पर इसे शृंगार के अनुकूल भी बना लिया था। जिससे इसकी ओजप्रधान प्रकृति कोमल और तरल बन गई।

भेद

कवित्त के भेद तो अनेक हैं पर मुख्य दो ही हैं, मनहर और घनाक्षरी। पहले में ३१ तथा दूसरे में ३२ अक्षर होते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से ८, ८ अक्षरों पर यति होनी चाहिए। पर यह लय पर निर्भर है। १६ अक्षर पर विराम देते हैं। कहीं कहीं पर ८ के स्थान पर ७ या ९ पर भी यति पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त इसके विषय में कुछ सूक्ष्म नियम भी हैं जो लय माधुरी की दृष्टि से मान्य हैं। रत्नाकर जी ने दो नियम विशेष बताएँ हैं। एक तो छंद के आदि में तथा चार, आठ, बारह, सोलह, चौबीस तथा अट्ठाईस वर्णों के

१—परिमल की भूमिका।

पश्चात यदि कोई शब्द आरंभ हो तो इसके आदि में जगण तथा तगण न पड़ने पाएँ। दूसरे तीन, सात, ग्यारह, पंद्रह, उन्नीस, तेईस और सत्ताइस अक्षरों के पश्चात् जो शब्द आए और एक अक्षर से अधिक का हो तो उसके आरंभ में लघु गुरु (। ऽ) का होना आवश्यक है। आनंदघन के कवित्त औरों की अपेक्षा सरस कोमल तो हैं हीं छांदसंपूर्णता तथा छांदसपरिमार्जन भी इनके कवित्तों में उच्चकोटि का है। इनका मनहर छंद परखा जाए।

'लाजनि लपेटी चितवनि भेदभाय भरी,
लसति ललित लोल चख तिरछानि मैं।
छवि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।
दसन दमक फैलि हियें मोती माल होति,
पिय सों ललकि प्रेम पगी बतरानि मैं।
आनँद की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरि जानि मैं।'

इसमें केवल पहली पंक्ति में ८ वें अक्षर की यति चितवनि शब्द के मध्य में आती है अन्यत्र सर्वत्र जहाँ यति है वहीं शब्द भी पूर्ण हो जाता है। 'जगमगति' शब्द तो 'जग' 'मग' दो ध्वनियों के संयुक्त रूप का नामधातु शब्द है। उसके 'जग' को एक ही शब्द माना जा सकता है। इस तरह यति का निर्वाह बड़ी सफलता के साथ हुआ है। लय की दृष्टि से देखें तो और अधिक स्वच्छता दिखाई पड़ती है। लय का विधान समध्वनि (दो ध्वनि गुरु या लघु) के बाद समध्वनि तथा विषम के बाद वैसी ही विषम ध्वनि के प्रयोग से बनता है। इस छंद में तीन ध्वनियों के अक्षर के बाद तीन तथा दो ध्वनियों के अक्षर के बाद दो ध्वनियों के अक्षरों का प्रयोग हुआ है। 'लाजनि' के बाद 'लपेटी' 'लसति' के बाद 'ललित' 'दसन' के बाद 'दमक' 'अंगनि' के बाद 'अनंग' शब्द आए हैं। इसी तरह 'भेद' के अनंतर 'भाय', 'भरी', 'लोल' के बाद 'चख' और 'फैलि' के बाद चार अक्षर दो ध्वनियों के हैं।

इसी प्रकार अंतिम पंक्ति में 'रंग' के बाद तीन दो ध्वनियों के शब्द हैं। एक एक शब्द की लय का ही संयोजन नहीं अनेक शब्दों की लय को भी

संयोजित किया है। 'छबि को सदन' के बाद 'गोरो बदन' की लयात्मक इकाई पर अनुप्रास योजना लयविधान के सौष्ठव को बढ़ाती है। छंदों की लय के द्वारा भावव्यंजना का उपयोग भी इस छंद में दिया हुआ आभासित होता है। अंत की पंक्ति में 'अंगनि' और 'अनंग' दो शब्द तीन ध्वनियो के कहकर फिर एक विशेष लहक के साथ जो दो ध्वनियों के अक्षरों पर लय को मोड़ा है तो अर्थ की तरह लय भी अनुप्रास की ताल के साथ मुड़ सी जाती है। रत्नाकर जी के पहले नियम का पालन तो प्रायः इनके छंदों मे हो गया है पर दूसरे नियम का पालन कहीं नहीं हुआ। शैली ही कुछ ऐसी प्रतीत होती है। पहली पंक्ति मे १२वें अक्षर के बाद 'भाय' शब्द, दूसरी पंक्ति में ८ वें अक्षर के बाद 'बदन', तीसरी पंक्ति में ८ वें 'फैलि' के बाद 'हिये' आदि शब्द न जगणात्मक हैं न तगणात्मक। पर तीसरे अक्षर 'लाजनि' के बाद 'लपेटी', 'अंगनि के बाद 'अनंग' शब्द तो लघु गुरु है पर 'दसन' के बाद 'दमक' वैसा नहीं है।

इनकी रूप घनाक्षरी यह है—

जहाँ जौं संदेसो ताको बड़ोई अँदेसो आहि,
न्हानै मन वारे की कहैऽब को सुनै सु कौन।
निधरक जान अलबेले निखरक और,
दुखिया कहै या कहा तहाँ की उचित हौ न।
पर दुख दल के दलन कौं प्रभंजन हौं
ढरकौंहैं देखि के बिबस बकि परी मौन।
इतकी भसम दसा लै दिखाय सकत जू,
लालन सुबास सों मिलाय हू सकत पौन।

इसमें प्रत्येय पंक्ति १६, १६, अक्षरों की है। यहाँ प्रथम पंक्ति के 'ताको' तथा सातवी पंक्ति के 'दसा' शब्द पर तो अष्टमाक्षर की यति आती है, नहीं तो सर्वत्र १६ वें अक्षर पर ही यति विधान है। पहली पंक्ति में लयविधान भी अच्छा नहीं है। ध्वनियों का परस्पर मे मेल नहीं है। 'कहीं' दो ध्वनि का है, 'जौ' एक का है, फिर 'संदेसो' तीन का है। इसके बाद 'ताको' फिर दो का शब्द है।

सुमेरु छंद—'वियोग बेलि' सुमेरु छंद में लिखी गई है। यह छंद संस्कृत के वियोगिनी छंद की तरह करुण तथा विरह के भावों के लिये अत्यंत

उपयुक्त है। यह बारह मात्रा का मात्रिक छंद है। इसमें १२+७ अथवा १०+९ पर यति होती है। इसके आदि में लघु रहता है अंत में यगण (।SS)। भानु ने इसके विषय में विशेष नियम लिखा है कि इसके अंत में तगण (SS।) रगण (SIS) जगण (।S।) अथवा मगण (SSS) नहीं होने चाहिए। आनंदघन ने वियोगबेलि शीर्षक से विरह का वर्णन करने के लिये इस छंद का प्रयोग कर रसिकता का परिचय दिया है। इसी को बंगाली 'विलावल' भी कहते हैं।

छंद क्रम निम्न प्रकार से है।

१ २ २ २ १ २ २ २ १ २ २
स लो ने स्या म प्या रे क्यौं न आ वौ। =१९
१ १ १ २ २ १ २ १ १ २ १ २ २
द र स प्या सी म रैं ति न कौं जि वा वौ। =१९

अरल्ल

जगन्नाथप्रसाद ने अपने छंदप्रभाकर में इसका नाम प्लवंगम और अरल या अरिल्ल दिया है। यह २१ मात्राओं का छंद हैं। ८+१३ अथवा ११+१० पर इसकी यति होती है। पहली यति वाले को प्लवंगम और दूसरी यति वाले को चांद्रायण कहते हैं। प्लवंगम तथा चांद्रायण मिला देने से और अंत में लघु गुरु (।S) अक्षर कर देने से त्रिलोकी छंद होता है। भानु जी ने दोनों का भेद इस प्रकार दिया है।

१—प्लवंगम के आदि में S होता है। अंत में जगण और एक गुरु (।S।S) अथवा लघु गुरु (।S) अवश्य होते हैं।

२—चांद्रायण में आदि में लघु या गुरु अक्षर समकलात्मक रूप से आते हैं। ११ मात्राएँ जगणांत होती हैं।

घनानंद ने त्रिलोकी छंद का ही प्रयोग किया है। दोनों का मेल कर दिया है। यथाः—

१ १ १ १ २ २ २ १ २ १ २ २ १ २
स ज न स लो ना या र नं द दा सो ह ना =२१
१ १ १ १ २ २ २ १ १ १ १ १ १ २ १ २
र सि क बि हा री छै ल सु म न म थ मो ह ना। =२१

लेकिन—

२ १ १ १ १ २ २ १ १ २ १ १ २ १ २
हे ह ल ध र दे बी र च ले कि त जा त हौं =२१
१ १ १ २ १ १ १ २ १ १ १ १ २ २ १ २
नि ठु र का न्ह म ह बू ब न सु न दे बा त हों =१८

यहाँ पहली पंक्ति का आरंभ अक्षर गुरु है दूसरी का लघु। पहला प्लवंग और चांद्रायण का मिश्रित रूप है। यति भी ११+१० पर है।

इस छंद की लय हलके भावों के अधिक उपयुक्त लगती है। करुण या वियोग जैसे विषादात्मक भाव के अनुकूल नहीं। यह छंद बंदर की चाल से चलता है। इसलिये प्लवंगम कहलाता है। 'प्रेमपत्रिका' में भी इसी छंद का प्रयोग कवि ने किया है। वहाँ भी प्लवंगम और चांद्रायण का मिश्रण है।

ताटंक—

यह ३० मात्राओं का १६+१४ की यति का छंद है। इसके अंत में मगण होता है। इश्कलता में आनंदघन ने इसका भी प्रयोग किया है। यहाँ होली के गीतों में श्रीकृष्ण-गोपी के स्नेह का वर्णन है। छंद का लय होली जैसे उल्लासमय अवसर पर गाए जानेवाले गीतों के लिये उपयुक्त है। इसी को लावनी तथा मांझ भी कहते हैं।

२ २ २ २ १ २ १ २ २ २ २ २ २ २ २ १
की की खु बी क है तु सा डी हो हो हो हो हो री है। =३०
२ २ २ १ १ १ १ १ १ १ १ २ १ २ १ २ १ १ २ २ २
बू का बं द न अ ग र कु म कु मा भ रैं गु ला ल न झो री हैं।=३०

निसानी

इसे भानु ने उपमान छंद बताया है। यह २३ मात्राओं का १३+१० यति वाला छंद है। इसके अंत में दो गुरु अक्षर होते हैं। इश्कलता में इसका भी प्रयोग हुआ है।

जैसे—

१ १ २ २ १ १ १ १ १ २ १ १ २ १ १ २ २
य न नूं क्यौं क र ग हि स कौं घ न आ नँ द पी या =२३

२ २ २ १ १ १ १ १ २ २ १ १ २ २ २
मैं तैं दी ल ट क न फँ द्या क्या तु ज नू की या = २३

इश्कलता में अरल्ल, ताटंक, उपमान और दोहा चार छंदों का प्रयोग हुआ है। भाषा भी पंजाबी और ब्रज है, तथा फारसी के कतिपय शब्दों का प्रयोग किया गया है। छंदों का लय, भाव, छंद–परिवृत्ति तथा फारसी शैली से प्रतीत होता है कि कवि भाव की मस्ती में रचना कर रहा है।

शोभन

गोकुल विनोद में शोभन छंद का प्रयोग हुआ है। यह २४ मात्राओं का १० + १४ की यदि वाला जगणांत छंद है जिसे सिंहका भी कहते हैं।

२ १ २ १ १ १ १ १ २ २ १ १ १ २ १ १ २ १
नं द गो कु ल ब र नि बा नी वि स द जो ति नि वा स = २४

१ २ २ २ २ १ १ १ १ १ १ २ १ १ २ २
ज हां नि त्या नं द घ न अ द् भु त अ खं ड वि ला स। = २४

शोभन जैसे गंभीर ओजमय छंद में जो कवि ने संस्कृत बहुल समस्त वाक्यों की सघन शैली अपनाई है वह छंदोऽनुकूल ही है।

त्रिभंगी

आनंदघन जी के तेरह पद्य त्रिभंगी छंद के हैं जिस में ३२ मात्राएँ १० + ८ + ८ + ६ की यति के साथ होती है, अंत में गुरु अक्षर होता है। पर आनंदघन जी ने १६ + १६ की यति ही रक्खी है जैसे—

१ २ २ १ १ १ १ २ १ २ १ १ २ १ १ १ १ १ १ १ १ १ २ २
क हाँ जा हिं अ रु क हैं क हा अ ब तु म तौ पि य स ब ग ति नि थकाई = ३२

इस के अतिरिक्त प्रबंधों में दोहे चौपाई का प्रयोग किया है। चौपाई में कवि को अधिक सफलता नहीं मिली। इसका कारण एक तो उनकी भक्ति भावना की प्रधानता तथा कवित्व विच्छित्ति की उपेक्षा है। दूसरे चौपाई छंद ब्रज भाषा के लिये अनुकूल नहीं पड़ता। यह तो अवधी के लिये ही मानों निर्मित हुआ है।

पदावली में गेयपद हैं। वे आकार में छोटे होने के कारण वस्तुतः गेय हैं। इसलिये बहुत से पदों के साथ न जाने कब से उनके राग नाम और ताल का उल्लेख मिलता है।

लेकिन—

२ १ १ १ १ २ २ १ १ २ १ १ २ १ २
हे ह ल ध र दे बी र च ले कि त जा त हौं =२१
१ १ १ २ १ १ १ २ १ १ १ १ २ २ १ २
नि ठु र का न्ह म ह बू ब न सु न दे बा त हों =१८

यहाँ पहली पंक्ति का आरंभ अक्षर गुरु है दूसरी का लघु। पहला प्लवंग और चांद्रायण का मिश्रित रूप है। यति भी ११+१० पर है।

इस छंद की लय हलके भावों के अधिक उपयुक्त लगती है। करुण या वियोग जैसे विषादात्मक भाव के अनुकूल नहीं। यह छंद बंदर की चाल से चलता है। इसलिये प्लवंगम कहलाता है। 'प्रेमपत्रिका' में भी इसी छंद का प्रयोग कवि ने किया है। वहाँ भी प्लवंगम और चांद्रायण का मिश्रण है।

ताटंक—

यह ३० मात्राओं का १६+१४ की यति का छंद है। इसके अंत में मगण होता है। इश्कलता में आनंदघन ने इसका भी प्रयोग किया है। यहाँ होली के गीतों में श्रीकृष्ण-गोपी के स्नेह का वर्णन है। छंद का लय होली जैसे उल्लासमय अवसर पर गाए जानेवाले गीतों के लिये उपयुक्त है। इसी को लावनी तथा मांझ भी कहते हैं।

२ २ २ २ १ २ १ २ २ २ २ २ २ २ २ १
की की खु बी क है तु सा डी हो हो हो हो हो री है। =३०
२ २ २ १ १ १ १ १ १ १ १ २ १ २ १ २ १ १ २ २ २
बू का बं द न अ ग र कु म कु मा भ रै गु ला ल न झो री हैं।=३०

निसानी

इसे भानु ने उपमान छंद बताया है। यह २३ मात्राओं का १३+१० यति वाला छद है। इसके अंत में दो गुरु अक्षर होते है। इश्कलता में इसका भी प्रयोग हुआ है।

जैसे—

१ १ २ २ १ १ १ १ १ २ १ १ २ १ १ २ २
य न नूं क्यौं क र ग हि स कौं घ न आ नँ द पी या =२३

२ २ २ १ १ १ १ १ २ २ १ १ २ २ २
मैं तैं दी ल ट क न फँ द्या क्या तु ज नू की या =२३

इश्कलता में अरल्ल, ताटंक, उपमान और दोहा चार छंदों का प्रयोग हुआ है। भाषा भी पंजाबी और ब्रज है, तथा फारसी के कतिपय शब्दों का प्रयोग किया गया है। छंदों का लय, भाव, छंद-परिवृत्ति तथा फारसी शैली से प्रतीत होता है कि कवि भाव की मस्ती में रचना कर रहा है।

शोभन

गोकुल विनोद में शोभन छंद का प्रयोग हुआ है। यह २४ मात्राओं का १० + १४ को यदि वाला जगणांत छंद है जिसे सिंहका भी कहते हैं।

२ १ २ १ १ १ १ १ २ २ १ १ १ २ १ १ २ १
नं द गो कु ल ब र नि बा नी वि स द जो ति नि वा स =२४

१ २ २ २ २ १ १ १ १ १ १ २ १ १ २ २
ज हां नि त्या नं द घ न अ द् भु त अ खं ड वि ला स। =२४

शोभन जैसे गंभीर ओजमय छंद में जो कवि ने संस्कृत बहुल समस्त वाक्यों की सघन शैली अपनाई है वह छंदोऽनुकूल ही है।

त्रिभंगी

आनंदघन जी के तेरह पद्य त्रिभंगी छंद के हैं जिस में ३२ मात्राएँ १०+८+८+६ की यति के साथ होती है, अंत में गुरु अक्षर होता है। पर आनंदघन जी ने १६+१६ की यति ही रक्खी है जैसे—

१ २ २ १ १ १ १ २ १ २ १ १ २ १ १ १ १ १ १ १ १ १ २ २
क हाँ जा हि अ रु क हैं क हा अ ब तु म तौ पि य स ब ग ति नि थकाई = ३२

इस के अतिरिक्त प्रबंधों में दोहे चौपाई का प्रयोग किया है। चौपाई में कवि को अधिक सफलता नहीं मिली। इसका कारण एक तो उनकी भक्ति भावना की प्रधानता तथा कवित्व विच्छित्ति की उपेक्षा है। दूसरे चौपाई छंद ब्रज भाषा के लिये अनुकूल नहीं पड़ता। यह तो अवधी के लिये ही मानों निर्मित हुआ है।

पदावली में गेयपद हैं। वे आकार में छोटे होने के कारण वस्तुतः गेय हैं। इसलिये बहुत से पदों के साथ न जाने कब से उनके राग नाम और ताल का उल्लेख मिलता है।

अलंकार योजना

१—आनंदघन की रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग अत्यल्प है। सीधी सरल शैली से मार्मिक भावों को व्यक्त करनेवाले पद्य संख्या में अधिक हैं। इन निरलंकार पद्यों में भाव ऐसी सत्यता तथा मार्मिकता से प्रकट हुए हैं कि अलंकार यदि आते तो उनकी उज्वल निश्छलता को मलिन ही करते। 'वियोगी विरह व्यथा के कारण जीवन तथा इंद्रियों से ऊब गया है। उन्हें समाप्त करना चाहता है। पर प्रिय मिलन की आशा से ऐसा नहीं करता। वह कहता है—

'दृग नीर सों दीठहि देहु बहाय पै व मुख कों अभिलाषि रही।
रसना विष बोरि गिराहि ससौं वह नाम सुधानिधि भाखि रही।
घनआनंद जान सुबैननि त्यों रचि कान बचे रुचि साखि रही।
निज जीवन पाय पलै कबहूँ पिय कारन यौं जिय राखि रही।'

इसी प्रकार प्रिय के निकट बैठने पर भी प्रेमी के वियोग की ही अनुभूति होती है। उसका वर्णन देखें—

'ढिग बैठे हू पैठि रहै उर मैं धरकै खरकै दुख दोहतु है।
दृग आगे तें वैरी कहूँ न टरै जग-जोहनि-अंतर जौहतु है।
घन आनंद मीत सुजान मिलैं बसि बीचतऊ मति मोहतु है।
यह कैसो सँजोग न बूझि परै जु वियोग न क्यौ हूँ बिछोहतु है।'

यहाँ कवि अपनी हृदय की अंतर्दशाओं के कहने में भूला हुआ है। उसे अलंकारों की सुधि नहीं, वर्णनात्मक प्रबंधों में अलंकार योजना का अभाव ही है। गेय पदों में भी कहीं कहीं इनके दर्शन होते हैं। कवित्त सवैयों में इनका प्रयोग किया गया है। इनमें भी जो अत्यंत मार्मिक पद्य हैं वे प्रायः निरलंकार सरल भाषा में लिखे गए हैं—

२—वैसे कवि का जो भाषा संबंधी आदर्श है उसमें अलंकारों का स्थान है, पर वे अर्थोपकारक हों। 'हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाल कर जो बात बनिता बैठी रहती है वह रस की मणियों तथा पदार्थों के मंजु भूषणों से शोभायमान होती है।

'उर भौन मैं मौन को घूंघट कै दुरि बैठी विराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसैं रस रूप मनी।'

सु० हि० १९२

भूषण पदार्थों, प्रतिपाद्य अर्थों के ही बने होने चाहिए। 'अलंकार सर्वस्व' में रुय्यक ने तथा 'अभिनव भारती' एवं 'ध्वन्यालोक में आनंद-वर्धनाचार्य ने जिस अलंकारप्रयोग को 'अभिधान प्रकार' और 'रसाभिव्यक्ति का अंतरंग साधन' माना है[1] उसके समान ही भावना आनंदघन की है। इनके अनुसार पदार्थ ही अलंकार बनें, उसके पूर्ण होने पर बाद में अलंकार की नक्काशी न की जाए' नीचे लिखा पद्य इसी प्रकार के अलंकार प्रयोग का निदर्शन है।

'हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु भी अकुलानि समानैं।
नीर सनैही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानैं।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझैं जड़ मीत के पानि परे को प्रमानैं।
या मन की जु दशा घनआनंद जीव की जीवनि जान ही जानै।' सु०हि० ४

यहाँ कहने को व्यतिरेक अलंकार स्पष्ट है पर उससे अतिरिक्त अलंकार का कैसा स्वरूप होगा यह विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इन्होंने प्रायः इसी प्रकार के प्रयोग किए हैं।

३—सिद्धांततः आनंदवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में अलंकार के दो भेद किए हैं, पृथक्यत्ननिर्वर्त्य तथा अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य।[2] पहला वह है जो कवि की अनुभूति का निष्पन्नरूप तो निरलंकार ही हो पर उसे सजाने के लिए जानकर कवि पृथक रूप से अलंकारयोजना करता हो। रीतिमार्गी कवि प्रायः ऐसा ही किया करते हैं। दूसरा वह है जिसका जन्म हृदय के उसी अनुभव प्रयत्न से हुआ हो जिससे भाव होता है, अर्थात् अलंकार और भाव में कोई अंतर न हो। भाव का उदय जब हृदय में किसी असा-धारण रूप में होता है तो वह अपने अनुकूल असाधारण भाषा का निर्माण आप ही कर लेता है। यह 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' रूप है। दो शब्दों में भावसहजात और भावअनुजात दो प्रकार के प्रयोग अलंकारों के होते हैं। इनके विषय में जो हल्की धारणा बनती है वह भावअनुजात अलंकारों के विषय में ही है। आनंदघन के प्रयोग प्रायः भाव सहजात है। उत्प्रेक्षा के दो उदाहरण और देकर अपनी बात स्पष्ट करते हैं।

१— अभिधानप्रकार विशेष्या एव अलंकाराः—अलंकार सर्वस्व।
न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ—अभिनवभारती।

२— रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियोभवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोलंकारो ध्वनौमतः।
ध्वन्यालोक उद्द्योतश्ककारि उद्योतकारिका १७

अलंकार योजना

१—आनंदघन की रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग अत्यल्प है। सीधी सरल शैली से मार्मिक भावों को व्यक्त करनेवाले पद्य संख्या में अधिक हैं। इन निरलंकार पद्यों में भाव ऐसी सत्यता तथा मार्मिकता से प्रकट हुए हैं कि अलंकार यदि आते तो उनकी उज्वल निश्छलता को मलिन ही करते। 'वियोगी विरह व्यथा के कारण जीवन तथा इंद्रियों से ऊब गया है। उन्हें समाप्त करना चाहता है। पर प्रिय मिलन की आशा से ऐसा नहीं करता। वह कहता है—

'दृग नीर सों दीठहि देहु बहाय पै व मुख कों अभिलाषि रही।
रसना विष बोरि गिराहि ससौं वह नाम सुधानिधि भाखि रही।
घनआनंद जान सुबैननि त्यों रचि कान बचे रुचि साखि रही।
निज जीवन पाय पलै कबहूँ पिय कारन यौं जिय राखि रही।'

इसी प्रकार प्रिय के निकट बैठने पर भी प्रेमी के वियोग की ही अनुभूति होती है। उसका वर्णन देखें—

'ढिग बैठे हू पैठि रहै उर मैं धरकै खरकै दुख दोहतु है।
दृग आगे तें बैरी कहूँ न टरै जग-जोहनि-अंतर जौहतु है।
घन आनंद मीत सुजान मिलैं बसि बीचतऊ मति मोहतु है।
यह कैसो सँजोग न बूझि परै जु वियोग न क्यौ हूँ विछोहतु है।'

यहाँ कवि अपनी हृदय की अंतर्दशाओं के कहने में भूला हुआ है। उसे अलंकारों की सुधि नहीं, वर्णनात्मक प्रबंधों में अलंकार योजना का अभाव ही है। गेय पदों में भी कहीं कहीं इनके दर्शन होते हैं। कवित्त सवैयों में इनका प्रयोग किया गया है। इनमें भी जो अत्यंत मार्मिक पद्य हैं वे प्रायः निरलंकार सरल भाषा में लिखे गए हैं—

२—वैसे कवि का जो भाषा संबंधी आदर्श है उसमें अलंकारों का स्थान है, पर वे अर्थोपकारक हों। 'हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाल कर जो बात बनिता बैठी रहती है वह रस की मणियों तथा पदार्थों के मंजु भूषणों से शोभायमान होती है।

'उर भौन मैं मौन को घूंघट कै दुरि बैठी विराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसैं रस रूप मनी।'

सु०हि० १९२

भूषण पदार्थों, प्रतिपाद्य अर्थों के ही बने होने चाहिए। 'अलंकार सर्वस्व' में रुय्यक ने तथा 'अभिनव भारती' एवं 'ध्वन्यालोक में आनंदवर्धनाचार्य ने जिस अलंकारप्रयोग को 'अभिधान प्रकार' और 'रसाभिव्यक्ति का अंतरंग साधन' माना है[1] उसके समान ही भावना आनंदघन की है। इनके अनुसार पदार्थ ही अलंकार बनें, उसके पूर्ण होने पर बाद में अलंकार की नक्काशी न की जाए' नीचे लिखा पद्य इसी प्रकार के अलंकार प्रयोग का निदर्शन है।

'हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु भी अकुलानि समानैं।
नीर सनैही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानैं।
प्रीति की रीति सु क्यों समुझें जड़ मीत के पानि परे को प्रमानैं।
या मन की जु दशा घनआनंद जीव की जीवनि जान ही जानै।' सु०हि० ४

यहाँ कहने को व्यतिरेक अलंकार स्पष्ट है पर उससे अतिरिक्त अलंकार का कैसा स्वरूप होगा यह विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इन्होंने प्रायः इसी प्रकार के प्रयोग किए हैं।

३——सिद्धांततः आनंदवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में अलंकार के दो भेद किए हैं, पृथक्यत्ननिर्वर्त्य तथा अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य।[2] पहला वह है जो कवि की अनुभूति का निष्पन्नरूप तो निरलंकार ही हो पर उसे सजाने के लिए जानकर कवि पृथक रूप से अलंकारयोजना करता हो। रीतिमार्गी कवि प्रायः ऐसा ही किया करते हैं। दूसरा वह है जिसका जन्म हृदय के उसी अनुभव प्रयत्न से हुआ हो जिससे भाव होता है, अर्थात् अलंकार और भाव में कोई अंतर न हो। भाव का उदय जब हृदय में किसी असाधारण रूप में होता है तो वह अपने अनुकूल असाधारण भाषा का निर्माण आप ही कर लेता है। यह 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' रूप है। दो शब्दों में भावसहजात और भावअनुजात दो प्रकार के प्रयोग अलंकारों के होते हैं। इनके विषय में जो हल्की धारणा बनती है वह भावअनुजात अलंकारों के विषय में ही है। आनंदघन के प्रयोग प्रायः भाव सहजात है। उत्प्रेक्षा के दो उदाहरण और देकर अपनी बात स्पष्ट करते हैं।

१— अभिधानप्रकार विशेष्या एव अलंकाराः—अलंकार सर्वस्व।
न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ—अभिनवभारती।

२— रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियोभवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोलंकारो ध्वनौमतः।
ध्वन्यालोक उद्दोतश्ककारि उद्योतकारिका १७

'झलकै अति सुंदर आनन गौर छके दृग राजत काननि छ्वै ।
हँसि बोलनि मैं छवि फूलनकी बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै ।
लट लोल कपोल कलोल करैं कल कंठ बनी जलजावलि द्वै ।
अँग अंग तरंग उठै दुति की परि है मनौ रूप अबै धर च्वै ।'

प्रकीर्णक २,

'छबि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यान मैं।'

प्रकी० १,

यहां 'परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै' तथा 'रस निचुरत' में उत्प्रेक्षा है। यह भाव का ही अंग है।

४—विरोध या तन्मूलक अन्य असंगति आदि जो अलंकार प्रचुरता से बारबार आए हैं उनका कारण कवि की विषमता पूर्ण प्रेम भावना है। इनकी शैली जो वक्रतापूर्ण कही जाती है वह विरोध और लक्षणा की प्रकृति के कारण ही है और विरोध तथा लक्षणा दोनों का जन्म प्रेमानुभूति द्वारा हुआ है। जहाँ अनुभूति गभीर तथा आंतरिक होती है वहाँ लक्षणा का और जहां प्रेम की विषमता एवं विलक्षणता की अभिव्यक्ति होती है वहाँ विरोध विच्छित्ति आ जाती है। है सर्वत्र वाह्य विच्छित्ति का जन्म आंतरिक अनुभूति से ही। वियोगी की आँखों का एक वर्णन इसके लिये देखा जाए।

'जल बूड़ी जरैं, दीठि पाय हू न सूझ करैं
अमी पियैं मरैं, मोहि अचिरज अति है।
चीर सौं न ढकैं, बानौ बिन बिथा बकैं,
दौरि परैं, न निगोडी थकैं, बड़ी भूतागति है।'

सु० हि० ५१

यहाँ नेत्रों की वास्तविक दशा ही ऐसी है कि वे परस्पर विरुद्ध धर्मो का आश्रय हो गई हैं। इसलिये इनका विरोध सत्य सा लगता है। विरोध जैसे चमत्कारप्राण अलंकारों में भी कवि आत्मकथा सी कहता प्रतीत होता है, अन्य अलंकारों की तो बात ही दूसरी है।

५—भावसहजात होने के कारण ही अलंकारों में जो उपमान प्रयुक्त हुए हैं वे अनुभूति के व्यंजक, प्रभावसाम्य के द्योतक तथा मनोवैज्ञानिक हैं। मनोवैज्ञानिक से तात्पर्य यह है कि उनके देखने से साधारण व्यक्तियों को

भी उन्हीं भावों की अनुभूति होती है जिनका साम्य देने के लिये कवि ने प्रयुक्त किए हैं। ये उपमान कविपरंपराप्राप्त प्रायः नहीं हैं, अनुभूतिप्रसूत हैं। जैसे यौवन के उच्छल रूप को 'लहराता हुआ जल' और अंगदीप्ति को उसकी 'तरंगें बताया है। इससे सौंदर्य का तरलस्वरूप, यौवनागम के कारण शरीर का लहराना, तथा सौंदर्य का शरीर में लबालब भरा रहना व्यंग्य होता है। साथ ही सौंदर्य को कवि 'लहराते जल की तरह शांति-दायक समझता है—यह भी स्पष्ट हो जाता है। उपमान केवल सारूप्य या साधर्म्य का ही द्योतक नहीं है। वह प्रभावसाम्य का भी व्यंजक है। विरह की व्याकुलता की उपमा 'धुँए की धूवरि में घुटने' से दी है। आशा को दूसरे लोग हरियाली या अंधकार में चमकनेवाला दीपक कहते हैं। आनंदघन उसे कभी तो फाँसी कहते हैं जो उनके गले में पड़ कर प्राण नहीं निकलने देती। कभी उसे आकाश बताते हैं, जो विस्तृत तो इतना है कि कोई सीमा ही नहीं पर है शून्य ही। वियोगी के लिये असफल आशा का इससे अच्छा और क्या चित्र हो सकता है। रीझ या चाह के आगमन को वर्षा समझा है। जिस प्रकार वर्षा में एक के बाद एक बूँद पड़ती है उसी प्रकार चाह में एक के बाद एक अभिलाषा हृदय मे उत्पन्न नहीं होती, कवि कहता है, बरसती है। वर्षा में विद्युत्संतान के अवरोध से जिस प्रकार निकटस्थ वस्तु भी दिखाई नहीं देती उसी प्रकार चाह के कारण भी प्रिय का रूप पूरा दिखाई नहीं देता। चाह की अनुभूति को आतरिक दाह से समता देते हैं और प्रिय के रूप को जल से तथा प्रिय को आनंदघन से। इससे कवि की भावना भवभूति की प्रेम भावना से भिन्न सिद्ध होती है। भवभूति ने स्नेहा-भिलाष को मधुर मोह बताया है जो इंद्रियव्यापारों का आवरण कर चैतन्य को निमीलित करता है। वह एक आनंद है।[१] पर ये उसको चेटक, दाह, मोह, मिठास की लाग, आदि कह कर अपने शारीरिक आसक्तिप्रधान मांसल प्रेम का स्वरूप प्रकट करते हैं, जिसकी उत्कटता प्रिय के अभाव तथा भाव में दुःख रूप ही बनी रहती है। वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति इन उपमानों से ही हो सकती है। ये भी प्रभावसाम्य के उदाहरण है। प्रिय के बिना घर को प्रेमी 'झाकर्सी' समझता है जिसमें दम घुट घुट कर प्राणांत होता है।

आनंदघन के उपमानों में भी भावों की तरह व्यक्तित्व की झलक है। सुख दुख की अनुभूति के जो व्यक्तिगत रूप होते है उनका परिचय इनके

१—उत्तर रामचरित, अंक १, श्लोक ३५

अलंकारों में भी मिलता है। स्नेह को इन्होंने फंदे की गाँठ कहा है और चाह को प्रवाह। फंदे की गाठ खोलने लगें तो स्वयं उसमें फँस जाते हैं। बाहर निकलना नहीं होता। इसी प्रकार प्रवाह में पड़े व्यक्ति का बाहर निकास नहीं होता उसी में बहा हुआ चला जाता है। उदात्त हृदय की प्रेमभावना भी इसी प्रकार की होती है कि उससे छुटकारा किसी प्रकार नहीं मिलता। आनंद घन की प्रेमभावना में संयोग में भी प्रेमी दुखी है और वियोग में भी वह चाह के प्रवाह मे पड़ा हुआ है। किसी प्रकार निकास नहीं होता।

'सूझै नहीं सुरझि उरझि नेह गुरझनि
मुरझि मुरझि निसिदिन डाँवाँडोल है।
आह की न थाह दैया कठिन भयौ निबाह
चाह के प्रवाह घेरचौ दारुन कलोल है।"

इस पद्य में अप्रस्तुत द्वारा जो भाव व्यक्त किए गए हैं उनकी अंतर्दशाएँ दूसरे पद्य में प्रस्तुत रूप से वर्णित हुई हैं।

जैसे—

'अंतर उदेग दाह, आँखिन प्रवाह आँसू
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागिबो हो, हँसिबो न रोइबो हू,
खोय खोय आप ही, मैं चेटक लहनि है।
जान प्यारे प्रानन बसत पै आनँदघन
विरह विषम दसा मूक लौं कहनि हैं।
जीवन मरन जीव मीच बिना बन्यौ आय
हाय कौन बिध रची नेही की रहनि है।'

आ० घ० क० ३६

इसमें जो भाव व्यक्त हुए हैं वे ही ऊपर को 'मुरझनि' तथा 'प्रवाह' उपमान से व्यक्त होते हैं। कवि की अनुभूतियों का स्पष्ट आभास उनके उपमानों द्वारा लग जाता है क्योंकि वे भावजन्मा हैं। ऊपर के उपमान तथा उसके अनुसार जो अंतर्दशाएँ कवि ने व्यक्त की हैं उसी के समानांतर भावना है कि 'यदि दुख के धुएँ की धूमर से घुट कर प्राण मर भी जाएँ तो मनभावन से नाता तनिक भी न छुटेगा' प्राणों के गले में जो आशा का पाश पड़ा हुआ है वह टूटेगा नहीं।

दुख धूम की धूँधरि मैं घनआनँद जौ यह जीव घिर्‌यौ घुटि है।
मनभावन मीत सुजान सौं नातो लग्यौ तनकौ न तऊ टुटि है।
घुरि आस की पास उसास गरैं जु परी सु मरैं हू कहा छुटि है।'

इस तरह कवि के अप्रस्तुत उसके व्यक्तित्व के प्रतिनिधि हैं। उसकी अनुभूतियों का पूर्ण परिचय उनसे मिलता है।

कुछ उपमान वस्तुव्यंजक भी आए हैं जैसे वियोग में अपने मन को समझाता हुआ प्रेमी कहा है।

'विष लै बिसारचौ तन कै बिसासी आप चारचौ
जान्यौ हुतौ मन तैं सनेह कछु खेल सो।
अब ताकी ज्वाल मैं पजरिबो रै भली भाँति,
नीकें सहि असह उदेग दुख सेल सों।
गए उड़ि तुरत पखेरु लौं सकल सुख,
परचौ आय औचक वियोग बैरी डेल सौ।'

सु० हि० १६४

इनमें वियोग को डेल बताने से उसका आकर न जाना, तथा सुखों का पक्षी की तरह सर्वथा शीघ्र लुप्त हो जाना, व्यंजित होता है। उपमानों के प्रयोग में कवि की यह भी विशेषता है कि फारसी साहित्य से प्रभावित होकर भी उन्होंने उपमानों का स्वरूप भारतीय रक्खा है। चातक, पपीहा, पंकज, चंद्रमा, आदि की ही संख्या अधिक है, बधिक पखेरू आदि की कम।

६—कुछ अलंकारों की योजना कल्पनाप्रसूत भी है जो रीतिकाल के प्रभाव का अवशेष ही कहा जाएगा। पर ऐसे पद्यों की संख्या अत्यल्प है। वियोग में प्रिय के ध्यान का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि 'मेरा शरीर फानूस की हांडी है। उसपर विघ्नों के पट लिपटे हुए हैं। पर तुम्हारा ध्यान दीपक की तरह मध्य में रक्खा हुआ है। नेत्र पतंगों के समान उसी के साथ रहते है'।

'घेरचौ घट आय अंतराय पर निपट पै
ता मधि उजारे धारे फानुस के दीप हौ।
लोचन पतंग संग तजै न तऊ सुजान।'

सु० हि० ६४

इसी प्रकार का विरह की दावाग्नि का वर्णन है

'विरह दवागिनि उठी है तन बन बीच
जतन सलिल के सु कैसें नीचियै परै।

अन्तर पुढ़ाई फटै चटकत साँस बाँस
आस लंबी लता हू उदेग झरसों जरै।

दुख धूम धूँधरि मैं घिरे घुटै प्रान खग
अब लौं बचे हैं जौ सुजान तनकौ ढरै।

बरसि दरस घनआनँद अरस छाँड़ि
सरस परस दै दहनि सब ही हरै।'

सु० हि० ५०

७—जिन अलंकारों का इन्होंने प्रयोग किया है वे प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार के अलंकार सभी के काव्य में आ सकते हैं। इससे कवि की प्रवृत्ति अलंकार निरपेक्ष प्रतीत होती हैं। इनके काव्य में लगभग नीचे लिखे अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

१—यमक

'टारैं टरैं नहीं तारे कहूँ सु लगे मन मोहन मोह के तारे।'

सु० हि० १

तारे आखों की पुतली तथा ताले।

'काहू कलपाय है सु कैसैं कल पाय है।'

प्रकीर्णक ६

कलपाय = दुखी करेगा तथा चैन पाएगा।

२—श्लेष

'मित्र अंक आएँ जोति जालनि जगत है।'

सु० हि० ३००

मित्र = सूर्य तथा सुहृत।

३—अनुप्रास

'बंक विसाल रंगीले रसाल छबीले कटाछ कलानि मैं पंडित।
सांवल सेत निकाई निकेत हियौ हरिलेत है आरस मंडित।'

सु० हि० १८

'साँसनि सुगंध सोंधे कोटक समोय धरे।
अंग अंग रूप रंग रस बरस्यौ करै।'

सु० हि० २११

४—उपमा

'चित चंबुक लोह लौं चायनि च्वै चुइटै उहटै नहि जेतो गहौं ।'

सु०हि० १०

'मन पारद कूप लौं रूप चहै उमहै सुरहै नहि जेतो गहौं ।'

सु०हि० ११

५—सांगरूपक

'रस सागर नागर स्याम लखें अभिलाखनि धार मंझार बहौं ।
सु न सूझत धीर को तीर कहूँ पचि हारि कै लाज सिवार गहौं
घनआनँद एक अचंभों बड़ो गुन हाथ हूँ बूड़ति कासों कहौं ।'

सु०हि० १३

'रूप चमूप सज्यौ दल देखि भज्यौ तजि देसहि धीर मवासी ।
नैन मिलै उर के पुर पैठते लाज लुटी न छुटी तिनका सी
रीझ सुजान सटी पटरानी बची बुधि बावरी है करि दासी ।'

सु०हि० ४८

६—व्यतिरेक

'हीन भए जल मीन अधीन कहा कहु मो अकुलानि समानैं ।
नार सनेही सों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानैं ।
प्रीति की रीति सु क्यों समझैं जड़ मीत के प्रान परे को प्रमानैं ।
या मन की जु सदा घनआनँद जान की जीवनि जान ही जानैं ।'

७—अनन्वय

'सब भाँति सुजान समान न आन कहा कहौं आपु ते आपु लसै ।'

सु०हि० ७८

८—संदेह

'सीमा सुमेरु की संधितटी किधौं मान मवास गढ़ास की घाटी ।
कै रसराज प्रवाह को मारग बेनी बिहार सों यों दृग दाटी ।
काम कलाधर ओपि दई मनो प्रीतम प्यार पढ़ावन पाटी ।
जान को पीठि लखें घनआनँद आनन आन तें होति उचाटी ।'

सु०हि० १०३

९—विनिमय

'दुख दै सुख पावत हौं तुम तौ चित के अरपे हम चित लही ।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं ।'

१०—अपह्नुति

'जारति अंग अनंग की आचनि जोन्ह नहीं सु नई अगिलाई।'

सु०हि० १९८

११—प्रतीप

'तेरे आगे चंद्रमा कलंक सो लगत है।

सु०हि० ३००

१२—उत्प्रेक्षा

'अंग अंग आली छवि छलक्यौ करति है।'

प्रकीर्णक १४

'अंग तरंग उठै दुति की परि है मनौरूप अबै धर च्वै।'

प्र० २

१३—दीपक

'नाद को सवाद जानै बापुरो बधिक कहा
रूप के विधान को बखान कहा सूर सौं।
सरस परस के विलास जड़ जानै कहा
नीरस निगोड़ी दिन भरै भखि ऊर सों।
चाह की चटकतें भयौ न हिये खौंप जाके
प्रेम पीर कथा कहै कहा अकभूर सों।'

सु०हि० ५०६

१४—अर्थान्तरन्यास

'पीर भरचौ जिय धीर धरै नहि कैसें रहै जल जाल के बांधे।'

सु०हि० १६१

१५—अतिशयोक्ति

'रोम रोम रसना ह्वै लहै जो गिरा के गुन।
तऊ जान प्यारी निबरैं न मैंने आरतें।'

सु०हि० १८४

१६—अनुमान

'जौ उहि ओर घटा घन घोर सों चातक ओर उछाहनि फूलते।
त्यों घनआनँद औसर साजि संजोगिन झुंड हिंडोरनि झूलते।
ग्रीषमतैं हतई जु लता द्रुम अंकनि लागनि है रसमूल ते।
तो रजनी जिय ज्यावन जान सु क्यों इत के हित की सुधि भूलते।'

सु०हि० २३३

१७—प्रतिवस्तूपमा

'मही दूध सम गनैं हंस बग भेद न जानैं,
कोकिल काक न ज्ञान काँच मनि एक प्रमानैं।
चंदन ढाक समान राँग रूपौ सम तोलै,
बिन बिवेक गुन दोष मूढ कवि व्यौरि न बोलै।
प्रेम नेम हित चतुरई जे न बिचारत नेकु मन,
सपनेहूँ न बिलंबियै छिन तिन ढिग आनंदघन।'

सु० हि० २८५

१८—असंगति

जान प्रवीन के हाथ को बीन है मोहित राग भर्‌यौ नित राजैं।'

वही १३५

१९—विरोध—

घनानंद का विरोधाभास अलंकार दूसरे कवियों के इस अलंकार से भिन्न है। साधारणतया इसकी योजना शब्दमूलक होती है। द्व्यर्थक शब्दों के एक अर्थ को लेकर विरोध का आभास होता है और दूसरे अर्थ से उसका परिहार होता है। संस्कृत साहित्य में इसकी यही परंपरा है। इसके मूल में श्लेष प्रायः होता है। हिंदी के कवियों की पद्धति भी इस विषय में यही है। महाकवि केशव की रचनाओं में विरोध का यही रूप मिलता है।

जैसे—

'विषमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति।
केशव जीवन हार को दुख अशेष हर लेति।'

रामचंद्रिका।

यहाँ 'विष' शब्द का जहर अर्थ लेकर विरोध प्रतीत होता है पर जल अर्थ से उसका परिहार हो जाता है। इस प्रकार की योजना में क्लिष्टत्व, अप्रतीतत्व आदि दोष नियमित रूप से बने रहते हैं। पर इस अलंकार का सहज रूप वहीं पर होता है जहाँ वर्ण्य वस्तु का स्वभाव विरोधयुक्त हो। उस योजना में शब्दों की करामात आदि की आवश्यकता नहीं होती जैसी तुलसीदास के निम्नलिखित दोहे में। उसमें विरोध का सहजरूप उपलब्ध होता है।

'मूक होय बाचाल पंगु चढ़ै गिरवर गहन ।
जासु कृपा सो दयाल करहु कृपा कलिमल दहन ।'

रामायण बालकांड

आनंदघन ने प्रायः इसी प्रकार के विरोध अधिक प्रयुक्त किए हैं। इसे स्वभावगत विरोध कहना चाहिए।

जैसे—

'अंतर उदेग दाह आँखिन प्रवाह आँसू
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोयबो न जागिबो हो हँसिबो न रोयबो हू।
खोय खोय आप ही मैं चेटक लहनि है।'

सु० हि० १६६

'होनि सों मच्यौ पै अनहोनि जाके बीच भरी
जामैं चलि जायबै बनाई रहठानि है।'

सु०हि० ४१७

'नेह भीजी बातें रसना पै उर आँच लागै
जागे घनआनँद ज्यौं पुंजनि मसाल है।'

घ०क० ४१

'सीरी परि सोचनि अंचभे सों जरों मरों।'

घ० क० ४६

'जल बूडी जरै दीठि पाय हू न सूझ करैं
अमी पियें मरें मोहि अचिरज अति है।
चीर सों न ढकैं बानी बिन बिथा बकैं।
दौरि परें न निगोडी थकै बड़ी भूतागति है।'

सु० हि० ५१

दूसरे प्रकार का विरोध शब्दगत है। इसमें लक्षणावृत्ति तथा मुहावरों का कवि ने प्रयोग किया है। जहाँ कवि कृत लक्षणाएँ हैं वहाँ कुछ क्लिष्टता अवश्य आ गई है। मुहावरों के आश्रित विरोध सरल और सुबोध हैं। इन दोनों प्रकारों को शब्दगत कह सकते हैं। वस्तु के स्वभावगत भेद में चमत्कार लक्ष्य नहीं प्रतीत होता। दूसरे भेद में कवि की कौतुक वृत्ति चमत्कार का लक्षित बनाती है।

लक्षणाश्रित विरोध—

'चलिबे मधि बैठि रहे हो कहा डग द्वै मग धारि कै रंग रलो'

'जतन बुझै हैं सब जाको कर आगैं।'

'झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ।'

घ० क० २०

'देखिए दसा अगाध अखियाँ निपेटनि की
भसमी विथा पै नित लंघन करति हैं।'

घ० क० २६

'औसर सम्हारौ न तौ अनआयबे के संग
दूरि देस जायबे कों प्यारी नियराति है।'

सु० हि० ४१०

'कृपा कान मधि नैन ज्यौं त्यौं पुकार मधि मौन।'

सु० हि० ४५१

मुहावरों पर आश्रित विरोध—

'घनआनँद छावत भावत हौ दिन पारि इतै उत रातैं पढ़ैं'

सु० हि० ५०१

दिन पारना—आपत्ति डालना। राते पढ़ना—रातभर रहना।

'उघरि छए हैं पै पसारो आपनो पसारि।'

उघरना-बादलों का हटना तथा स्पष्टरूप से प्रतीत होना।

'बदरा बरसैं रितु में घिरिकै नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं।'

'जीव सूख्यौ जाहि ज्यौं ज्यौं भीजत सरवरी।'

जीव सूखना—कष्ट पाना। भींजत सरवरी-रात बीतना।

सु० हि० १८

अलंकार योजना के लिये लाक्षणिक तथा मुहावरेदार प्रयोगों का व्यवहार कर कवि ने अपनी भाषाप्रवीणता का परिचय दिया है। इनमें न तो क्लिष्टता या अप्रतीतत्व आदि दोष हैं और न विरोध के केवल शब्दाश्रित होने से अतात्विकता है। अर्थगत विरोध का प्रभाव चमत्कार नहीं है। गंभीर अनुभूति है। लक्षणाश्रित तथा मुहावरों के विरोधों में बुद्धिक्लेश नहीं। परिचित शब्दों में ही विरोध का आभास होने से चमत्कार और अधिक हो गया है।

आनंदघन ने कुछ नए प्रयोग भी किए हैं जिन्हें सुविधा के लिये अलंकार ही कह सकते हैं। इनमें पहला है अचेतन में चेतनत्व का प्रयोग। हिंदी की मध्यकालीन कविताओं में यह तत्व कहीं कहीं भले ही आ जाए पर प्राचुर्य इसका नहीं मिलता। इन्होंने बड़ी बहुलता से इसका व्यवहार किया है। यह फारसी के प्रभाव का फल है जैसे—

'पैने नैने तेरे से न हेरे मैं अनेरे कहूँ
घाती बड़े कातीं लिए छाती पै रहे चढ़े।'

सु० हि० ५२

'तरसि तरसि प्रान जान मनि दरस कौं
उमहि उमहि आनि आँखिनि बसत है।
विषम विरह के विसिख हिय घायल है
गहवर घूमि घूमि सोचनि ससत है।
निसिदिन लालसा लपेटे ही रहत लोभी
मुरझि अनोखी उरझनि में गसत है।
सुमिरि सुमिरि घनआनँद मिलन सुख
कटनि सौं आसा पट कटि लौं कसत है।'

सु० हि० २६

यहाँ नेत्र और प्राणों में चेतनत्व का आरोप है।

दूसरा प्रयोग एक शब्द के अनेक अर्थों में प्रयोग का है। इसमें अनेक अर्थ प्रायः लक्षणा और मुहावरों के आधार पर किए जाते हैं। यहाँ सर्वत्रक्लिष्टत्व दोष आ गया है। लक्षणा आदि निष्प्रयोजन होती हैं। इससे कवि की चमत्कार-प्रधान कौतुकवृत्ति का ही संतोष होता है। संस्कृत के कवि माघ और भारवि ने ऐसे प्रयोग अधिक किए हैं।

रीझ बूझ शब्द को लेकर—

'रीझ तिहारी न बूझि परै अहो बूझति है कहौ रीझत काहै।
बूझि कै रीझत हौ जु सुजान किधौं बिन बूझ की रीझ सराहै।
रीझ न बूझ तऊ मन रीझत बूझि न रीझे हू और निबाहै।
सोचनि बूझत सूजत ज्यौं घनआनँद रीझ औ बूझहि चाहै।'

दोष

कवि कितना ही निपुण तथा भाषाप्रवीण हो थोड़े बहुत दोष सबही की रचनाओं में मिल जाते हैं घनानंदजी भी इनके अपवाद नहीं हैं। उनके कवित्त सवैयों में निम्नलिखित दोष प्रात होते हैं।

१—न्यूनपदता

'हिय की गति हाय कहा कहिये तिन त्यौं तबहों कबहू को हिलैं।'

इसमें—तबही से होना चाहिए।

'दई बहुतै दिन नेकु दिखाई'

सु० हि० ३५३

इसमें दिन के आगे 'तैं' की कमी है।

२—अर्थांतरप्रतीतिकृत्

'ता दिन विचारनि हीं जोति जाल तनी है।'

घ० क० ३३

यहाँ 'विचारनि' बेचारनि के स्थान पर छंद अनुरोध से किया गया है। पर विचार शब्द के बहुवचन का अर्थ भी देता है।

३—अश्लीलता

'ह्वै है सोऊ घरी भाग उघरी आनंदघन
सुरस बरसि लाल देखिहौ हरी हमैं'

ब्रज भाषा में 'हरी होना' या 'हरी करना' आदि शब्द गाय भैंसों के गर्भवती होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

४—लयभंग

'जान परी जान प्यारी निकाई की निधि है।'

सु०हि० १६२

यहाँ 'निकाई की निधि है' में लय भंग है।

'सुनिबो देखिबो स्वाद आदि दै धरम जेते'

वही १६५

यहाँ स्वाद पर्यंत लय का भंग है।

५—समाप्त पुनरात्तता

'चंद चकोर की चाह करै घनआनँद स्वाति पपीहा को धावै।
त्यौ त्रसरैनि के ऐन बसै रवि मीन पै दीन ह्वै सागर आवै।'

'मोसों तुम्हें सुनौ जान कृपानिधि नेह निबाहिबौं यौं छबि पावै।
ज्यौं अपनी रुचि राचि कुबेर सु रंकहि लै निज अंक बसावै।'

सु० हि० २०२

यहाँ पहली दो पंक्तियों में उपमान है। उनका उपमेय तीसरी पंक्ति में आ जाने से वाक्यार्थ पूर्ण हो गया। चतुर्थ पंक्ति में फिर एक उपमान का प्रयोग किया है। समाप्ति का पुनरादान होने से समाप्तपुनरात्तता दोष हो गया।

६—दूरान्वय

'एरी घनआनंद बरसि मेरी जान तेरी
हियो सुख सीचे गति तिरछी चितौन की।'

सु० हि० १५५

यहाँ 'तेरी' का संबंध 'चितौनि' से है जो बहुत दूर पड़ा हुआ है।

७—हीनोपमा

'बलि नेकु मया करि हेरो हाहा अबला किधौं फूलि रही तुरई।'

सु० हि० ३११

इसमें अबला को तोरई बताना हीनता है।

'इसी प्रकार अलबेली सुजान के पायनि पानि पर्‌यौ न टर्‌यौ मन मेरो भवा।'

इसमें मन को भवा बताने से उसकी हीनता होती है।

८—अभवन्मतसंबंध

'काहू कंजमुखी के मधुप ह्वै लुभाने जानैं।'

सु० हि० २७

यहाँ मधुप का संबंध कंज से होना कवि की अभिमति है पर वह इसलिये संभव नहीं कि वह कंजमुखी में गौण हो गया है। प्रस्तुत वाक्यरचना में कंजमुखी से मधुप का अन्वय हो सकता है वह इष्ट नहीं है। अतः अभवन्मत संबंध दोष हो गया। 'काहू मुख कंज के' कहा जाए तो ठीक होगा।

९—क्लिष्टत्व

लाक्षणिक, वक्र तथा विचारपूर्ण शैली होने के कारण क्लिष्टत्व दोष बहुत से पदों में विद्यमान है। जैसे—

'समै के सरूप को जथारथ है बोध जाहि
आए सो हरष औ बिषादहू न गत को।
प्यारो घनआनंद सुजान छायौ आँखिन में
रस छाकै ताकै वाहि ठगिया ठगत को।
ताहि न्यारो मिल्यौ जौ बिचारो सो तौ ताहू मधि,
ताहि रंग ढग रागै सुमन पगत को
ऐसी दसा भाग जाग्यौ जागैं जौ जगाय भेंटैं
प्रेम नें जगत जिहि खेम मैं मगत को।'

सु० हि० ३९४

१०—पुनरावृत्ति

एक ही भाव की तथा उपमानों आदि की अनेक छंदों में आवृत्ति मिलती है। कवि का चिंतन बहुमुखी नहीं है।

११—च्युत संस्कृति

'कहूँ घनआनंद घुमडि उघरत कहूँ नेह की विपनता सुजान अतरक है।'

यहाँ 'घुमडि' पूर्वकालिक क्रिया है उघरत साधारण क्रिया। दोनों की समानबलता नहीं है। इसलिये दो बार कहूँ का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। घुमड़त उघरत होता तो ठीक था।

पाँचवाँ परिच्छेद

स्वच्छंद काव्यधारा का लक्षण, इतिहास तथा आनंदघन की काव्यप्रवृत्ति

"सुछद सदा रहै"

१—काव्यप्रवृत्ति

हिंदी साहित्य में 'स्वच्छंद' अथवा 'रीतिबद्ध' काव्यधाराओं का चिंतन यूरोप की क्लासिकल तथा रोमांटिक प्रवृत्तियों की समता से किया गया है, भले ही उसका प्रभाव यहाँ की प्रवृत्तियों पर न हो। भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप तथा प्रभाव का चिंतन एक विशेष रूप से हुआ है। स्वरूप की दृष्टि से अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि मार्ग आते हैं। प्रभाव में ध्वनि, रस, औचित्य आदि के सिद्धांतों का समावेश है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में आधुनिक युग की नई धारा के साहित्य को चार भागों में विभक्त किया है। उनमें से अंतिम विभाग को 'स्वच्छंद धारा[1]' लिखा है। शुक्लजी का तात्पर्य इस शब्द से 'रोमांटिसिज्म' का ही है। इसलिये उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की उन परिस्थितियों की जिनके कारण वहाँ 'रोमांटिसिज्म' प्रवर्तित हुआ, आधुनिक हिंदी साहित्य की परिस्थितियों से समता की है। रीतिबद्धता उभयत्र एक सी ही है। अंग्रेजी साहित्य में रीतिबंधन विदेशी साहित्य लैटिन का था, हिंदी में स्वदेशी संस्कृत साहित्य का; पर एक ही देश और एक ही जाति के बीच आविर्भूत होने के कारण दोनों में कोई मौलिक पार्थक्य नहीं।[2] शुक्लजी ने श्रीधर पाठक को इस धारा का प्रवर्तक माना है तथा सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर, ठाकुर गुरुभक्त सिंह तथा उदयशंकर भट्ट आदि को इस धारा में गिना है। श्रीधर पाठक तो रीतिकाल से

१—हि०सा० का इतिहास, प्रवर्धित संस्करण, पृ० ७२१।७२२।

२—वही ६०३।

चली आई ब्रजभाषा काव्य की परंपराओं से मुक्त होने के कारण तथा अन्य शेष कवि छायावाद के साहित्यिक संप्रदाय से मुक्त होने के कारण स्वच्छंद धारा में परिगणित किए गए प्रतीत होते हैं। रीतिसंप्रदाय की मुक्तता का तत्व घनानंद, बोधा आदि कवियों में देखा गया है। फलतः जैसा साहित्यिक संप्रदायों का बंधन अंग्रेजी साहित्य पर था लगभग वैसा ही रीतिकाल के हिंदी साहित्य पर विद्यमान था। इसलिये हिंदी की स्वच्छंद काव्यधारा को भली भाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि अंग्रेजी साहित्य की स्वच्छंद प्रवृत्ति का भी सूक्ष्म परिचय प्राप्त कर लिया जाए। अंग्रेजी साहित्य की 'स्वच्छंद धारा' का यहाँ की काव्यप्रवृत्ति पर कोई प्रभाव था, इससे यह अभिप्रेत नहीं है। दोनों धाराओं का स्वभाव तथा परिस्थिति प्रत्यक्षतः भिन्न हैं। फिर भी कुछ समान धर्म भी हैं जिनका कारण देश, काल आदि बाह्य वस्तु नहीं वरन् कविप्रतिभाओं का वह स्वभाव है जो अधिक देर तक किसी भी प्रतिबंध में नहीं रह सकता। असाधारण प्रतिभाओं की एक ऐसी अनुभव भूमि होती है जो देश, काल के भेद से भी ऊपर उठ जाती है। और सत्य प्रायः इसी भूमि पर आभासित होता है।

अंगरेजी साहित्य में शास्त्रीय एवं स्वच्छंद काव्य धाराएँ

२—निरुक्ति और लक्षण—

'रोमांटिक' शब्द 'रोमन' या 'रोमांस' शब्द से बना विशेषण है। 'रोमन' या रोमांस शब्द का अर्थ है अनुवाद। मध्ययुग में लैटिन भाषा का अपभ्रंश रूपों से जो अनुवाद किया जाता था वह 'रोमांस या रोमन' कहलाता था। गौण लक्षणा के आधार पर यही अर्थ विस्तार पाकर विदेशी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। आलोचक स्टोडार्ड के विचार से 'रोमांस' ऐसी वस्तु का नाम है जो दूर से आई हो और वर्तमान जीवन से अधिक अच्छी सुसंपन्नतर तथा भद्रतर हो। यह जीवन से पृथक् हो, इसलिये उसका अभिलाष तो हो पर प्राप्त्याशा न हो।

अंग्रेजी में सत्रहवीं शताब्दी की कहानियों के लिये भी 'रोमांटिक' विशेषण व्यवहृत होता था। उनमें मुख्य रूप से दो तत्व विद्यमान होते थे। साहसिकतापूर्ण वीरभाव और काल्पनिकता। फलतः 'रोमांटिक' शब्द का संकेतित अर्थ ऐसा साहित्य बन गया है जो एक ओर तो पात्रों के वीर चरितों

का वर्णन करे और दूसरी ओर ऐतिहासिक सत्य न होकर साहित्यकार की कल्पना मात्र हो।

इसके बाद अगले डेढ़ सौ वर्षों में इस शब्द के साथ एक प्रकार की निंदा और घृणा का भाव संबद्ध हो गया। 'रोमांटिक' वही कहा जाने लगा जो उपहासास्पद, असत्य और अस्वाभाविक था! पोप ने अपनी कविता की श्लाघा करते हुए कहा था कि—

'यह कल्पना की कोरी मृगतृष्णा में नहीं घूमा, वह सत्य पर टिका और अपने गीतों को नैतिक बनाता रहा'।

यह रोमांटिक कविताओं के विरोध में ही कहा गया था।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फिर 'रोमांटिक' भावना का पुनरावर्तन हुआ। जो वस्तुकल्पना के लिये आकर्षक हो, वह इस शब्द का गम्यार्थ बन गया। एडिसन ने मिलटन की कविता की प्रशंसा में उसे उत्तम रोमांटिक बताया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में इस शब्द की अभिधाशक्ति और विस्तृत हो गई। इसका अर्थ 'अनुभूतियों का एक विशेष प्रकार अथवा अनुभूतियों को रूप देना हो गया। रस्किन के अनुसार शास्त्रीय मार्ग (क्लासिकल प्रवृत्ति) के कवियों के लिये यह संभव नहीं था कि वे उच्च कोटि की बुद्धि तथा अनुभूतियों के अधिकारी बन सकें। यह कार्य स्वच्छंद मार्गी कवियों का था।

३—परिस्थितियाँ

इंगलैंड में जिस समय रोमांटिक साहित्य का आविर्भाव हुआ तो यह भावक्रांति साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में ही सीमित नहीं रही थी, इसका प्रसार धर्म, नीति, राजीनिति, रसज्ञता आदि सब क्षेत्रों में हो गया था। बल्कि साहित्य में स्वच्छंदता की भावना सामाजिक स्वच्छंदता के फलितरूप में उत्पन्न हुई थी। उस समय मनुष्य ने प्राचीन तथा वर्तमान जीवन पर संदेह की दृष्टि से सिंहावलोकन किया था। केवल एक ही वस्तु संदेह से परे मानी जाती थी। वह था मनुष्य। मनुष्य ने प्रत्येक वस्तु पर संदेह प्रकट किया पर मनुष्य पर नहीं किया। उसने अपने प्रति विश्वास बनाए रखा और कला का

देवता ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को बना दिया। वहाँ जीवन के व्यावसायिक, राजनीतिक, आदि क्षेत्रों में वैयक्तिक स्वाधीनता की प्रतिष्ठा हो गई थी। इसके साथ ही लोगों ने विचार आरंभ कर दिया कि स्वाधीनता का प्रयोग सदाचार के क्षेत्र में किया जाए। गाडविन ने निःसंशय भाव से घोषित किया कि मनुष्य स्वयं सदाचारी प्राणी है। यदि सब कानून और नियम रद्द कर दिए जाएँ तो मनुष्य की बुद्धि और चरित्र में अभूतपूर्व उन्नति होगी। शेली ने इन्हीं भावों को काव्यबद्ध कर दिया था। इस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक स्वतंत्रता के भावों ने कला तथा नीति के क्षेत्रों में जो स्वच्छंदता का प्रसार किया उससे 'रोमांटिक' साहित्य की सृष्टि हुई।[1]

४—'क्लासिकल' अथवा शास्त्रीय मार्ग

'क्लासिकल' का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय, गंभीर, तथा अप्रतिम। जो साहित्य अपनी महत्ता, रचना और गौरव से संसार के अन्य साहित्यों को पीछे छोड़ देता है और अपना एक पृथक् श्रेणी—'क्लास' बना लेता है वह 'क्लासिकल' है। मानव का स्वभाव है वर्तमान की कटुता से अतीत की प्रिय भूमि की ओर मुड़कर देखना, उसकी सराहना करना। उसका कारण वर्तमान से ऊब जाना होता है। अतीतदर्शी मनुष्य के लिये अतीत ही आदर्श बन जाता है। यही 'क्लासिकल' की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। इंगलैंड के कवियों के सामने १५वीं और १६वीं शताब्दी में कविता की जाँच का मानदंड ग्रीक और लैटिन का साहित्य था। अतः रोमन और ग्रीक की श्रेष्ठ रचनाओं को 'क्लासिक' कहा जाता था। साथ ही उस ढांचे पर बनी अन्य रचनाएँ भी 'क्लासिक' कहलाती थीं। सन् १६६० से लेकर सन् १७९८ तक इंगलैंड में जो साहित्यधारा प्रवाहित हुई उसका संचालन करनेवाले होमर, विरीजल तथा होरेस थे। इन सब के भी नियंता थे आचार्य अरस्तू। इनका अनुकरण करना ही साहित्य की श्रेष्ठता समझी जाती थी। इस प्रवृत्ति का नाम 'क्लासिकल' था।

अरस्तू से पहले काव्यसमीक्षा का कोई व्यवस्थित रूप नहीं था। निंदा या प्रशंसा की न तो कोई सीमा थी न उसका कोई मानदंड था। वैयक्तिक रुचि ही उसका आधार थी। भारतीय साहित्य की समीक्षा के इतिहास में भी

१—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी—'रोमांटिक साहित्य शास्त्र' की भूमिका।

इस प्रकार की प्रवृत्ति रह चुकी है। 'सूर सूर तुलसी ससी' 'तत्व तत्व सूरा कही' आदि हिंदी की सूक्ति समीक्षाएँ इसी ढंग से चली आती हैं। अरस्तू ने अपने पूर्व के तथा अपने समय के समस्त साहित्य का समूहात्मक दृष्टि से अध्ययन किया और पता चलाया कि साहित्य का कौन सा गुण सबसे अधिक प्रभावित करता है। उसी से यह स्पष्ट हो गया कि रसिक लोग क्यों किसी कृति की निंदा अथवा प्रशंसा किया करते हैं। उसने विपुल साहित्यराशि में से कुछ ऐसे सूत्र चुने जो आलोचकों के लिये तो आलोचना के मानदंड बने और कवियों के लिये साहित्यसृजन के आदर्श! अरस्तू से पहले आलोचना बेनकेल का ऊँट था और कला मनमानी उच्छृंखलता थी। अरस्तू ने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है वे ही क्लासिकल साहित्य की विशेषताएँ हैं। वे सिद्धांत निम्नलिखित हैं।

अरस्तू का पहला सिद्धांत है अनेकत्व में एकत्व की स्थापना। संसार विविधताओं का भंडार है। एक जाति की ही एक वस्तु दूसरे से भिन्न होती है। इसी प्रकार कलाकृतियाँ भी विभिन्न होती हैं। पर इस विविधता में एकता भी दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य की लंबी नाक, चपटा मुँह, गोल सिर, मोटी जाँघें और पतली टाँगें सब मिलकर जीवन धारण का कार्य करती हैं। प्रयोजन सबका एक है। यह प्रयोजन ही एकता है जो विविधताओं को एक सूत्र में बाँध कर समन्वित कर देती है। इसके अभाव में मानव शरीर असंबद्ध और विशृंखल हो जाए। इसी आधार पर कविता की श्रेष्ठता पहचानने के लिये यह देखना चाहिए कि रचना का कोई मुख्य उद्देश्य है या नहीं। यदि कोई प्रयोजन है तो फिर देखना होगा कि रचना के विविध भाग कहाँ तक इस उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हैं। इसका नाम 'अनुरूपता' है। इसी से पारस्परिक संगठन, समन्वय आदि गुण आते हैं। रचना को पढ़ लेने पर ऐसा संस्कार मन में जम जाना चाहिए कि उसके अंग प्रत्यंग विस्तारपूर्वक उन्हीं बातों को दिखला रहे हैं, जो जो उद्देश्य के अंतराल में अंतर्हित थीं। इस प्रयोजनप्रगुणता के द्वारा रचना में एक ओर तो सार्थकता और सोद्देश्यता आती है दूसरी ओर उसके अंगों की निजी विविधताएँ समन्वित होकर रचना का शरीरसौष्ठव, संघटन और अनुरूपता उत्पन्न कर देती है। उदाहरण के लिये तुलसी की रामभक्ति उनकी रचनाओं की ऐसी ही प्रयोजनीय एकता है।

इस अनेकत्व में एकत्व के सिद्धांत के आधार पर ही अंग्रेजी साहित्य तीन एकताओं का उपनियम बना है। इसका नाटकों में अर्थ होता है—

१—कथावस्तु की अवधि अधिक लंबी न हो।

२—घटनाएँ विभिन्न स्थानों पर घटित न हों।

३—वातावरण की एकता विद्यमान हो। जैसे रचना का वातावरण आदि गंभीर है तो उसमें हल्कापन लाने के लिये मसखरापन आदि के भाव न आने चाहिए।

इस तरह 'एकत्व' क्लासिकल काव्य का प्राण है जिसकी रक्षा उपर्युक्त संकलनत्रय से होती है।

इसके अतिरिक्त नीचे दिए गए कुछ नियम और अनिवार्य समझे जाते हैं।

१—रचना में जो कहा जाय वह थोड़े शब्दों में कहा जाए।

२—घुमा फिरा कर बात न कही जाए।

३—पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति न हो।

४—अलंकारों का व्यर्थ भार न बढ़ाया जाए।

५—कथावस्तु सीधी सादी हो।

वैसे ये नियम सभी को स्वीकार्य होंगे, पर इनका अत्यधिक अंधानुकरण कवि की मौलिकता के लिये अवकाश नहीं रहने देता। कलाकृति निष्प्राण हो जाती है।

'क्लासिकल' प्रवृत्ति के साहित्यिक भावपक्ष और वाह्याकार पक्ष को पृथक्-पृथक् समझाते हैं। और वाह्याकार के सँवारने सजाने पर पर्याप्त बल देते हैं। अलंकार, छंद आदि का संयोजन वाह्याकार के रूप में ही आता है। इंगलैंड के १८ वीं शताब्दी के कवियों की यही प्रवृत्ति थी।

५—दृष्टिकोण—

वास्तव में 'क्लासिकल' और रोमांटिक प्रवृत्तियाँ केवल समय विशेष के कारण ही नहीं उत्पन्न हो जातीं। मनुष्यों के मानसिक संघटन भी उसमें हेतु का कार्य करते हैं जो प्रत्येक समय प्रत्येक देश में संभव हैं। जीवन के प्रति दो प्रकार का दृष्टिकोण मनुष्यों का होता है—वैज्ञानिक और भावुकता

इस प्रकार की प्रवृत्ति रह चुकी है। 'सूर सूर तुलसी ससी' 'तत्व तत्व सूरा कही' आदि हिंदी की सूक्ति समीक्षाएँ इसी ढंग से चली आती हैं। अरस्तू ने अपने पूर्व के तथा अपने समय के समस्त साहित्य का समूहात्मक दृष्टि से अध्ययन किया और पता चलाया कि साहित्य का कौन सा गुण सबसे अधिक प्रभावित करता है। उसी से यह स्पष्ट हो गया कि रसिक लोग क्यों किसी कृति की निंदा अथवा प्रशंसा किया करते हैं। उसने विपुल साहित्यराशि में से कुछ ऐसे सूत्र चुने जो आलोचकों के लिये तो आलोचना के मानदंड बने और कवियों के लिये साहित्यसृजन के आदर्श! अरस्तू से पहले आलोचना बेनकेल का ऊँट था और कला मनमानी उच्छृंखलता थी। अरस्तू ने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है वे ही क्लासिकल साहित्य की विशेषताएँ हैं। वे सिद्धांत निम्नलिखित हैं।

अरस्तू का पहला सिद्धांत है अनेकत्व में एकत्व की स्थापना। संसार विविधताओं का भंडार है। एक जाति की ही एक वस्तु दूसरे से भिन्न होती है। इसी प्रकार कलाकृतियाँ भी विभिन्न होती हैं पर इस विविधता में एकता भी दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य की लंबी नाक, चपटा मुँह, गोल सिर, मोटी जाँघें और पतली टाँगें सब मिलकर जीवन धारण का कार्य करती हैं। प्रयोजन सबका एक है। यह प्रयोजन ही एकता है जो विविधताओं को एक सूत्र में बाँध कर समन्वित कर देती है। इसके अभाव में मानव शरीर असंबद्ध और विशृंखल हो जाए। इसी आधार पर कविता की श्रेष्ठता पहचानने के लिये यह देखना चाहिए कि रचना का कोई मुख्य उद्देश्य है या नहीं। यदि कोई प्रयोजन है तो फिर देखना होगा कि रचना के विविध भाग कहाँ तक इस उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हैं। इसका नाम 'अनुरूपता' है। इसी से पारस्परिक संगठन, समन्वय आदि गुण आते हैं। रचना का पढ़ लेने पर ऐसा संस्कार मन में जम जाना चाहिए कि उसके अंग प्रत्यंग विस्तारपूर्वक उन्हीं बातों को दिखला रहे हैं, जो जो उद्देश्य के अंतराल में अंतर्हित थीं। इस प्रयोजनप्रवणता के द्वारा रचना में एक ओर तो सार्थकता और सोद्देश्यता आती है दूसरी ओर उसके अंगों की निजी विविधताएँ समन्वित होकर रचना का शरीरसौष्ठव, संघटन और अनुरूपता उत्पन्न कर देती है। उदाहरण के लिये तुलसी की रामभक्ति उनकी रचनाओं की ऐसी ही प्रयोजनीय एकता है।

इस अनेकत्व में एकत्व के सिद्धांत के आधार पर ही अंग्रेजी साहित्य का तीन एकताओं का उपनियम बना है। इसका नाटकों में अर्थ होता है—

१—कथावस्तु की अवधि अधिक लंबी न हो।

२—घटनाएँ विभिन्न स्थानों पर घटित न हों।

३—वातावरण की एकता विद्यमान हो। जैसे रचना का वातावरण आदि गंभीर है तो उसमें हल्कापन लाने के लिये मसखरापन आदि के भाव न आने चाहिए।

इस तरह 'एकत्व' क्लासिकल काव्य का प्राण है जिसकी रक्षा उपर्युक्त संकलनत्रय से होती है।

इसके अतिरिक्त नीचे दिए गए कुछ नियम और अनिवार्य बनाए जाते है।

१—रचना में जो कहा जाय वह थोड़े शब्दों में कहा जाए।

२—घुमा फिरा कर बात न कही जाए।

३—पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति न हो।

४—अलंकारों का व्यर्थ भार न बढ़ाया जाए।

५—कथावस्तु सीधी सादी हो।

वैसे ये नियम सभी को स्वीकार्य होंगे, पर इनका अत्यधिक अंधानुकरण कवि की मौलिकता के लिये अवकाश नहीं रहने देता। कलाकृति निष्प्राण हो जाती है।

'क्लासिकल' प्रवृत्ति के साहित्यिक भावपक्ष और वाह्याकार पक्ष को पृथक्-पृथक् समझाते हैं। और वाह्याकार के सँवारने सजाने पर पर्याप्त बल देते हैं। अलंकार, छंद आदि का संयोजन बाह्याकार के रूप में ही आता है। इंगलैंड के १८ वीं शताब्दी के कवियों की यही प्रवृत्ति थी।

५—दृष्टिकोण—

वास्तव में 'क्लासिकल' और रोमांटिक प्रवृत्तियाँ केवल समय विशेष के कारण ही नहीं उत्पन्न हो जातीं। मनुष्यों के मानसिक संघटन भी उसमें हेतु का कार्य करते हैं जो प्रत्येक समय प्रत्येक देश में संभव हैं। जीवन के प्रति दो प्रकार का दृष्टिकोण मनुष्यों का होता है—वैज्ञानिक और भावुकता

पूर्ण। वैज्ञानिक दृष्टि से हम वस्तु के वाह्य अंग प्रत्यंगों को देखते हैं। उसका विश्लेषण करते हैं। इसी दृष्टि से जीवन के अन्य कार्यकलाप देखे जाते हैं। इसके फलस्वरूप कुछ साधारण सिद्धांत बना लिए जाते हैं। मनुष्य और प्रकृति के संबंध के विषय में भी यही नियम लागू होते हैं। इन नियमित धारणाओं का जब कविता में प्रयोग होता है तो वह 'क्लासिकल' कहलाती है। इस स्थिति में प्रतिपाद्य नियमानुसार सबके लिये एक सा और साधारण होता है। इसलिये उसमें कोई चमत्कार विशेष नहीं रहता। फलतः कलाकार वस्तु के प्रतिपादन में चमत्कार का योग करता है। उसका ध्यान यह रहता है कि सर्वविदित सत्य को ही ऐसे ढंग से प्रकाशित किया जाए कि वह नवीन सा प्रतीत हो। यही वाह्याकार को सँवार-सज्जा है। इस दृष्टिकोण में महत्व अभिव्यंग्य का नहीं होता अभिव्यक्ति का होता है। कविता कवि के पसीने का फल होती है, हृदयरक्त से लिखी हुई नहीं।

दूसरी दृष्टि भावुकता की होती है। भावुक व्यक्ति जब प्रकृति के रूप व्यापारों को देखता है तो उसके हृदयपटल की तह की तह खुलने लगती है। नए नए भाव जागने लगते हैं। वह उन भावों में ही विभोर हो जाता है। उसे नियम उपनियमों का ध्यान नहीं रहता। भावों के उद्‌गार अपने अनुकूल भाषा का निर्माण कर लेते हैं, इसलिये इन लोगों की भाषा भी कुछ नवीनतायुक्त होती है। यही स्वतःप्रसूत भावों का प्रवाह अपने अनुकूल शब्दजाल में अभिव्यक्त होकर 'रोमांटिक' काव्य कहलाता है।

६—लक्षण (रोमांटिक मार्ग)

'रोमांटिक' काव्यप्रवृत्ति के अनेकों लक्षण आचार्यों द्वारा दिए गए हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि कौन लक्षण वैज्ञानिक है, साधारण विद्यार्थी के लिये अत्यंत कठिन है।

१—कुछ विद्वान इसका परिचय निषेधात्मक लक्षणों से देते हैं। उनके अनुसार 'रोमांटिक' असाधारण का वाचक है। इस मार्ग के कवि का अभिलाष लोक साधारण विषयों से हटकर ऐसे विषयों पर जाता है जिसमें आवेगपूर्ण प्रयत्न हों और अस्पष्ट इच्छाओं को उत्पन्न करने की क्षमता हो।

२—दूसरे विद्वान 'रोमांटिक' शब्द का अर्थ संभाव्य का विरं असंभाव्य मानते हैं। इस मत मे संभाव्य के विपरीत आशास्य कल्पनाकलित विपयों का कला मे अगीकार करना 'रोमांटिक' प्रवृत्ति कहलाता है।

३—अभिव्यक्ति के क्षेत्र में 'रोमांटिक' वाचकता विरोधी माना जाता है। इसमें सांकेतिकता अधिक होती है। प्रतीकों का प्रयोग होता है जिनका अर्थ केवल उन्हीं को स्पष्ट होता है जो अपने आध्यात्मिक उच्चैस्त्व के कारण अंतर्हित तत्व को भी देख लेते हैं। इस प्रकार 'रोमांटिक' प्रवृत्ति में रहस्यवाद का भी कुछ अंश आ जाता है।

४—यह रूपप्रधानता का भी विरोधी है। क्लासिकल मार्ग का कलाकार रूप की सजावट पर विशेष ध्यान देता है। रोमांटिक मार्ग का कलाकार व्यक्तिगत अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति पर।

५—श्लेगल के अनुसार 'क्लासिकल' और 'रोमांटिक' प्रवृत्तियों में यह अंतर है कि पहले प्रकार की कृति अपने में पूर्ण होती है। उसका उतना ही तात्पर्य होता है कि जितना उसके शब्द स्पष्ट करते हैं। पर रोमांटिक कविताओं में एक प्रकार का रहस्य विद्यमान रहता है। एक छाया रहती है जो तात्पर्य को पूर्णतया प्रकट भी नहीं होने देती और उसको उच्चता तथा विस्तार को अधिकाधिक बढ़ाती है।

६—'क्लासिकल' प्रवृत्ति के कलाकार की प्रशंसा इस बात में है कि वह ज्ञेय पदार्थों का अपनी प्रतिभा से याथार्थ्य ग्रहण करे और उसकी प्रभविष्णु अभिव्यक्ति कर सके। पर रोमांटिक प्रवृत्ति के कलाकार की श्रेष्ठता यह है कि उसका आत्मा स्फुरित होकर अपना ऐसी अभिव्यक्ति दे कि यह जादू का सा कार्य करे।

७—'क्लासिकल' काव्य का कवि वस्तु के पूर्ण सौंदर्य में परिचय का परिवर्धन करता है। वस्तु की उपस्थापना ऐसे प्रकार से की जाती है कि वह हमें अत्यंत परिचित लगती है। बार बार उसे सुनते या देखते इसलिये हैं कि वह बहुत अच्छे प्रकार से कही गई है। रोमांटिक काव्य में सौंदर्य के साथ अजनबीपन और बढ़ा दिया जाता है।

७—स्कॉट जेम्स ने अपनी पुस्तक 'मेकिंग आफ लिटरेचर' में दोनों मार्गों का तुलनात्मक अध्ययन कर दोनों का अंतर व्यक्त किया है। उनके

विचार से क्लासिकल प्रवृत्ति का पहला भेदक तत्व है वाह्यरूप की प्रमुखता। इसी के साथ साथ अवयवों की परस्पर संगति, संतुलन, क्रम, सामंजस्य और संयम आदि गुण और बढ़ जाते हैं। रोमांटिक प्रवृत्ति में रूप के पीछे छिपे आत्मा का विशेष चिंतन होता है। इससे कवि अरूपवादी तो नहीं बनता पर ऐसी स्वतंत्रता का उपभोग अवश्य करता है जिससे वह अपने अंतःकरण के भाव कभी किसी माध्यम से और कभी किसी से व्यक्त कर सके। पहले का प्रभाव प्रथा के अनुयायियों पर विशेष होता है। दूसरे का नवीनतानुयायियों पर। क्लासिकल काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करते समय जिन गुणों पर विशेष ध्यान दिया जाता है वे योग्यता, औचित्य, परिमाण, संयम, परिवर्तन, प्रमाण, अनुभव, और सुन्दरता हैं। दूसरे पक्ष के आवश्यक गुण हैं भावों को उभारना, शक्ति, बेचैनी, आध्यात्मिकता, चाव, विक्षोभ, स्वतंत्रता, प्रयोगवाद और उत्तेजना आदि।

महा मनीषी अबर क्रोम्बी ने इस समस्या पर गहराई और स्वतंत्रता से विचार किया है। उनकी धारणा है कि रोमांटिक प्रवृत्ति कला की कोई धारा विशेष नहीं अपितु एक तथ्य है जो वस्तु की चरित्रगत विशेषताओं से संबद्ध रहता है। क्लासिकल प्रवृत्ति में वस्तु की चरित्रगत विशेषताओं के साथ अन्य गुणों का भी समन्वय किया जाता है। केवल उसी का चित्रण नहीं होता। जिस कृति को रोमांटिक कहा जाता है उसमें एक ही तत्व चरित्रगत विशेषता, प्रमुख बन जाता है। इस तरह इन दोनों प्रवृत्तियों का अंतर केवल एक तत्व से अन्य गुणों का मेल करने और न करने में है। उनके अनुसार दोनों धाराओं में यह कोई बड़ा मौलिक अंतर नहीं है। रोमांटिक प्रवृत्ति का वास्तविक विरोध तो यथार्थवाद से होता है।

वास्तव में स्वच्छंदतावाद (रोमांटिक प्रवृत्ति) कलाकार की एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति है। इसका न काल से संबंध है न देश से। हाँ राजनीतिक परिवर्तनों का कलाकार पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। अपरिवर्तन की अति से ऊबे हुए कुछ उत्साही लोग क्रांति मचाते हैं। इसी का साहित्यिक नाम स्वच्छंद धारा है। स्वच्छंदता की अति उच्छृंखलता में परिणत होती है तो उसकी सीमाएँ बाँधना आवश्यक हो जाता है। यही सीमा का बंधन और उनका अनुवर्तन शास्त्रीय (क्लासिकल) मार्ग है।

इस पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस तरह भी विचार किया जाता है। कुछ व्यक्तियों की वृत्ति वहिर्मुखी होती है और कुछ की अंतर्मुखी। बहि-

मुखी वृत्तिवालों की मान्यता है कि सत्य का परिचय न तो केवल अंतःकरण से होता है और न केवल इंद्रियों से। अंतःकरण केवल अनुभव का ज्ञान कराता है। इंद्रियाँ विषय का। सत्य इन दोनों से पृथक और दोनों का समन्वित रूप है। इसलिए सत्य का ज्ञान होने के लिए दोनों की ही आवश्यकता पड़ती है। यह समन्वय भावना शास्त्रीय मार्ग (क्लासिकल) का मूल है।

चिंतन का दूसरा मार्ग यह है कि इंद्रियों की पहुँच स्थूल तक ही है। सत्य का स्वरूप अपेक्षाकृत सूक्ष्म होता है। इसलिये अंतःकरण की अनुभूति इंद्रियजन्य ज्ञान से प्रबल होती है। साथ ही जीवन का आदर्शस्वरूप उसके यथार्थ स्वरूप से अधिक सत्य होता है, क्योंकि उसमें अंतःकरणजन्य अनुभूति का भाग अधिक होता है। इस प्रकार संसार का अनुभव करनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा अपना अनुभव करनेवाला व्यक्ति अधिक सच्चा और प्रामाणिक है। शकुंतला नाटक में शकुंतला की ग्राह्यता पर दुष्यन्त की यह उक्ति कि, "यह कन्या अवश्य क्षत्रियों के ग्रहण योग्य है क्योंकि मेरा हृदय इस पर आसक्त हुआ है। संदिग्ध स्थलों पर सत्पुरुषों के अंतःकरण ही प्रमाण होते हैं।[1]", हृदय की विश्वसनीयता का द्योतन करती है और इससे कालिदास की भी काव्यप्रवृत्ति के स्वच्छंद होने का अनुमान कराती है।

जीवन का सच्चा स्वरूप आदर्श है यथार्थ नहीं। यह विचारसरणि स्वच्छंद धारा के कलाकारों की है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने डा० देवराज द्वारा लिखे गए रोमांटिक साहित्यशास्त्र की भूमिका में रोमांटिक प्रवृत्ति का परिचय देते हुए कहा है कि रोमाँटिक साहित्य के जन्म का कारण जीवन के आवेगमय पहलू पर विशेष बल देना है। यह कल्पनाप्रवण अंतर्दृष्टि द्वारा चालित किंवा प्रेरित होता है और स्वयं भी इस प्रकार की अंतर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता है। उनके शब्दों में 'रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घनसंश्लिष्ट निविड आवेग की प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रमाण और निविड आवेग ये दो निरंतर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य की प्रधान जननी हैं।'

१—असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः। अ० शा० अंक १।

भारतीय साहित्य में स्वच्छंद धारा

यह पहले कहा जा चुका है कि हिंदी या संस्कृत के साहित्य में थोड़ी बहुत स्वच्छंदता की जो प्रवृत्ति मिलती है उसपर न तो अंगरेजी साहित्य की इस प्रवृत्ति का प्रभाव है और न यह उससे सब गुणों में मिलती है। बंधन-मुक्तता का साम्य दोनों में समान है। बंधन दोनो के भिन्न भिन्न प्रकार की अपनी परिस्थितियों के फलस्वरूप हैं। बंधनविमोक होने के कारण इधर भी कुछ ऐसी साहित्यिक विशेषताओं का अवतार हो गया है जो उधर भी मिलती है। अब संस्कृतादि के प्राचीन साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालकर इस प्रवृत्ति का पता करने का प्रयत्न किया जाता है

१—वैदिक साहित्य

प्रेम जीवन की सहज अनुभूति है और स्वच्छंदता प्रेम की सहज प्रकृति। उसका यह रूप किसी भी वाङ्मय के प्रेमसाहित्य में मिल सकता है। भारतीय वाङ्मय में प्रारंभ से ही इस के दर्शन होते हैं। ऋषि पुत्र श्यावाश्व तथा रथवीतिकन्या की कथा और विमद तथा शुन्ध्यु की कथा स्वच्छंद प्रेम की है।[१] यम यमी का संवाद ऋग्वेद काल के उच्छल मांसल प्रेम की प्रसिद्ध कथा है। शतपथ ब्राह्मण में पुरुरवा-उर्वशी की कथा भी स्वच्छंद प्रेम की है। इसी को कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशीय' का कथानक बनाया है। पुराणों में बृहस्पति की पत्नी तारा का चंद्रमा के साथ प्रणय-व्यवहार स्वच्छंद है। महाभारत में भीम और हिडम्बा की कथा एवं अर्जुन और सुभद्रा की कथा में स्वच्छंद प्रेम ही प्रतीत होता है। ऊषा और अनि-रुद्ध की कथा वैसी ही है। रुक्मिणी परिणय की कथा को आलम ने 'स्यामसनेही' में स्वच्छंद शैली से वर्णित ही किया है।

१—श्यावाश्व की कथा—श्यावाश्व निर्धन पुरोहितपुत्र था। उसका राजा रथवीति की कन्या से प्रेम हो गया। रथवीति और उसकी पत्नी से विवाह के लिये उसने कन्या मांगी तो रानी ने यह कह कर निषेध कर दिया कि श्यावाश्व न कवि है न धनवान। उसे कन्या नहीं दी जा सकती। श्यावाश्व का भावुक हृदय इससे बड़ा आहत हुआ। वह रथवीतिकन्या की प्रणयगीतियाँ बना बनाकर गाने लगा। कोई दूसरी राजकुमारी शशीयसी पुरमिल्हतनय से प्रेम करती थी।

२—संस्कृत साहित्य

लौकिक संस्कृत के काव्यकाल से पूर्व ही स्मृतियों का प्रभाव समाज पर बहुत बढ़ गया था। अतः काव्यों में स्वच्छंद प्रेम के यथार्थरूप के दर्शन तो नहीं होते। कालिदास जैसे स्वच्छंद प्रेमी कवि भी शकुंतला को 'क्षत्र परिग्रहक्षम' बताना आवश्यक समझते हैं। उनके आदर्श राजा रघु के प्रजाजन मनु के मार्ग का रेखा मात्र भी उल्लंघन नहीं करते थे।[1] उनके नायक एवं नायिकाएँ वर्णाश्रम मर्यादा में आबद्ध हैं। ऐसी स्थिति में स्वच्छंद प्रेम का दर्शन मर्यादाओं के आवरण में ही संभव था। वहीं उनके काव्य

उसने श्यावाश्व को विरहपीड़ित जानकर अपने विरहसंदेश का दूत बनाया! इसने यह कार्य स्वीकार कर लिया और स्वानुभूत विरहपीड़ा के आधार पर शशीयसी की विरहवेदना पुरुमिल्हतनय को सुनाई तो वह विवाहार्थ प्रतिश्रुत हो गया। विवाहोपरांत दम्पतियों ने श्यावाश्व को प्रचुरधन दिया। अब वह यक्ष की भांति अपनी विरहकथा सबसे कहने लगा—'रात्रि मेरा संदेश दर्भतनया के समीप पहुँचा। देवि, तू मेरी गिरा का रथ बनकर जा। जब रथवीति अग्नि में आहुत डालता हो तब तू उससे मेरा संदेश कह कि तेरी सुता के प्रति मेरा मोह कम नहीं हुआ, आज भी जाग्रत है।' रथवीति ने इस प्रणयपुकार को सुनकर अपनी कन्या के विवाह की अनुमति दे दी। राजकन्या का उसके साथ विवाह हो गया।

विमद और शुन्ध्यु की कथा

शुन्ध्यु पुरुमिल्ह की दुहिता थी। विमद ब्राह्मण ऋषि था। दोनों एक दूसरे को प्रेम करते थे। पिता से विवाह की अनुमति नहीं मिली तो दोनों किसी अज्ञात स्थान को भाग गए और प्रणय का निर्वाह किया।

डा० भगवतशरण उपाध्याय : ऋग्वेद में ऋषियों की प्रणय गाथाएँ, साप्ताहिक हिंदुस्तान, वर्ष ४, अंक १६,

१—रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥

रघुवंश १थसर्ग,

में मिलता है। इनके तीन नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्,' 'विक्रमोर्वशीयम्' तथा 'मालविकाग्निमित्रम्' तथा 'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' में कवि की अंतः प्रवृत्ति प्रेम के स्वच्छंद रूप की ही है। कालिदास के सब पात्र, चाहे वे देव हों, यक्ष हों, चाहे मानव, मानवीय प्रेमानुभूतियों के आश्रय हैं,। अज इंदुमती (रघुवंश), शिवपार्वती (कुमारसंभव) यक्ष और यक्ष की पत्नी (मेघदूत) इसके निदर्शन हैं। पौराणिक काल के देवत्व पर मानवत्व की विजय इनकी काव्यशैली की स्वच्छंद प्रवृति का ही द्योतक है। शकुंतला नाटक में प्रेम को आत्माओं का जन्म-जन्मांतर का अटूट बंधन[१] बताकर सामाजिक मर्यादाओं पर उसकी विजय दिखाई है। प्रणय के प्रसार का क्षेत्र अंत:पुर का सीमित वातावरण न होकर जंगलों की खुली प्रकृति है।

कालिदास की अभिव्यंजनाशैली भी सहज, भावप्रधान है। कृत्रिम चमत्कारप्रधान नहीं। दासगुप्ता उन्हें स्वच्छंद प्रेम का विश्वासी मानते हैं[२]। इसी प्रकार नाटककार भास अभिव्यक्ति और चिंतन दोनो में रीतिमुक्त हैं। शूद्रक राज का 'मृच्छकटिक' नाटक स्वछंदधारा की श्रेष्ठ रचना है। गणिका और ब्राह्मण का प्रशंसनीय प्रेम, समाज के निम्न वर्ग को गुणी दिखाना, शर्वलिक की साहसिकता आदि उसी के तत्व हैं।

बाद में स्मृतिकारों के बंधन भी ढीले पड़ गए थे। उन्मुक्त प्रेम को मार्गांतरों से औचिती मिल गई थी। कामसूत्र के अनुसार कन्याओं एवं गणिकाओं आदि के साथ उन्मुक्त प्रेम करना न निषिद्ध ही था न आज्ञप्त।[३] प्रणयव्यापार में ब्रह्मचर्य व्रत भंग होने पर भी स्त्रियों की शुद्धि की साख

१—भावस्थिराणि जनमान्तर सौहृदानि। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ४

२—Beleive as he was in scme amount of free love. Dassgupta and De-A History of Sanskrit Literature, Page ३१.

३—अवरवर्गासु अनिर्वसितासु च वेश्यासु पुनर्भूषु च न शिष्टः नप्रतिविद्धः सुखार्थत्वात्

काम सूत्र १, ५, ३,

याज्ञवल्क्य ने दी है,[1] 'गांधर्व विवाह स्वच्छंद प्रेम की ही सामाजिक मान्यता है।

इसके फलस्वरूप संस्कृत साहित्य में दो प्रकार से स्वच्छंद प्रेम का प्रयोग हुआ है। मर्यादाओं के आवरण में और स्पष्ट रूप से अनावृत। उपर्युक्त वर्णन पहले प्रकार का है। दूसरे प्रकार में बिल्हण की 'चौर पंचाशिका' एवं दंडी का 'दशकुमारचरित' आदि रचनाएँ आती हैं। बिल्हण शशिकला नामक राजकन्या के अध्यापक थे। उसी से प्रेम करने लगे थे,[2] प्रच्छन्न प्रणय प्रकट हुआ तो राजा ने प्राणदंड की आज्ञा बिल्हण को दी। वे बध्यस्थान पर ले जाए गए। बधिकों ने अंतिम समय में उनसे अपने अभीष्ट का स्मरण करने को कहा तो वे अपनी प्रेयसी के यौवनोच्छलितरूप, उसके साथ किए गए आमोद-प्रमोद, विलास-परिहास और कामकेलियों का श्लोकबद्ध स्मरण करने लगे। बधिक इतने प्रभावित हुए कि बध करने का समय व्यतीत हो गया, बध न कर सके। राजा स्वयं वहाँ आ पहुँचा। वह भी प्रेमी कवि के सच्चे प्रेम से इतना प्रभावित हुआ कि मृत्यु के बदले उसने अपनी कन्या का पाणिग्रहण उससे कर दिया। उसके स्वानुभूति के वर्णन के ५० पद्यों का नाम ही 'चौर पंचाशिका' है। संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने इसे शुद्ध स्वच्छंद प्रेम का काव्य माना है। दशकुमारचरित उसी स्वभाव का गद्य गल्प है।

३—जनपद भाषाओं का साहित्य—

संस्कृत के अतिरिक्त जनपद भाषाओं (विशेषरूप से गुजराती) का बहुत बड़ा कथासाहित्य उत्तर वैदिक काल से चला आया है। पैशाची भाषा में लिखी बृहत्कथा इसी का भंडार थी। इसका कुछ अंश 'कथा सरित्-सागर' में है जिनकी कथाएँ प्रायः प्रेम के स्वच्छंद सहज रूप की हैं। इनमें से अनेकों कथाएँ संस्कृत के कवियों की उपजीव्य बनी हैं, भास ने उदयनवास-

---

१—सोमः शौचंददावासाम् गंधर्वाश्च शुभांगिम्।
पावकः सर्व मेध्यत्वम मेध्यावयोषितो ह्यतः ॥ याज्ञवल्क्य-स्मृति १, ३, ७१

२—कामीयुवास्मरकला कुशलाचबाला दैवायोत्तार घटितं घटितं वभूव।
बिल्हण काव्य २७, काव्य माला १३, गु० १४८

सा कामशास्त्रविधिना किल कामकेलिलीलाविलासनिलयं चकमे कवीशम्
वही २८

दत्ता की कथा यहीं से ली थी। इस धारा में जैनियों की अपभ्रंश-कथाएँ आती हैं, वे भी स्वच्छंद प्रेम कथाएँ हैं। उनका प्रयोग धर्मपरक हुआ है। हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' सिद्धर्षि की 'उपमितिभव प्रपंचकथा' तथा धनपाल की 'भविसयत्तकहा' प्रसिद्ध हैं। 'भविसयत्तकहा' में श्रेष्ठि पुत्र भविसयत्त तथा भविषाणुरुवा की प्रेम कथा है। प्रेमी साहसी है, प्रेमिका स्थिर प्रेम की उपासिका। 'समराइच्चकहा' में अनेकों कथाएँ स्वच्छंद रूप की हैं, जैसे सनत्कुमार और विलासवती के प्रेम की कथा। हरिभद्र में कहीं-कहीं बड़े मार्मिक प्रेम चित्रण हैं।[१]

'भविसयत्तकहा' के संपादक श्री पी० वी० गुने ने इन कथाओं के विषय में कहा है कि ये मूलतः धार्मिक नहीं हैं। मध्यम वर्ग के लोगों के स्वच्छंद प्रेम के आख्यान हैं जैसे कादंबरी राजपरिवार का आख्यान है।[२]

इस जनपद साहित्य की धारा में ही मुक्तकों की एक दूसरी परंपरा है, जिसमें रीति मुक्त पद्धति पर लिखे गये स्वच्छंद प्रेम के सहज चित्र मिलते हैं। हाल कवि की गाथा 'सप्तशती' इस परंपरा का ही संग्रह है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य का प्रारंभ होने से पहले स्वच्छंद धारा की प्रवृत्ति तीन प्रकार की रचनाओं में उपलब्ध होती है—

१—सनत्कुमार को देखकर कामासक्त विलासवती का घर जाते समय का चित्र।

अहकंचुक्य समेता [illegible]।
नयनेहिं अपेक्षंतं पेच्छंती बलियतारेहि ॥
मंथर गइए विलयंत हत्थसंरुद्ध मुहल मणि रसणा।
मयण सरधाम मीयत्व वेवमाषी गयाभवणम् ॥

'वह कंचुकी के साथ स्नेहभार से दबे हुए चंचलतारक नेत्रों से प्रिय को देखती हुई, हाथ से दीप्यमान मणि मेखला को समेट कर कामदेवों के बाणों से आहत सी कंपित गात्र धीरे-धीरे भवन को चली गई।

2—We shall, therefore, not be far wrong if we believe that the original story has no religious coluring but was only a popular legend or romance of a middle class trade-smans life just as the Kadambari is of court life.

Introduction to भविसयत्त कहा bage 6.

१—संस्कृत के प्राचीन काव्यों में। यह धारा आगे चलकर शास्त्र और समाज की मर्यादा के मरुस्थल में सूख गई।

२—जनपद साहित्य की कथा धारा।

३—जनपद साहित्य के मुक्तक।

४—हिंदी साहित्य

(क) 'वीर-गाथा काल'

इसके बाद हिंदी साहित्य प्रारंभ होता है। यहाँ प्रारंभ में ही स्वच्छंद धारा की दो श्रेष्ठ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। पहली 'ढोला मारूरा दूहा' है और दूसरी मुलतान के अब्दुल रहमान का 'संनेह रासय' (संदेशरसिक) पहले में ढोला मारवणी के प्रेम की मर्म व्यथाओं का सहज सरल अभिव्यंजन है और दूसरे में किसी विरहिणी का विरह संदेश है। दोनों रचनाओं में प्रेम की मार्मिक संवेदनाओं की निश्छल सहज अभिव्यक्ति है। कवि काव्यशास्त्र या समाज के नियमों के बँधे हुए नहीं प्रतीत होते।

(ख) भक्तिकाल

भक्तिकाल में वैसे तो प्रमुखता प्रेम की है पर वह परमेश्वरोन्मुख है। इसलिए स्वच्छंद प्रेम के दर्शन इस काल में अत्यल्प हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल में प्रेमाख्यानकों के तीन प्रकार के प्रयोग अपने इतिहास में बतलाए हैं।[1]

१—आध्यात्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिये।

२—ऐतिहासिक या अर्ध ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन चरित के लिये।

३—लौकिक प्रेम के विश्लेषण-व्याख्यान के लिये।

तीसरे में काव्य की स्वच्छंद धारा के दर्शन होते हैं। आलम और रसखान इस धारा के प्रमुख कवि हैं। आलम प्रबंध और मुक्तककार दोनों हैं। रसखान मुक्तककार ही हैं। पहले की प्रबंध रचनाएँ 'माधवानल कामकंदला' तथा 'स्यामसनेही' हैं। उन्हीं का 'सुदामा चरित्र' स्वच्छंद धारा में नहीं

हिंदी साहित्य पृ० २६३।

आता। उनके मुक्तकों का संग्रह 'आलमकेलि' में है। इनके प्रबंधों पर न तो सूफियों का प्रभाव है न भक्तिसंप्रदाय का। प्रेम के लौकिक और आत्मानुभूत रूप की अकृत्रिम शैली से अभिव्यक्ति हुई है। मुक्तक रचनाओं में कुछ पद्य रीति के ढर्रे के प्रतीत होते है, कुछ रीति-मुक्त पद्धति से लिखे हुए। पहलों को कवि की प्रारंभिक रचना मानकर इस धारा की रचना से पृथक् कर देना होगा। उन्होने प्रेमरस के व्यक्तिगत अनुभव को काव्यबद्ध किया है। शास्त्रादि की परंपरा का अनुसरण नहीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इनके विषय में विचार है कि 'आलम रीतिबद्ध रचना करनेवाले नहीं थे। प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार कविता करते थे।'[1] रसखान की रचनाओं में भी भक्ति के सांप्रदायिक रूप के दर्शन नहीं होते। प्रेम की देवाश्रित लौकिक अनुभूतियों का चित्रण है उसी प्रकार जैसे कालिदास ने 'कुमारसंभव' में शिवपार्वती के लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है। गेय पदों की रचना न कर कवित्त सवैयों में भावोद्गार प्रकट करने का अर्थ यही प्रतीत होता है कि गेय पद संत भक्तों की आध्यात्मिक रचनाएँ थे और कवित्त सवैये लौकिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के साधन। श्री परशुराम चतुर्वेदी इनके विषय में लिखते हैं कि "इन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति का सुंदर परिचय दिया है और अधिकतर व्यक्तिगत उद्गारों द्वारा हो प्रकट करने की चेष्टा की है।[2] इनका प्रेमीरूप भक्तरूप की अपेक्षा अधिक उज्वल और मार्मिक है। इसलिये इन्हें भक्तिधारा से पृथक् स्वच्छंद काव्यधारा में रक्खा जाता है।[3]

(१) जयशंकर प्रसाद और भारतीय साहित्य—

कविवर जयशंकर प्रसाद ने अपने 'प्रारंभिक पाठ्य काव्य' निबंध में भारतीय साहित्य को एक विशेष प्रकार की दृष्टि से देखा है और उसके अनुसार वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्य में दो धाराओं का घात-प्रघात उन्हें अनुभूत हुआ है। एक धारा है बौद्धिक दूसरी है रस प्रधान। प्रबंधकाव्यों को वे बौद्धिक साहित्य कहते हैं। इनमें रामायण, महाभारत आदि सब ग्रंथ बौद्धिक साहित्य की श्रेणी में आते हैं। नाट्य में

१—हि० सा० इतिहास, परिवर्धित संस्करण, पृ० ३३०।

२—हिंदी काव्यधारा में प्रेमप्रवाह, पृ० ६६।

३—दोनों कवियों का विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया गया है।

आभ्यंतर की प्रधानता होती है और श्रव्य काव्य में बाह्य वर्णन की। वह बुद्धिवाद से अधिक संपर्क रखनेवाली वस्तु बनती है क्योंकि बाह्य वर्णन में दुःखानुभूति की व्यापकता होती है। नाटकों की सी रसात्मक अनुभूति अथवा आनंद का साधारणीकरण प्रबन्धों में नहीं होता। प्रसादजी ने बौद्धिक साहित्य को क्लासिकल अथवा शास्त्रीय कहा है और रसप्रधान को स्वच्छंद या रोमांटिक। उन्हीं के शब्दों में 'लौकिक संस्कृत का यह पौराणिक या आरंभिक काल पूर्ण रूप से पश्चिम के क्लासिक का समकक्ष था। भारत में इसके बहुत दिनों बाद छोटे छोटे महाकाव्यों की सृष्टि हुई। इसे हम तुलना की दृष्टि से भारतीय साहित्य का रोमांटिक काल कह सकते हैं, जिसमें गुप्त और शुंग काल के सम्राटों की छत्रछाया में जब बाहरी आक्रमणों से जाति हीनवीर्य हो रही थी, अतीत को देखने की लालसा और बल ग्रहण करने की पिपासा जगने पर पूर्वकाल के अतीत से प्रेम, भारत की यथार्थवाद वाली धारा में कथासरित्सागर और दशकुमारचरित का विकास, विरह गीत, महायुद्धों के वर्णन, संबलित हुए। कालिदास, अश्वघोष दंडी, भवभूति, और भारवि का काव्यकाल इसी तरह का है।[1]

× × × ×

(घ) रीतिकाल—

१. कवियों का श्रेणीभेद—

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल के कवियों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय शृंगार ही माना है। उन्होंने इस काल के कवियों के दो विभाग किए हैं—'रीतिग्रंथकार कवि' तथा 'रीतिकाल के अन्य कवि'। पहले रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि हैं जिन्होंने लक्षणग्रंथ बनाकर उनके उदाहरण में अपनी रचनाएँ की हैं। दूसरे वे है जिन्होने लक्षणग्रंथ न लिखकर दूसरे प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं—जिनमें प्रबंधकाव्य, वर्णनात्मक प्रबंध तथा फुटकल सभी प्रकार की रचनाएँ आती हैं। दूसरी श्रेणी के कवियों को शुक्लजी ने फिर तीन भागों में बाँटा है।

१—प्रबंधकाव्य के लेखक कवि।

२—भक्तिज्ञान संबंधी पद्यों के लेखक कवि।

३—शृंगार रस की फुटकल रचनाएँ लिखनेवाले कवि

१—जयशंकरप्रसाद, आरंभिक पाठ्य काव्य निबंध।

सरे विभाग के कवियों के विषय में अर्थात् उनके विषय में जिन्होंने न लिखकर शृंगार रस की प्रायः फुटकल कविताएँ लिखी हैं—शुक्लजी का विचार है कि ये पिछले वर्ग के कवि प्रतिनिधि कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अंतर्गत अपने पद्यों को नहीं रक्खा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी शृंगार रस के फुटकल पद्य कहे हैं।[१] इसका निष्कर्ष यही होता है कि रीतिग्रंथकार और रीतिमुक्त कवि दोनों का ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय शृंगार है।

केवल वे लोग छुट जाते हैं जिन्होंने या तो भक्ति ज्ञान संबंधी रचनाएँ की हैं या प्रबंध काव्य लिखे हैं। प्रबंध काव्यों में भी कुछ का वर्ण्य भाव शृंगार हैं जैसे हरनारायण की 'माधवानल कामकंदला', आलम की 'माधवानल कामकंदला' तथा 'स्याम स्नेही', बोधा का 'विरहवारीश', नेवाज का 'शकुंतला नाटक', सोमनाथ का 'माधवविनोद' आदि। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विक्रम की अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदी साहित्य में जो भावधारा प्रमुख रूप से बही वह प्रेम शृंगार की थी।

२—भाव धाराएँ

साधारणतया भावों की दृष्टि से पांच धारायें इस काल में स्पष्ट प्रतीत होती हैं।

१—तत्व ज्ञान धारा
२—भक्ति धारा
३—नीति धारा
४—वीर धारा
५—प्रेम धारा

१—तत्वज्ञान धारा

तत्व ज्ञान धारा का बीज भक्ति काल में ही मिलता है। तुलसीदासजी की 'वैराग्य संदीपनी'; नंददास की 'ज्ञान मंजरी' और केशव की 'विज्ञान गीता' इसी धारा के अंतर्गत आती है। रीतिकाल के तत्वज्ञान संबंधी कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं।

१—हिंदी साहित्य का इतिहास—प्रवर्धित संस्करण पृ० ३२२।

कवि का नाम	कवि की रचनाएँ
१—महाराज जसवंत सिंह	अपरोक्ष सिद्धांत
	अनुभव प्रकाश
	आनंद विलास
	सिद्धांत बोध
२—मंडन	जनक पचीसी
३—सुखदेव मिश्र	अध्यात्म प्रकाश
४—देव	ब्रह्म दर्शन पचीसी
	तत्व दर्शन पचीसी
	आत्म दर्शन पचीसी
	जगद्दर्शन पचीसी
५—महाराज विश्वनाथ सिंह	वेदांत पंचक शतिका
	ध्यान मंजरी
	परमतत्व
६—नागरीदास	वैराग्यसार
७—जनकराजकिशोरी शरण	विवेकसार
	सिद्धांत चौंतीसा
	आत्म संबंध दर्पण
	वेदांतसार
	श्रुतिदीपिका
८—नवल सिंह कायस्थ	विज्ञान भास्कर
	अध्यात्म रामायण

२—भक्ति धारा

यह धारा भक्ति काल की भावधारा का ही अवशेष है। नीचे लिखे कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल के कवियों के भी अनेकों पद्य भक्ति भाव के मिलते हैं। "आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।" दास की इस उक्ति से भी भक्ति और रीति दोनों का समान भाव से पालन ही कवि को अभिमत प्रतीत होता है। नायक नायिकाओं को राधाकृष्ण तो सभी कहते हैं। भले ही उससे भक्ति का सात्विक रूप न व्यक्त हो। वास्तव में रीति मार्ग के कवि अपने व्यक्ति-

गत जीवन में भक्ति मार्ग के किसी न किसी संप्रदाय के अनुयायी होते थे। ये लोग राजदरबारों में गुरुपद पाकर आसीन रहते थे। रीतिकाल का शृंगारसाहित्य राधाकृष्ण के नाम से चला है उसमें काव्य का 'फैशन' ही नहीं था, भक्ति के भावों की एक दुर्बल रेखा भी कवियों के अंतःकरणों में प्रवहमान थी। रीतिविवेचन के साथ शृंगार का संबंध ही संस्कृत साहित्य की देन थी। उसी का अनुसरण रीतिकाल में हुआ।

शुद्ध भक्तिभाव से प्रेरित होकर जो रचनाएँ लिखी गई हैं उनमें कुछ स्तोत्र रूप की हैं, कुछ वर्णनात्मक निबंध हैं, कुछ फुटकल। इनमें से कुछ का विवरण नीचे दिया जाता है—

कवि	कवि की रचनाएँ
१—मंडन	जानकी जू का विवाह
२—सोमनाथ	कृष्ण लीलावती
३—ग्वाल कवि	यमुना लहरी
	भक्तमाल
	गोपी पचीसी
	राधाष्टक
	राधा-माधव-मिलन
४—रसिक गोविंद	रामायणसूचनिका
	कलियुग रासो
	युगलरस माधुर्य
५—गुरु गोविंद सिंह	चंडी चरित्र
६—बख्शी हंसराज	सनेह सागर
७—जानकराजकिशोरीशरण	तुलसी चरित्र, कवितावली, सीताराम सिद्धांत मुक्तावली, अनन्य तरंगिणी, समास तरंगिणी रघुवर करुणाभरण
८—ब्रजवासी दास	ब्रजविलास
९—आनंदघन	३९ वर्णात्मक प्रबंध तथा १००० से ऊपर गेय पद
१०—नागरीदास	७० के लगभग छोटी बड़ी रचनाएँ

कवि	कवि की रचनाएँ
११—मंचित	कृष्णायन
१२—कृष्णदास	भाषा भागवत माधुर्यलहरी
१३—नवल सिंह	भाषा सप्तशती
१४—ललकदास	सत्योपाख्यान
१५—खुमान	लक्ष्मणशतक, हनुमान नखशिख नृसिंह पचीसी
१६—गिरधरदास	गर्गसंहिता, बाल्मीकि रामायण बाराह कथामृत, नृसिंह कथामृत बामन कथामृत, परशुराम कथामृत रामकथामृत, बलरामकथामृत बुद्धकथामृत
१७—सरयूराम	जैमिन पुराण

३—नीति धारा

नीति धारा का भी पूर्व क्रम भक्ति काल में प्राप्त होता है। महापात्र नरहरि वंदीजन ने 'छप्पय नीति' में नीति के पद्य लिखे हैं। इसके बाद महाराज टोडरमल, बीरबल, मनोहर कवि, जमाल तथा रहीम भक्ति काल के ही नीतिकार हैं। यही क्रम आगे १८ वीं शताब्दी में भी यथावत चलता गया। वैसे नीति की भावधारा भक्ति के समान ही व्यापक है। जो कवि रीतिकार हैं या शृंगारी हैं उन्होंने भी थोड़े बहुत पद्य नीति के अवश्य लिखे हैं। रीतिकाल के नीतिकार और उनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं।

नाम कवि	कबि की रचनाएँ
१—वृंद	वृंद सतसई
२—कुलपति मिश्र	युक्तितरंगिणी
३—देव	नीतिशतक
४—तोषनिधि	विनयशतक
५—वैताल	फुटकल पद्य
६—गुरु गोविंद सिंह	सुनीतिप्रकाश, बुद्धिसागर
७—महाराज विश्वनाथ सिंह	उत्तम नीतिचंद्रिका

नाम कवि	कवि की रचनाएँ
८—गिरधर कविराज	फुटकल पद्य
९—संमन	फुटकल
१०—घाघ	फुटकल
११—खुमान	नीतिविधान
१२—बाबा दीनदयाल गिरि	दृष्टांत तरंगिनी

४—वीरधारा

चौथी धारा वीर-रस-प्रधान काव्यों की है। केशव ने भक्तिकाल में 'वीर सिंह देव चरित' लिखकर वीरगाथा काव्य की वीररसप्रधान काव्यधारा का संतान बनाए रक्खा था! रीतिकाल के कवियों ने भी इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न किए हैं! अनेकों प्रबंधकाव्य, स्वतंत्र और अनुवाद, वीर चरितों पर लिखे गए। यद्यपि इन कृतियों में प्रबंधकाव्यों के गुण कम मिलते हैं पर यह दोष रीतिपरंपरा के प्रभाव के कारण है। कवियों की चिंतनप्रवृत्ति वीरचरितों के वर्णन की ओर थी, इसका परिचय इन रचनाओं से अवश्य मिलता है। सब के काव्य सर्वथा नगण्य भी नहीं हैं। इनका विवरण यह है—

कवि	कवि की रचनाएँ
१—भूषण	शिवाबावनी
२—कुलपति मिश्र	द्रोणपर्व, संग्रामसार
३—श्रीधर मुरलीधर	जंगनामा
४—पद्माकर	रामरसायन
५—सबल सिंह चौहान	महाभारत
६—छत्रसिंह कायस्थ	विजय मुक्तावली
७—नवल सिंह	आल्हा रामायण, आल्हा भारत मूलढोला
८—लालकवि	छत्रप्रकाश
९—जोधराज	हमीररासो
१०—गुमान मिश्र	नैषधचरित
११—सूदन	सुजान चरित

कवि	कवि की रचनाएँ
१२—गोकुलनाथ गोपीनाथ मणिदेव	महाभारत
१३—मधुसूदनदास	रामाश्वमेध
१४—गणेश	प्रद्युम्न विजय नाटक
१५—चन्द्रशेखर	हम्मीर हठ
१६—गिरधरदास	वाल्मीकि रामायण, जरासंधवध महाकाव्य नहुष नाटक

५—प्रेम-शृंगार-धारा

रीतिनिरपेक्ष प्रेम शृंगार की कई रचनाएँ भक्तिकाल में भी प्राप्त होती हैं। राजस्थानी कवि छीहल ने 'पंचसहेली' पुस्तक में पाँच वियोगिनियों की विरहव्यथा का वर्णन किया है। पोकर का 'रसरतन,' लालचंद का 'पद्मिनी चरित्र', राजा पृथ्वीराज की 'बेलि कृष्ण रुक्मिणीरी' दामोदर कवि की 'लक्ष्मण सैन पद्मावती कथा' तथा काशीराम की 'कनक मंजरी' भक्तिनिरपेक्ष शृंगार रस की रचनाएँ हैं जो भक्तिकाल में लिखी गई थीं। इनकी शैली में स्वच्छंदता के दर्शन भले ही कम हों पर चिन्तप्रवृत्ति भक्ति तथा रीति के मार्ग से हटकर है—इसमें संदेह नहीं। रीतिकाल में रीतिनिरपेक्ष प्रेम-प्रधान रचनाएँ जिन्होंने लिखी हैं उनका विवरण निम्नलिखित है।

कवि	रचनाएँ
१—निवाज	शकुंतला नाटक
२—सोमनाथ	माधवविनोद
३—आलम	माधवानलकामकंदला, स्यामसनेही, सुदामाचरित्र, फुटकल पद्य
४—घनानंद	फुटकल पद्य, गेय पद तथा प्रबंध रचनाएँ
५—बक्शी हंसराज	फुटकल
६—भगवतरसिक	फुटकल
७—ठाकुर	फुटकल

कवि	कवि की रचनाएं
८—हरनारायण	माधवानलकामकंदला
९—बोधा	इश्कनामा, विरहवारीश
१०—द्विजदेव	श्रृंगार लतिका

३—समाहार

इस प्रकार जिसे रीतिकाल कहा जाता है उसमें पाँच भावधाराएं प्रवाहित हुई प्रतीत होती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विश्वास है कि इस काल की समस्त रचनाओं पर 'रीति का प्रभाव' है। जिन कवियों ने रीति का कोई ग्रंथ नहीं बनाया वे भी रीतिपरंपरा से प्रभावित थे। इसलिए उन्होंने इसे 'रीति काल' संज्ञा प्रदान की है। पर स्वयं शुक्लजी ने ही घनानंद, बोधा, ठाकुर आदि को रीतिप्रभाव से मुक्त माना है।[१] द्विजदेव, बख्शी हंसराज आदि और भी कवि इस श्रेणी में आते हैं जिनका सनाव 'रीतिमार्ग में नहीं होता। अतः श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे रीतिकाल न कह कर 'श्रृंगार काल' ही कहना उचित समझा है।[२] स्वयं शुक्लजी ने भी इस काल में श्रृंगार रस की प्रधानता मानते हुए उसके आधार पर काल के नामकरण की संभावना प्रकट की है।

नीति विज्ञान तथा वीर रस की जो रचनाएं इस काल में उपलब्ध होती है उनका प्रश्न अवश्य शेष रह जाता है। उन्हें श्रृंगार के अंतगर्त कैसे लिया जा सकेगा? इनमें वीररस प्रधान प्रबंध काव्यों में तो श्रृंगार का प्रर्याप्त प्रभाव विद्यमान है। केवल भूषण की अब तक प्राप्त रचनाएं ऐसी अवश्य हैं जिन्हें श्रृंगार-प्रधान या श्रृंगार-प्रभावित नहीं कह सकते। पर नीति और विज्ञान की रचनाओं को सूक्ति कह सकते हैं। कविता कोटि में वे नहीं आतीं। अतः निरापद रूप से इस काल को 'श्रृंगगर काल' भी कह सकते हैं। नाम कुछ भी हो विचारणीय इतना ही है कि इस काल में श्रृंगार रस की प्रधानता सर्वोपरि विद्यमान रही। ऐसी स्थिति में यह अत्यंत स्वाभाविक है कि इस समय में श्रृंगार रस के अन्य भेद भी उपलब्ध होते हैं। केवल मर्यादाबद्ध रूप ही नहीं। दो सौ वर्ष से ऊपर के समय में समस्त कवि

१—'रसखान धनानंद आलम टाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि है उनमें किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की थीं'। हि० सा० इ०, पृ० ३२२।
२—धनानंद ग्रंथावली, वाङमुख पृ० १-१६।
३—'प्रधानता श्रृंगार की रही इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृंगार काल कहे तो कह सकता है।' हि० सा० इ०, पृ० २४१।

श्रृंगार रस का एक ही प्रकार का प्रयोग करते रहे—यह युक्तिसह नहीं प्रतीत होती।

४—रीति काल में श्रृंगार के विविध प्रयोग

गहराई से देखने पर इस काल में श्रृंगार रस का तीन प्रकार से प्रयोग किया गया प्रतीत होता है—रीतिबद्ध, रीत्यनुसारी तथा रीतिमुक्त। पहले कवि वे हैं जो लक्षणकार भी हैं और कवि भी। इनका वर्ण्य रस श्रृंगार है। श्रृंगार रस के आधार पर काव्यशास्त्र का विवेचन करने की एक प्राचीन परंपरा है। हिंदी के रीतिकाल के प्रारंभ होने से लगभग सात आठ सौ वर्ष पहले से ही संस्कृत आचार्यों ने इसी पद्धति पर काव्यविवेचन किया था। लक्षणों के जो उदाहरण दिए जाते थे वे प्रायः श्रृंगार रस के होते थे। इसका कारण उक्त रस की व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता थी। रीति के सभी विवेच्य विषयों के उदाहरण इस एक रस में ही मिल जाते थे। इस के फलस्वरूप रीति के विवेचन में श्रृंगार रस के समाश्रयण की एक परंपरा सी बन गई। हिंदी के आचार्यों ने उसी परंपरा को अपनाया है। यद्यपि रीति के क्षेत्र में वीरादि अन्य रसों का भी स्थान भाग था, पर उनका विवेचन विस्तारपूर्ण मनोयोग के साथ संस्कृत के आचार्यों ने भी नहीं किया तो उनके पदचिह्नों पर चलने वाले ये लोग क्या करते! अतः लक्षणकार कवियों की रचनाएँ श्रृंगारप्रधान बनीं!

दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं तो लक्षणानुसारिणी प्रवृत्ति के होने पर भी नियमपूर्वक लक्षण बना कर लक्ष्यरूप में रचना नहीं करते। काव्य का जो अंश या रूप उन्हें प्रिय लगता है उसी का वर्णन करते हैं। ये रीत्यनुसारी कवि हैं। आचार्य नहीं। ये रीति का बंधन कुछ ढीला करके चलते थे। यद्यपि ये उससे मुक्त नहीं हुए थे। ये भी रीतिबद्ध ही हैं पर कुछ स्वतंत्रता के साथ। बिहारी रसनिधि आदि इस कोटि में आते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकारों के अतिरिक्त सब कवियों को इसी श्रेणी में स्थान दिया है। उन्हें 'रीति काल के अन्य कवि' कहा है। बिहारी लक्षणकार नहीं हैं। फिर भी उन्हें रीतिकारों में परिगणित किया है। पर वास्तव में रीतिकार उन्हीं को कहना चाहिए जो प्रत्यक्ष रूप से रीति के प्रतिपादक तथा अनुसर्ता हैं। बिहारी पर तो रीतिपरंपरा का प्रभाव है। इसलिए उनकी तथा उनकी श्रेणी के रसनिधि आदि कवियों की श्रेणी पृथक ही होनी चाहिए। रस इनका भी श्रृंगार ही है।

तीसरा वर्ग उन कवियों का है जो रीतिपरंपरा से सर्वथा मुक्त होकर श्रृंगार रस की रचनाओं में लगे हैं। इस काल के तीन प्रमुख कवि बोधा,

ठाकुर और घनानंद इसी वर्ग के हैं। ये लोग प्रकृत्या प्रेमी हैं। किसी का किसी वेश्या से प्रेम हो गया था तो किसी का विजातीय स्त्री से। घनानंद और बोधा पहले वर्ग में आते हैं। आलम और ठाकुर दूसरे में। समाजिक तथा अन्य प्रकार की बाधाओं के कारण इन लोगों को अपने प्रेमपात्रों से वियुक्त होना पड़ा। प्रेम का माधुर्य बिरह को ठेप खाकर वाणी में मुखरित हो उठा। काव्यरचना ये लोग पहले से ही करते थे, पर पहले वह कल्पना की क्रीड़ा थी, अब जीवन का करुण संगीत बन गई।

कुछ ऐसे भावुक भी हैं जिनकी रचनाओं में प्रकृति का मुक्त-प्रेम प्रयुक्त हुआ है। द्विजदेव ऐसे ही हैं। यह तत्व थोड़ी थोड़ी मात्रा में तो सेनापति आदि में भी मिलता है पर उनकी और दृष्टियों से परीक्षा करने पर रीतिबद्ध श्रेणी में गणना करनी पड़ती है। कुछ लोग बख्शी हंसराज को भी रीतिमुक्त समझते हैं।

५—बख्शी हंसराज और स्वच्छंदधारा

बख्शी जी की रीतिमुक्तता का आधार उनका 'सनेह सागर' कहा जाता है। इसमें राधा कृष्ण का प्रेम वर्णन प्रबन्ध काव्य की शैली से किया गया है। राधा की सखी ललिता कभी कृष्ण को नंदगाँव में देखकर उन्हे राधा के योग्य वर समझती हैं। इसी प्रकार सुदामा बरसाने में राधा को देखकर कृष्ण के योग्य समझते है। दोनों ही अपने मित्रों से अपनी सम्मति प्रकट करते हैं। राधा और कृष्ण एक दूसरे का चित्र भी चोरी से बनवाकर मंगा लेते हैं। दोनों की कभी गोचरण के प्रसंग से ही भेंट होती है तो परस्पर आसक्त हो जाते हैं। उनकी प्रेम सगाई होती है। अंत में कवि ने प्रेम-विवाह को शास्त्र विवाह से सब प्रकार से श्रेष्ठ बनाया है। कवि की उक्ति है कि 'लोक वेद कुल धर्मनिते ये सब आचरण न्यारे है।' कवि के अनुसार प्रेम व्यापार में बुद्धि की चतुरता का गौण स्थान है। सुघड़ता तथा चतुरता तो प्रेम-विवाह में दासी बनकर आती है।

'जो सुनियत सबरी सुघराई और जिती चतुराई।
ह्वै दासी ते प्रेम उमंग सों दुलहिन के संग आई।

पुस्तक में राधाकृष्ण के प्रेम को प्रेम प्रबंधों की प्रचलित परंपरा के अनुसार वर्णित किया गया है इसलिये गुणश्रवण, चित्रदर्शन तथा स्वप्न-दर्शन आदि की कल्पना की गई है। वास्तव में व्रज के मुक्त वातावरण के लिए इस प्रकार की कृत्रिमताओं का प्रसंग अत्यंत अस्वाभाविक है। बख्शी

जी ने स्वप्न में राधा और कृष्ण की सोने की अंगूठी भी बदलवाई है। मोर मुकट बनमाली श्री कृष्ण के लिए यह उपहासास्पद ही सिद्ध होती है। कृष्ण यहाँ स्वच्छंद प्रेमी न होकर राजकुमार सदृश हैं जो अपने सखाओं द्वारा प्रेयसी को प्राप्त करते हैं। इसी नाटक में श्री कृष्ण का राधाविरह में जो अभिलाष दिखाया है वह 'आशिकाना' स्वभाव का हो गया है। वे राधा के पैरों की मेंहदी, बालों का कंघा आदि बनना चाहते हैं। यह अभिलाष उस कृष्ण को शोभा नहीं देता, जो भागवत के दशम स्कंध में यह कहते हैं कि मैं प्रेम करने वाली गोपियों से भी प्रेम प्रकट नहीं करता। मैं निरभिलाष हूँ।' बख्शी जी ने प्रेम की शराब का भी उल्लेख किया है। अतः बख्शी जी की वह कृति स्वच्छंद मार्ग की रचना नहीं कही जा सकती। रीति का अत्यधिक और भद्दा बंधन इसमें प्राप्त होता है। वर्ण्य विषय के आधार पर काव्यमार्ग का निर्णय नहीं किया जाता। वर्णन शैली के आधार पर किया जाता है। शैली के अनुसार बख्शी जी शास्त्रीय मार्गी हैं, स्वच्छंद मार्गी नहीं।

६. द्विजदेव और स्वच्छंद धारा

द्विजदेव के मुक्तक पद्यों में प्रकृति-प्रेम स्वच्छंद रूप से चित्रित हुआ है। प्रकृति भावों का आलंबन प्रतीत होती है, उद्दीपन नहीं है। 'शृंगार लतिका सौरभ' में इनकी समस्त रचनाएँ उपलब्ध हैं। इसके ऋतुवर्णन के पद्य इस दृष्टि से विशेष विचारणीय हैं। वृक्षावलियाँ वसंत का स्वागत करती हैं।

'डोलि रहे बिकसे तरु एकै, सुएकै रहे हैं नवाइकै सीसहि।
'त्यौं द्विजदेव मरंद के व्याज सों एकै अनंद के आँसू बरीसहि।'
तेसेई कै अनुराग भरे कर पल्लव जोरिकै एकै असीसहिं'।[1]

इसी प्रकार 'मालती आदि लतारूपी बालिकाएँ अपने पुष्पों के व्याज से बसंत पर खील बरसाती है। लताएँ नाचकर उसका मन हरण करती हैं। भौंरे चारणों की तरह उसका स्तुतिगान करते हैं। सारा बन फूलों का झर लगाकर 'चिरजीवो बसंत' की ध्वनि लगाते हैं। कोई युवक चिंतित है। वह मालती के नीचे अँगूठे से जमीन कुरेद रहा है। दिशाओं

१—शृंगार लतिका सौरभ २७
२—वही २८

को देखकर भी नहीं देखता। जंघा पर कुहनी और हाँथ पर मुँह रक्खे चिताओं में मग्न है।[१]

इस प्रकार द्विजदेव ने लगभग ३३ पद्य वसंतवर्णन में लिखे हैं। इससे प्रकृतिप्रेम की प्रमुखता अतएव प्रकृति की स्वच्छंदता का आभास स्पष्ट मिलता है। पर इतना ही स्वच्छंदमार्गी सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है। ऋतुवर्णन या बारहमासा लिखने की प्रथा तो रीतिबद्ध कवियों में भी प्राप्त होती है। किसी में कुछ कम और किसी में कुछ अधिक अपने अभिनिवेश के कारण हो सकती है। द्विजदेव रीतिपरंपरा से सर्वथा मुक्त नहीं प्रतीत होते। प्रकृति की नागरिक शोभा ही इनका काव्य विषय बनी है, जो प्राचीन परंपरा के अंतर्गत कही जायगी। गुलाब, चमेली, सेवती आदि के समान ही बबूल, नीम आदि का भी वर्णन होता तो वह स्वच्छंद प्रकृतिप्रेम कहा जा सकता था। वन में केवल ढाक आया है जिसकी प्राचीन परंपरा है। वह भी मानिनी बालाओं को मनानेवाला है।[२]

'किंसुक जातन कौ कल्पद्रुम मानिनी बालन हू कौ मनायक'

जंगल में कोयल, भौरे, पिक, चातक आदि पुराने पक्षियों ने ही शोर मचाया है। उल्लू, लोमड़ी, भेड़िये आदि ने नहीं। प्रकृतिवर्णन की प्रचुरता तो सेनापति में भी पर्याप्त है। पर केवल इसी आधार पर स्वच्छंदमार्गी वे नहीं कहे जा सकते। प्रयोक्तव्य और प्रयोग का प्रकार दोनों का ही काव्य-मार्ग के निर्धारण में उपयोग किया जाता है। इस तरह द्विजदेव में स्वच्छंद प्रकृति का कुछ ही अंश प्राप्त होता है। आधुनिक काल में श्रीधर पाठक की सी प्रकृति-प्रेम-प्रवृत्ति इनमें होती तो ये स्पष्टतः स्वच्छंदमार्गी कहे जा सकते थे।

७–आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और स्वच्छंद धारा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस धारा को 'रीतिमुक्त' कहा है और उसमें उन्मुक्त प्रेम के कवियों के अतिरिक्त नीतिविज्ञान की रचनाएँ करने-वालों तथा प्रबंधकारों की भी गणना की है। उन्मुक्त प्रेम के कवियों में बेनी कवि को भी लिया है। द्विवेदीजी के अनुसार 'उनकी कविताओं में

१—वही ३३

२—वही ७

घनआनंद और बोधा के समान स्वच्छंद प्रेमधारा का आभाप मिलता है।[1] इनके विषय में विद्वानों का अनुमान है कि इन्होंने कोई रीति ग्रंथ जरूर लिखा होगा, इनको ऐसी कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई। इसलिये द्विवेदी जी उन्हें स्वच्छंद धारा के अंतर्गत ही मानते हैं। वास्तव में विनिगमक प्रमाण न होने से इस विषय में किसी प्रकार का निर्णय करना कठिन है। जितनी रचनाएँ उनकी उपलब्ध हैं उनमें ही द्विवेदी जी ने प्रेम की स्वच्छंदता के दर्शन किए हैं। जो सवैया उन्होंने उद्धृत किया है वह यह है.........

'कबि बेनी नई उनई है घटा मोरवा वन बोलत कूकन री।
छहरैं बिजुली छिति मंडल पै लहरै मन मैन भभूकन री।
पहरौ चुनरी चुनि कै दुनही संग लाल के झूलिए झूकन री।
रितु पावस यों ही बितावती हो मरिहौ फिर बावरी हूकन री।

पर इस पद्य में तो स्पष्ट रूप से प्रकृतिवर्णन शृंगार रस का उद्दीपन विभाव है। कोई ऐसी विशेषता यहाँ नहीं प्रतीत होती जिसके आधार पर कवि को रीतिमुक्त कहा जा सके। नीतिविज्ञान की रचनाओं तथा प्रबंध काव्यों को रीतिमुक्त धारा के अंतर्गत उनके केवल बाह्याकार के आधार पर नहीं समझा जा सकता। 'रीतिबद्धता' या रीतिमुक्तता' प्रतिपादन शैली के भेद हैं। प्रतिपाद्य विषय या काव्यभेदों के भेद नहीं। प्रबंध काव्य दोनों प्रकार से लिखा जा सकता है। उदाहरण के लिये सूदन के 'सुजान चरित्र' को रीतिमुक्त प्रबंधकाव्य नहीं कर सकते। इसी प्रकार रसनिधि के मुक्तकों में फारसी के अनुकरण के अतिरिक्त आत्मानुभूति नहीं के बराबर है। देखना तो यही होता है कि कवि ने रचना करते समय काव्यादर्शों के नियम उपनियमों को परंपरा का अनुसरण किया है या आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये उसकी उपेक्षा की है। रीतिकाल के जो प्रबंधकार कवि हैं उनमें पर्याप्त मात्रा में काव्यशास्त्र के नियम उपनियमों के अनुवर्तन की प्रवृत्ति वर्तमान है। इसलिये उन्हें रीतिमुक्त इस अर्थ में तो कहा जा सकता है कि उन्होंने अलंकार, नायिकाभेद, नखशिख आदि के नियमों की न तो रचना की और न उनके अनुसार बिहारी की तरह फुटकल पद्य बनाए। पर चिंतन इनका रीतिमुक्त था यह नहीं कहा जा सकता। इन लोगों को प्रबंध के क्षेत्र जो सफलता नहीं मिली उसका कारण यह है कि इनका चिंतन रीति से

१—हिंदी साहित्य, पृ० ३४१।

स्वतंत्र नहीं था। नीतिविज्ञान की रचनाओं को यदि काव्यकोटि में लिया भी जाए तो रीतिमुक्तता में जो कल्पना की उच्चता और भावावेग का भाव अंतर्निहित रहता है वह उनमें नहीं प्राप्त होता। अतः उन्हें रीतिमुक्त कहना युक्तिसंगत नहीं। हाँ इस अर्थ में इन्हें भी रीतिमुक्त कह सकते हैं कि इन्होंने नायिकाभेद, नखशिख आदि की रचनाएँ नहीं कीं। द्विवेदी जी ने घनआनंद को स्वच्छंद प्रेम का कवि बताया है तथा आलम, बोधा आदि के विषय में 'स्वच्छंद प्रेम-प्रवाह' का उल्लेख किया है।[1] इस तरह उनकी रीतिमुक्त काव्यधारा विषयक धारणा कुछ स्पष्ट प्रतीत नहीं होती। उनकी यह उक्ति कि 'रीतिमुक्त साहित्य की भी कई धाराएँ हैं। कुछ तो रीतिमुक्त शृंगारी कविताएँ हैं, कुछ पौराणिक और लौकिक प्रबंध-काव्य हैं कुछ नीति और उपदेश विषयक कविताएँ हैं और भक्ति और ज्ञान विषयक उपदेश के काव्य हैं—गंभीर विवेचन की अपेक्षा रखती है। 'रीतिमुक्त का तात्पर्य यदि रीतिग्रंथों की रचना से मुक्त होना माना जाए तो अवश्य ये सब रीतिमुक्त हैं पर फिर तो 'रीतिकाल के अन्य कवि' सभी इसमें आ जाएँगे और बिहारी जैसे भी उसी में परिगणित होंगे। इसका अर्थ यदि रीति के प्रभाव से मुक्त किया जाए तो ये इस श्रेणी में नहीं आ सकते।

८—समाहार

इस तरह रीतिकाल में निरापदभाव से जिन्हें स्वच्छंदधारा के कवि कहा जा सकता है वे तो घनानंद, बोधा और ठाकुर ही हैं। आलम दो माने जाएँ तो एक आलम भी इस काल में आ जाते हैं उन्हें मिलाकर चार होते हैं। अन्यथा तीन ही कवि इस धारा के ठहरते हैं। इसमें भक्ति-काल के रसखान तथा आलम और रीतिकाल के बोधा तथा ठाकुर के काव्य मार्ग आदि का विवेचन अन्यत्र किया है। यहाँ आनंदघन की काव्य प्रवृत्ति का विमर्श किया जाता है।

१—आलम के विषय में वे लिखते हैं 'इस प्रकार शेख आलम की कविता में स्वच्छंद प्रेमधारा के भाव प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

हिंदी साहित्य, पृ० ३४१;

बोधा के विषय में 'इनकी रचनाओं में रीतिकवियों से भिन्न एक प्रकार के स्वच्छंद प्रेमभाव का उल्लास मिलता है।

वही ३४७.

प्रस्तुत निबंध का विवेच्य विषय स्वच्छंद प्रेम की काव्यधारा है। उसका नाम चाहे कुछ भी रख लिया जाए। कुछ लोगों ने स्वच्छंदधारा शब्द का व्यवहार अंग्रेजी साहित्य की रोमांटिक काव्यधारा के अर्थ में किया है जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में। पर लेखक का तात्पर्य स्वच्छंद प्रेम की काव्यधारा से है। रोमांटिक काव्यप्रवृत्ति से नहीं है। वह प्रवृत्ति तो अंग्रेजी साहित्य की अपनी है। यहाँ तो उन कवियों की काव्यप्रवृत्ति का विवेचन अभीष्ट है जो हिंदी साहित्य के प्रेमी कवि हैं और जिनका प्रेम स्वच्छंद है। इसी धारा को स्वच्छंद प्रेम की काव्यधारा लेखक ने कहा है। घनानंद इस धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनके काव्यादर्शों तथा काव्यप्रवृत्ति का विवेचन किया जाता है।

स्वच्छंद धारा की विशेषताएँ

१—मनोवेग तथा प्रेम की स्वच्छंदता

इस धारा के कवियों में सब से पहली विशेषता तो यह है कि ये अपने मनोवेगों के प्रवाह में बहकर कविता लिखा करते थे। इनकी दृष्टि में काव्यशास्त्र के नियम उपनियम नहीं रहते थे। इसलिये इनके काव्य में प्रेम की जीवनगत स्वच्छंदता तथा काव्यगत स्वच्छंदता दोनों के दर्शन होते हैं। इनकी दृष्टि प्रेमभाव की अनुभूति पर अधिक रहती थी। उसी का ये लोग काव्य में चित्रण करते थे। इसका फल यह हुआ कि इन लोगों की अंतर्दृष्टि प्रेमानुभूति को पहचानने में बड़ी व्यापक और सूक्ष्म हो गई। इनका प्रेम केवल नारी के स्थूल शरीरसौंदर्य तक ही सीमित न रहा। वह ईश्वर-पर्यंत ऊँचा उठा और समस्त विश्व का प्रेम इस शरीरोत्थ ईश्वरपर्यवसायी प्रेम में समाने लगा। यह दृष्टि की व्यापकता थी। सूक्ष्मता के कारण प्रेम के शरीर संसर्ग की ही रमणीयता ये लोग नहीं देखते थे। मानस संसर्ग की रमणीयता इन्हें अधिक रुचिकर थी। मानस संसर्ग की रमणीयता के कारण इनकी रचनाओं में अश्लील मुद्राएँ, अश्लील चेष्टाएँ या रूप सौंदर्य के खुले वर्णन नहीं मिलते। प्रिय के संयोग में मनोदशाओं के विविध रूपों के प्रदर्शन में ये लोग लग जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेम का बाह्य पक्ष इनका इतना प्रबल नहीं था जितना आंतरिक पक्ष क्योंकि दृष्टि ही आंतरिक थी। फलतः तीन तत्वों की प्रधानता इनकी काव्यप्रवृत्ति में मिलती है। प्रेम

के स्वच्छंदरूप (जीवनगत स्वच्छंद एवं काव्यगत स्वच्छंद) की अनुभूति तथा चिंतन में अंतर्दृष्टि साथ ही मनोवेगों के आवेगों का काव्य में प्रदर्शन।

तुलना के लिये रीतिमार्ग के कवियों को लें तो इस पद्धति से वे सर्वथा विपरीत पड़ते हैं। रीतिकारों ने प्रेम शृंगार का कितना ही वर्णन किया हो पर वह उनके जीवन की अनुभूति नहीं थी। ये लोग एक चौथाई भक्त होते थे, एक चौथाई प्रेमी और दो चौथाई में कवि और आचार्य। इसलिये स्वच्छंद प्रेम का एकांतिक रूप ये अपने काव्य में नहीं दे सके। प्रेम इनकी अनुभूति न थी। इसलिये न तो उसमें मनोवेगों का आवेग मिलता है, न जीवनगत स्वच्छंदता ही प्राप्त होती है। दूती, परिजन, सखी अभिसार आदि से घिरी नायिका के हृदय की अंतर्दशाओं का इन्हें परिचय नहीं। उनके सहेट-स्थल, सपत्नीदाह, लघु गुरु मान आदि ही इनके काव्य में आते रहे हैं। दृष्टि की व्यापकता के अभाव में प्रेम केवल नायिका तक सीमित रहता है उसमें किसी प्रकार की उच्चता के दर्शन नहीं होते। रहस्यादि की भावना जैसी आनंदघन के कवित्त सवैयों में यत्र तत्र मिलती है वह यहाँ नहीं। उनका प्रेम तो राधाकृष्ण के निकट पहुँचकर भी अपनी स्थूलता नहीं छोड़ सका। अंतर्दृष्टि के अभाव का फल तो इनके सुरतांत, विपरीत रति आदि के असंस्कृत वर्णनों में स्पष्ट हो जाता है। संयोग काल में प्राकृत चेष्टाओं के अतिरिक्त इन्हें कुछ सूझा ही नहीं।

२–कृत्रिम व्यापारों का त्याग

दूसरी विशेषता प्रेम व्यापारों के कृत्रिम रूपों के त्याग की है। स्वच्छंद धारा के कवियों की चेतना विरह और मिलन दोनों में प्रेमियों के हृदयों के अंतस्तलों को उद्घाटित करने में ही लगी रहती है। बाह्य कृत्रिमताओं को सोचना, उनका वर्णन करना इन्हें न रुचता और न सूझता है। प्रेम को ये लोग जीवन की आंतरिक, गोपनीय, वस्तु समझते हैं। उनके प्रदर्शन की अस्वाभाविक चेष्टाओं को निरर्थक मानते हैं। बोधा और ठाकुर ने अनेक बार यह प्रतिपादन किया है कि किसी पर प्रेम प्रकट करने से अपने उपहास के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं। आनंदघन प्रेमहीनों को, भले ही वे बुद्धि के धनी हों, प्रेम के क्षेत्र में वैसे ही मानते हैं जैसे सुंदरी के रूप लावण्य की परख के लिये अंध। घनआनंद का प्रेमी तो स्वयं ही अपनी प्रेमभावना को नहीं पहचान पाता। वह कहे किससे ? यहाँ तो 'बूझत बूझत बौरई सूझे' है।

इसके फलस्वरू सहेट की लुका-छिपी, विदग्धा के विदग्धालाप, अभिसारिका के भेद या सखी, दूती आदि का प्रेमिका बनना इत्यादि बातें इनके काव्य में नहीं आईं। रीतिमार्गी कवियों ने इन्हीं मार्गों का अधिकतर वर्णन किया है। रीतिमार्गी कवियों की प्रेम-व्यापार-वक्रता के विरुद्ध ये लोग तो यह मानते थे कि—

"अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेक सयानप बांक नहीं"

३–भावप्रधानता—

स्वच्छंद प्रेमधारा के कवियों ने प्रेम को हृदय की शुद्ध, निश्छल भाव-धारा माना है, बुद्धि का उसमें गौण स्थान है। रीतिमार्गी कवि बुद्धि के बल से ही भाव का अनुमान करते थे और बुद्धि के बल से प्रेम के बाह्यरूप-विधान का बंधान करते थे। ये लोग हृदय को प्रमाण मानते हैं। बुद्धि को नहीं। अंगरेजी साहित्य के रोमांटिक कवि भी इसी मान्यता के हैं।[1]

४–आत्मनिवेदन

प्रेमानुभूति कवि की जीवनगत है इसलिये उसे वह स्वयं ही प्रेमी बनकर प्रकट करता है। अतएव आत्मनिवेदन की शैली इन कवियों ने अपनाई है। रीतिमार्गी लोग सखी, दूती आदि द्वारा प्रेम निवेदन करते हैं। उसका कारण यही है कि उनका हृदय उसे अपना नहीं सका है। बुद्धि द्वारा कल्पित भाव हृदय के अपने नहीं बने। काव्य शैली के रूप में यह पद्धति फारसी उर्दू के शायरों की है। स्वच्छंद मार्गियों ने वहीं से यह प्रेरणा ली है। पर ढंग इनका अपना है। रीतिमार्गी कवि प्रेम निवेदन को पारंपरिक बनाने में जिस सामाजिक शास्त्रीयता की रक्षा करता है उसकी ये लोग स्वच्छंदता के कारण उपेक्षा करते हैं।

५—प्रेम का लौकिक पक्ष

इनमें रसखान, आनंदघन और आलम प्रेम के अनुभूतिपक्ष के गायक हैं। ठाकुर और बोधा में उसका लौकिक पक्ष भी आया है। लोक में प्रेम के निर्वाह की कठिनता सर्वाधिक होती है। कष्टों से पीड़ित प्रेमी स्वयं भी प्रेममार्ग से विरत हो सकता है और बाधाएँ भी बलात् उसे हटा सकती

१–देखिए–रोमांटिक प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, इसी अध्याय में।

हैं। सच्चा प्रेमी इन बाधाओं से डरता नहीं है। वह अपने जीवन की साधना हर प्रकार से पूर्ण करता है। बोधा तथा ठाकुर ने प्रेम के निर्वाह पक्ष पर अधिक बल दिया है। इसलिए उनका प्रेम 'तलवार की धार पै धावनो' है। यह भी स्वच्छंद मार्गी कवियों की एक विशेषता है। रीतिमार्गी कवियों का इस दशा में भी ध्यान कम क्या गया ही नहीं।

६—विरह

विरहवर्णन भी इन कवियों का रीतिमार्गियों के विरहवर्णन से भिन्न है। ये लोग वैसे तो संयोग में भी अंतर्मुख रहते हैं पर विरह में वह अंतर्मुखता और अधिक बढ़ जाती है। उसके कारण प्रिय के विरह में जो इन्हें मार्मिक पीड़ा होती है उसे भिन्न भिन्न प्रकारों से वर्णन करते हैं। कभी तो वे उन्मत्त की सी चेष्टाओं द्वारा हृदय की व्यथा व्यक्त करते हैं। जैसे—

अंक भरौं चकि चौकि परों कब्हूंक लरौं छिन हो मैं मनाऊँ।
देखि रहौं अनदेखें दहौं सुख सोच सहौं जु लहौं सुनि पाऊँ।
जान तिहारी सौं मेरी दसा यह को समझै अरु काहि सुनाऊँ।
यौं घनआनँद रैनदिना नहिं बीतत जानियै कैसें बिताऊँ।

सुहि० ३३३

कभी हृदय की अंतर्दशाओं का ही सीधा विश्लेषण करने लगते हैं। जैसे—

घूमत सीस, लगै कब पायनि, चायनि चित्त मैं चाह घनेरी।
आंखिन प्रान रहे करि ध्यान सुजान सुमूरति मांगत तेरी।
रोम ही रोम परी घन आनँद काम की रोर न जाति निबेरी।
भूलनि जीतति आपुनपौ बलि भूलौ नहीं सुधि लेहु सबेरी।

सुहि० ३४३

× × ×

ये ऊहात्मक पद्धति से विरहव्यथा की नाप जोख नहीं करते। इनका वियोग बड़ा व्यापक है। वह संयोग में भी बना रहता है। पर-ये वियोग में प्रिय के शरीर सुख की कामना नहीं करते। न शरीर सुख का

स्मरण करते हैं। अपनी मर्म कथा का उद्घाटन तथा प्रिय के सांनिध्य की कामना, इनका ध्येय रहता है।

रीतिमार्गी कवि संयोग में वहिर्मुख तथा वियोग में अंतर्मुख हो जाते हैं।' पर उनकी वियोग व्यस्थाएँ बुद्धि द्वारा अनुमित होती हैं। स्वयं अनुभूत नहीं। इसलिए उपमानों की अतिशयोक्तियों से उसकी मात्रा का ऊहन करते हैं। वियोगिनी को इतनी पीड़ा है कि गुलाब जल की शीशी औंधा देने पर सारा जल बीच में ही भाप बन कर उड़ जाता है। यह ऊहात्मक शैली इसलिए है कि वे ये नहीं जानते कि उस समय हृदय, मन, आँख, कान, नाक, प्राण, आदि की क्या दशाएँ होती हैं। स्वच्छंद मार्गी कवि उन अंतर्दशाओं में से एक एक के अनेकों स्वरूप जानते हैं, उसका वर्णन, विश्लेषण करते है। इससे इनका समस्त काव्य आंतरिक शैली का और रीतिमार्गीयों का वाह्य शैली का बन जाता है।

७—आत्मानुभूति

रीतिमार्गियों के विपरीत इन्होंने आत्मानुभूति को काव्य का विषय बनाया है। रीतिमार्गी, लोकानुभूति का वर्णन करते थे। उनका कार्य परिचित वस्तु पर ही कला की नक्काशी करना था। इनका कार्य अपरिचित अनुभूतियों को प्रेमियों के समक्ष उपस्थित करना था। इसलिये इनके रिझवार कम थे, क्योंकि 'पहचान नहीं उहि खेत सो जू"। उधर इस भावरत्न का सर्वथा अभाव है। आनंदघन का यह कवित्त इस तथ्य का उपयुक्त दृष्टांत बनता है।—

लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी
लसति ललित लोल चल तिरछानि में।
छवि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि में।
दसन दमक फैलि हियै मोती माल होनि
पिय सों लड़कि प्रेम पगी बतरानि में।
आनंद की निधि जगमगाति छबीली बाल
अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरि जानि में।

इस प्रकार के स्वानुभूति वर्णन रीतिमार्गी कविताओं में नहीं के बराबर है।

८—प्रेम का विषय एकांतिक तथा आत्यंतिक स्वरूप

स्वच्छंद मार्गियों का प्रेम आत्यंतिक एकांतिक तथा विषम हैं। प्रेमप्रसंग में बताया गया है कि प्रेम की उच्चता तथा उदात्तता के लिये विषमता अत्यंत अपेक्षित है। स्वच्छंद प्रेम का चरम उत्कर्ष विषमता में ही निष्पन्न होता है। सम प्रेम पारिवारिक होता है। रीतिमार्गियों ने जो सम प्रेम को अपनाया वह संस्कृत साहित्य के प्रभाव के कारण। संस्कृत साहित्य में पारिवारिक प्रेम को ही श्रेष्ठ माना है।

९—प्रबंध निपुणता

स्वच्छंदमार्गियों में प्रबंधरचना की निपुणता भी मिलती है। आलम और बोधा ने तीन सफल प्रबंध काव्य लिखे हैं। रीतिमार्गियों में इसका सर्वथा अभाव है।

१०—लोक जीवन का ग्रहण

स्वच्छंदमार्गी कवियों ने लोक जीवन के मंगल-मोद-पक्ष को भी लिया है। प्रसिद्ध पर्व त्यौहारों पर रीतिमुक्त शैली में उत्तम रचनाएँ की हैं। अखती, हरियाली तीज, झूला, बटपूजन आदि अनेक त्यौहार ठाकुर के काव्य में वर्णित हुए हैं।

११—भाषा

भाषा का परिमार्जन तथा व्यवस्थापन भी इन लोगों के द्वारा हुआ है। ठाकुर ने लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा, रसखान ने मुहावरों द्वारा, तथा आनंदघन ने लक्षणा, मुहावरे, व्याकरणशुद्धि, आदि गुणों से भाषा के स्वरूप को आढ्य तथा सुसंस्कृत बनाया है। आनंदघन ने भाषा में अभिव्यक्ति के अनेकों ऐसे नवीन मार्ग खोले हैं जो इनसे पूर्व किसी की दृष्टि में नहीं आए थे।

इस मार्ग के सर्वश्रेष्ठ कवि आनंदघन हैं, इसलिए उनकी काव्यादर्श की मान्यताएँ तथा काव्यशैली के आधार पर मार्गनिर्धारण का प्रयत्न करते हैं।

ड– घनआनंद की काव्यप्रवृत्ति

१—काव्यादर्श

घनआनंद की काव्यप्रवृत्ति पहचानने के लिए यह अत्यंत सहायक होगा कि हम यह जान लें कि वे स्वयं काव्य का आदर्श क्या मानते हैं। इनके

समय में रीतिमार्गी काव्यादर्श सर्वमान्य थे। सभी लोग उनका पालन करना आवश्यक समझते थे। वे आदर्श काव्य के वाह्य रूपों को सँवारने सजाने के ही थे। अनुभूति पक्ष पर किसी का ध्यान नहीं था। अनुप्रासमयी शब्दावली, छंदों में यतिलय का सुष्ठु विधान, दोषों का परिहार आदि गुण श्रेष्ठ कविता के लिये अनिवार्य माने जाते थे। रीतिमार्गी काव्यादर्श सेनापति के निम्नलिखित दो कवित्तों में भलीभाँति समाहृत किए गए हैं—

दोष सो मलीन गुनहीन कविताई है तो,
कीने अरबीन परवीन कोई सुनि है।
बिनु ही सिखाए सबु सीखिहैं सुमति जो पै,
सरस अनूप रसरूप यामें धुनि है।
दूपन को करिबौ कवित्त बिन भूषन को,
जो करैं प्रसिद्ध ऐसो कौन सुरधुनि है।
राम अरचतु सेनापति चरचतु दोऊ,
कवित रचत याते पद चुनियत है।

तथा

राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कों,
बुध कवि के जो उपकंठ्हि बसत है।
जो पै पद मन को हरष उपजावत है,
तजै न रसै जो छंद वंद सरसत है।
अच्छर है बिसद करत ऊखैं आपस में
जाने जगती की जडताऊ बिनसत है।
मानैं छविता की उदवति सबिता की
सेनापति कविता की कविताई बिलसत है।[१]

इन कवित्तों में काव्य के निम्नलिखित आदर्श व्यक्त किए गए हैं।

१—कविता दोषयुक्त तथा गुण रहित न हो।

२—रस की सरस ध्वनि हो।

३—अलंकारों का प्रयोग अवश्य हो।

४—कविता में भक्ति का पुट हो।

१—सेनापति—कवित्तरत्नाकर

५—पिंगल शास्त्र का विरोध न हो।

६—विद्वानों का मनोरंजन कर सके।

७—शब्दावली विशद् हो।

स्पष्ट है कि इनमें कलापक्ष की प्रधानता है हृदयपक्ष की नहीं।

१—आनंदघन ने काव्य के आदर्श कुछ तो प्रत्यक्षरूप से व्यक्त किए हैं कुछ अप्रत्यक्षरूप से। प्रेम के प्रसंग में यह दिखाया गया है कि उन्होंने प्रेमहीनों की निंदा की है। वहां प्रेमहीन से कवि ही अभिप्रेत हैं जो रीतिमार्गी थे। उनमें अनुभूति की शून्यता दिखाकर कवि ने व्यक्त करना चाहा है कि अनुभूतिहीन व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। इनके समकालीन कवि प्रेम के ही वर्णयिता थे। पर व्यक्तिगत प्रेमानुभूति उनको न थी। कवि ने उसी का काव्य में महत्व बताकर अपने को उनसे पृथक सिद्ध किया है। वे ऐसे लोगों पर दया प्रकट करते हैं जो शास्त्र या बुद्धि के चक्षुओं से प्रेम के हर्ष विषाद का अनुमान किया करते थे। बुद्धि के नेत्र हृदय नेत्रों की तुलना में मोर पंख के समान केवल शोभादायक हैं। भाव की गहराई तक वे नहीं पहुँच सकते। प्रेमानुभूति की साक्षी तो उनकी ही आँखें हो सकती हैं जिनके हृदय में चाह की मीठी पीर उठती हो।

रीतिकाल के कवि भावों को बुद्धिगम्य समझकर उसी से उन्हें काव्य-निबद्ध करते थे। आनंदघन ने सच्ची अनुभूति को बुद्धि से परे सिद्ध किया है। 'सुरति सुख' भूल के जागने पर ही जागता है[१]।

प्रेमानुभूति में बुद्धि दासी है और रीझ पटरानी[२], तत्व का बोध बौरानि ('तत्व बोध बौरानि में') में ही होता है। बुद्धिकवियों के प्रेमकथन को नीर-मंथन के समान निष्फल बताते हैं। उन्हें वाणी के रहस्य का अनभिज्ञ, ठंडे हृदय के तथा जड़ कहा है। वे लोग कठ प्रेम का निर्वाह करते हैं। उनसे कवि का मेल नहीं हो सकता।

बात के देस तें दूरि परे जडता नियरे सियरे हिय दाहैं।
चित्र की आँखिन लीनें विचित्र महारस रूप सवाद सराहैं।

१—सुहि० ३९६,

२—वही ४८,

नेह कथैं, सठ नीर मथैं, हठ कै कठप्रेम को नेम निबाहै।
क्यों घनआनंद भीजै सुजाननि यौं अमिले मिलिबो फिरि चाहैं।[1]

\+ \+ \+

२—काव्य क्षेत्र में ब्यौरेवार भावों का वर्णन कवि ने उत्तम माना हैं। जिनकी निजी अनुभूति कुछ नही होती वे बहुत से भी एक सा ही वर्णन किया करते है। वर्ण्य विषय वस्तु हो या भाव उसका ब्यौरा नहीं दे सकते। कला में इस ब्यौरे का ही महत्व है। वही व्यक्तित्व है। रीतिमार्गी कवियों में अलंकारों की योजना, गुणों का समाश्रयण, दोषों का परिहार, शब्दों की बाजीगरी आदि तो इतनी थी कि कोई क्या समता करता। पर निजी अनुभूति द्वारा प्राप्त होने वाला 'ब्यौरे का वर्णन' नहीं था। नायक नायिका आदि के भेद उपभेद बढ़ाना 'ब्यौरा' नहीं है। अपनी निजी अनुभूति से वस्तु की व्यक्तिगत विशेषताओं का परिचय देना 'घनआनंद का ब्यौरा' है। उसके बिना काव्य में स्थूलता आ जाती है। सभी वर्णन एक से हो जाते हैं। ब्यौरे से हीन कवि मूढ़ है।

मही दूध सम गनै हंस बग भेद न जानै।
कोकिल काक न ज्ञान काँच मनि एक प्रमानै।
चंदन ढाक समान राँग रूपौ संग तोलैं।
बिन विवेक गुन दोष मूढ़ कवि ब्यौरि न बोलैं।[2] सु हि० २८५

३—आनंदघन जी के अनुसार विषादों का वर्णन करने वाला काव्य ही उत्तम है। सच्चे कवि को विषादों का अनुभविता होना चाहिए। नहीं तो उसका हर्ष प्रधान काव्य भी रुदन सा निरर्थक हो जाता है। अनुभूति प्रधान काव्य करुण ही होता है। सच्ची अनुभूति तभी आती है जब कवि का अपना मर्म आहत हुआ हो। वाणी की उछल कूद से मर्म का पता नहीं लगता। प्रेमाग्नि लगने पर ही आनंद का झड़ लगता है। यदि कवि को रोना नहीं आता हो तो गाना भी रोने के समान है।

मरम भिदै न जौलौं, मरम न पावै तौ लौं।
मरम्महि भेदे कैसे सुरति घँघोइवौ।

१—वही ३८३
२—वही २८५

'प्रेम आगि जामै लागै झर घनआनंद कौ।
रोइबो न आवै तौ पै गाइबौ हू रोइबौ।[१]'

४—भाषा की बाहरी चमक दमक का काव्य में विशेष महत्व नहीं। भाव की तन्मयता ही अपेक्षित होती है।

'समझि समझि बातें छोलिबो न काम आवै।
छावै घनआनंद न जौ लौं नेह बौरई।[२]'

५—काव्य कला में भाषा उपेक्षणीय तत्व नहीं। उसका बड़ा महत्व है। पर वह हृदय के भावों की वाहिनीमात्र होनी चाहिए। उसका उद्गम भावमग्न हृदय से हो।

अक्षर का महत्व बताते हुए कवि कहता है कि 'हृदय को छलने का साधन भी अक्षर ही है और उसे तृप्त करने का भी साधन वही है। यद्यपि सत्य अक्षर से दूर है, पर अक्षर ही उसका परिचय कराता है। भावमग्न होकर अक्षर की गति जानने पर तत्व बोध हो जाता है।

'अच्छरै मन को छरै बहुरि अच्छर ही भावै
रूप अच्छरातीत ताहि अच्छरै बतावै[३]'
'तत्व बोध बौरानि मे अच्छर गति अच्छर लहै'

पर 'वाणी मौन का घूंघट डाल कर हृदय के भवन में दुलहिन की तरह बैठी रहती है। वह रसना की सखी के साथ कान की गली में होकर चित्त शैय्या पर पहुँचती है। सुजान घनी रिझवार होकर उसे बूझ के अंक में लेते हैं और उससे विलास विहार करते हैं'।[४] 'शब्द वक्ता के सूक्ष्म श्वास प्रश्वासों का ही पवन पट है जो अनुराग के रंग में रँगा रहता है। वह बुद्धि का खेल नहीं प्राणों का वाह्य रूप है। लगन में वाणी का स्वर भिन्न ही प्रकार का हो जाता है।'

'सबद सरूप बहै जानन सुजान चहै,
अचिरज यहै औरै होत सुर लाग मैं।

१—प्रकीर्णक ३०
२—वही ३१
३—वही ७१
४—सुहि० १६२

'सुक्षन उसास गुन बुन्यौ ताहि लखै कौन
पौन पट रंग्यौ पेखियत रंग राग में।'[1]

६—कवि को सूक्ष्मदर्शी होना चाहिए। साधारण प्रतीत होने वाले संसार के अनेक रूप व्यापारों में सूक्ष्मदर्शी के लिये 'बात' अर्थात् वर्णनीय पदार्थ विद्यमान रहते है। आँख मुँदने में, सोने-जागने में, सर्वत्र 'बात' रहती है। यह अनूप सरूप और अरूप सभी प्रकार ही होती है। बात की बात में 'बात' देखने की सूक्ष्मता सर्वत्र होनी चाहिए। द्रष्टा के नेत्र और श्रोता के कानों के बीच में 'मौन बखान' विद्यमान रहता है।[2]

७—प्रयत्न पूर्वक बनाई गई कविता उत्तम नहीं मानी जाती। किसी वस्तु की अंत:प्रेरणा से जब हृदय भावविभोर हो जाए तभी श्रेष्ठ कविता की रचना हो सकती है। काव्य भावपूर्ण हृदय की स्वत:निसृत वाणी होता है। घनआनंद ने अपने विषय में कहा है कि 'जब सुजान के तीक्ष्ण कटाक्ष-बाणों से हृदय आहत हो जाता है और प्राण प्यासे होते हैं तो काव्य के भाव आनंद के घनों के समान उमड़ते हुए सुजान की ही ओर से आते हैं। लोग लगकर कवित्त बनाते हैं। पर मुझे तो मेरे कवित्त ही बना लेते है।[3]

इस तरह घनआनंद के सात काव्यादर्शों का पता चलता है।

१—काव्य में भावानुभूति ही सर्वप्रमुख है।

२—व्यक्तिगत अनुभूति के बल पर वर्ण्य भाव या वस्तु का ब्यौरेवार ऐसा वर्णन हो जो उसी वस्तु के स्वभाव का परिचायक बने।

३—करुण काव्य ही श्रेष्ठ होता है पर करुणा की अनुभूति व्यक्तिगत रूप से मर्माहत हुए बिना नहीं होती।

४—भाषा की बाहरी सजावट या निष्प्रयोजनवक्रता काव्य में नहीं होनी चाहिए।

५—कवि की वाणी उसके हृदयगत भावों का ही वाह्य आकार होना चाहिए।

१—सुहि ४४२
२—सुहि ४२४
३—वही २२८

६—कवि को सूक्ष्मदर्शी होना चाहिए।

७—बिना किसी अंतः प्रेरणा के प्रयत्न पूर्वक बनाया गया काव्य श्रेष्ठ नहीं होता।

ब्रजनाथ के काव्यादर्श

इसके अतिरिक्त इन्हीं के समकालीन तथा संग्रहकर्ता ब्रजनाथ ने इनकी कविता की प्रशंसा में उसके कतिपय गुणों का वर्णन किया है। इसी प्रसंग में उन्हें भी देख लें तो इनके काव्यमार्ग का निर्धारण किया जा सकता है। ब्रजनाथ द्वारा निम्नलिखित गुण इनके काव्य में बताए गए हैं—

१—इनके काव्य को समझनेवाला व्यक्ति वही हो सकता है जिसने उच्च प्रेम का अनुभव किया हो। उसका हृदय चाह के रंग में भींगा हो। उसने हृदय की आँखों से नेह की पीर तकी हो।

२—सुंदरताओं के भेद जानता हो।

३—संयोगवियोग की रीति का कोविद हो।

४—भावनाभेदों के स्वरूप को पहचानता हो।

५—भाव की अनुभूति न कर अपने को विचक्षण कहनेवाले इनका काव्य समझ नहीं सकते।

६—बातों के गूढ़ भेद को जानना काव्य ज्ञान के लिए आवश्यक है।

७—कवि स्वच्छंद है।[1]

घनानंद जी द्वारा संकेत किए गये तथा ब्रजनाथ द्वारा बताए गए काव्यादर्श प्रायः मिलते जुलते हैं। इनकी तुलना यदि सेनापति के काव्यदर्शों से, जो रीतिपरंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं, की जाय तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रीतिकाल में काव्यकला का जो भावपक्ष दुर्बल हो गया था घनानंद ने उसी को काव्य का सर्वस्व मानकर कविता का रूप दिया। रीतिकाल में कवियों की व्यक्तिगत अनुभूति को वाणी प्रदान करने की परंपरा जो नहीं थी घनानंद ने उसी को सर्वश्रेष्ठ काव्य समझा और वैसा ही किया। भाषा की अनावश्यक साज सज्जा जो की जाती थी उसे 'सुरों का घघोइबो' तथा 'बातों का छीलना' मात्र समझा। यद्यपि भाषातत्व की उपेक्षा नहीं की। उसका संबंध हृदय के भावों से किया। रीतिकाल में जो काव्य का मार्ग अत्यंत स्थूल हो गया था। नायक नायिकाओं के शरीर सौंदर्य के बँधे बँधाए वर्णनों के अतिरिक्त उनके हृदयों की ओर देखा ही

१. 'भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै'—ब्रजनाथ।

नहीं जाता था, उसके विपरीत घनानंद ने काव्य में सूक्ष्मावगाहिनी प्रवृत्ति को अपनाया। रीतिकार शृंगार का वर्णन करते थे; अर्थात् प्रेम के भोग पक्ष को ही लेकर चले थे। नायक नायिकाओं के भेदविस्तार, उनके वर्णन तथा संयोगवियोग के अश्लील चित्र दिए जाते थे। घनानंद ने उसके स्थान पर उदात्त प्रेम को अपनाया। जो सरल हृदय की निश्छल तथा जन्मजन्मांतर तक जाने वाली प्यास है और जो 'आब्रह्मस्तंब पर्यंत' सभी में व्याप्त है। उन्होंने प्रेम का अर्थ 'व्यथा' ही समझा। उनके लिये प्रिय का मिलन या विरह एक सा ही हो गया। इस प्रकार रीतिकाल में जो काव्य का करुण पक्ष विस्मृत हो गया था उसे इन्होंने अपने हृदयरक्त से सींचकर हिंदी संसार को समर्पित किया। काव्य इनके पसीने का फल नहीं था हृदयरक्त से सींचा पौधा था। यही स्वच्छंद धारा का प्रमुख गुण होता है। रीतिकाल में प्रत्येक व्यक्ति कवि बन सकता था। ठाकुर ने इसका बड़े मार्मिक ढंग से खाका खींचा है।

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीनों जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनों कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामनि,
सीखि लीनों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत या की बड़ी है कठिन बात
या को नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत 'सभा के बीच'
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।

कविकर्म के लिये किसी जीवनगत या जन्मजात विशेषता का होना आवश्यक नहीं माना जाता था। कविशिक्षा ही इसका पर्याप्त साधन था। घनानंद ने इसको भी कला का दोष प्रमाणित किया है। उन्हीं के शब्दों में बुद्धि की आँखों से सत्य ओझल हो जाता है। रूप सदा रिझवार को ही अपना रहस्य खोलता है।[1] जब तक कवि का मर्म स्वयं न भिदा हो तब तक वह दूसरे के मर्म को नहीं जान सकता'। कवि ने उसी कविता को उत्तम समझा और

१—अंग्रेजी साहित्य के रोमांटिक काव्यधाराओं के आचार्यों का यह कथन कि 'इंद्रियां तथा बुद्धि वस्तु के सूक्ष्म तथा अन्तर्हित सत्य का पता नहीं कर सकतीं हृदय ही उसके लिये समर्थ साधन है, आनंदघन के विचारों से मिल जाता है। देखिए इसी अध्याय का 'रोमांटिक मार्ग' प्रकरण।

उसी का सृजन किया जो भावविभोर आत्मविस्मृत हृदय से अपने आप निकलती थी। यानी काव्यनिर्माण में बुद्धि की चेतनावस्था के स्थान पर उपचेतन या अवचेतन दशा का उपयोग किया। कवि अपनी इन विशेषताओं का महत्व जानते भी थे। इसलिए रीतिमार्गी कवियों को अपने से 'अमिले' उन्होंने कहा है।

'क्यों घनआनंद भीजै सुजाननि यों अमिले मिलिबो फिर चाहै' अर्थात् उस समय कवियों के दो वर्ग थे। 'घनआनंद भीजै सुजान' तथा 'कठ प्रेम को नेम निबाहने वाले सठ मूढ़ कवि'। पहले स्वच्छंद मार्गी थे दूसरे रीति परंपरा की शृंखलाओं से जकड़ी प्रतिभावाले। ब्रजनाथ ने तो घनआनंद को स्पष्टतया स्वच्छंद कहा है। 'भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै'। इनके समय की दूसरे प्रकार की कविता को 'जग की कविता' बताया है। उसमें सर्वसाधारण प्रवृत्ति का ही आश्रयण था। पर इन्होंने अपनी कला में उस वस्तु का उपयोग किया था जो उस समय हिंदी जग की कविताई में नहीं था। इसलिये ब्रजनाथ ने जग की कविता के रचयिताओं तथा श्रोताओं को स्पष्ट बताया है कि वे 'घनआनंद की कविता न सुनै' उन्हें इस काव्य के नवीन क्षेत्र से परिचय नहीं है।

'कविता घन आनंद की न सुनौ पहचान नहीं उहि खेत सों जू' इससे यह स्पष्ट है कि इनकी काव्यप्रवृत्ति रीति धारा से पृथक स्वच्छंद प्रवृत्ति की थी।

भावों का विचार करते समय यह बताया गया है कि इनका चिंतन गम्भीर है। इसलिये प्रेम भावना का स्वरूप आंतरिक हो गया है। आंतरिकता के कारण ही रहस्यवाद की छाया भी शैली में आ गई है। जब कवि कहता है कि 'सारा संसार आँखो से दूर हो गया केवल तुम्हीं सर्वत्र छाए हुए हो' तथा 'हे पिय, हम और तुम साथ साथ ही बहुत दिनों से रहते आए हैं पर आपस में पहचान नहीं हो पाई' तो इससे कोरा भौतिक प्रेम का वर्णन ही अभिप्रेत नहीं प्रतीत होता। इन उक्तियों में परमेश्वर की सर्वव्यापकता तथा अंतर्यामिता आदि की ओर संकेत किया गया जान पड़ता है। रीतिकाल की काव्यजगती में प्रेमभावना की यह व्यापकता भी सर्वथा अपरिचित थी।

घ—विदेशी स्वच्छंद धारा तथा आनंदघन

उपर्युक्त काव्य विशेषताओं को ध्यान में रखकर अंग्रेजी की स्वच्छंद काव्य-धारा को देखें तो उस धारा के बताए गए बहुत से गुण घनानंद के काव्य में

मिलते हैं। जैसे वैयक्तिकता, काव्य के रूपतत्त्व को प्रमुखता न देकर भावपक्ष को महत्व देना, रहस्यवाद का पुट, अपने समय की काव्यपरंपराओं को अस्वीकार कर व्यक्तिगत अनुभूतियों को काव्य में स्थान देना, सामाजिक बंधनों की उपेक्षा कर वेश्या तक के प्रेम को अपनाना तथा उसका ईश्वर प्रेम में पर्यवसान करना, अनुभव के क्षेत्र में इंद्रिय तथा बुद्धि की अपेक्षा हृदय को श्रेष्ठ साधन समझना आदि। पर इस समता का कारण घनानंद पर विदेशी साहित्य की परंपराओं का परिचय या प्रभाव नहीं है। वहाँ की परिस्थितियाँ परंपराएँ तथा भौगोलिक स्थितियाँ भी घनानंद के समय की परिस्थितियों आदि से सर्वथा भिन्न थीं। पर विशेष प्रतिभाओं के चिंतन की उच्चतम भूमि सर्वत्र सर्वदा प्राय: एक सी होती है। उसपर देशकाल का कोई प्रभाव नहीं होता रीतिकाल तथा अँग्रेजी साहित्य के क्लासिकल युग की परिस्थितियों में थोड़ा साम्य भी था। वहाँ लैटिन और ग्रीक साहित्य के आदर्शों के बंधन अरस्तू द्वारा स्थापित किए गए थे। वे कविप्रतिभाओं के द्वार के ताले बन गए थे। कविता में व्यक्तिगत अनुभूति नहीं रही थी। काव्य का मार्ग भी स्थूल था। लगभग ऐसी ही स्थिति यहाँ भी थी। संस्कृत साहित्य के आदर्शों के बंधन केशव आदि प्राचीन रीतिकारों द्वारा हिंदी काव्यक्षेत्र में अवतरित किए गए थे। यहाँ की काव्यप्रवृत्ति स्थूल तथा व्यक्तित्वहीन हो गई थी। बुद्धि के बल से काव्य का कलापक्ष जैसे अंग्रेजी साहित्य में बढ़ गया था वैसे ही हिंदी में भी। वहाँ का बंधन विदेशीय था। यहाँ का स्वदेशीय। बंधन उभयत्र समान था।

वैसे स्वच्छंद काव्यधारा किसी देशविशेष या कालविशेष की ही उपज नहीं मानी जानी चाहिए। इसका मूल परंपराओं का अनुसरण करनेवाली तथा उनका भंग करनेवाली दो मनोवृत्तियाँ होती हैं जो हर समय हर देश में हो सकती हैं। इसलिये एक आलोचक ने तो यह कहा है कि प्रत्येक समय की श्रेष्ठ रचना स्वच्छंद धारा की होती है। कल्पना की बहुलता और आवेगों की निबिड़ता उसमें विद्यमान रहती है।

अंग्रेजी साहित्य में 'रोमांटिक' प्रवृत्ति जो वहाँ की औद्योगिक स्वतंत्रता के फलस्वरूप अवतरित हुई थी वह घनानंद में नहीं है। पर रीति मुक्तता वैसी ही है। इसी अर्थ में इन्हें 'स्वच्छंद कवि' कहा गया है। 'रोमांटिसिज्म' के शास्त्रीय स्वरूप के अभिप्राय से नहीं। हिंदी साहित्य में यह नया योग फ़ारसी उर्दू के संयोग से उपस्थित हो गया था। अतः कहना चाहिए कि

इस रीतिकालीन स्वच्छंदधारा का स्रोत यहीं की भूमि में था। और उसके कारण यहीं की परिस्थितियां थीं। लेखक का तात्पर्य यह है कि घनानंद आदि ने जो हिंदी साहित्य के संसार में एक विशेष प्रकार की सृष्टि की है वह उर्दू फारसी की कोरी नकल नहीं, उस प्रभाव के साथ भारतीय साहित्य की पद्धतियों तथा मान्यताओं का योग हुआ है और उसके फलस्वरूप एक मार्ग की स्थापना हुई है। वह मार्ग विदेशी स्वच्छंद धारा से कुछ अंश में मिलता है कुछ अंश में भिन्न है।

छ—आनंदघन की स्वच्छंद प्रवृत्ति के अन्य गुण

अब हम इनकी ऐसी विशेषताओं का उल्लेख करने का प्रयत्न करेंगे जिनका परिचय काव्यादर्शों के प्रसंग में नहीं हो सका और जो रीतिपरंपरा से इन्हें पृथक करती हैं और इनकी रीतिमुक्तता स्थापित करती हैं।

१—रीतिकाल का प्रेम श्रृंगार साहित्यिक परंपराओं से तो मुक्त था ही नहीं, सामाजिक परंपराओं से भी मुक्त नहीं था। इससे एक ओर तो नायिका भेदों तथा रीति की विविध विधाओं के वर्णन होते थे और दूसरी ओर प्रेम का स्वरूप गार्हस्थिक रक्खा जाता था। वास्तव में इसका कारण संस्कृत साहित्य की प्राचीन परंपरा थी जिसमें श्रृंगार रस की वृद्धि वर्णाश्रम मर्यादाओं में हुई थी। उन्मुक्त प्रेम के लिये जिस मुक्त वातावरण की आवश्यकता होती है वह इसमें सम्भव नहीं था। सखी, दूती, वचनवैदग्ध्य आदि वाह्य कृत्रिमताएँ इसी के कारण बढ़ी थीं। इस तरह रीतिकालीन प्रेम में साहित्यिक बंधनों के साथ साथ जीवनगत बंधन भी था।

घनानंद ने सामाजिक बंधनों की लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं की। उन्होंने वेश्या से प्रेम किया। उसके उच्छल यौवन, आसवपान, नृत्य, शयन, सुप्तोत्थ सौंदर्य आदि निःसंकोचभाव से वर्णित किए है। प्रेमप्रसार के बाधक तत्वों को प्रेमहीन जड़ कहकर उपेक्षित कर दिया है। यद्यपि उनका प्रेम मानसिक है और बाधक तत्व शारीरिक व्यापारों में ही उपस्थित होते हैं इसलिए उनका अधिक वर्णन नहीं हुआ पर जितना हुआ है वह प्रेम की उत्सुकता के लिये ही है। घनानंद का प्रेम गार्हस्थिक नही है। उसमें समाज की मर्यादा नहीं है, जीवन की स्वच्छंदता है।

२—नायिकाभेद की प्रवृत्ति रीतिकाल की सर्वोपरि विशेषता थी। नायिकाभेदों की संख्या बढाने में ही कवि अपना कृतित्व समझते थे। ये भेद केवल संख्या तक ही सीमित थे। नायिकाओं के अंतःकरण के भावों की ओर कवियों का ध्यान नहीं था। घनानंद ने नायिकाभेदों में अपनी काव्य-सरस्वती को नहीं फँसाया। कहीं कहीं खंडिताओं के वचन आ गए हैं, ये केवल प्रिय को कठोर तथा प्रेमी को अनन्य अनुरागी सिद्ध करने के लिये हैं। अन्यथा नायिकाभेदो में कवि की प्रवृत्ति नहीं है। प्रेमी प्रेमिकाओं के भावों का विश्लेषण ही इनका विषय है। रूपसौंदर्य का वर्णन भी जहाँ हुआ है वहाँ उसके प्रभाव तथा भाव सयोग का अवश्य वर्णन है। वास्तव में इनका रूपसौंदर्य प्रेमाप्लुत हृदय से देखा गया है। जैसे—

'रूप की उझिन आछे आनन पै नई नई,
तैसी तरुनई तेह ओपी अरु नई है।
उपटि अनंग रंग को तरंग अंग अंग,
भूषन बसन भरि आभा फैलि गई है।
महारस भीर परैं लोचन अधीर तरैं,
ओछी ओक धरैं प्यास पीर सरसई है।
कैसें घनआनंद सुजान प्यारी छबि कहौं,
दीठि तौ चकित औ थकित मति भई है।

सुहि० ९७,

३—रीति परंपरा में प्रेम के गार्हस्थिक होने से प्रेमी या प्रिय अपने हर्ष विषाद का आत्मनिवेदन नहीं करते। कुलीनता और शालीनता की रक्षा के लिये सखा या सखियों का इस कार्य के लिये विनियोग होता है। मिलन, अभिसार, विरहनिवेदन आदि सब उन्हीं के द्वारा होते हैं। पर घनानंद तथा अन्य स्वच्छद प्रेम के कवियों ने प्रेमानुभूति का आत्मनिवेदन ही किया है। मध्यस्थ को इसलिये नही आवश्यक समझा कि वे प्रेम की गंभीर अनुभूति को समझ नहीं सकते। घनानंद इसलिये मौन होकर विरह व्यथा सहते हैं। ठाकुर ने भी प्रेमानुभूति के हृदय में ही गुप्त रहने की बात बार बार कही है। सबका सारांश यही है कि ये लोग प्रेमव्यापार में अंतर्मुख थे, रीतिमार्गी कवि बहिर्मुख।

४—रीतिकालीन बहिर्मुखता के कारण ही काव्य के अभिव्यक्तिपक्ष में विशेष परिष्कार या परिवर्तन नहीं हुआ था। वही प्राचीन औपमानिक पद्धति थी। भावों को विशेष बल के साथ कहना होता था तो अतिशयोक्ति आदि का समाश्रय किया जाता था। प्राधान्य अभिधावृत्ति का ही था। पर घनानंद की भाषा उनके हृदय में मौन का घूँघट डालकर बैठी हुई दुलहिन थी। वह उनके श्वास-प्रश्वासों से बना हुआ पट था जो प्रेम के रंग में रंगा हुआ था। इसलिये जितनी गंभीर अनुभूति थी उसकी अभिव्यक्ति के लिये उतनी ही सूक्ष्म भाषा की योग्यता इन्होंने कर ली थी। ये भाषाप्रवीन थे 'भावना भेद सरूप' को जानते थे। घनानंद की गंभीर अनुभूति स्थूल अभिधाप्रधान भाषा में व्यक्त नहीं हो सकती थी। इनके भावों की सूक्ष्मता और गंभीरता ने लाक्षणिक भाषा का नवीन मार्ग बना लिया। पहले सब आचार्य लक्षणा आदि का विवेचन थोड़ा बहुत करते थे पर उसका प्रयोग न संस्कृत साहित्य में हुआ था न हिंदी में। यही कारण है कि रीतिविवेचन में लक्षणा, व्यंजना आदि के भेदों के जो उदाहरण प्राप्त होते हैं वे न जाने कब से एक ही चले आ रहे हैं। इस क्षेत्र में घनानंदजी ने सर्वप्रथम प्रवेश किया और बड़ी प्रौढ़ता के साथ किया। इसका हेतु उनकी गंभीर सूक्ष्म चिंतना थी। भाव भाषा अपने साथ लाते हैं। वियोगिनी का संताप वर्णन करते हुए रीतिमार्गी कवि शंकर कहते हैं—

"शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अंबरतें ऊँची चढ़ जायगी।
झरिगे अंगारे वै तरनि तारे तारापति
या विधि खमंडल में आग बढ़ जायगी॥
× × ×
काहू विधि विधि की बनावट बचैगी नाहि
जो पै या वियोगिनी की आह कढ़ जायगी"
× × ×

इधर घनानंद की विरहिणी की अभिलाषा को लाक्षणिक भाषा में व्यक्त किया जाता है तो उसकी प्रेरणा और प्रभाव कितना बढ़ता है, यह देखिए—

× × ×
लाखनि भाँति भरे अभिलाषनि कैं पल पाँवड़े पंथ निहारैं।
लाड़िली आवनि लालसा लागि न लागत हैं मनमें पन धारैं।

यों रस भीजे रहैं घनआनँद रीझे सुजान सुरूप तिहारैं।
चायनि बावरे नैन कबै अँसुवान सों रावरे पाय पखारैं।

सु०हि० ५६

यहाँ व्यापारों का कर्त्ता प्रेमिका को न बना कर नेत्रों को बनाने से प्रिय की 'आवनि' को 'लाड़िली' कहने से, उन्हें रस भीजे तथा चाय बावरे बताने से काव्य की व्यंजना दूनी चौगुनी क्या असंख्य गुनी बढ़ गई है। भाषा ऐसी लगती है कि कवि ने भावों का अनुभव ही इस भाषा में किया था। जहाँ आंतरिक अनुभूति के कारण भाषा का निर्माण होता है वहाँ इसी प्रकार की मार्मिकता का अवतार होता है। हिंदी साहित्य में या तो कबीर आदि संतों के मुख से ऐसी हृदयोद्भूत वाणी निःसृत हुई है या घनआनंद के मुख से। रीतिमार्ग से इन्हें पृथक् करने में यह बड़ा प्रबल हेतु है।

५—रसपरंपरा पर सामाजिक मर्यादाओं का प्रभाव होने के कारण शृंगार रस में विषम रति का कोई स्थान नहीं रहा। यदि एकनिष्ठ रति हो अर्थात् नायक या नायिक में से कोई एक ही प्रेम करता हो तो वह रस नहीं रसाभास माना जाएगा। उसमें भी पहले स्त्री जाति के अनुराग को प्रकट करने की परंपरा है। यह सम प्रेम समस्त रीतिप्रधान काव्य में वर्णित हुआ है। घनआनंद ने प्रेम की उदात्तता तथा उच्चता व्यक्त करन के लिये विषम प्रेम को ही अपनाया है। प्रेम की अनन्यता, स्थिरता, सहिष्णुता आदि बिना वैषम्य के आ ही नहीं सकती। भोगपर्यवसायी प्रेम में समता अपेक्षित होती है। पर भावात्मक तथा साधनात्मक प्रेम का प्रसार वैषम्य के वातावरण में जितना अच्छा हो सकता है उतना अन्यत्र नहीं।

रीतिमार्गी कवियों में शृंगार रस के संयोग पक्ष ने अधिक विस्तार पाया है। इसके कारण चिंतन की आपेक्षिक स्थूलता तथा नायिकाभेदादि रीति की परंपरा हो सकते हैं। संयोग या कहना चाहिए संभोग भी चेष्टाप्रधान थो, भावप्रधान नहीं। संचारी भाव, अनुभाव आदि का प्रदर्शन इसी समय किया जाता था। इसका कारण रसमर्यादा थी जिसमें भाव की व्यंजना चेष्टा द्वारा की जाने का सिद्धांत हैं। संयोग की प्रधानता का भी कारण यही है कि वहाँ चेष्टाओं, हावभावों का वर्णन हो सकता है, वियोग में चेष्टाएँ विरत हो जाती

हैं। वियोग का इन्होंने थोड़ा बहुत वर्णन किया है तो वह भी मार्मिक नहा। कवियों ने अपनी ऊहा से व्यथा का अनुमान किया है। आलसी अफसर की तरह बिना घटनास्थल पर पहुँचे ही अनुमान से रिपोर्ट लिख दी है। पर आनंदघन वियोग के प्रधान कवि हैं। संयोग का भी वर्णन किया है तो उसमें वियोग विद्यमान रहता है। वहाँ प्रेमी की अनुभूति के स्रोत खुले ही रहते हैं। कभी वह हर्ष से बावला होता है कभी आगे के वियोग की चिंता से व्यथित। कभी चाह की अंतर्ज्वाला संयोग से और अधिक बढ़ती है। इस तरह संयोग में भी वियोग विद्यमान रहता है। जहाँ वियोग है वहाँ तो हृदयमर्म के पुट के पुट खुलते जाते हैं। वियोगव्यथा के वर्णन में घनआनंद की समता हिंदी के किसी कवि से नहीं की जा सकती। इनका यह गुण भी रीतिमार्ग से पृथक् है।

वियोग के प्राधान्य के कारणों की मीमांसा की जाए तो दो हेतु हिंदी साहित्य में संभव हो सकते हैं। एक तो सूफियों की प्रेम की पीर वर्णन करने की परंपरा जो भक्तिकाल के प्रारंभ से चलकर रीतिकाल तक किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। दूसरी फारसी काव्य की वेदनाविवृति की शैली जो रीतिकाल की ही समकालीन थी। इन दोनों धाराओं से इन्होंने प्रभाव ग्रहण किया हो यह संभावना होती है। पर विशेष प्रभाव उर्दू फारसी का प्रतीत होता है। वियोग का प्राचुर्य घनानंद और आलम दो में विशेष है। आलम मुसलमान थे, घनानंद कायस्थ। घनानंद ने 'इश्कलता' के 'वियोग बेलि' आदि उर्दू फारसी की शैली से लिखी भी हैं। इसलिये इसका प्रभाव तो स्पष्ट है। सूफियों का प्रभाव भी संभव है। उनका विरह मानव मात्र के चित्त में ही सीमित न रह कर समस्त प्रकृति में व्याप्त हो जाता है। दूसरे उस विरह में रहस्य भावना का अंश भी रहता है। घनआनंद के विरह में वह व्याप्ति तो नहीं है पर रहस्य भावना की झलक कहीं-कहीं आ गई है जो सूफियों से मिलती है।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि घनआनंद का काव्यमार्ग रीतिमार्ग से पृथक् था। कुछ रचनाएँ इनकी ऐसी मिलती हैं जिनमें आलंकारिक अभिव्यंजन शैली तथा रीतिमार्गी चिंतन स्पष्ट प्रतीत होता है, पर वे प्रारंभ काल की कृति समझनी चाहिएँ। अभिव्यक्ति के विकसित हो जाने

पर इन्होंने अपना मर्म ही उद्घाटित किया है। प्राचीन परंपरा का साहस पूर्वक त्याग कर दिया है।

साहित्य की यह धारा अकस्मात रीतिकाल में ही नहीं आ गई थी। पहले से ही इसका प्रवाह चला आ रहा था, यह प्रतिपादित किया जा चुका है। हिंदी साहित्य के मध्यकाल में ही पाँच उत्तम कवि इस धारा के अंतर्गत आते है। रसखान, आलम, घनआनंद, बोधा और ठाकुर। इस प्रकार मध्यकाल में स्वच्छंद धारा का एक व्यवस्थित अनुक्रम इन प्रेमी कवियों द्वारा स्थापित किया गया है। रसखान ने भक्ति के बाह्यावरण में व्यक्तिगत प्रेमानुभूति की अकृत्रिम भाषा में अभिव्यक्ति की है। राधा और कृष्ण के हृदयों में तथा भक्त के हृदय में मानवीय भावों का स्पंदन दिखाया है। आलम ने लौकिक प्रेम का स्वतंत्र रूप मे व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर वर्णन किया है। उसका अवसादपूर्ण प्रेम दूसरों से भिन्न है। बोधा प्रेम के मांसल तथा साहसिकतापूर्ण रूप के उपस्थापक है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लौकिक प्रेम को श्रेष्ठ माना हैं। महबूब मे ब्रजराज के दर्शन उन्होंने किये हैं। ब्रजराज में महबूब के नहीं! ठाकुर प्रेम के लोक व्यवहार-पक्ष के पारखी हैं। प्रेम के निर्वाह की कठिनता बोधा और ठाकुर की समान है। इस तरह स्वच्छंदधारा के समस्त कवियों का व्यक्तित्व उनकी प्रेमानुभूति में स्पष्ट आभासित है। साथ ही ये लोग न तो भक्तिपरंपरा से और न रीति की ही परंपरा से प्रभावित हुए इसलिये स्वच्छंद है।

स्वच्छंद मार्ग का प्रेरक हेतु

यद्यपि स्वच्छंद मार्ग का अविकसित रूप सभी कालो में दिखाई देता है पर रीतिकाल में अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ। इसका कारण उर्दू फारसी के साहित्य का हिंदी के साथ संगमन है। अकबर के समय से ही हिंदी संस्कृत तथा फारसी के और बाद में उर्दू के कवि दरबार में साथ-साथ रहते-सहते और काव्य बनाते-सुनाते आए हैं। भक्तिकाल में ही निर्गुण संतो तथा कृष्ण शाखा के भक्तों पर यह स्पष्ट हो गया था। कृष्णभक्ति में प्रेम की लौकिकता के समावेश का कारण फारसी का प्रभाव भी था। रीतिकाल में प्रेमभावना

की यही लौकिकता बढ़ती गई पर कवियों में अपनी काव्यमर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखने का मोह बढ़ता गया। रीति काल के कवि के व्यक्तित्व में यही मनोग्रंथि मूलनिहित प्रतीत होती है। ऊपर से वह भारतीय साहित्य की परंपरा का अनुयायी है पर अन्दर से उसमें फारसी काव्य धारा की लौकिक प्रेम की विकृति प्रकट होती है। फलस्वरूप कृष्णभक्ति का आवरण अभिव्यंजन शैली में स्वीकार कर वह मनोग्रंथिग्रसित अतएव अविकसित प्रेम की अर्धस्फुटित अभिव्यक्ति करता है। स्वच्छंद धारा के कवियों के मानस में कामग्रंथि नहीं थी। ये स्पष्टता से प्रेम की व्यक्तिगत अनुभूति को प्रकट करते थे। उनका साहित्य दम्भग्रथित नहीं है। बोधा ने 'विरह वारीश' में माधवानल तथा कामकन्दला के संयोग का जो खुला वर्णन किया है उसका कारण इनके मानस की स्वच्छंदता और निर्मुक्तता ही है। घनआनंद ने भी सुजान के मादक सौन्दर्य का इसी भाव से वर्णन किया है। उन्होंने सामाजिक तथा साहित्यिक मर्यादाओं को अपने जीवन में मिलता न देख कर उन्हें साहसपूर्वक त्याग दिया था। फारसी साहित्य का जो नवीन पादप इस देश की मनोभूमि पर आरोपित हुआ था उसके मीठे फलों का उन्होंने निःसंकोच आस्वादन किया। उर्दू फारसी का प्रभाव तो रीतिकाल के समस्त कवियों पर था। पर स्वच्छंद धारा के कवियों ने उसका कुछ अधिक उपयोग किया और रीति मार्ग के वाह्यावरण को उतार फेंका। इनकी जीवनगत परिस्थिति ने इसमें सहायता दी।

स्वच्छंद धारा का मध्यकाल में प्रारंभ ही फारसी के योग से हुआ है। रसखान पठान होने के नाते फारसी के जानकार अवश्य रहे होंगे। उनके चिंतन में जो प्रेम का लौकिक रूप आया है उसका यही कारण था। ठाकुर, बोधा, घनआनंद तीनों कायस्थ थे। कायस्थ लोगों में फारसी के पठन पाठन की परंपरा पहले से ही विद्यमान थी। बोधा ने फारसी की शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। घनआनंद का फारसी-परिचय उनकी वियोग वेलि, इश्कलता आदि रचनाओं से और प्रेम के व्यथाप्रधान तथा विषमरूप का वर्णन करने आदि से अनुमानित होता है। इनके मित्र नागरीदास जी का 'इश्क चमन' फारसी की लटक में ही लिखा जान पड़ता है। उन्हीं के अनुकरण पर घनआनंद ने भी अपनी 'इश्कलता' लिखी हो तो क्या आश्चर्य। 'मनोरथ-मंजरी' तो नागरीदास जी ने आनंदघन की प्रेरणा से ही लिखी थी। इन्होंने

भी 'मनोरथ मंजरी' लिखी है। ठाकुर अवश्य ऐसे हैं जिनके प्रेम का स्वरूप तथा अभिव्यक्ति भारतीय हैं। भाषा पर भी फारसी आदि का प्रभाव नहीं है। संभवतः उनका ज्ञान फारसी भाषा का कम हो या बिलकुल न हो पर इमसे प्रभाव की सम्भावना दूर नहीं होती। उर्दू फारसी साहित्य ने तो उस समय अपना एक साहित्यिक वातावरण बनाया था। इससे ज्ञात और अज्ञात रूप से हिंदी के कवि प्रभावित हो रहे थे। ठाकुर दूसरी कोटि में आते हैं। घनआनद के भड़ौवाकार ने तो इन्हें फारसी के भावों का चोर बताया है। घनआनंद की भाषा की लाक्षणिकता भी फारसी के प्रभाव के फलस्वरूप ही है। अन्यथा हिंदी या संस्कृत में तो यह परंपरा थी हो नहीं। स्वच्छंद धारा के कवि इस गुण के लिए प्रशंसाभाजन है कि इन्होने दो साहित्य प्रवाहों के संगम से नवीन प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त की। साथ ही बोधा को छोडकर शेष चारों की ता पाचन शक्ति भी कम प्रशंसनीय नहीं है। 'रीझि पचाय के डोलत भूखे'। विदेशी भावधारा तथा अभिव्यंजना शैली आदि का इतनी मात्रा में तथा ऐसे प्रकार से उपयोग किया है कि उसका आभास तक काव्य के बाह्यकार में नहीं होता। प्रभाव केवल प्रेरणा तक ही सीमित रहा। भाषा की लाक्षणिकता के लिए घनआनंद ने हिंदी भाषा की ही उपेक्षित सामग्री मुहावरे तथा रूढ लक्षणाओं का सुन्दर विनियोग किया है। वास्तव में स्वच्छंदमार्गी कवियों न बाहर की सामग्री का साहित्य में किस प्रकार उपयोग करना चाहिए इसका आदर्श दूसरों के समक्ष उपस्थित किया है। फारसी के प्रेम के लौकिक किंतु स्थूल भड़कीले रूप के साथ भारतीय प्रेमधारा के गांभीर्य का मिश्रण कर अपूर्व सृष्टि इन लोगों ने की है।

साहित्यिक परंपराओं में परिवर्तन सदा कुछ विशेष कारणों से होता है। वे वाह्य भी होते हैं और आन्तरिक भी। आधुनिक युग की स्वच्छंदधारा का जन्म भी विदेशी साहित्य के योग से हुआ है। हरिबंशराय बच्चन फारसी से प्रभावित होकर तथा श्रीधर पाठक आदि अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर उन्मुक्त प्रकृति की कविता कर सके हैं। सुमित्रानंदन पन्त आदि स्वच्छंद धारा के कवियों पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव तथा प्रेरणा स्पष्ट है। रीतिकाल में विदेशी वस्तु को अपनाया तो रसलीन, कुंदनशाह आदि ने भी था पर स्वयं उसमें रंग गए। उसे भारतीय आकार प्रकार न दे सके। इन लोगों ने उसे हिंदी की प्रकृति के साथ मिलाकर पृथक ही एक मार्ग बना लिया था।

ऊपर जैसा बताया गया है कि व्यक्तिगत जीवन की विशेष परिस्थितियों एवं फारसी आदि के साहित्य के प्रभाव के कारण भक्ति काल और रीति काल में पाँच छः कवियों की काव्यप्रवृत्ति प्राचीन परंपरागत मार्ग से भिन्न स्वभाव की हो गयी थी। इस प्रकार यह विशेषता कोई असंबद्ध, अनियमित या कदाचित्क नहीं थी। इसकी एक पूरी धारा भक्तिकाल से लेकर रीतिकाल के अंत तक दिखाई पड़ती है। घनानंद के अतिरिक्त रसखान, आलम, बोधा और ठाकुर भी इसी स्वच्छंद प्रवृत्ति के अंतर्गत आते हैं। उनकी काव्य प्रवृत्तियो का सूक्ष्मरूप से परिचय इस प्रकार है।

रसखान के काव्य में स्वच्छंद मार्ग

रसखान और तुलसी समकालीन हैं। तुलसीदास के भक्त हृदय ने राम में भगवत्व के दर्शन कर उनके समस्त कार्यों को लीला बना दिया यद्यपि उसका व ह्यरूप मानवीय व्यापार का सा रहा। मानवत्व का स्थान गौण, प्रच्छन्न रहा। इसके पूर्व महात्मा सूरदास ने भागवत के सहारे अनेकों प्रेम व्यापार जिनमें वात्सल्य, दांपत्य, आदि के भाव थे, प्रकट किए, पर वे सब भगवत्व की छाया में ही बढ़े। आजका पाठक चाहे कितनी ही मानवीयता उनमें देखे पर सूरदास जी ने भक्तिविह्वल होकर भावल्लीला ही गाई। तुलसीदास जी की विनयपत्रिका और सूरदास जी के विनयपद राम और कृष्ण के भगवत्व के प्रति विनीत भक्त के आत्मनिवेदन हैं। भगवान मानव से दूर बना रहता है। लीला संबंधी सूर के पदों में भी कृष्ण अंगूठा मुख में मेलते है तो प्रलय की आशंका से सिंधु उछलने लगता है, मंदराचल काँपने लगता है, कमठ भी अकुला जाता है। शेषनाग के सहस्र फण डोलने लगते हैं। वटवृक्ष बढ़ने लगा, देवता व्याकुल हो गये, आकाश में भी उत्पात होने लगा। महाप्रलय के मेघ भी आकाश में उठकर जहाँ तहाँ उत्पात करने लगे।[१] तुलसीदास के काव्यों मे भगवत्व का प्राधान्य सूर से भी अधिक है। राम को प्रायः प्रत्येक बालचेष्टा पर देवता लोग प्रसन्न

१—उछलत सिंधु, धराधर कंप्यौ, कमठ पीठ अकुलाय।
सेस सहस फन डोलन लाग्यौ, हरि पीवत जब पाय॥
बढ्यौ वृच्छवर, सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात॥—सूर।

होकर पुष्प बरसाते हैं। अणिमादि सिद्धियाँ उनको खिलाती है।[1] फलस्वरूप इन भक्तों की रचनाओं में भगवान की लीलाओं को मानव व्यापार का स्वरूप नहीं मिल सका। उसका कारण था भक्तिपरंपरा का शास्त्रीय रूप जिसका दोनों ने अनुसरण किया है। दोनों पर अपने अपने संप्रदायों का पूर्ण प्रभाव रहा। ये भगवान को मानव की भूमि पर लाने की धृष्टता नहीं कर सकते थे।

'रसखान' जाति के मुसलमान थे। फारसी के स्वच्छंद सांसारिक प्रेम, जिसका एक छोर नाम मात्र के लिये पर सत्ता से हिलगा दिया जाता है, इनके परिचय में था। इसलिये लैला के प्रेम को इन्होंने श्रेष्ठ बताया है[2]। सूफी प्रेम, जिसकी अभिव्यक्ति लौकिक थी पर अंत में तात्पर्य अध्यात्मसाधना का कर दिया जाता था—रसखान की दृष्टि में था। फलस्वरूप कृष्णभक्ति का शास्त्र पक्ष इनको स्वच्छंद प्रतिभा को सीमित न कर सका। इन्होंने उसके 'रागानुगा' रूप में स्वच्छंद प्रेम के दर्शन किए। भक्त होकर भी प्रेमी बने, प्रेम भक्त। इस प्रेम का आदर्श जिस प्रकार लैला थी उसी प्रकार गोपिकायें थीं।[3] रसखान की दृष्टि में लैला का प्रेम और गोपिकाओं का प्रेम एक सा ही था। उसकी अनन्यता में कोई अन्तर नहीं माना। कृष्ण आराध्य न रहे, प्रिय बन गये।

कवित्त सवैयों में भगवत्व को सर्वथा भुला नहीं दिया है। जिसे शेष, महेश, गणेश, दिनेश और सुरेश निरंतर गाते हैं वही अहीर की छोकरियों के सामने छछिया भरि छाछ के लिए नाचता है। जिसे ब्रह्मा दिनरात स्मरण करते हैं, वे यशोदा के सामने खुरचन के लिए खड़े ठिनक रहे हैं।[4] पर जिस तत्व का शेष महेश स्मरण करते हैं वह अध्यात्म ज्योति है, पुराणों का अधिदेव परमेश्वर नहीं जो सूर तुलसी का अभिमत है। इस पक्ष में रसखान कबीर से अधिक समता रखते हैं, सूर तुलसी से कम। उन्होंने कृष्ण की लीलाओं का जो वर्णन किया है, वह मानव व्यापार है। उनमें अलौ-

---

१—भूपति भाग बली सुरनर नाग सराहि सिहाहिं।
अनिमादि सारद सैल नंदिनि बाल लालहिं पालहीं।—गीतावली।

२—प्रेमबाटिका ३१।

३—यदपि जसोदा नंद अरु ग्वाल बाल सब धन्य।
पै या जग मैं प्रेम की गोपी भई अनन्य।

४—रसखानि, १३, ०१।

किकता नहीं। परम ज्योति अब परमेश्वर कृष्ण बनकर जो आ गई उसकी अनुभूति और व्यापार मानवीय हैं। यद्यपि ऐसी ही प्रेम की चेष्टायें, व्यापार, कृष्ण भक्ति के सब कवियों ने वर्णित किए हैं, पर रसखान की सी भावना उनमें नहीं। मानवीयता की महक उनमें ऐसी नहीं है। भावों की सरल अभिव्यक्ति का एक यह भी कारण है कि यहाँ आराध्य भक्त की समतल भूमि पर उतर कर समानुभूति का आलंबन बन गया है। फलत: रसखान भगवान् कृष्ण को प्रेम की अनुभूति के लिए मानव की समतल भूमि पर उतार लाए हैं। यहाँ भक्ति का भेद जो भक्त और भगवान में बना रहता है, नहीं रहता।

कवि ने प्रेम की पूर्णता के लिये मानसिक अथच शारीरिक एकता दोनों को आवश्यक माना है। यह भी स्वच्छंद प्रेम का ही आश्रयण है। प्रेमी और प्रिय में न तो मनसा और न कायेन भेद होना चाहिए। इनमें आरोह क्रम से पहले मानसिक एकता और बाद में शारीरिक एकता प्राप्त होती है। यद्यपि आपातत: यह विपरीत लगता है क्योंकि शरीर मन की अपेक्षा स्थूलतर है। पर सत्य यही है। मानसिक ऐक्य का अर्थ बौद्धिक अनुगामिता है। प्रिय जैसा करे प्रेमी वैसा ही विचारे। पर बुद्धि के साथ शरीर की समस्त वृत्तियाँ संकलित नहीं होतीं। बुद्धि द्वारा निर्णीत अथच स्वीकृत तत्व स्थूल इन्द्रियों को अग्राह्य हो सकता है। 'मनस्यन्यत् वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्' की उक्ति इसी ओर संकेत करती है। दूसरे केवल बुद्धि द्वारा स्वीकृत प्रेम स्थिर भी नहीं रहता। चंचल बुद्धि स्वयं परिवर्तित होकर अपने निर्णयों को भी परिवर्तित कर लेती है। इसलिए निष्ठा तभी बनती है, जब शरीर और मन दोनों से प्रिय की एकता हो। इस एकता के लिये सामस्त्येन आत्मसमर्पण करना पड़ता है। शरीर की समस्त इन्द्रियाँ जब प्रिय की अनुगामिता करती हैं—अर्थात् आँखें 'प्रिय को' ही देखें, कान प्रिय को ही सुनें, त्वचा प्रिय का ही स्पर्श करें आदि आदि, तब प्रेम पूर्ण हो जाता है। यह स्थिति बौद्धिक अनुगामिता के बहुत बाद में प्राप्त होती है। रसखान पूर्ण प्रेम की परिभाषा करते समय इस उभय विध एकता के पक्षपाती हैं। अन्य भक्तों की तरह शारीरिक अभेद में उन्हें वासना की दुर्गन्ध नहीं आती। आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा दिखाई देती है। वे प्रेम के मांसल रूप को गतानुगतिक होकर अधम नहीं बताते। 'दो अन्त:करणों को एक होते तो सुना है पर वह प्रेम नहीं है। जब दो शरीर भी एक हो जायँ तब

प्रेम कहलाता है।[1] इस तरह भक्ति को शास्त्रीय पद्धति से बौद्धिक शुद्धता न देकर उसे अनुभव बल से सांसारिक यथार्थता देकर स्वच्छंद प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

अभिव्यक्ति पक्ष में स्वच्छंद मार्गी कवियों की प्रवृत्ति स्वाभाविक भाव-प्रवण भाषा की होती है। वे भाषा को अलंकारादि से सजाने के पक्षपाती नहीं होते। अपने भाव व्यक्त करना ही मुख्य-ध्येय रहता है। रसखान में यह प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में देखी जाती है। सरल भाषा में मार्मिक भावों को व्यक्त करने के कारण इनके कवित्त सवैयों का नाम ही रसखान (रस की खानि) पड़ गया है।

रसखान के समय में भक्त कवियों में गीत-रचना की ही प्रणाली थी। पर रसखान ने उसे नहीं अपनाया। प्रबंध परम्परा का अनुसरण भी नहीं किया। यद्यपि सूर के बाद तुलसी ने प्रबंध-रचना को अधिक ख्याति दी थी, सूरदास ने भी भागवत के सहारे सूरसागर में फुटकल गीतों की रचना कर कथाप्रबंध को अपना आश्रय बना लिया था। पर रसखान ने अपने भावों को अनुकूल छंद सवैयों में व्यक्त किया। भागवत की कथा परंपरा के अनुसार कृष्ण की लीलाओं का वर्णन इनकी रचनाओं में नहीं मिलता। स्वच्छंदमार्गी कवि भावबहुल अन्तर्मुख होने के नाते मुक्तक पद्यों की रचना की ओर ही अधिक झुकता है। प्रबंध में हृदय तथा बुद्धि पक्ष को समता, जीवन की विभिन्न विषमताओं का सामंजस्य अपेक्षित होता है। स्वच्छंद प्रवृत्ति में भावातिरेक सर्वप्रधान होता है। फलतः फुटकल रचना इधर अधिक उपयुक्त ठहरती है। छंद भावानुकूल होते हैं क्योंकि भाव का अतिरेक अपने लिए अनुकूल छंद आप निश्चय करा लेता है। सवैया में एक पाद में एकबार यति १६ वीं मात्रा के बाद आती है। अन्यथा छंद का प्रवाह यथावत् बना रहता है। पाद में भी प्रायः दीर्घ अक्षर से ह्रस्वोन्मुख प्रारंभ होकर एक प्रकार की ढलान का निर्माण हो जाता है। स्वाभाविक ढंग से भाव उड़ेलने वाले कवि के लिये यह छंद अनुकूल ही होगा। इस प्रकार छंदोविधान में भी भावप्रधानता झलकती है, बाह्य सज्जा नहीं जिसकी अनुभूति से संगति न हो। यह सब कवि के अन्तर्मुख होने की ओर संकेत करता है जो कि स्वच्छंद मार्ग का एक बड़ा व्यापक लक्षण है।

१—प्रेम वाटिका, ३४।

स्वच्छंद मार्ग का एक चिह्न भावों की वैयक्तिकता भी है। इस मार्ग का कवि अपने भाव आप ही उत्तम पुरुष द्वारा व्यक्त करता है। उनमें शास्त्रीय मर्यादा की रोक नहीं आने देता। सीधी अभिव्यक्ति होने देता है। रसखान में ऐसे पद्य अनेक मिलते है जिनमें कवि ने अपना प्रेमाभिलाष स्वयं व्यक्त किया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि 'रसखान ने जो अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति का परिचय दिया है उसे अधिकतर व्यक्तिगत उद्‌गारों द्वारा ही प्रकट करने की चेष्टा की है।'[1] इनके काव्य में अधिक मात्रा ऐसे पद्यों की है जिनमें गोपियों के कृष्ण के प्रति अभिलाष, प्रेम कलह, माधुरी, मोहन, आदि की वर्णना हुई है। उनमें कवि ने अपना ही हृदय खोलकर रखा है। पारंपरिक भक्ति भाव नही है।

फारसी की काव्यपद्धति का अतिवाद और विषाद का आपने कहीं भी अनुसरण नहीं किया। उसी प्रकार सूफी संतों का कथा-प्रबंधों द्वारा सांप्रदायिक दर्शन आपकी रचनाओं में प्राप्त नहीं होता। मोहन-माधुर्य रसखान की अनुभूति का बीज है। इसलिये प्रेम-वाटिका में कवि का विचार है कि जो लोग प्रेम को फाँसी, या तलवार समझते हैं उसी प्रकार नेजा, भाला या तीर भी इसे बताते हैं, वह सब युक्ति-सह नहीं है। प्रेम की मार में मिठास ही मुख्य रहता है[2]।

इस प्रकार रसखान में अपने समय की काव्यप्रवृत्तियों तथा अनुभूति-विधानों का परिचय तो दिखाई पड़ता है पर अनुसरण नहीं। उन्होंने अपना ही स्वानुकूल मार्ग बनाया। उस मार्ग में विशुद्ध अप्रतिहृत प्रेम की अनुभूति का प्राचुर्य था और उसकी अनावृत्त अभिव्यक्ति थी जो स्वच्छंद मार्ग की ओर संकेत करती है, शास्त्रीय परंपरा की ओर नहीं। इसका तात्पर्य यह तो कदापि नहीं कि रसखान ने जान बूझकर शास्त्रीय मार्गों का खंडन किया है। या वे काव्य के स्वच्छंद मार्ग से यथाविधि परिचित थे। उनके जीवन का संयोग मुसलमान प्रेमी भक्त होने के नाते विविध पद्धतियों के संमिश्रण का कारण बन गया था। वैसा ही संमिश्रण कबीर में भी हुआ था। पर कबीर ज्ञानमार्गी होकर कठोर भी हो गए और खंडनपरायण भी। हृदय की अनुभूतियों को अपने ढंग से व्यक्त करने की सरस प्रवृत्ति उनमें नहीं आई जो रसखान में आ गई।

१—परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह, पृ० ९६।

२—प्रेमवाटिका २९।

(ग) आलम के प्रेम का स्वरूप तथा स्वच्छंद काव्यधारा

पारिवारिक और उन्मुक्त दोनों प्रकार का प्रेम आलम के काव्यों में मिलता है। मुक्तकों में कुछ पद्य तो रीति के ढर्रे के हैं जिनमें सपत्नी दाह, खंडिता, अनुशयना आदि के विषाद आदि का वर्णन हुआ है। कुछ पद्यों में प्रेमभाव का स्वतंत्र और उन्मुक्त रूप से वर्णन है। ऐसे स्थलों पर कवि प्रायः भावात्मक है। जहाँ उसकी काव्यप्रवृत्ति अंतर्मुखी होकर विभाव, अनुभाव आदि के वर्णन से हट गई है, वहाँ प्रेमभावना के मादक प्रभाव आदि का स्वच्छंद वर्णन हुआ है। इनके प्रबंधों की कथा बंधनमुक्त प्रेम से संबंधित है। यद्यपि इसमें प्रेम का अवसान प्रेमियों में विवाह के रूप में होना है जिसे सामाजिक रूढ़ि का अनुकरण कह सकते हैं, पर कवि ने विवाह से पूर्व की दशाओं का ही वर्णन अभिनिवेश से किया है। कथा के पात्र किसी सामाजिक बंधन से बद्ध नहीं हैं, प्रेमबंधन से ही बद्ध हैं। प्रेम के प्रतिपादन की शैली स्वच्छंद अधिक है, रूढ़िग्रस्त कम।

प्रेम की अनुभूति व्यक्तिगत है। अतएव वह मार्मिक और सत्य प्रतीत होती है। आलम का प्रेम अभिलाषप्रधान है। इसके कारण प्रिय के प्राप्त कर लेने पर भी तृप्ति नहीं होती। प्रेमी अभिलाषापूर्ण ही बना रहता है। फलस्वरूप उसका प्रत्येक क्षण अंतर्द्वंद्व से अभिभूत रहता है। प्रिय के देखते और न देखते रहने पर वह दुखी है। इस उभयविध मनोव्यथा का चित्रण बार बार कवि ने किया है। 'प्रिय के सामने रहने पर नेत्र टकटकी लगाकर उसे देखते हैं, इसलिये पलक नहीं मारते। वियोग में फटे के फटे रह जाते हैं इसलिये निर्निमेष बने रहते हैं। सुखी तो प्रिय ही है जिसे दूसरों की कोई चिंता नहीं।[1] गोपिकायें श्री कृष्ण से यही आत्मनिवेदन करती हैं कि—'हे कृष्ण हम दोनों प्रकार से थक गईं। तुम्हारे न देखने से तो दुःख होता ही है, देखने पर भी धैर्य नहीं रहता।[2]' अभिलाषा का ही यह प्रभाव

१—देखे टकलागै अनदेखे पलकौन लागै
देखे अनदेखे नैना निमिष रहत हैं।
सुखी तुम कान्ह हो जु आन की न चिंता
हम देखे हू दुखित अनदेखे हू दुखित हैं॥
—आलमकेलि, छंद १८५।

२—वही, छंद संख्या १८७।

है कि प्रिय की छोटी छोटी प्रेम चेष्टायें प्रेमी के अंतरतम को मथित कर डालती हैं। वह विह्वल हो जाता है। क्या घर क्या बाहर मित्र को प्रेमिका देखती ही फिरती है। देखते देखते मन तृप्त नहीं होता। 'कृष्ण ने थोड़ा हँसते हुए फिर कर देखा तो उसका गमन रुक गया। आश्चर्य चकित सी एक ही स्थान पर खड़ी रह गई। हृदय में धमक सी लगी और पीड़ा उत्पन्न हो गई।[1]' ऐसी अनेकों व्यक्तिगत अनुभूतियाँ जो हिंदी के प्रेम साहित्य की परंपरा में नहीं मिलती, आलम ने व्यक्त की हैं।

संयोग और वियोग जब दोनों ही विलकता के उत्पादक हैं तो प्रिय का स्वरूप कठोर ही रहेगा, आह्लादकारी कोमल नहीं। इस कठोरता का कारण प्रेम की एक पक्षीयता नहीं है जैसा कि फारसी के कवियों की होती है, अपितु अभिलाषातिरेक है। प्रेमी ने प्रिय के प्रेमसिक्त कोमल रूप को भी कठोर समझा है क्योंकि वह नए नए अभिलाषों को जगाता है अतएव पीड़ा देता है। 'कृष्ण निकट रहते हैं फिर भी निष्ठुर हैं। इसलिये वे निश्चय 'निपट निठुर' हैं।[2]' ऐसी मनोदशा के प्रेमी के लिये प्रेम गले की फाँसी बन जाता है। उसमें आनंदोल्लास का तनिक भी अवसर नहीं रहता।

भौतिक प्रेम और आधिदैविक प्रेम अर्थात् भक्ति में यह पार्यवसानिक भेद है कि भक्ति में विरह अपार वेदनायें देता है तो मिलन तृप्तिजन्य उल्लास की हिलोरें उठाता है। भगवत्सानिध्य में आनंद की चरमानुभूति रासलीला इसी अंतर को ओर संकेत करती है। समस्त गोप गोपी कृष्ण के साथ नाचते गाते हैं और उनके मुखचंद के चकोर होकर तृप्ति लाभ करते हैं। पर लौकिक प्रेम का मूल वासना होती है जिसका मुख्य अंग अभिलाष है। अभिलाष प्राप्ति से और अधिक बढ़ता जाता है। इसीलिये उसका पर्यवसान दुख में होता है। भक्ति विषयापेक्ष है, प्रेम निरपेक्ष। इतीलिये पहला ससीम है दूसरा असीम। आलम का प्रेम संयोग द्वारा सफल हो या वियोग द्वारा विफल, है दुख पर्यवसायी ही। वेदना के सातत्य से उसका उत्साह भी भंग हो गया है। वह विजित और बिके हुए व्यक्ति की मनोवृत्ति प्रदर्शित करता है। जान पड़ता है कि वह अपनी स्फूर्ति का बल सदा के लिए

१—वही, १४०।

२—वही, १७०।

खो बैठा है[1]। इसी लिये वह अपनी वेदना में संतुष्ट और संयोग सुख से उदासीन है। 'प्रिय कृष्ण जिसने रस हो उसके साथ खेलें। उनके देखने से हृदय की तपनि दूर होती है यही बड़ा भारी दुख है कृष्ण बहुतों के प्रिय हैं पर वे किसी की पीर नहीं पूछते, यह परिहास है। यदि उनके मनमें कोई आ बसी है तो इसमें उनका क्या बस'[2]। प्रेमी के प्राण अंदर ही अंदर घुटते रहते हैं पर वह किसी से अपनी पीड़ा व्यक्त करना नहीं चाहता। एक तो प्रेम व्यथा आंतरिक है। प्रकट में जितनी दिखाई पड़ती है उससे कहीं अधिक वह अंतर में रहती है। लोग ऊपर-ऊपर में उसे क्या समझ सकेंगे। जिसे शूलों की गाँस लग चुकी हो उसे हंसी नहीं आ सकती। प्रेमी बेचारा फाँसी में पड़ा है फिर भी उसकी सचाई में संशय किया जाता है। मन के चले जाने से हृदय तो मरोड़े से लेता रहता है पर ऊपर लोगों को थोड़ी उदासी दिखाई पड़ती है[3]। दूसरे प्रेमानुभूति सार्वजनीक नहीं होती। दूसरे के हृदय की कौन जान सकता है? यदि कोई व्यथा की कथा सुन भी लेता है तो उससे पीड़ा बट नहीं जाती। व्यथा भार ज्यों का त्यों रहता है। इसलिये प्रेमी को मौन रहना ही अच्छा लगता है[4]। प्रेम की अंतर्मुखी प्रवृत्ति का यही परिणाम संभव है। प्रेम के रोगी को रोग जितना अच्छा लगता है उतनी चिकित्सा नहीं।

औषध हितावै ताहि वेदना न भावै जाहि,
मीर छांड़ि बीर बैद पीर मोहि प्यारी है[1]।

आराधना में रूपवान प्रतीक का पर्यवसान भक्ति के भाव में हुआ करता है। अंत में शेष भाव ही रहता है, भगवन्मूर्ति का सहारा छुट जाता है। इसी प्रकार भौतिक प्रेम में आगे चल कर आलंबन नीचे रह जाता है, भाव ऊपर उठ कर समस्त आलंबन को आवृत कर लेता है। इस दशा में प्रेम-प्रेम के लिये होता है वस्तु विशेष के लिये नहीं। इसकी दो स्थितियाँ हो सकती हैं। एक तो आलंबन के परिवर्तित रहने पर भी प्रेम की तन्मयता और मार्मिकता यथा पूर्व विद्यमान रहे। इसमें आलंबन का महत्व कम हो जाता है, भाव

१—परशुराम चतुर्वेदी : हिंदी काव्य-धारा में प्रेम प्रवाह, पृ० ४४।
२—आलमकेलि, १८१।
३—वही, २०६।
४—वही, १७६।

का अधिक। यह प्राय: यूरोपीय प्रेमकवियों की कृतियों में उपलब्ध होता है। दूसरी स्थिति आलंबन के प्रेय अथवा हेय होने पर प्रेम का तदवस्थ बने रहना है। प्रिय दूसरों को सुंदर लगे चाहे असुंदर प्रेमी को वह प्रिय ही है। आलम का प्रेम अपनी तन्मयता में इसी स्थिति का है। पहली स्थिति में आलंबन का परिवर्तन प्रेम की अस्थिरता की आशंका उत्पन्न कर सकता है पर दूसरी में अनन्यता की सुगंधि प्रेम को दिव्यता प्रदान करती रहती है। 'जो कृष्ण को काला कहती हैं वह गँवार सी लगती है। मुझे तो उनकी श्यामता ही उजली लगती है। जहाँ मन का लगाव है, वहाँ रूप का कोई विचार नहीं होता। रीझ की बूझ कुछ विलक्षण होती है'[1]।

प्रेमाभिलाष और लज्जा के संघर्ष के कारण जो मानसिक उलझन उत्पन्न होती है उसकी अनुभूति भी कवि को हुई है। नए नए अभिलाष अहमहमिकया उठते रहते हैं, पर अपनी पूर्ति बाहर न पाकर भीतर ही घुमड़ने लगते हैं। प्रेम का वेदनापक्ष यही है। 'प्रिय कृष्ण सामने खडे हैं। मुँह नीचा करने से उनका पूरा दर्शन नहीं होता। जब वे बाहर बंशी बजाते हैं तो मन घर से बाहर चलने को करता है पर शरीर काँपने लगता है। लज्जा की भीड़ में नेत्रों को भी भाग नहीं मिलता। संकोच से धीरे धीरे विचार करना पड़ता है। इस प्रकार एक वास में भी दीर्घ श्वासों के साथ जीवित रहना पड़ता है'[2]।

अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण आलम ने मनोभाव को साहित्यिक औचिती की रक्षा करने के लिये संवरण नहीं किया। स्पष्ट रूप से उसे वर्णन किया है। कहीं कहीं अश्लीलता भी आ गई है। प्राय: भावावेश के स्थलों पर ऐसा हुआ है।

मुक्तक रचनाओं में प्रेम का मन्मथ तथा प्रबंधों में लोकोपकारी सर्जक अधिक उभरकर आया है। कामकंदला का नायक माधवानल प्रेम के कारण उत्पन्न हुई आपत्तियों को साहसपूर्वक झेलता है, उसके प्रतीकार के उपायों का संकलन करता है। अंत में सफल होता है। 'स्यामसनेही' में भी वही सर्जक रूप आया है। अध्यवसाय यहाँ पुरुषगत न होकर स्त्रीगत है। रुक्मिणी अनेक विरोधों की विद्यमानता में अपने प्रेम की टेक का सफल

१—वही, १४८।

२—वही, १६०।

निर्वाह करती है। प्रेम का कारुण्यार्द्र रूप वहाँ बहुत स्पष्ट होता है, जब कि रुक्मिणी की अभ्यर्थना से रुक्म की जीवनरक्षा होती है। द्वेष का प्रतीक रुक्म संहार के लिये उतारू था पर प्रेम की मूर्ति रुक्मिणी संरक्षण ही करती रही।

दोनों कथाओं में बाधाओं की उग्रता दिखाकर प्रेम की स्थिरता को भूयोभूयः पुष्ट किया गया है। सुदामाचरित्र में सौहार्द का चित्रण है। सौहार्द का पद प्रेम से नीचा है, क्योंकि इसके इर्द गिर्द उपकार भावना रहती है। उपकार से ही इसका जन्म होता है, उपकार में ही पर्यवसान। पूर्वोपकार का स्मरण तथा कृतज्ञभाव, इसकी अनन्यता है। पर सत्य सौहार्द उपकार की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ व्यापक भाव लेता है। उपकार की अवधि केवल योगक्षेम संबंधिनी बौद्धिक स्थिरता तक ही रहती है। हृदय की मार्मिक ममता का भाव उसमें हो भी और न भी हो। कृष्ण सुदामा का सौहृर्द ऐसा ही जीवनावधि स्थायी, हृदय के अंतरतम में लब्धमूल, गद्गदकारी आह्लाद का जन्मदाता प्रेम है। आलम इसके यथार्थ रूप का चित्रण नहीं कर सके। इनकी दृष्टि वस्तुगामिनी होने से घटनाओं का इतिवृत्तात्मक वर्णन करती रही है। उसका भावात्मक रूप इनकी अनुभूति में वैसा नहीं आया जैसा नरोत्तमदास की अनुभूति में। फिर भी कथा को काव्य विषय बनाकर प्रेम की विविधता से अपना परिचय प्रकट किया है। सुदामा की दीनता और द्वारिका का आश्चर्यजनक वैभव वर्णन कर सौहार्द की भेदातिगामिता भी व्यंजित की है।

इस प्रकार प्रबंधों में लोकोपकारी तथा मुक्तकों में अनुभूतिमय दोनों प्रकार के प्रेम के कवि आलम प्रेमभाव की व्यापक पूर्णता के साथ हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं।

प्रेम के जीवनोपकारी रूप के चित्रण के साथ घटनाओं का अविनाभाव संबंध है। घटनाओं के लिये विस्तृत भूमि, प्रबंधों में ही सुलभ हो सकती है। इस लिये प्रेम का यह रूप वहीं संभव है, मुक्तकों में नहीं। मुक्तकों में भावों की गंभीरता अपेक्षित होती है जो समाहार के बल पर सिद्ध होता है। कवि की प्रवृत्ति भी अंतर्मुखी होने से अधिक से अधिक भावात्मक हो जाती है। ऐसी दशा में वहाँ अनुभूतिमय प्रेम का ही चित्रण हो सकता है, जीवनोपकारी का नहीं। आलम ने इसी मार्ग का आश्रयण कर अपना 'रससिद्ध' स्वरूप प्रमाणित कर दिया है।

(ङ) बोधा कवि की स्वच्छंद काव्यप्रवृत्ति

'माधवानल कामकंदला की कथा को अपना काव्यविषय बनाकर बोधा ने अपने स्वच्छंदमार्गी होने का प्रमाण दिया है। भौतिक और बंधनहीन प्रेम जैसा उनके जीवन में था उसी प्रकार की कथा को उन्होंने अपनाया। कला-निष्णात [illegible] का नर्तकी के साथ स्थायी प्रेम होना सामाजिक स्वच्छंदता का प्रतीक है। ऐसा ही प्रयोग कवि ने अपने जीवन में स्वयं किया था। नायक नायिका तथा उपनायिका के शापग्रस्त होने का उल्लेख करने से कथा की स्वच्छंदता को मर्यादित दिखाना अवश्य हो जाता है पर बोधा की वह निजी कल्पना नहीं प्रतीत होती। उन्होंने जैसी कथा सुनी थी वैसी ही कह दी है। उस अंशपर कवि का विशेष अभिनिवेश भी नहीं दिखाई देता। इस कथा पर काव्य रचना करने की प्रेरणा कवि को कैसे मिली इसका उल्लेख उन्होंने प्रारंभ में किया है। सुभान ने सच्चे प्रेम का लक्षण और परिणाम पूछा था। उसके उदाहरण स्वरूप यह कथा कही गई है। मध्य मध्य में दोनों के संवाद भी चलते रहते हैं।[१]

कवि—सुन सुभान यारौ दिल दायक।
अब यह कथा न कथिबे लायक॥

सुभान—अहो मीत ऐसी जनि भाखौ।
कथि कैं कथा न आधी राखौ॥

—विरहवारीश।

अत: स्पष्ट है कि कवि के स्वच्छंद प्रेम ने इस कथा की प्रेरणा दी थी। उनके जीवन में जो वस्तु रम गई थी वह काव्य द्वारा प्रकट हुई है।

विषयनिर्वाचन ही नहीं भावसामग्री भी बोधा को रीतिमुक्त स्वच्छंद मार्गी होने का संकेत देती है। रीतिमार्ग के कवियों की रचनाओं में जिस प्रकार अलंकार, नायक-नायिका भेद आदि पर कवि की दृष्टि रहती है वह बोधा की रचनाओं में नहीं। उन्होंने मुक्तक पद्यों में प्रायः प्रेम की पीड़ा, निर्वाह, अनन्यता आदि का प्रतिपादन तथा प्रबंधकाव्य में

निरलंकार शैली से 'वस्तु' प्रतिपादन किया है। अप्रस्तुत अंश भी रीति परिपाटी में जैसा चला आ रहा था वैसा नहीं है। वैसे शैली निरलंकार होने से अप्रस्तुतांश की मात्रा कम ही है। इश्कनामा के चतुर्थ अध्याय में अन्योक्तियाँ लिखी हैं। उनमें प्रायः भौंरा और मध्यकालीन अनेक पुष्प जैसे, मालती, चमेली, सोनजुही, चंपा आदि अप्रस्तुत रूप में आए हैं। रीतिकाल के कवियों ने संस्कृतपरंपरा के उपमान अधिक लिए थे। बोधा इस दृष्टि से भी रीति की रेखा से हटते ही दिखाई देते हैं।

बोधा मनोवेगों के कवि हैं, परिष्कृत भावों के नहीं। रीतिबद्ध भाव साहित्यिक और सामाजिक अंकुश से दबे हुए रहते हैं। यद्यपि कुछ रीतिबद्ध लोगों ने सुरतांत, विपरीत रति आदि का वर्णन कर तथा अनूढ़ा का प्रेमप्रसंग दिखाकर समाज-मर्यादा का भंग किया है पर वह सब नायिकाभेद की आड़ में हुआ है और अश्लील दोष वहाँ भी नहीं आने दिया। हृदय के असंयत भाव साहित्यपरंपरा द्वारा संयत कर दिए गए हैं। बोधा ने 'विरहवारीश' में पात्रों के संयोग वियोग में अनवरुद्ध मनोवेगों को चित्रित किया है। कुछ वर्णन तो साधारण लोक-रुचि के उद्वेजक हो जाते हैं। पर इसका मूल कारण यही है कि कवि अपने हृदय पर नियंत्रण नहीं करना चाहता। प्रारंभिक रचनाओं में अवश्य रीति की लटक और फारसी का अनुकरण दिखाई देता है पर बाद में वह नहीं रहा। "विरहवारीश" में पद्मिनी, हस्तिनी आदि नायिका भेद तथा नायक भेद के पद्य मिलते हैं पर वे काव्यकला के शैशव के हैं। "इश्कनामा" के फुटकल पद्यों की भाषा भी परिष्कृत और चुस्त हो गई है। फारसी का रंग कम दिखाई देता है। इस अनियंत्रित भावराशि में बोधा की स्वच्छंद प्रकृति का आभास अवश्य मिलता है। इससे उन्हें अधम कवि मान लेना अन्याय होगा। फारसी प्रभाव अवश्य इसमें कारण है। अतः यह ठीक है कि बोधा में कुछ बाजारू रंग-ढंग कहीं-कहीं मिलता है। यह उनपर फारसी की रचना का आरंभिक प्रभाव है। 'रीतिबद्ध लक्ष्यकारों में जो स्थिति रसनिधि की है, भक्तों में जो रूप कुंदनशाह का है, वैसा ही स्वच्छंद कवियों में बोधा का समझना चाहिए।...कुशल हुई कि बोधा ने अपनी सारी रचना इसी प्रकार की नहीं रक्खी[1]।

१—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घनानंद ग्रंथावली–भूमिका, पृ० ४८।

इस संबंध में तीसरी विशेषता बोधा के व्यक्तिगत भावों की है। उन्होंने जिस प्रकार सोचा है, सीधा उसी प्रकार कह दिया है। उसे कृत्रिम नहीं बनाया। अपनी समस्त रचना में सुभान का किसी न किसी प्रकार से प्रसंग रखा है। अपने हृदय को, अपने व्यक्तित्व को इस प्रकार स्पष्ट रूप से प्रकट करना बिना स्वच्छंद भावना के नहीं हो सकता। रीतिमार्ग में तो 'शोभनता', 'सहजता' को आवृत कर लेती है। बोधा स्पष्ट कहते हैं—

'एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।

× × ×

जान मिलै तौ जहान मिलै नहिं जान मिले तौ जहाँन कहाँ कौ॥

तथा,

'बोधा सुभान हितू सौं कही या दिलेबर की को सही करि जानत।
वा मृगनैनी की चाह चितौनि चुभी चितमैं चितसों पहिचानत॥
तासों वियोग दई ने दयौ तौ कहौ अब कैसे मैं धीरज आनत।
जानत हैं सब ही समझाइ ये भावती के गुन को नहिं जानत॥'

अपने व्यक्तित्व का निश्छल प्रकाशन कर बोधा, घनानंद जैसे स्वच्छंद-मार्गी कवियों ने हिंदी-काव्य-भागीरथी में ऐसी सरस्वती का संगम किया जो इनसे पूर्व कभी हुआ ही न था। यह गुण तो हिंदी साहित्य या भारतीय साहित्य के लिये महत्वपूर्ण वस्तु है। बिल्हण की 'चौरपंचाशिका' के बाद रीतिकाल में कवि का 'आत्मप्रकाशन' कहीं भी सुनने को नहीं मिलता। बोधा ने अपनी कला में इसका प्रयोग किया है। यह गुण बोधा में घनानंद से भी अधिक है। उसका कारण भी स्पष्ट है। यह बात फारसी से आई है। फारसी के गुणों को ठाकुर और घनानंद तो इतना पचा गए कि वह हिंदी के अंग में एकमेक हो गई। पर बोधा उतना पचा नहीं सके। इसलिये 'आत्माभिव्यक्ति' की प्रवृत्ति इनमें सबसे अधिक रही है। इसीलिये इनके भावचिंतन में मस्ती भी झलकती है। शराब की जगह पर अपनी प्रियतमा से भाँग पीने का उपक्रम किया गया है।

भाषा की स्वाभाविकता स्वच्छंदमार्गी सभी कवियों की अपेक्षा बोधा में अधिक विद्यमान है। ठाकुर ने लोकोक्तियों द्वारा, घनानंद ने लक्षणाओं के बल से तथा आलम ने अलंकारों के प्रयोग से चमत्कार का आश्रयण किया है। केवल बोधा ही ऐसे हैं जो भाषा के स्वाभाविक रूप को लेकर चले हैं।

उर्दू फारसी की शब्दावली अवश्य कहीं कहीं प्रयुक्त हुई है पर उससे अभि-व्यक्ति की कृत्रिमता का कोई संबंध नहीं। वह सरल सहज ही है—

'मनमोहन ऐसो मिलावन हैं जो फरेतो कुरंग फदैती करै।
तब लौं छल जानी न जात कछू जबलौं अधमी वह मारि घरै॥
कवि बोधा छुटे सब स्वाद सबै बिन काजहू नाहक जीव जरै।
विषखाइ मरै कि गिरे गिरि ते दगादार ते यारी कभी न करै॥

कवि ठाकुर की काव्यशैली और मार्ग

ठाकुर ने अपने काव्यादर्श पर निम्नलिखित घनाक्षरी लिखी है।

'सीख लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीनौ यश औ प्रताप को कहानौ है।
सीख लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि,
सीख लीनो मेरु औ कुबेर गिरि आनौ है॥
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याकौ नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानौ है।
डेल सौ बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबा खेल करि जानौ है॥

पद्य का तात्पर्य यही है कि बँधी बँधाई परंपरा की कुछ बातें, जिनमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूति न हो, कविता नहीं कही जा सकती। ऐसी कविता स्वाभाविक नहीं होती अतएव जीवन के साथ उसका मेल नहीं होता रीतिकाल की कविता का रूप प्रायः ऐसा ही हो गया था। कविशिक्षा द्वारा अकवि कवि बनते। अस्वाभाविकताओं का वर्णन करने में न तो कवियों को कुछ अनहोना लगता था न रसिकों को वैरस्य अनुभव होता था। ठाकुर की शैली की प्रथम विशेषता यह है कि उन्होंने उपर्युक्त भूल को अपनी रचनाओं में नहीं दुहराया। इनके काव्यों में प्रेम तथा अन्य भावों की वह साधारण अनुभूति है जो व्यक्तिगत होकर भी सार्वजनीन है जिसका हृदय हृदय में

१—इश्कनामा, २, ३५।
२—वही, ४४।
३—वही, ६।

स्पंदन होता है, और जो कवि परंपरा की कृत्रिमताओं से उन्मुक्त है। स्वाभाविक है कि वह कवि की आप बीती भी लगती है।

'वा निरमोहिनि रूप की रासि जोऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बार हूं बार विलोकि घरी घरी सूरत तो पहचानति ह्वैं है॥
ठाकुर या मन की परतीति हैं जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है॥'[1]

जिस प्रकार अनुभूति का सीधा साधा सरल स्वरूप है उसी प्रकार अकृत्रिम उसकी अभिव्यक्ति है। इसीलिए सरलता और क्षिप्रसंवेद्यता इनके पद्यों का सर्वोत्कृष्ट गुण है। सूखे ईंधन में जिस प्रकार अग्नि शीघ्र प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार कवि के भाव श्रोता को शीघ्र प्रभावित करते हैं। शब्दों का बाह्य सज्जा या अर्थ संबंधी चमत्कारजनक वक्रता लाने की ओर कवि का ध्यान नहीं गया। 'जैसे भावों को जिस ढंग से मनुष्य मात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढंग से यह कवि अपनी भाषा में उतार देता है। बोल चाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों रख देना कवि का लक्ष्य रहा है'।[2] निष्कर्ष यही है कि इनकी सहज निश्छल अनुभूति और अकृत्रिम अभिव्यक्ति इन्हें रीतिमार्ग से पृथक कर देती है।

वैसे ठाकुर के काव्य का बाह्य रूप तथा परिधि वही है जो रीतिमार्गी अन्य कवियों की, पर प्रयोग का प्रकार भिन्न है। प्रेमश्रृंगार, भक्ति और नीति रीतिकाल में सर्वप्रिय विषय रहे हैं। कुछ लोगों ने नराशंसी पद्य भी लिखे हैं। इनमें से पहले तीन को ठाकुर ने भी लिया है। अंतिम को नहीं स्वीकारा। राज दर्बार में जीवन बिताते हुए भी बढ़ा चढ़ा कर जो आश्रयदाताओं की प्रशंसा नहीं लिखी इससे कवि का स्वाभिमानी व्यक्तित्व झलकता है। अस्तु पहले तीन विषय, प्रेम श्रृंगार, भक्ति और नीति को परखा जाय। प्रेम-श्रृंगार सार्वजनिक अनुभूति है। इसके चित्रण में कवि के व्यक्तिगत अनुभवों की सबसे अधिक आशा की जाती है। पर रीति परंपरा में अनुभूति का यह व्यापक क्षेत्र नायिका भेद, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की शास्त्रीय इयत्ता से घिर गया था। उसमें स्वाभाविकता नहीं थी। भक्ति की रचनाओं में दो अवगुण आ गए थे, श्रृंगार और

१—ठाकुर ठसक, ४५।

२—रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३८३।

चमत्कार की लालसा। श्रृंगार की अमरवेलि ने तो इसकी सात्विकता को सुखा दिया और चमत्कार ने स्वाभाविकता को। भक्ति के पद्यों में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कवि श्रृंगार भावना से प्रेरित होकर रचना कर रहा है या भक्ति भावना से। दूसरी ओर वह कहीं पर भी चमत्कार जनक वक्रता का मोह नहीं छोड़ना चाहता। कवि दो घोड़ों पर सवार रहता है—

'आगु के सुकवि रीझि हैं तो कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमुरन को बहानो है[1]।'

बिहारी का यह दोहा इसका निदर्शन है,

'नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन बिरदु बारक बारन तारि॥
—बिहारी रत्नाकर ॥[?]॥

नीति के उपदेशों में आलंकारिक चमत्कार उनकी स्वाभाविकता और प्रभविष्णुता का नाश कर देता है। प्रभाव नीति के सत्य का नहीं पड़ता काव्य के चमत्कार का पड़ता है।

'अजौं तर्‌यौना ही रह्यो स्रुति सेवत इक रंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनि कैं संग।
—बिहारी रत्नाकर ।२०॥

ठाकुर इस 'प्रस्थानत्रयी' के दोष-व्यूह से मुक्त हैं। नायिका भेद के चक्कर में वे नहीं पड़े। दो एक पद्य ऐसे अवश्य मिलते है जिन्हें नायिका भेद की प्रेरणा से लिखा कहा जा सकता है। जैसे नीचे लिखा पद्य—

प्यार ही जात लखो कुंवना तब धीरज नेक नहीं धरती है।
आपनी देखि घिनौची भरी मिस ठानि परायो कहीं करती है॥
ठाकुर मानती नाहीं कही घर जात पराये नहीं डरती है।
रीति की रौमन आपनी हौंसन पानी परौसिनि को भरती है[2]॥

पर इनकी संख्या अत्यल्प है। प्रेम श्रृंगार में अनुराग और वियोग दो का वर्णन अधिक किया है। इनका अनुराग हृदय की वह स्थिर दशा है जो अनेक विषमतायें आने पर भी परिवर्तित नहीं होती।

---

१. भिखारीदास।

२. ठाकर ठसक. ५०

'का करिये तुम्हरे मन को जिनको अब लौ न मिटौ दगा दीबौ ।
पै हम दूसरो रूप न देखि हैं आनन आन को नाम न लीबो ।।
ठाकुर एक सो भाव है जौ लगि तौलगि देह धरे जग जीबौ ।
प्यारे सनेह निबाहिबे को हम तो अपनी सो कियो अरु कीबो[२] ।

वियोग वर्णन में भी भाव की स्थिरता का ही प्रायः वर्णन है। सहन-शीलता का विशेष वर्णन किया है। दोनों जगह बद्ध परंपरा का आश्रय नहीं किया। अपनी व्यक्तिगत अनुभूति, जिसका आभास साधारण हृदय में होता है—कवि ने कही है।

भक्ति के क्षेत्र में ठाकुर ने भगवान की मधुर लीलाओं का या उनके रूप-सौंदर्य का किसी वक्रता के सहारे वर्णन नहीं किया। प्रेमानुभूति में अवश्य राधा और कृष्ण का नाम आया है पर वह भक्ति विषयक रचना नहीं कही जा सकती। विशुद्ध मानवीय प्रेम है। राधाकृष्ण का नाम तो रीति परं-परा के कारण आ गया है। भक्ति संबंधी पद्य अत्यल्प हैं। उनमें विशेषता एक तो भाव की सात्विकता की है दूसरी यह है कि भगवान की रूप संबंधी आस्था ऐसी सर्व साधारण की है जिसमें न तो सगुण निर्गुण का विशेष आग्रह है और न किसी संप्रदाय का। साधारणतया ईश्वर को जो एक शक्ति रूप में अनुभव किया जाता है वह ठाकुर ने अपनाया है। उस शक्ति के राम, गणेश, राधा, श्रीकृष्ण आदि अनेक रूप हैं। वह सगुण भी है और व्यापक तत्व निर्गुण भी। परमेश्वर के रूप, सगुण निर्गुण का भेद और राम कृष्ण आदि का आग्रह तो सांप्रदायिक है। सर्व साधारण में जो विश्वास रहता है वह तो ईश्वर की विलक्षण महिमा का होता है। ठाकुर ने उसी का अनुभव किया है। 'यह उस नटखट के अजब अटपटे कार्य हैं कि क्षण भर में कोई साहिबा का पद पाता है तो कोई लटपट होता हैं। कोई समस्त आयु जीवित रहते हैं तो कोई उत्पन्न होते ही मर जाते हैं।' उसी परमात्मा ने संसार भर में जैसे को तैसा लगा रक्खा। छोटे को छोटा, बड़े को बड़ा, दुर्बल को दुर्बल, शुद्ध का शुद्ध, अशुद्ध को अशुद्ध[३]।'

१—ठाकुर ठसक, ५० ।
२—वही, ४६ ।
३—ठाकुर ठसक, ५–६ ।

उसका कोई व्यवहार निश्चित नहीं। जैसे और ठाकुर सदा के दोरंगी हैं ऐसे ही वह भी। वे नीच का तो साथ देते हैं, अपनी जाति पांति का नहीं। 'छिपिया का दूध, करमा की खिचड़ी, चमार रैदास के चक्का, बिदुर की बधुआ की रोटी और शाक तथा विदुरानी के छिलका उन्होंने खाए (और अपनी जाति के सुव्यंजन त्याग दिये)। औरों की क्या अपने प्रति भी उनका अटपटा ही व्यवहार है। 'अपने देश ब्रज में करील बोये और काबुल में मेवा, राधका सी सुंदरी छोड़ कर कुब्जा से स्नेह किया, दुर्योधन को मेवा छोड़ कर बिदुराइन के छिलके खाये।' यह सब ईश्वर की अतर्क्य विलक्षणता है उनका प्राणीमात्र अनुभव करता है। भक्ति परंपरा के प्रति विमुखता भी नहीं है—

'कंज हू तें कोरो जिन्हें बंदत महेश अज,
लागैं तब दैया या गुबिंद गमुवारे कौ[1]।'

इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में ठाकुर ने अन्य रीतिकाल के कवियों की तरह न तो मानवीय शृंगार लीलाओं का राधाकृष्ण पर लादा है और न राम या कृष्ण के रूप वर्णन में विभाव अनुभाव आदि का चित्रण किया है। सीधे सरल ढंग से उसकी विलक्षण महिमा का अनुभव किया है जो सर्व साधारण की अनुभूति है।

तीसरा विषय आता है नीति[2]। इसमें ठाकुर को अत्यधिक सफलता मिली है। नीति के उपदेशों के लिये दो बातों की आवश्यकता होती है। एक तो उसका सत्य साधारण स्वाभाव का हो, सार्वजनीन। दूसरे वह सरल ढंग से कहा जाय। वृंद, घाघ, गिरिधर आदि ने इसी मार्ग को अपनाया है। जिन तथ्यों को उन्होंने प्रतिपादित किया है वह ग्रामीण, नागरिक, शिक्षित सभी को विदित है। भाषा भी उनकी सरल स्वभाविक है। ठाकुर ने सर्वत्र गिरधर आदि की तरह दैनिक व्यवहार की बातें को तो नहीं लिया, प्रेम के संबंध में ही नीति की बातें कही हैं। पर शैली सरल स्वाभाविक है अतएव उसकी ग्राह्यता बहुत है। काव्य चमत्कार की ओर पहले तो आकर्षण नहीं के बराबर है। है भी तो वह प्रतिपाद्य सत्य का ही चमत्कार दिया है।

१—वही, ७-८।

२—वही, ३।

हिलमिल लीजिए प्रवीन मों आठो जाम,
कीजै वह काम जासो जिय को आराम है।
दीजिये दरस जाको देखिबे की साध होइ,
कीजिए न नीच साथ नाम बदनाम है॥
ठाकुर कहत कछु चित्र में विचारि देखो,
गरब गरूर को रखैया एक राम है।
रूप सो रतन पाइ जोबन सो धन पाई,
नाहक गबाइबौ गवारन को काम है॥[१]

नीतिकारों की अपेक्षा सरसता ठाकुर में अधिक है। उसका कारण यह है कि इन्होंने प्रेम के संबंध में नीति के पद्य लिखे है। दूसरा लाभ ठाकुर को अपने शैलीगत गुण आभाणक तथा लाक्षणिक प्रयोगों से हुआ है। साधारण जन समाज में लोकोक्तियाँ बात चीत में व्यवहृत होती हैं। वक्ता की उक्ति में ये प्रमाण का कार्य करती हैं। ठाकुर की शैली का ये अंग हैं। इनका उपयोग उपदेशात्मक पद्यों में होने से सोने में सुगंधि आ गई है। इस प्रकार प्रेम शृंगार, भक्ति और नीति के क्षेत्र में ठाकुर की पृथक् पद्धति है। उससे ये अपने समय के ढर्रे से पृथक् हो जाते हैं।

नीतिकारों की काव्य शैली पर और भी विचार अपेक्षित है। ठाकुर का व्यक्तित्व नीतिकार और सूक्तिकार का संमिश्रित रूप है। इसीलिये भाषा की सरलता, अनुभूति की साधारणता, लोकोक्ति तथा मुहावरों के साथ वस्तु निवेदन आदि गुण काव्य शैली में आ गए हैं। प्रेम में भी एक रूपता और स्थिरता का जो बार बार वर्णन किया है वह भी इसी प्रवृत्ति का फल है। इससे साधारणता तो आ गई है पर भावों की गहराई नही रही। इस विषय के कविवर पद्माकर की आलोचना कि 'ठाकुर जी की कविता तो अच्छी होती है परंतु पद कुछ हल्के से जंचते है' प्रसिद्ध है। मुहावरे रूप लाक्षणिक प्रयोग है। लोकोक्तियों में किसी परिस्थिति विशेष का निर्देश रहता है। वह अपने साम्य के बल पर वर्ण्य परिस्थिति का अंग बन जाती है। मुहावरा जैसे:—

'या जग में अब जीबो कहा जब आंगुरी लोग उठावन लागे' लोकोक्ति जैसे—

१—ठाकुर ठसक, २२।

मूढ़ सुनै कब राम कथा, कब दै धन पूजत विप्र विरागी।
सूमन को धन मूसत चोर कि लूटत भूप कि लागत आगी॥
ठाकुर धर्म के हेत सो तो दुख पुंब कथै हरि के हित लागी।
आनन ऊँच उठाय ज्यों रोवत संख सुने शठ स्वान अभागी॥[१]

'उँगली उठाना' दोष दिखाने के अर्थ में रूढ़ हो गया है। शंख बजते समय ऊपर को मुँह उठाकर रोना एक कहावत बन गई है। यह घटना ऊपर के वर्ण्य का उपमान बनकर प्रयुक्त हुई है। 'दूध की माखी उजागर वीर सुहाई में आंखिन देखत खाई'[२] में गोपी का अपना कर्म दूध की माँखी को जान कर खा जाने के समान है, यह अर्थ संपन्न होता है। इस तरह लोकोक्ति और मुहावरे साधारण लक्षणाओं से भिन्न हैं। पहले प्रसिद्ध हैं दूसरे अप्रसिद्ध। पहले प्रचलित होते हैं, दूसरे कवि के स्वोपज्ञ, जिनका जन्म कवि की भाव-ऊष्मा से ही होता है। अलंकार की सज्जा में आपाद-मस्तक मग्न काव्य प्रतिभा के लिये लोकोक्तियों के चमत्कार का नया मार्ग ठाकुर ने निकाला है। लोकोक्तियाँ बात बात पर बोलने का स्वभाव स्त्रियों का अधिक होता है। ठाकुर ने प्रायः ऐसे ही स्थलों पर इनका प्रयोग कर मानव प्रकृति का अपना परिचय व्यक्त किया है। समझाने पर भी बात न मानने वाली पर खीझ कर सखी या दूती कहती है।

बुरो मानती जो सिख देती भटू दुख पावती जो समुझाइबे मैं।
कही जायगी देखि कुरीति कछू समुझोगी न बात बुझाइबे मैं॥
कहा पाओगी हाथ पराये बिके कहै ठाकुर लोग हँसाइबे मैं।
हमें को गनै कासों परोजन है बुनिबे में न बीन बजाइबे मैं॥[३]

इसी तरह मानिनी को समझा कर हारी हुई का क्रोध कैसे फटकर के साथ व्यक्त हुआ है :—

ह्वै है नहीं मुरगा जिहि गाँव भटू तिहि गाँव का भोर ना ह्वै हैं।[४]

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा ठाकुर ने काव्य विच्छित्ति के लिये नई दिशा ही नहीं खोली अभिव्यक्ति को सजीवता और स्वाभाविकता भी प्रदान की। कहीं-कहीं आलंकारिकों की तरह ठाकुर

१—ठाकुर ठसक, १४९, १६१।
२—वही, १७०।
३—ठाकुर सठक, १६२।
४—वही १६७।

भी आग्रही हो गए हैं। भाव की उपेक्षा कर लोकोक्ति को पद्य में भरना कवि का लक्ष्य बन गया है।

'जु कियौ बदनाम सबै ब्रज मैं अब आँखें लगाय दिखात न आँखिन ;'[१]
पर ऐसे पद्य दो चार ही मिलेंगे।

भाषा में शब्दचयन और वाक्यरचना दोनों ही सरल और प्रचलित हैं। न अधिक संस्कृत की शब्दावली है न उर्दू की। साधारण व्यापार के तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है बदनाम, मरजी, दगा, पखान, हवाले, हकनाहक, जमा, सलूक, कमनैत, तबीब, जवाहिर, कदीम, दरवान, नेजा, मनसूबा, वजन, तजवीज, आसमान, मेजवानी, गरजी, आल्हादी, गाफिली, सहूर, हरामजादे, अजब, जहान, जबर आदि उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है। संस्कृत के तत्सम अत्यल्प हैं। तद्भव भी प्रसिद्ध हैं। कवि ने अपनी ओर से संस्कृत तत्समों को तद्भव नहीं बनाया। व्यवहार के शब्द ग्रहण किए हैं। पर वाक्यरचना सजीव और प्ररोचना पूर्ण है। यह गुण रूढ़ लक्षणाओं से आया है।

'एक ही सों चित चाहिए और लों बीच दगा को परे नहिं डाँको।
मानिक सो मन बेंचि कै मोहन फेर कहा परखाइबो ताको।।
ठाकुर काम न या सबकौ अइ लाखन मैं परवान है जाको।
प्रीति करे मैं लगै है कहा करिकै इक ओर निबाहिबो बाँको।।'[२]

इनमें 'और लौं' 'डंक पड़ना' 'लाखन में' 'ओर निबाहना' आदि प्रयोग मुहावरेदार हैं। कवि ने अपनी ओर से वाक्यरचना नहीं की। इस प्रकार के ही वाक्य लोग बोलते भी है। जिस तरह परिचित दृश्यावली से भावों का उद्भावन शीघ्र होता है उसी प्रकार परिचित भाषा से भी। भाव और भाषा दोनों ही परिचित होंगे तो काव्य स्वभावतः विशेष आकर्षक होगा। ठाकुर ने यही किया है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी इसी दिशा की ओर की प्रगति है।

ठाकुर की कला का वातावरण अन्य रीतिमार्गी कवियों की भाँति नागरिक उच्च वर्ग का (एरिस्टोक्रैटिक) नहीं है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि प्रकृति के सर्वथा मुक्त वातावरण का सृजन कवि कर सका है। पर वह किसी

१—वही ८४।
२—वही, ४४।

वर्ग विशेष का नहीं है। ग्रामीणता की ही झलक अपेक्षाकृत अधिक है। किसी ग्राम युवती के निश्छल भाव कितने स्पष्ट हैं :—

'ऐसे कबौं कहा कारज होत है जो मग माँझ कबौं दरसाने।
ये दिन ऐसे ही बीतत हैं हमहूँ तरसीं तुमहूँ तरसाने।।
ठाकुर और विचार कछू नहिं ये अभिलाख हिये सरसाने।
कै हमहीं बसियै नंदगाँव कि आपही आय बसौ बरसाने।।[१]

त्यौहारों का वर्णन भी ठाकुर की अपनी विशेषता है। त्यौहार हमारे जीवन में परंपरया आकर भी अभिनव उल्लास भरते हैं। आबालवृद्ध सभी के हृदयों में भावुकता का उदय हो जाता है। ऐसा अवसर, उस समय के भाव आदि काव्य के लिये अत्यंत उपयुक्त वर्ण्य है। संस्कृत के प्रबंध कवियों ने भी कौमुदीमहोत्सव, मदनमहोत्सव आदि का वर्णन बड़ी तन्मयता से किया है। ठाकुर ने भी होली, अखती, हिंडोरा, सलूना, दशहरा आदि का वर्णन कर लोकरुचि का परिचय दिखाया है। ये वर्णन प्राय: स्वतंत्र हैं। रीतिपरंपरा का नायक-नायिका-व्यवहार इनकी स्वाभाविकता नहीं ग्रसता।

'जानि झूकामुकी भेख छिपाय कै गागरि लै घर से निकरीती।
जानौं नहीं मैं कबै केहि ओर ते आय जुरे जहाँ होरी धरी ती।।
ठाकुर दौरि परे मोहि देखत भागी बची जू कछू सुघरीती।
बीर जो द्वार न देहुँ केवार तो मैं होरिहारन हाथ परी ती।।

इस तरह ठाकुर ने सरल स्वाभाविक भावशैली और भाषाशैली से, मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग से, परमेश्वर विषयक भावना से, नीतिपरक चिंतनप्रवृत्ति से और त्यौहारों के सरस स्वतंत्र वर्णन से लोकरुचि का अपनी कला द्वारा स्पर्श किया है।

हिंदीसाहित्य के विकास में लोकरुचि का विशेष उल्लेखनीय स्थान है। आदिकाल के सिद्धों और नाथपंथियों का साहित्य धार्मिक होते हुए भी लोककाव्य है। उसके अप्रस्तुत, वातावरण आदि साधारण जनता के हैं। कबीर ने उसी मार्ग पर स्वतंत्रतापूर्वक चल कर साहित्यिक परंपरा को चुनौती दी है। जायसी ने लोकभाषा, लोकवार्ता

१—वही, १०१।
२—आलोचना, अंक ६, संपादकीय, पृ० ५।

को अपनाया है। तुलसी और सूर ने संस्कृत के स्थान पर हिंदी को लोक-रुचि के लिये बिठाया था। मध्ययुग से पहले या मध्ययुग में भी, संस्कृत भाषा ही साहित्यरचना का माध्यम थी, परंतु संत कवियों ने इस शास्त्रीय परंपरा को त्याग कर जनभाषाओं का आश्रय लिया और लोककला और लोकसाहित्य की परंपराओं से प्रेरित ऐसे रूपविधानों की सृष्टि की जिसमें जनता के जीवन और उसकी समस्याओं का पूरा चित्र उद्घाटित हो जाय। कबीर और सूर के पदों, और जायसी तथा तुलसी के महाकाव्यों में उस समय के जनजीवन का पूरा चित्र मिलता है। चूँकि उनकी कला का आधार लोकसाहित्य और लोकवार्ता की परंपराएँ हैं, इसलिये वे न केवल सामान्य पाठकों के लिये प्रेषणीय हो सकीं और जातीय भावना जगाने में समर्थ हुईं बल्कि इस कारण ही वे सार्वदेशिक महत्व भी पा सकीं।

पर रीतिकाल में परिस्थिति बदल गई। उत्तर मध्यकाल के कवि रीति-ग्रंथों के निर्माण में लोकपक्ष से दूर हटते गए। बिहारी, देव और मतिराम आदि शृंगारिक कवियों ने जहाँ नायिका का नखसिख सँवारा वहाँ व्यक्तिगत प्रवृत्तियों पर इतना जोर दिया कि उनकी दृष्टि में गँवई गाहक[1] एक दम बुद्धू बनकर रह गए।........इस युग का दरबारी कवि जनता से इतना दूर जा पड़ा कि उसके लिये यह सोचना भी कठिन हो गया कि साहित्य का आदि स्रोत जनता का निरंतर संघर्षमय जीवन है।[2] ठाकुर इस नियम के अपवाद प्रतीत होते हैं। उन्होंने यद्यपि विषय वे ही लिए हैं जो रीतिमार्गियों ने पर प्रतिपादन का प्रकार भिन्न है। कविता का प्राण लोकरुचि की ओर विशेष उन्मुख है। इससे वे रीतिमार्ग से पृथक् हैं।

उन्होंने अपनी मनमौज से कविता की है। किसी शास्त्रीय परंपरा का अनुसरण उसमें आभासित नहीं होता है। जिसमें न तो केवल परंपराओं का पालनमात्र ही किया जाय, ऐसी कविता की ठाकुर ने निंदा की है:—

सीख लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है।

१—कर लै सूंघि सराहि के सबै रहैं गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब को गंवई गाहक कौन।।—बिहारी।

२—आलोचना अंक ६, डा० देवेंद्र सत्यार्थी, हिंदीसाहित्य पर लोक साहित्य का प्रभाव, पृ० ५३. ५४।

सीख लीन्हीं कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि,
सीख लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूँ बांधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबौ खेल करि जानो है ॥[1]

ठाकुर भावों के क्षेत्र में स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। अतः कविताशैली में भी शास्त्र या परंपरा की परतंत्रता को उन्होंने नहीं स्वीकारा। स्वच्छंद होकर काव्यरचना की है।

ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखो,
प्रेम निरसंक रसरंग विहरन देव।
विधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव ॥[2]

१—ठाकुर ठसक, १२।
२—ठाकुर ठसक, २४।

रस और भाव

घनानंद का वर्ण्य रस एक शृंगार ही है। वही भगवदाश्रित होकर भक्ति में परिणत हो गया है। भारतीय साहित्य में शृंगार को ही एक मात्र रस मानने तथा उसी को काव्यरचना का विषय बनाने की प्राचीन परंपरा है। अतः हम उस परंपरा का ऐतिह्य देते हुए संयोग वियोग दो विभागों में कवि के शृंगार रस का विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

क—शृंगार रस की परंपरा

साहित्य में रसपरंपरा का अन्वेषण किया जाय तो पता चलता है कि पहले काव्य में एक ही रस माना जाता था और वह शृंगार था। आठ या नौ रस मानने की परंपरा नाटकों से प्रारंभ हुई। उसी के अनुकरण पर प्रबंध तथा मुक्तक काव्यों में नौ रस माने जाने लगे। कुछ लोग फिर भी प्रधानता शृंगार की ही मानते चले आए। संस्कृत साहित्य के अवसान काल में यही स्थिति थी। हिंदी के रीतिकाल में भी ऐसी ही अवस्था हो गई।

प्रारंभ में 'रस' का अर्थ शृंगार रस ही माना जाता था और रस के प्रवर्तक आचार्य कामशास्त्र के भी आचार्य माने जाते थे। उदाहरण के लिये राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में विद्या के अठारह अंग माने हैं। उनमें से रसाधिकारिक १५ वाँ है। इसके आचार्य नंदिकेश्वर हैं। नंदिकेश्वर के विषय में कामसूत्र में लिखा है कि प्रजापति ने सृष्टि की स्थिति के लिये धर्म, अर्थ, और काम की साधना के निमित्त एक लाख अध्यायों का एक ग्रंथ बनाया। इसके एक एक वर्ग को पृथक कर मनु, बृहस्पति और नंदिकेश्वर को दे दिया। जिन्होंने उसका उपयोगी संपादन किया। नंदिकेश्वर ने काम-ग्रंथ का संपादन किया। यह कामग्रंथ हजार अध्यायों का था, जिसे औद्दालक ने पाँच सौ और बाद में बाभ्रव्य पांचाल ने डेढ़ सौ अध्याय में संक्षिप्त किया। इसके सात अध्याय थे—

१—साधारण

२—सांप्रयोगिक

३—कन्या संप्रयुक्तक

४—मर्यादाधिकारिक
५—पारदारिक
६—वैशिक
७—औपनिषदिक

नंदिकेश्वर के नाम से दी हुई कामसूत्र की यह सूची स्पष्ट करती है कि वे कामशास्त्र के भी आचार्य थे। नंदिकेश्वर आचार्य का एक 'अभिनय दर्शन' ग्रंथ भी प्राप्त हुआ है। 'पंचसायक' नाम के कामशास्त्र ग्रंथ में भी नंदिकेश्वर का उल्लेख है; 'रतिरहस्य' पुस्तक में भी उनका जिक्र है। इन सब से यही पता चलता है कि नंदिकेश्वर का संबंध नाचगान और काम से था। नाचगान भी कामशास्त्र के अंग मात्र हैं अतः स्वभावतः वे काम शास्त्र के आचार्य ठहरते हैं ये जो नंदिकेश्वर यदि राजशेखर के 'रसाधिकारिक' के आचार्य हैं—जैसा कि संभव जान पड़ता है—तो रसाधिकार का कामशास्त्र से घनिष्ठ संबंध ठहरता है। इनका सारांश यही निकलता है कि 'रस' शब्द का अर्थ पहले शृंगार ही समझा जाता था। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र बनने तक यही बात थी। रस एक ही माना जाता था वह भी शृंगार। इस प्रसंग में भरत की उक्ति 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' का तात्पर्य यह ठीक बैठता है कि नाटक में आठ रस होते हैं अन्यत्र चाहे एक हो। अन्यत्र नौ का तात्पर्य तो भरत के अनुकरण पर रचे गए रसग्रंथों की छाया में किया जाता है। इससे यह संगति भी बैठ जाती है कि भरत द्वारा रसवाद की स्थापना करने पर भी आलोचकों ने काव्य में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि को ही सर्वस्व माना, रस को तो बहुत बाद में अन्तर्भुक्त किया। यदि काव्यों में भी नाटकों की तरह नौ रस की परंपरा होती तो उसका स्वरूप दंडी, भामह आदि आचार्यों द्वारा प्राप्त होता। भले ही वे उसका खंडन करते। वे रस से परिचित हैं, पर उसे वक्रोक्ति या अलंकार में अंतर्भुक्त करते हैं। भरत से पूर्व कोई काव्यशास्त्र का आचार्य था इसका पता नहीं चलता। फिर यह कल्पना करना कि भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता'—काव्यरसों की तुलना से लिखा था अशुद्ध है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की मान्यता है कि निश्चय ही किसी और शास्त्र के रस से नाट्य रसों को पृथक् करने के लिये उन्होंने उपर्युक्त बात लिखी थी। पंडितवर विश्वनाथ ने शृंगार रस को आदि रस कहा है।[1] बाणभट्ट ने 'रस' शब्द का प्रयोग

१—यमुनाविनाआदिय रस आद्यः प्रवर्तते, विश्वनाथ, प्रेमरसायन

श्रृंगार रस के अर्थ में ही किया है[1]। भरत के अनुकरण पर संस्कृत के कुछ आलोचकों ने काव्य में नौ या दस रस मान लिए थे। पर प्राधान्य उन्होंने भी श्रृंगार का ही माना। सांगोपांग विवेचन सभी ने श्रृंगार का ही किया है। नायिका भेद, आदि श्रृंगार रस की दृष्टि से ही सृष्ट हुए हैं। यह सब मानवीय अनुभूति में श्रृंगार की प्रधानता होने के ही कारण नहीं हैं शास्त्रीय परंपरा के कारण भी हैं।

बाद में ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने श्रृंगार रस को ही रस समझा। रुद्र भट्ट का 'श्रृंगारतिलक' ऐसा ही ग्रंथ है। भोजराज का 'सरस्वती कंठाभरण'तथा 'श्रृंगारप्रकाश' इसी मान्यता का है। श्रृंगारप्रकाश का इस विषय में सर्वोपरि महत्व है। इसका विशेष परिचय अभी बाद में मिलेगा। विद्याधर की 'एकावली' शारदातनय का 'भावप्रकाश' शिंग भूपाल का 'रसार्णव' और भानुदत्त की 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी' श्रृंगार रस को ही रस मान कर लिखे गए ग्रंथ हैं। रूप गोस्वामी ने 'उज्वलनीलमणि' में प्रकारांतर से श्रृंगार रस को ही कृष्ण से संबद्ध कर भक्ति के रूप में भक्ति रस नाम से उपस्थित किया है। रूप गोस्वामी एक ही 'उज्वल रस' मानते हैं जो कि श्रृंगार का अधिदेव रूप है।

हिंदी के काव्य शास्त्र की तो परंपरा ही श्रृंगार की प्रधानता से प्रारंभ होती है। केशवदास जी ने श्रृंगार रस को मुख्य तथा वीरादि को उसी का अंगभूत रस माना है। तोष का 'सुधानिधि' चिंतामणि का 'कविकुलकल्पतरु' मतिराम का 'रसराज' रसलीन का 'रसप्रबोध' और 'अंगदर्पण' देव की 'प्रेमचंद्रिका' और 'रसविलास' 'भिखारीदास का 'रस श्रृंगार' और 'श्रृंगार निर्णय' तथा पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि ग्रंथ श्रृंगार की ही प्रधानता एवं महिमा प्रतिष्ठित करते है।

सारतः कह सकते हैं कि पूर्ववर्ती काल में रस शब्द का अर्थ श्रृंगार रस ही समझा जाता था। परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि इसका दूसरे अर्थ में प्रयोग किया पर पहली अर्थपरंपरा भी लुप्त नहीं हुई। कवियों तथा आचार्यों का

१—रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथाजनस्याभिनवा वधूरिव। बाण कादम्बरी।

एक समूह बराबर इस रस को ही एक मात्र या प्रधान रस मानता रहा है। हजारों वर्षों की सुदीर्घ परंपरा में इस समूह के आचार्यों की कभी भी कमी नहीं हुई[1]।

(ख) भोज की शृंगारभावना

शृंगार की एक मात्र रसता स्थापित करने का एक पृथक् ही प्रयत्न भोज ने अपने 'सरस्वती कंठाभरण' तथा 'शृंगारप्रकाश' में किया है। दूसरी पुस्तक विशेष रूप से इसी लक्ष्य से लिखी गई है। रस शब्द अनुभूति के चरम उत्कर्ष जैसा आजकल द्योतक माना जाता है उस अर्थ में भोज ने इसका प्रयोग नहीं किया है। उसके अनुसार रस गुण और अलंकार के समकक्ष काव्य का शोभादायक प्रमुख तत्व है। काव्य के तीन शोभाकर गुण होते हैं। वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति तथा रसोक्ति। रस तीसरा है। अर्वाचीन आचार्यों ने रस की गौण दशा जैसे 'रसवत' अलंकार से व्यक्त की है उसी से मिलता जुलता यह है। अलंकार और गुण की अपेक्षा वैसे यह मुख्य है। स्त्री के हृदय में पतिप्रेम का जो स्थान है काव्य में वही रस का है। भूषणों से भूषित लज्जादि गुणों से युक्त स्त्री में यदि पतिप्रेम नहीं तो कुछ भी नहीं। इसी प्रकार रसरहित अलंकारादि काव्य में निरर्थक हैं। वास्तव में भोज की रस विषयक अनुभूति तो बहुत ऊंची है। अर्वाचीन रसाचार्यों से भी अधिक गहरी। उसका काव्य में स्थान निर्धारित करते समय वे अलंकर मार्ग से प्रभावित हो गए हैं। उस समय काव्य की आत्मा शब्द और अर्थ के अतिरिक्त अन्य नहीं मानी जाती थी।

भोज के अनुसार रस एक है वह भी शृंगार है। पर अर्वाचीन आचार्यों के शृंगार से यह भिन्न है। सांख्य दर्शन में जिस प्रकार महत्तत्व का विकास अहंकार सृष्टि का मूल कारण माना जाता है, उसी से मिलता जुलता अहंकार इधर मूल रस है। यह काव्य का आत्म धर्म है। समस्त अनुभूतियों का एक मात्र कारण है। इसके द्वारा अनुभूति अपनी उच्चतमावस्था (शृंग) को प्राप्त होती है। इसलिए इसका नाम शृंगार है। इसे 'मूल रति' (Absolute Love) कह सकते हैं। इसके दो भेद हैं। एक निर्विषय अहंकार

१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—शृंगार रस की परंपरा—विश्वभारती संवत् १९९२, खंड १ अंक १

दूसरा सविषय अहंकार। भोज ने पहले को अहंकार और दूसरे को अभिमान माना है। किसी विषय का अनुभव कोरे इंद्रिय संपर्क से नहीं होता, आत्मरति की उसमें अपेक्षा होती है। आँखों के सामने वस्तु रहते हुए भी हम जो उसे कभी कभी देखते नहीं वह आत्मरति के न होने के ही कारण। यही आत्मरति अभिमान और अहंकार है। भोज की मान्यता है कि प्रत्येक अनुभूति अपनी चरमावस्था में निर्विषय, अखंड, चिन्मय हो जाती है। उस समय आत्मा में जो रूपउसका होता है वह सभी का एक सा रहता है। शृंगार, हास्य, करुण आदि भेद तो विषयापेक्ष हैं। और जब तक विषयसंयुक्त अनुभूति है तब तक वह अपने चरम उत्कर्ष को नहीं पहुँचती। अतः भेद और रस की आठ नौ आदि संख्या भोज के अनुसार अतात्विक है।

अहंकार आत्मप्रेम या निर्विषय प्रेम है। अभिमान सविषय प्रेम। विविध अनुभूतियों के मूल में सर्वत्र 'रति' रहती है, यह अन्य आचार्यों की मान्यता है। जैसे वीर रस में वीर रति, हास्य में हास्य रति आदि विद्यमान हैं। रति का अर्थ है हृदय की सात्विक दशा जिसके बिना कोई विषय अपनी छाया हृदय पर डाल ही नहीं पाते। रसाचार्यों ने इसे वासना कहा है।[१] यही विषयनिरपेक्ष होकर आत्मधर्म शेष रह जाती है। भोज ने आत्मरति को अनुभूतियों का मूल मानने में अनेक प्रमाण दिए हैं। उपनिषद् में ऐसे वचन मिलते हैं जिनमें आत्मप्रेम की अनुभूति का उल्लेख है।

'आत्म प्रेम के लिये ही सब प्रिय होते है'।
'अपना आप ही सब से अधिक प्रिय और श्रेष्ठ है[२]'

एक अन्य उदाहरण भी भोज ने इस विषय में दिया है। कोई पुरुष सुंदर स्त्री द्वारा सस्नेह देखा जाने पर अपनी सराहना करता है 'आहा मुझे प्रणाम है। डरे हुए मृगों के समान चंचल नेत्रोंवाली उस मुग्धा ने सस्नेह मुझे देखा है'।[३] भागवत में भी एक श्लोक इस भाव का है कि संसार की समस्त वस्तु अपने कारण ही प्रिय लगती हैं। अपना आपा सबसे अधिक

१—निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः,—साहित्यदर्पण
२—बृहदारण्यक उपनिषद्—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।
३—अहो अहो नमोमह्यं यदयं वीक्षितोऽनया
मुग्धया त्रस्त सारंग तरलायत नेत्रया।....शृंगारप्रकाश

प्रिय है।[१] विषयसापेक्ष अभिमान भी व्यापक तत्व है। यह प्रचलित अभिमान से भिन्न हृदय की वह वृत्ति है जो विषय को अपने रंग में रँग कर हमारे समक्ष उपस्थित करती है। रस में जो दुःख भी सुख रूप प्रतीत होता है वह इसी कारण से। अनुकूल होने पर दुखादिकों पर सुख का अभिमान, अर्थात् अंतःकरण वृत्ति की छाया, उसी प्रकार छा जाती है जिस प्रकार नाली का पानी क्यारियों पर।[२] इसी कारण नायिका को नखक्षतादि से सुखानुभूति होती है। अतः सिद्ध हुआ कि अहंकार और अभिमान समस्त रसानुभूति के मूल हैं।

इसकी तीन विकास कोटियाँ है। सबमें पहली तो अहंकार तथा अभिमान की है। पूर्व जन्म के संस्कारों से इनका विकास अंतःकरण में होता है। इसे परा कोटि कहते हैं। इसी से हम रसिक कहलाते हैं। दूसरी कोटि शृंगारादि भावों की है। अपने अनुकूल विभाव, अनुभाव, संचारी भावों की सहायता से भाव अपना उत्कर्ष लाभ करते हैं। यह विकास की मध्यमावस्था है। इसी को साधारणतया रस कहा जाता है। भोज का मत है कि रसाचार्यों ने जो ४६ भाव मान कर कुछ को स्थायी कुछ को व्यभिचारी तथा कुछ को सात्विक बताकर भेद किया है वह सब अतात्विक है। सब भाव 'रसावस्था' तक पहुँचने की क्षमता रखते है। सभी मूल अहंकार के विकास हैं। निर्वेद संचारी भाव को तो शांत रस का स्थायी भाव औरों ने माना भी है। ये अपनी अनुभूति की चरमदशा मे भी विषयपरिच्छिन्न रहते हैं। निर्विषय नहीं हो सकते। अतः भोज ने सभी को भाव कहा है। इस प्रकार भोज के अनुसार रस से भावों की उत्पत्ति होती है जब कि रससिद्धांत के आचार्य स्थायी भाव से रस की उत्पत्ति मानते हैं।

अनुभूति का उत्कर्ष यहीं पर नहीं रुक जाता। इससे आगे वह विषय-संसर्ग को छोड़ता हुआ भावलोक में ऊँचा उठता जाता है। एक स्थिति ऐसी आती है कि विषय नीचे रह जाते है और अनुभूति मात्र जो आत्मा का अंश था वही शेष रह जाता है। यह विकास की उत्तरा कोटि है। इसे भोज ने प्रेमन् कहा है। विषयों के संसर्ग से संबद्ध अनुभूति की अपेक्षा यह अनुभूति अधिक

१—सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः
    इतरे पत्यवित्ताद्या तद् वल्लभतयैवहि—— भागवत १०, १४: ५०

२—मनोऽनु कूलेपु दुःखादिपु सुखाभिमानः रसः——भोज।

घनीभूत और अनुरंजित होती है। इसलिये विषय निरपेक्षता में अहंकार के समान होते हुए भी स्वरूप में उससे भिन्न हो जाती है, चूँकि भेदक तत्व विषय संसर्ग ही है। अतः यहाँ आकर फिर यह अनुभूति एक ही रह जाती है। मूलावस्था में एक, मध्य में अनेक और विकासोत्कर्ष की चरमदशा में फिर एक हो जाती है। मध्यावस्था में शृंगार हास्य आदि को जो रस कहा जाता है वह औपचारिक है। अहंकार का तन्तु उस दशा में भी अन्तःस्यूत होकर अनुभूत होता है। उसी के कारण इन्हें रस कह सकते हैं। वास्तव में रस तो अहंकार और प्रेम नहीं है। वह एक है, वही शृंगार है, रति स्वरूप, केवल रति हो। (Love the absolute love) इस प्रकार भोज के मत से शृंगार ही एक रस है।

भोज की यह परंपरा अपनी ही है। आचार्य भरत की परंपरा से यह भिन्न है। इसमें जितनी दार्शनिकता है उतनी व्यावहारिकता नहीं। फलतः इस मार्ग का अनुसरण भी आगे के साहित्याचार्यों ने नहीं किया। भक्ति मार्गी आचार्य रूप गोस्वामी ने अपसे भक्ति रस की एकमात्र रसता कुछ इसी प्रकार स्थापित की है। उन्होंने भी मूल तत्व रति को ही समस्त अनुभूतियों का आदि कारण माना है और वह रति आत्मधर्म है, परमेश्वर का अंश, उसकी आह्लादिनी शक्ति। हास्यादि रसों को गौण मानते हुए उन सब रसों का पर्यवसान भी रतिमूलक भक्ति में किया है। अतः पर्यवसान में ही एक ही रस ठहरता है। अंतर इतना है कि अहंकार को मध्य में कारण नहीं माना गया। भक्तिमार्गियों की रसपरिपाटी बहुत अंशों में भोज से मिल जाती है।

रस के प्रसंग में आत्मानुभूति को पहचानने की जिस प्रकार मान्यता भोज ने स्वीकार की है उसी प्रकार कला के प्रसिद्ध आलोचक क्रोम्बी ने भी की है। उनके मत से कला का संबंध उस आध्यात्म सत्ता से है जो मनोवेगों का मूल कारण है और प्रत्येक चैतन्य आत्मतत्व के निकट है। वही कला से प्रभावित होता है। वही कला को जन्म देता है। यह अध्यात्म सत्ता भोज के अहंकार से भिन्न नहीं है जो हास्यादि भाव और आत्मा के मध्य में स्थित है। उनके नाम रूपधारी भावावेश भोज के रतिप्रकर्ष, हास प्रकर्ष, शृंगार हास्यादि भावों के समकक्ष हैं[१]।

१—Any how the innermost reality, the one wiith which art is most dearly concerned, is what is commonly called

निर्विषय प्रेम या श्रृंगार को रस का मूल कारण मानने से भोज फ्राइड की विचार परंपरा के निकट प्रतीत होते हैं। फ्राइड के अनुसार समस्त कला और विज्ञान का मूल कारण काम है। उसी प्रकार भोज के मत में भी। फ्राइड का काम (Libido) दो भागों में विभक्त होता है—निर्विषय काम अथवा आत्म काम (Ego Libido) तथा सविषय काम (object Libido) भोज ने भी इसी प्रकार अहंकार को आत्म काम तथा अभिमान को विषय काम स्वीकारा हैं और उन्हीं को समस्त रसास्वादन (Appreciation) के मूल में माना है। परंतु फ्राइड का काम यौनवासना मात्र है। भोज का काम या अहंकार इससे भिन्न एक सात्विक अध्यात्म सत्ता है जो परमसत्ता की इच्छा कही जा सकती है।

ग—श्रृङ्गाररस की व्यापकता

भाव की व्यापकता की दृष्टि से देखें तो श्रृंगार का विस्तार सबसे अधिक है। प्राणी मात्र ही नहीं वे वनस्पति वर्ग भी इसके आक्रोड में आ जाते हैं जिन्हें हम जड़ समझते हैं। व्यापकता के कारण ही इसके अनेक भेद हो जाते हैं। प्रेम, स्नेह, वात्सल्य श्रद्धा, भक्ति, सख्य, आदि सभी उसके भेद मात्र हैं। इतना ही नहीं अपने प्रभाव से हृदय से संकीर्णता को उदारता में परिणत करने की शक्ति इसी में सबसे अधिक है। एक की बहुरूप में परिणति श्रृंगार से ही होती है। इसी परिणाम को उपनिषदों में 'भूमासुख' कहा है। फलतः विशुद्ध सुखस्वरूप भाव जितना श्रृंगार है उतना अन्य नहीं। हृदय का विस्तार शांत रस में भी होता है। पर एक तो शांत रस लौकिक नहीं है। रसों की भित्ति लौकिकता के आधार पर ही खड़ी है। दूसरे शांत रस का मूलस्थायी भाव निर्वेद है जो उपेक्षा, अलगाव, उत्पन्न करता है। फलस्वरूप हृदय विस्तार होने पर भी ममता का, आसक्ति का

---

spiritual reality. Let me call it the emotional reality by which I do not mean the plane of such named and recognisable emotions as love, anger, hate but rather the general substration to mall existcnoe, emotion nameless and unappointed. This the layer of flame which is the closest we can get to the central fire, to the will to live or what ever you like to call it,

L. Abererombie—Funnction of Poetry in Dama.

विस्तार कोरा बौद्धिक हो जाता है जिसमें घनीभाव नहीं रहता। घनीभूत रूप में हृदय का विस्तार श्रृंगार में ही होता है।

हिंदी के रीति काल को श्रृंगार प्रधान होने का एक मात्र कारण कुछ लोग मुसलमानों का प्रभाव मानते हैं। अतएव साहित्य के श्रृंगारिक रूप को हेय भी समझते हैं। पर गंभीर विचार करने से धारणा बदलनी पड़ती है। हिंदी ही नहीं, संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि का साहित्य श्रृंगारप्रधान है। भारतीय वाङ्मय या तो धार्मिक है या फिर प्रेमप्रधान। यह सब वासना मूलक ही नहीं। इसके पीछे गंभीर दर्शन है।

सृष्टि का मूल एक परम तत्व का द्वित्व में बिखर कर एक होने में है। 'एको हं बहुस्यां प्रजायेय' में वही भावना विद्यमान है। द्वित्व की दोनों प्रसूतियों में पारस्परिक आकर्षण रहता है जिसका फल होता है 'एकरसत्व' की प्राप्ति। इस द्वित्व का नाम ही जीव और प्रकृति, मैटर और स्पिरिट आदि है। सारी सृष्टि विविध द्वित्वों में विभक्त है। स्त्री पुरुष इनमें से एक है एकरसत्व की प्राप्ति के प्रयत्नों के अनेक स्तर हैं। स्त्री-पुरुष के प्रेम, संयोगवियोग उनमें से एक है। उसी प्रकार का दूसरा है जीव और प्रकृति का परंपरा का संयोग-वियोग। दोनों स्तरों में द्वैत को भूल जाने तथा एकरसत्व या अनन्यता प्राप्त करने की उत्कट प्रेरणा और अभिलाषा विद्यमान है।

यद्यपि इन दोनों स्तरों में महान अंतर है फिर भी तत्ववेताओं का अनुभव यही है कि ये एक ही तत्व के दो पार्श्व हैं। इसलिये इस द्वैधात्मक व्यापार को कुछ लोगों ने आनंदमय अनिर्वचनीय नाटक माना है कुछ ने कोरी विडंबना। पहले अनुरागी भक्त हैं दूसरे विरागी ज्ञानी।

जहाँ तक आर्यों की चिंतना का इतिहास है स्त्री पुरुष की द्वैत कल्पना आदि काल से ही है। देवताओं के युगल रूप जैसे, शिव पार्वती आदि की कल्पना इसी धारणा की पोषक है। आर्य विचार-धारा के अनुसार दंपति की कल्पना और संयोग के बिना सृष्टि के अस्तित्व की पूर्णता असंभव प्रतीत होती है।

मनोवैज्ञानिकों ने इस मान्यता को और भी अधिक आग्रह से स्वीकार किया है। उनके अनुसार हमारे समस्त विचारव्यापारों के प्रेरक तत्व दो हैं अहंत्व और वासना (Sex)। वे अहंत्व को भी पीछे छोड़कर केवल वासना को ही सब का मूल मानते हैं। वासना के प्रवाह, उपराम और

प्रतिबंध से नाना प्रकार के आचार, विचार, आदर्श, विमर्श कर्तव्य अकर्तव्य, यम, नियम, और संयम आदि के विधान बनते और बिगड़ते हैं। उनकी धारणा है कि बाल्यकाल से लेकर मरणपर्यंत मनुष्य वासना से ही नियुक्त एवं संचालित रहता है।

शारीरिक विज्ञानवेत्ताओं की व्याख्या कुछ भिन्न है। इनके अनुसार भाव अनुभूतियों की उत्पत्ति हमारी स्नायविक रचनाओं पर निर्भर है। वे इसके पीछे किसी अदृश्य सत्ता को नहीं मानते। पर दूसरे आस्तिक विचारकों का कथन है कि स्नायु चक्र भावों का उपादान कारण बन सकता है; निमित्त कारण वासना या अर्हत्व को ही मानना पड़ेगा। 'स्नायु जाल तो बिजली के तारों का सा पेचीदा समूह है जिस पर चेतना या उत्तेजना प्रवाहित होती है। अतः भावसृष्टि सर्वथा स्नायु जाल की क्रिया प्रतिक्रियाओं के कारण ही नहीं। अतः मूल कारण वासना को ही मानना पड़ता है।[१]

इस प्रकार की दाम्पत्य श्रृंगार की धारणा रोमन कैथोलिक संप्रदाय के लोगों में भी चालू है। इसका उदाहरण 'सेंट हैरीजा' और 'जान आफ दी क्रासे' की अनुभूतियाँ है। उन्होंने जीव और प्रकृति का वैसा ही मधुर सबंध माना है जैसा स्त्रीपुरुष का। यही नहीं उससे पूर्व भी यूनान, रोम, मिश्र तथा पश्चिमी एशिया में किसी न किसी रूप में इस प्रकार के विचार प्रचलित थे।

अतः भारतीय साहित्य में श्रृंगार पूर्व से ही विद्यमान है। मुसलमानी प्रभाव से उस में कुछ अंतर अवश्य पड़ गया था।

घ—श्रृंगार और भक्ति

संस्कृत के प्राचीन साहित्य में श्रृंगार को लौकिक भाव तथा भक्ति को अलौकिक तात्विक भाव माना गया है। दोनों का क्षेत्र भिन्न भिन्न है। भक्ति में दास्य भाव, दैन्य, शरणागति आदि तथा तत्व विचार का समावेश था। श्रृंगार में लौकिक मधुर अनुभूतियाँ आती थीं। भास, कालिदास, भवभूति आदि ने राम कृष्ण को जहाँ नाटक काव्यादि का नायक बनाया है उसमें भक्तिभावना नहीं है। कालिदास ने शिवभक्त होकर भी कुमारसंभव में शिवपार्वती के प्रति भक्तिभावना उतनी नहीं दिखाई जितनी रस-

---

१—डा० रामप्रसादत्रिपाठी—प्रभुदयाल मीतलकृत 'नायिका भेद' पुस्तक की भूमिका।

भावना दिखाई है। कवि का हृदय रसप्रवण है। भक्ति प्रवण नहीं। इस प्रकार प्रारंभ में भक्ति और शृंगार दो पृथक पृथक भावनाएँ मानी जाती थीं।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में भक्तिभावना बढ़ी। उससे साहित्य-धारा भी प्रभावित हुई। इसीके फलस्वरूप जयदेव ने भक्ति और शृंगार का संमिलित रूप गीतगोविंद में उपस्थित किया। भगवान का प्रसाद प्राप्त करने के लिए काव्यरचना की विलासपूर्ण शैली इन्हीं से प्रारंभ हुई। यह १२ वीं शती की घटना है। इसके बाद चैतन्य महाप्रभु ने गीत गोविंद को अपना संप्रदाय ग्रंथ बना लिया। फिर तो इस शैली का प्रचार बहुत बढ़ गया। जयदेव के बाद बंगाल के चंडीदास तथा मिथिला के विद्यापति इस धारा में प्रसिद्ध हुए। ये दोनों संस्कृत मिश्रित प्रांतीय भाषाओं को लेकर चले थे। लोग विद्यापति के पदों को प्रायः साहित्यिक मानते हैं भक्ति संबंधी नहीं। फिर भी चैतन्य संप्रदाय में वे भी भक्ति रूप से गृहीत हैं। श्रद्धासहित वे भक्तों द्वारा गाये जाने लगे। चैतन्य महाप्रभु (संवत १५४२-१६००) का इस धारा पर अत्याधिक प्रभाव है। इसी संप्रदाय के शिष्य सनातन रूपगोस्वामी तथा जीवगोस्वामी ने इस मार्ग का शास्त्रीकरण किया। रूप गोस्वामी का 'उज्वलनीलमणि' ग्रंथ शृंगार रस की शैली से भक्ति रस पर लिखा गया सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न है। भक्ति संवलित शृंगार का वही प्रमाण ग्रंथ माना जाता है। तब से यह मार्ग प्रशस्त और परिमार्जित हो गया है। इसके उपजीव्य ग्रंथ, भागवत तथा तत्संबंधी अन्य सरस भक्ति की रचनायें हैं।[१]

ङ—संयोग का स्वरूप

प्रिय और प्रेमी का मिलन दो प्रकार का हो सकता है—संभोग सहित तथा संभोग रहित। पहले का नाम संभोग है दूसरे का नाम संयोग हो सकता है[२]। यद्यपि इस प्रकार का विभाग आचार्यों ने नहीं किया पर भावनाओं के आधार पर यह आवश्यक है। जो प्रेम वासना मूलक है उसका पर्यवसान भोग में होता है। पर जो विशुद्ध आत्मानुभूति के रूप में है उसका

१—श्रीपरशुराम चतुर्वेदी—'हिंदी काव्य धारा में प्रेमप्रवाह' तथा 'मध्यकालीन प्रेमसाधना।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—'मध्यकालीन धर्म साधना।'

२—काव्यदर्पण पृष्ठ २२८।

पर्यवसान भी प्रेम ही होता है। ऐसा प्रेम किसी वस्तु का, जैसे भोगादि, साधन नहीं बनता। इस साध्यभूत प्रेम का मिलन संयोग कहा जाना चाहिए। घनानंद जी ने अनुभूत्यात्मक प्रेम के प्रसंग में संयोगवर्णन किया है और साधनात्मक प्रेम में राधा और कृष्ण के मिलन में संयोग का वर्णन पदों में किया है।

रसाचार्यों की दृष्टि संभोग में प्रेमी और प्रिय के भोग पक्ष पर ही विशेष रूप से पड़ी है। विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में इसका लक्षण करते हुए 'प्रिय और प्रेमी के एक दूसरे के दर्शन स्पर्शन आदि के भोग को इसका परिचायिक चिह्न माना है। उसके भेद भी चुंबन आलिंगन आदि विलास चेष्टाओं के आधार पर करने की चेष्टा की है। इस सबसे संयोग में भोग पक्ष की प्रधानता व्यक्त होती है। इसी मार्ग का अनुकरण रीति काल के समस्त कवियों ने किया है। विलासचेष्टाएँ भी उनकी निजी अनुभूति के आधार पर आधारित नहीं है, कविपरंपरा प्राप्त है।

पर प्रश्न यह उठता है कि क्या संयोग में प्रेमानुभूति सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है? क्या हृदय इतना कुंठित हो जाता है कि उसमें भावों का उदय नहीं होता, जिस से स्थूल विलास चेष्टाएँ ही वर्णन के लिये शेष रह जाती हैं? क्या इसलिये हृदयानुभवों की विवृति वियोग में ही कवि करते आये हैं संयोग में नहीं? घनानंद का अध्येता इन प्रश्नों का उत्तर निषेध में देगा। कारण घनानंद जी ने वियोग की तरह संयोग में भी हृदय की मार्मिक अनुभूतियों को व्यक्त किया है। श्लील अश्लील विलास चेष्टाओं को नहीं। इस रूप में इनका शृंगार वियोग और संयोग दोनों जितना बौद्धिक है उतना शारीरिक नहीं।

प्रेम को इन्होंने सर्वोपरि प्रधानता दी है। वह जिस प्रकार वियोग में तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होता जाता है उसी प्रकार संयोग में भी मंद नहीं पड़ता। संयोग का सुख और वियोग का दुख हृदयानुभूति को अभिभूत नहीं कर सकता। प्रेम अभिलाषविशेष अधिक है जो प्रिय प्रेमी के प्रति और प्रेमी प्रिय के प्रति अपने हृदय में अनुभव करता है। अतः अभिलाषा की विद्यमानता शृंगार की समस्त दशाओं में यदि प्राप्त हो तो वह प्रेम की प्रधानता ही है। इनके संयोग में अभिलाप की सत्ता सर्वत्र मिलती है। इस विषय में रीतिपरंपरा को देखा जाय तो अभिलाष का क्षेत्र वहाँ संकुचित

और व्यवस्थित मिलता है। विरह की दश दशाओं में से यह सर्वप्रथम है[1]। पर यहाँ वह बंधन नहीं। यह अभिलाष प्रियविषयक अनुराग है जिसे रीति की शब्दावली में बाँधना हो तो 'रति' कहना चाहिए। रति स्थायीभाव होने से प्रत्येक दशा में विद्यमान रहती है। उसी प्रकार यहाँ अभिलाष है। यह वियोग की तरह संयोग में भी प्रेमी को सदा अन्तः-पीड़ा से पीड़ित किये रहती है। इसी कारण संयोग वियोग सा लगता है। विरह कभी पीछा नहीं छोड़ता।

प्रिय के रूपसौंदर्य को देखकर हृदय में हर्ष की उमंगें इस प्रकार उठती हैं जिस प्रकार समुद्र में तरंगें अथवा राग में ध्वनि उठती है। नेत्र रूपराशि का अनुभव करते है फिर भी वे तृषित ही बने रहते हैं। उधर मुख पर अधिकाधिक ओप बढ़ती जाती है इधर हृदय में अभिलाषाओं की वर्षा सी होने लगती है[2]।

आँखें रूपरस का आस्वादन करती हैं पर हृदय में अभिलाषाओं को संचित कर देती हैं जो कभी समाप्त नहीं होतीं। प्रिय का वर्णन करने को मन चाहता है पर वाणी गुणों में ग्रसित हो जाती है। मति की गति भी थक जाती है। सुधि अपनापन भूल जाती है। इस तरह लालसाओं के कारण संयोग का सुख किसी प्रकार भी नहीं मिलता[3]।

वियोग के अनंतर आने वाले संयोग में प्रेमातिशय दिखाने की परंपरा है। अतः यहाँ संयोग में अभिलाष वर्णनीय हो सकता था। पर घनानंद जी का प्रेमी यदि कभी वियुक्त नहीं रहा फिर भी संयोग काल में प्रेमातिरेक के कारण प्रिय का मुख देखते देखते पलक नहीं मारता। आखें जागती ही रहती हैं। हृदय तृण के समान काँपता है। रोम रोम आनंद में भीग जाता है। यदि वह वियुक्त होकर प्रिय से मिले तो न जाने कैसा अभिलाष हो। प्रेमी और प्रिय के मिलजाने पर दोनों के हृदय एक हो जाते हैं और शुद्ध घनआनंद के लोभ में जो सुख मिलता है वही प्रेमी को मिलता है। फिर भी हृदय चाह के प्रवाह में पड़ा रहता है[4]। उनके मुख की ओर देखने

१—देखिए साहित्य दर्पण तृतीय परिच्छेद शृंगार रस प्रकरण,

२—घनानंद ग्रंथ० प्रकीर्णक १३

३—सुहि० २००

४—वही० ४६१, २३३, ३—वही ७२

की इच्छाओं का झरना लगा रहता है, अर्थात् एक के बाद एक इच्छा उत्पन्न होती रहती है। कभी दैवयोग से वे मिलते हैं तो मनोरथों की ऐसी भीड हृदय में भर जाती है कि मिल कर भी मिलाप नहीं होता। हृदय की गति का ब्यौरा किस प्रकार दिया जाए।

इस अभिलाष के कारण प्रेमी बौद्धिक अवसादका भी अनुभव करने लगता है। यद्यपि संयोग शृंगार में अवसाद् का वर्णन आचार्यों ने निषिद्ध माना है[1]। प्रिय के संयोग का सुख एक ओर से तथा अभिलाषाओं का दुख दूसरी ओर से हृदय को आक्रांत कर लेता है। इस परंपरा विरुद्ध लाभ से बुद्धि का अवसाद स्वाभाविक है। फलतः प्रिय के लिये जो प्रिय आचरण होना चाहिए वह नहीं हो पाता। इसलिए प्रेमिका दुखी होती है। 'सुजान प्रिय को देखकर लाखों प्राणों का मानों लाभ होता है पर उनके ऊपर प्राण न्यौछावर करने की अभिलाषा से वह मरी मिटती है। इस अनोखी पीर को किस प्रकार कहे। अधीर होकर नेत्रों में आंसू भर आते हैं। क्या विचार किया जाए। रंक की तरह सोच और संकोच में खिन्न ही होना पड़ता है। चित्त की चाह के चौचंद में थक थक कर प्रेमी अवसन्न हो जाता है।[2]

भावों की सूक्ष्मता का अनुभव करने में आनंदघन अकेले ही हैं। यह गुण संयोग के वर्णन में भी विद्यमान है। किसी क्रिया या अनुभूति के निरंतर दीर्घ काल तक बने रहने से मन उसका इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उस दशा के परिवर्तित हो जाने पर भी वैसा ही अनुभव बना रहता है। देर तक रेल-गाड़ी में यात्रा करने के बाद उतरने पर भी भ्रांति यात्रा की सी ही होती है। वियोग के अनंतर आने वाले संयोग में वियोग की भ्रांति उसी प्रकार बनी रहती है। 'प्रिय बहुत दिनों के विरह के बाद मिला है। वह विरह का ही अभ्यस्त हो गया है। वह संयोग में भी वियोग का अनुभव करता है। प्रिय को देखते भी यह विश्वास नहीं होता कि वह आ गया है। विरही को निश्चित नहीं होता कि यह संयोग है या छल। इस प्रकार मिलने पर भी कुशल 'अनमिले' की ही है।[3]'

१—संयोग आलस्योग्रयौ जुगुप्साः वर्ज्याः, रसतरंगिणी

२—सुहि ७९

३—वही ६१

सँयोग में दुःख के और भी अनेकों कारण हैं। प्रेमी की लघुता तथा प्रिय की महिष्ठता उनमें से एक है। यह पहले बताया जा चुका है कि प्रेमी अपनी अपेक्षा प्रिय को बहुत बड़ा समझता है। इस अन्तर के परिणाम स्वरूप संयोग में प्रेमी की तृप्ति के स्थान पर आश्चर्य की अनुभूति होती है। फल वही दुःख होता है।

'जब सुजान का संयोग होता है तो बुद्धि आश्चर्य में डूब जाती है। फलतः प्रिय का पूर्ण दर्शन नहीं हो पाता। संयोगकाल स्वप्न-सा टल जाता हैं। उसके बाद बिरह आता है जो सौ गुना चेटक बढ़ा कर हृदय को पीड़ित करता रहता है।[१]

इस आश्चर्यानुभूति का परिणाम बुद्धि का मोह होता है। इससे प्रेमी प्रियविषयक अनुकूल आचरण न करने से दुःख का अनुभव करता है. 'अपने हृदय की दशा बताने के लिये लाख लाख भाँति से संयोग की अभिलाषा की जा रही थी। चुन चुन कर अनेकों 'रिस भीनी तथा रस भीनी' बातें संगृहीत कर ली थीं कि प्रिय आएँगे, सब कहीं जाएँगी। भाग्य से जब वे मिले तो समस्त चेतना लुप्त हो गई। रीझ बावरे होकर कुछ और ही और कह गए।'

'उरगति ब्यौरिवे कौं सुंदर सुजान जू को,
लाख लाख विधि सौं मिलन अभिलाखियै।
बातैं रिस रस भीनीं करि गसि गास झीनी,
बीनि बीनि आछी भाँति पाँति रचि राखियै।
भाग जागै जौ कहूँ बिलौकैं घनआनँद तौ
ता छन की छाकनि के लोचन ही साखियैं।
भूलै सुधि सातौ दसा बिवश गिरत गातौ
रीझि बावरे ह्वै तब औरै कछू भाखियैं।[२]

प्रिय की महत्ता पर आश्चर्य सूफी कवियों ने भी खूब बढ़ा चढ़ा कर दिखाया है। पद्मावती के प्रथम दर्शन में रतनसेन का बेहोश हो जाना और बाद में विलाप करना इसी का रूपक है। महात्मा तुलसीदास जी ने

१—वही २६६
२—वही ६७

मिलन की परिस्थिति के प्रभाव के रूप में यह अनुभव पारिवारिक प्रेम के प्रसंग से किया है। वन में भरत जब राम से प्रथम बार मिलते हैं तो दोनों की हृदयदशा ऐसी हो जाती है कि कोई किसी से न कुछ कहता है और न पूछता है। हृदय स्तंभित होकर शून्य हो जाता है।

'कोउ कछु कहइ न कोइ कछु पूछा, प्रेम भरा मन निज गति छूछा।'[1]

कवि की अंतर्वृत्तिप्रधानता भी इस बात का कारण है कि उसे संयोग में भी सदा वियोग का अनुभव बना रहता है।

'अनोखी हिलग दैया बिछुरै तौ मिल्यौ चाहै,
मिलेहू मैं मारै जारै खरक बिछोह की।

वियोग का भय हो यही नहीं, प्रेमी प्रिय का निरंतर ध्यान करने से बौद्धिक वियोग का अभ्यस्त हो गया है। वियोग में हृदयस्थित प्रिय से आलाप संभाषणादि नहीं हो सकता। यह अवस्था संयोग में भी बनी रहती है। संयोग वियोग तुल्य हो जाता है।

'प्रिय पास में बैठा है। फिर भी हृदय में उनकी अवस्थिति वैसी ही है। प्रिय सुजान मिल गये पर वे बुद्धिस्थ होकर उसे व्यामुग्ध अब भी करते है। यह कैसा संयोग है कि वियोग बिछुड़ता ही नहीं।'[2]

कवि की चिंतन की यह अंतर्वृत्ति रीतिमार्ग की उस स्थूल प्रवृत्ति से भिन्न है जिसमें संयोग के समय बुद्धिव्यापार सर्वथा अवरुद्ध हो जाते हैं।

वैसे आचार्यों ने उसी संयोग को साहित्य में उत्तम माना है जो वियोग से किसी न किसी प्रकार संबद्ध हो। जिस प्रकार कषैले वस्त्र पर रंग अधिक चढ़ता है उसी प्रकार विप्रलंभ से कोमल बने हृदय में संयोग की पुष्टि अधिक होती है।[3]

पर घनानंद जी ने संयोग में वियोग के आनंतर्य का ही नहीं समकालीनता का भी अनुभव किया है। अतः वियोग प्रत्येक अवस्था में बना रहता है,

---

१—अयोध्याकांड (सोपान २) दो० ३४३, चौ० ६ ४

२—सुहि० १०४

३—न बिना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते काषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते, साहित्यदर्पण, परिच्छेद ३।

इस तरह अभिलाष, अंतर्ध्यान, वियोग का अनंतर्य तथा प्रिय की उदासीनता आदि कारणों से घनानंद का संयोग सर्वत्र वियोगसंयुक्त है। वास्तव में कवि मूलतः वियोग और दुःख का कवि है। गाना तथा रोना दोनों में से रोने को ही अच्छा समझना है। जिसपर रोना नहीं आता उसका गाना भी रोना है नहीं तो आनंद तो प्रेम की संतापाग्नि में बेचैन रहने से ही मिल सकता है।

'प्रेम आगि जागै लागै झर घनआनँद को
रोइबौ न आवैं तो पै गाइबोहू रोइबौ'

अश्लीलता का अभाव तथा रसानुभूति का बौद्धिक रूप घनानंद की देन माननी चाहिए। इनका शृंगार भावात्मक से बौद्धिक रूप में विकसित होता गया है। प्रेरणा कहीं से ली हो पर अनुभूतियों का स्वरूप अभारतीय नहीं है। वह चिंतन में अपने वर्णनों की परंपरा में संगत प्रतीत होता है। परमेश्वर की व्यापक सत्ता का आभास सर्वत्र होता है। यह प्रिय का बौद्धिक संयोग है। पर प्रेमी भक्त उसके साक्षात्कार, स्पर्शन आदि के लिये लालायित है। इसलिये वियोग भी साथ ही लगा रहता है। परमेश्वर का भक्त के प्रति उदासीन भाव भी कारणांतर होकर उपस्थित रहता है। इस प्रकार वह मिलकर बिछुड़ता और बिछुड़कर मिलता रहता है। आनंद के घन सर्वत्र छाए रहते हैं पर चातक प्रेम का प्यासा ही बना रहता है।

'लहाछेह कहा धौं मचाय रहे ब्रजमोहन हौ उख नीद भरे हौ।
मिलि होति न भेंट दुरे उघरौ ठहरे ठहरानि के लाल परेहौ ॥
बिछुरें मिलि जात मिलैं बिछुरै यह कौन मिलाप के ढार ढरेहौ।
घनआनँद छाय रहौ नित ही हित प्यासनि चातक जात मरे हौ॥[1]'

× × ×

संयोग में हर्ष उल्लासादि का जैसा वर्णन हिंदी साहित्य की परंपरा में चलता आया है वह भी कहीं कहीं मिलता है। 'प्रिय के आगमन पर हृदय-रूपी आलबाल से उमंग की बेल आनंद के घन द्वारा सिक्त होकर इतनी बढ़ी है कि नायिका के रोम रोम पर चढ़ गई। उछाह का रंग इतना बढ़ा है कि

१—प्रकीर्णक ७०।

वह दुकूल के बाहर निकला पड़ता है। नेत्र दौड़कर बधाई सी बोलते हैं, आदि आदि। पर ये वर्णन कवित्त सवैये में अल्पतर हैं। पदों में अवश्य राधा कृष्ण के शृंगार और विलासविहार का वर्णन है। प्रतीत होता है कि घनानंद कवित्त सवैयों को लौकिक भावों की अभिव्यक्ति का उचित साधन समझते हैं और पदों तथा दोहे चौपाइयों को भक्तिभाव की अभिव्यक्ति का। भक्ति में शृंगार स्थूल तथा विलास प्रधान होकर भी वैरस्योत्पादक नहीं बनता पर लौकिक शृंगार बन सकता है। इसलिये इसे अधिक से अधिक बौद्धिक बनाने का प्रयत्न कवि ने किया है। संयोग शृंगार में बुद्धि-व्यापार के विश्लेषण की घनानंद जी की परंपरा यदि भक्ति काल से ही हिंदी में अपना ली गई होती तो हिंदी काव्यधारा का मार्ग कुछ और ही होता।

नायक और नायिका दोनों की विद्यमानता में रीतिमार्ग के कविंद या तो दूती या सखी को वहाँ से खसकाते रहे हैं या फिर नायक की दृष्टि नायिका के स्तनादि अंगों पर डालकर विलास को उभारने के लिये नए नए उपाय ढूढ़ते रहे हैं या फिर नायिका के हावों का वर्णन करने लगते हैं। वैसे ही अवसर पर घन आनंद जी का प्रेमी इससे बिलकुल भिन्न रूप में दिखाई पड़ता है। 'सुजान के संमुख घनानंद बैठे हैं। उनकी आँखें सब ओर से परिचय छोड़कर उसी को ओर ताकती है, पलक नहीं टारतीं। इकटक देखने की जक सदा जागी रहती है। देख देखकर मुख में भीगी हुई वे कभी रोती हैं कभी हँस पड़ती हैं। चौंक कर देखती है पर चिंता बनी रहती है। वे लज्जा की शृंखला तो तोड़ देती हैं, पर उसकी शोभा की शृंखला में बँध जाती हैं जिससे किसी प्रकार का निकास ही नहीं हो सकता। इन चाह बावरे नेत्रों की कुछ ऐसी बानि पड़ी है।[1]

इस प्रकार के अनेकों वर्णन कवि ने किए हैं। यह भावोद्गारी संयोग रीति काल के लिये ही क्यों हिंदी साहित्य के लिए नवीन हैं।

(छः) रूपसौंदर्य—

व्रजनाथ ने अपनी प्रशस्ति में इनके विषय में 'सुंदरतानि के भेद को जाने' कहा है। भेद शब्द का तात्पर्य या तो विविध प्रकार का हो सकता है या फिर रहस्य। पहले अर्थ के अनुसार आनंदघन सौंदर्य के विविध प्रकारों के वर्णयिता सिद्ध होते है पर इस प्रकार की कोई विशेषता इनके

१—सु० हि० ७७।

काव्य में लक्षित नहीं होती। दूसरे अर्थ की संगति अवश्य होती है। सौंदर्य की ऐसी विशेषताएँ इनकी रचनाओं में मिलती हैं जो दूसरे कवियों के लिये अज्ञात रहस्य हैं।

इनके कुछ वर्णन तो रीतिमार्गी कवियों के से साम्य द्वारा वस्तुप्र ख्यापन मात्र के हैं। नाक, कान, उदर, कटि, पीठ, पैर आदि के वर्णन में अलंकारों की भरमार की है। जैसे रीतिकाल की रचनाओं में होती है वैसे यहाँ भी नाक, कान आदि का यथार्थ रूप हम नहीं जान सकते। उपमानों की भीड़ ही देखने को मिलती है। उनके द्वारा कवि-समय-प्रसिद्ध किसी एकाधी विशेषता का परिचय हो जाता है जैसे नाक का उन्नत होना, कटि की क्षीणता, पैरों की लालिमा आदि। पीठ के वर्णन में कवि कहता है– 'काम कलाधर ने प्रियतम के प्यार की शिक्षा देने के लिये मानों यह पट्टी दी है। इसपर पड़ी वेणी शोभासुमेरु की संधितटी है, या मानमवास के गढ़ को घाटी है, या रसराज के प्रवाह का मार्ग है।'[१] इसी प्रकार कटि की सूक्ष्मता बताते हुए उसे साहित्यशास्त्र की ध्वनि से साम्य देता हुआ कवि कहता है 'कटि का रूप ध्वनि के समान है, जो बूझ की दृष्टि तान कर देखने से ही दिखती है। अपने साथ लोचनों को लगा लेती है जैसे ध्वन्यालोक की टीका लोचन है। वह लगी हुई भी अलग सी लगती है। संशय होता है कि वह है भी या नहीं'। यही बात ध्वनि के विषय में भी होती है[२]।

उपर्युक्त दोनों वर्णनों में स्पष्ट रूप से अलंकारचमत्कार का प्राधान्य है। वस्तु के यथार्थ रूप के वर्णन नहीं हो सकते। इस प्रकार के वर्णन प्राचीनशैली के हैं। रीतिकाल में यही पद्धति सर्वसाधारण थी। इसमें एक दोष यह भी है कि सौंदर्य के सामूहिक रूप की अभिव्यक्ति न होने से रमणीयता का अभाव रहता है। सौंदर्य, लावण्य, छवि आदि के जितने लक्षण प्राप्त होते हैं उनमें रूप की समूहालंबनात्मक स्वीकृति है खंडशः नहीं। घनानंद जी के वर्णन दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो जिनका अभी उल्लेख किया गया है। दूसरे प्रकार के वर्णनों में सौंदर्य के समूहात्मक यथार्थ रूप के दर्शन होते हैं। साथ ही उन गुणों का वर्णन बहुत है जिन्हें छवि

१—सु० हि० १०३

२—वही २०

या लावण्य कह सकते हैं, जो शरीर के कण कण में व्याप्त रहता है। नाक कान आँख उदर कटि आदि सब सुंदर होने से जैसी संमिलित अनुभूति दर्शन की होती हैं उसका वर्णन उन्होंने किया है। सबढ़न यह 'सुंदरतालि' का भेद है। साधारण आँखों की पकड़ में नहीं आ सकता। आँखें देखें भी तो इसके वर्णन के लिए पुरानी वाणी से काम नहीं चल सकता है। घनानंद को सौंदर्य का भेद देखने को प्रेम की आँखें मिलीं और इसका वर्णन करने के लिये वे 'भाषाप्रवीण थे।' पहले रूप का यथार्थ चित्रण देखें:—

'सुजान सोकर कुछ कुछ उठी है। रस के आलस्य में सोई हुई है। पीक पगी पलकें लगी हो हुई हैं। बाल सुघड़ मुख पर फैले हैं। उनसे मुख की और ही आभा बन गई हैं। वह अँगड़ाती है, जँभाई लेती है, लजाती है। अंग अंग में अनंग की दीप्ति हो रही है। अधरों में अर्धस्फुटित शब्द हैं। लड़कपन छलका पड़ता है।[1] 'हुलास भरी मुस्कान अधरों से कपोलों पर चमकती है। बारीक कोमल बाल छुटे हुए हैं। कानों के मूल में अलियों की नोक मुड़ कर लगी हुई है। बड़ी बड़ी आँखों में अंजन की रेखा है। अपनी लज्जाशील चितवन से हृदय को रस में लिप्त कर देती है। माथे पर सुहाग की बिन्दी चमकती है।[2]

दोनों रूपचित्रणों में रूप का स्वानुभूत यथार्थ चित्रण है। उपमान तो एक भी नहीं आया। चाहे तो चित्रकार सवैया पढ़कर चित्र तैयार कर सकता है। यह वह ब्योरेवार वर्णन है जिसका रीतिकाल में कमी इसलिये रह गई थी कि कवि स्वानुभूत नहीं कहते थे स्वपठित या स्वश्रुत कहते थे।

समूहात्मक रूप के वर्णन में अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही नवीन हैं। भूषणभूषित सुंदरी के घर से बाहर निकलने का वर्णन उफनाकर चलती हुई नदी द्वारा, जिसने सारा भवन भर दिया हो, किया है।[3]

यौवन के विकसित सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

१—सु० हि० १७

२—वही २६२

३—'अंग अंग नूतन निकाई उझिलन झाई
भौन भरि चली सोभा नदी लौ उफनि है।' सु० हि० १६७

'अत्यंत सुंदर गोरा मुख झलकता है। तृन लोवन कानों का स्पर्श करते हैं। हँस कर बोलती है तो मानों छवि के फूलों की बरसा छाती पर हो जाती है। चचल बाल कपोलों पर खेल रहे हैं। गले में पुष्पमाला है। अंग अंग से सौंदर्य की तरंग उठती है। मानो रूप चू कर पृथ्वी पर गिर पड़ेगा[१], सौंदर्य के उफान को तरंग बताकर तथा 'परिहैं धरच्वै' से उसके विकास को दिखाना घनानंद के नये प्रयोग हैं।

अच्छे मुख पर रूप की नई नई झलक है। उसी प्रकार यौवन की लाली चमकती है। अनंग रंग की तरंग अंग अंग से उठती है। भूषण वस्त्रों की आभा भर कर फैली है। छबि की रसभीर में नेत्र अधीर होकर गिरते हैं, पर ऊपर ऊपर ही तैरते रहते हैं। उनकी छोटी सी ओक है। इसलिये प्यास की पीर बढ़ती ही रहती है।' इन सब में सौंदर्य का बाह्य स्वरूप नहीं अंतर्दीप्ति व्यक्त की गई है।

इसके अतिरिक्त इनका सौंदर्य प्राय: पूर्ण विकसित यौवन का है तथा मादक है। नायिकाभेद की खाना पूरी कहीं नहीं की है। ऐसा वर्णन एक भी स्यात् न मिले जिसमें कवि का हृदय न लिपटा हो। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आसक्त लालसा के साथ रूप देखा गया है इसलिये उदासीन बुद्धि की काव्यचातुरी इन वर्णनों में कम मिलती है।

रूप का जहाँ वर्णन है वहीं उसके प्रभाव का भी है। जैसे 'सुजान के रूप की अनुपम झलक का कहाँ तक विचार किया जाए। इसके माधुर्य की गहराई में लावण्य की लहरें उठती हैं। यदि इसकी समता आरसी से की जाए तो वह भी बूझ की अबूझ ही होगी। इसके अच्छे अंगों को देखकर तो अपना आपा भी दिखलाई नहीं देता। आरसी में मुँह दीखता है। इसका स्वाभाविक हँसना मोहिनी की खानि है। इसपर रीझ भी रीझ कर भीज जाती है। क्या न्यौछावर किया जाए। इसके संकोच में हम तो हार गए।[२]'

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ज्ञातृप्रधान वर्णन के दो भेद किए हैं, भावमय तथा अप्रस्तुमय। अपरवस्तुमय में साम्यादि के लिये उपमानों का प्रयोग

१—घ० ग्रं० प्रकीर्णक २

२—सुहि १५४

होता है। भावमय में कवि वर्ण्यवस्तु और तज्जनित स्वहृदयानुभूति दोनों का उल्लेख करता है[१]। पहली श्रेणी में घनानंद के नाक, कान आदि अवयवों के वर्णन आते हैं दूसरे समूहात्मक वर्णन। ये दोनों प्रकार के ज्ञातृप्रधान हैं, विषयप्रधान नहीं–अर्थात् देखनेवाले का हृदय अपनी अनुभूतिरंजित आँखों से रूप को देखता है। उदासीन दृष्टि से नहीं। प्रेमी का चित्त प्रिय के अंगों की आभा के साथ स्वयं द्रवीभूत होकर उनके हँसने, बोलने तथा देखने आदि के विषय-रंगों से अपने अश्रुप्रवाह में चित्र खींच लेता है। अर्थात् प्रेमपात्र का जो चित्र खिंचा है उसमें प्रेमी के चित्त का भी चित्र है।

'अंग अंग आभा संग द्रवित स्रवित ह्वै कै
रचि सचि लीनी सौंज रंगनि घनेरे की।
हंसनि लसनि आछी बोलनि चितौनि चारु
मूरति रसाल रोम रोम छबि हेरे की।
लिखि राख्यौ चित्र यौं प्रवाहरूपी नैनन मैं
लही न परति गति उलट अनेरे की।
रूप कौ चरित्र है आनँदघन जान प्यारी
अकि धौं विचित्रताई मो चित्त चितेरे की।

सु० हि० २ ११

ज्ञातृप्रधान होने के कारण ही रूप का प्रभाव बार बार वर्णित किया गया है। प्रिय की निकाई पर रीझ बिक जाती है। उनके यौवनघूमरे नेत्र देख कर बुद्धि ममता को न्यौछावर कर बावली हो जाती है। उनके बोलने पर प्रेमी के बोल बंद हो जाते हैं। उनके न देखने को भी देखते ही रह जाते हैं। बुद्धिव्यापार का रूप के संमुख पराजित हो जाना बार बार कहा गया है। रूप की सेना सजी देख कर धैर्य का गढ़पति भाग जाता है। हृदयनगर में वह प्रवेश कर लेता है तो नेत्र उसी से जा मिलते हैं। फलस्वरूप लज्जा की लूट हो जाती है। रीझि पटरानी हो जाती है, बुद्धि दासी[२]।

सारांश में इस विषय में निम्नलिखित तथ्य निकलते हैं—

१—घनानंद का रूपवर्णन कुछ रीतिकाल की शैली का चमत्कारप्रधान है जिसे उनकी प्रारम्भिक रचना मानना चाहिए शेष उनकी व्यक्तिगत अनुभूति है।

१—देखिए रसमीमांसा, पृ० ११२

२—वही ३४, ४८

२—रूपवर्णन में द्रष्टा की आसक्ति झलकती है। चाह के रंग भीजे हृदय तथा रीझ बावरे नेत्रों ने देख कर रूप का वर्णन किया है।

३—रूप मादक तथा पूर्ण विकसित विलासी है जिससे वेश्याप्रेम का अनुमान होता है।

४—शारीरिक सौंदर्य के संश्लिष्ट चित्रण भी किए हैं,

५—सौंदर्य की अंतरदीप्ति जितनी अधिक वर्णित हुई है उतना वाह्य स्थूल रूप नहीं।

६—अनुभूति सत्य होने से उसकी अभिव्यक्ति के लिये नये प्रतीक कवि ने प्रयुक्त किए हैं।

(ज) प्रकृति वर्णन

स्वछंदमार्गी कवियों का स्वतंत्र चिंतन जैसा भावक्षेत्र में मिलता है वैसा प्रकृतिवर्णन में नहीं। प्रकृति का खुला क्षेत्र न तो इनके प्रेम-व्यापारों का क्रीडास्थल बना है न प्रेम का विषय ही। अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह उपनाम द्विजदेव की रचनाओं में इसका कुछ आभास अवश्य मिलता है। पर दूसरे स्वछंदमार्गी लोग अंतर्वृत्ति प्रधान थे। उनका प्रेम भावात्मक था, घटनात्मक नहीं। अतः यह स्वाभाविक था कि इनकी प्रतिभा हृदय के विश्लेषण में रत हुई, वाह्य के वर्णन में नहीं। घनानंद सबसे अधिक अंतर्मुख हैं। फलतः इनका प्रकृतिवर्णन संयोगी या वियोगी प्रेमी की हृदयदशा की व्यंजना है, प्रकृतिसौंदर्य की नहीं। प्रकृति उद्दीपन है स्वतंत्र आलंबन नहीं। यहाँ ये रीतिमार्ग से हटते हुए नहीं प्रतीत होते। प्रभात, संध्या, रात्रि, दिवाली, होली, वर्षा, वसंत, चातक, मलयानिल, झूला, आदि का वर्णन कवित्त सवैयों में तथा ब्रज, यमुना, वसंत, वर्षा, गोचारण, छाकभोजन, आदि का निबंधों में हुआ है।

वियोगिनी को प्रभात की अपेक्षा संध्या प्रिय लगती है। क्योंकि उस समय प्रियमिलन होना है। रात प्रिय के संयोग में तो भ्रम सी बीत जाती है। पता भी नहीं लगता। यह प्रिय के श्यामरूप सी, आनंद की सीढ़ी सी, गोपियों की आखों के अंजन सी, अथवा रसराज सी रमणीय लगती है। पर वही वियोग में काली सर्पिणी होकर डसने आती है[1]

१—वही २६८

प्रेम का मुख्यतया वर्णन है, वियोग ही मुख्य है। वियोग की यह प्रमुखता प्रासंगिक रूप से ही नहीं हुई है, कवि की आस्था भी ऐसी है। प्रेमक्षेत्र में दुःख, वेदना आदि के बिना न तो वे काव्य की उत्तमता मानते हैं और न कवि की। उनके अनुसार रसिकता वेदना द्वारा परिलक्षित होती है। व्यथित हृदय की पुकार ही श्रेष्ठ कविता है—यह उनका मत है। इस विषय में वे संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति तथा अंगरेजी के महाकवि शेली के समान हैं[1]। इनका मत है कि 'जबतक मर्मस्थल व्यथित नहीं होता तब तक किसी बात का मार्मिक रहस्य नहीं जाना जा सकता। वाणी की खिलवाड़ मर्म पर आघात नहीं कर सकती। राग (गीत) का स्वरूप तो राग (अनुराग) से ही जाना जा सकता है। नहीं तो बिना आंखों के कान व्यर्थ शब्दों को टकटोरते रहेंगे। प्रेम की कथा अकथ है। इस की तान अथाह है। यदि रोना नहीं आता तो गाना भी रोने के समान है। 'गोपियों की सिसक और उनकी कसक जब तक हृदय में नहीं आई तब तक रसिक कहलाना व्यर्थ है। रसिकता कुछ और ही चीज है।"

'मरम भिदै न जौ लौं भरम न पावै तौ लौं,
मरमहि भेदै कैसें सुरनि घंघोइबो
राग ही तें राग के सरूप सौं चिन्हारि होति
नैन हीन काननि असूझ टकटोइबो
प्रेम आगि जागें लागें झर घन आनँद को
रोइबो न आवे तौ गाइबो हु रोइबो
+ + +
गोपिन की सिसक कसक जौ न आई मन
रसिक कहाए कहा रस कछू औरई[2]

इस वियोगपरक दृष्टि के कारण ही कवि ने संयोग में भी वियोग के दर्शन किए हैं जिसका विस्तृत उल्लेख संयोग के प्रसंग में हो चुका है।

१—भवभूति—एकोरसः करुणएव, उत्तर रामचरित। शैली—Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts.

२—प्रकीर्णक—३०, ३१।

इसी प्रकार इश्कलता में भी अपनी इस मान्यता को प्रकट किया है—
संयोगीहूइश्क तें इश्क वियोगी खूब।
आनंदघन चस्मों सदा लग्या रहै महिबूब। इश्कलता—४

२—परंपरा

शृंगार की वियोगप्रधान दृष्टि की परंपरा पर विचार किया जाए तो पता लगता है कि यह विशुद्ध रूप से संस्कृत की काव्य धारा की नहीं है। संस्कृत काव्य धारा जो सूफी संतों से पहले तक विविधरूपों में अवतरित हुई और तुलसी सूर आदि से लेकर रीति काल तक बहती रही है इसमें संयोग और वियोग दोनों ही समान रूप से काव्य के विषय बने हैं। संस्कृत के प्रेम कवि कालिदास ने वियोग की मार्मिक पीड़ा और संयोग का उच्छल उल्लास दोनों का वर्णन किया है। कहीं सयोग के बाद वियोग जैसे शकुंतला नाटक तथा रघुवंश के इंदुमती विरह मे, कहीं वियोग के बाद सयोग जैसे कुमार संभव में, दिन रात के पर्याय क्रम से आते रहते हैं। मेघदूत जैसी बिरही की संदेशकथा के काव्य में भी प्रकृतिवर्णन में भरपूर संयोग आया है। बिल्हण की चौरपंचाशिका विरह का प्रेम-काव्य है। पर उसमें भी प्रधानतया पूर्व संयोग का ही स्मरण है।

हिंदी का सर्व प्रथम प्रेमाख्यान 'ढोला मारूरा दूहा' है। इसमें भी संयोग का उल्लास और वियोग की वेदना समान भाव से वर्णित है। कबीर, दादू आदि ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में अप्रस्तुत रूप से जो शृंगार का आश्रयण किया है उसमें भी संयोग और वियोग दोनों समान हैं। वे जिस प्रकार दुलहा दुलहिन का परस्पर मिलन दिखाते हैं उसी प्रकार विरह में 'संपूर्ण शरीर रबाब बन कर प्रिय का राग अलापने लगता है जिसे या तो प्रेमी सुन सकता है या प्रिय[१]।' राम और कृष्ण की भक्ति धारा में भी इसी प्रकार संयोगवियोग समान रूप से आते हैं। मीरा की रचनाओं में वियोग की प्रधानता अवश्य है। उसका कारण सूफी और फारसी के कवियों का प्रभाव है।

रीतिमार्गी कवि तो शास्त्रपरंपरा के अनुयायी हैं। शास्त्रों की रस मीमांसा में संयोग और वियोग दोनों पर तुल्य बल दिया जाता है। अनुभाव, संचारी भाव आदि का विवेचन प्रायः संयोग के प्रसंग से ही किया जाता है। अतः कह सकते हैं कि संस्कृत की काव्यधारा में अंत तक संयोग और वियोग समान रूप से चलते रहे हैं।

१—सब रग तंत रबाब तन विरह बजावे नित्त।
औरन कोई सुन सकै कै साईं कै मित्त॥
ना० प्र० सभा, क० ग्रं०, पृ० १२

निकलना चाहते हैं पर आशा का पाश उनके गले में फँसा हुआ है, इसलिए वे आस पास फिरते ही रहते हैं। न निकलते हैं न सुख से रहते हैं।

'हे प्रिय सुजान, तुम्हारे गुणों ने हृदय को बांध लिया है। फिर भी तुमने मेरी सुधि छोड़ दी यह बड़े आश्चर्य की बात है। अपने प्रेम में रँग कर तथा प्रकट रूप से अनुराग दिखाकर अब दृष्टि बचाते हो?'

'पहले संदेशा मिल जाता था। इससे मेल सा मान लेते थे पर अब उसका भी अंदेशा रह गया। अब किस आशा से जीवित रहा जाए। हृदय में उद्वेग की अग्नि भड़क उठी है। रोम-रोम में पीड़ा है। तुमने हृदय अत्यन्त कठोर कर लिया। मोह मिटा डाला। हे जान प्यारे! निकटवर्ती होकर भी दूर की चोट मारते हो[१]।

अनुभूति

कवि के वियोग वर्णन की विशेषता उसकी अनुभूति में है। इस विषय में यह हिंदी के रीतिमार्गी कवि तथा उर्दू फारसी के शायर दोनों से भिन्न सिद्ध होते हैं। रीतिमार्गी लोग बुद्धि के बल से शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार विरह का वर्णन करते हैं, व्यक्तिगत अनुभूति का नहीं। उन्होंने 'हिय आखिन नेह को पीर' नहीं तकी थी। कवि की वैयक्तिकता केवल उनके उक्ति वैचित्र्य मे रहती है। इसलिए यह वैचित्र्य इतना बढ़ा कि अति-शयोक्ति का आश्रयण करना स्वभाव सा बन गया। बिहारी, पद्माकर, देव जैसे उच्च कोटि के कवि भी इसी आवर्त में पड़े हुए दिखाई देते है। परिणाम स्वरूप कविता में न कोई मार्मिकता रही न सत्यता। शंकर का निम्न-लिखित पद्य इसका निदर्शन है।

'शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अंबर ते ऊँची चढ़ि जायगी।
झारेंगे अंगारे, वे तरनि तारे तारापति
या विधि खमंडल में आग मढ़ि जायगी।
दोनों ओर छोरन लौं पलमें पिघलकर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी।

१—वही—६९, ८७।

काहू विधि विधि की बनावट बचैगी नाहि
जौ पै वा वियोगिनी की आह कढ़ि जायगी ।[1]

बिहारी की अतिशयोक्ति इस विषय में प्रसिद्ध ही है। इन सबका कारण अनुभूतियों में निजत्व का अभाव है।

उर्दू फारसी के कवियों में भी यही तत्त्व विद्यमान है। सत्यानुराग के अभाव की पूर्ति उक्तिवैचित्र्य और अतिशयोक्तियों से वहाँ की जाती है। किसी के आँसू एकत्र होकर समुद्र बन गए हैं।

'समुन्दर कर दिया नाम उसका नाहक सबने कह कर।
हुये थे जमा कुछ आँसू मेरी आँखों से बह बह कर ॥'

किसी का हृदय बत्ती की तरह वियोग की अग्नि में जल जल कर नष्ट होता रहता है।

'यहाँ तक आतिशे फुरकत ने तेरी मुझ को फूका है
रगें जो जलती रहती हैं चिरागे दिन में बत्तीसी[2]'

घनानंद की विरहानुभूति अपनी मार्मिकता, सत्यता तथा निश्छलता के कारण उक्त दोनों प्रकारों से भिन्न है। इनका कारण कवि का व्यक्तिगत विरह है। बुद्धि बल से वर्णन करने के विपरीत अपनी मति, गति, खोकर लिखने वाले वे हैं[3]। उन्होंने विरह से अपने शरीर को संतप्तकर बन में रह कर प्रेम के प्रण का निर्वाह किया था।

'विरह सौं तायौ तन निबाह्यौ बन साचोपन
धन्य घनआनँद मुख गाई सोई करी है[4]।'

फलतः विरह का एक एक शब्द कवि के हृदय की मर्म कथा कहता प्रतीत होता है। इन स्थलों पर कवि अभिधावृत्ति द्वारा भावाभिव्यक्ति में ही व्यस्त रहता है। उक्ति के चमत्कार की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। यही वह सबसे बड़ा गुण है जिसके कारण ये स्वच्छंद प्रवृत्ति के कवि कहे जाते है। जहाँ विरह बौद्धिक है वहाँ प्रदर्शन की प्रचुरता है। पर

१—घनानंद ग्रंथावली भूमिका पृ० ३३ पर उद्धृत।

२—सौदा—अ० प० गोयलीय की शेर ओ शायरी में उद्धृत।

३—हित वृन्दाबनदास कृत 'हरि कलावेंति।

४—देखिए सुहि १७८ तथा घनानंद ग्रं० प्रकीर्ण ११।

मिलन में अनमिलन की कुशल वर्तमान रहती है। फलतः संयोग हो या वियोग चटपटी चाह में पड़े हुए मन की दशा बड़ी छटपटी हो जाती है।[2]

कारण कुछ भी हो; घनानंद के चिंतन में विरह की सर्वोपरि प्रधानता है। जिन गुणों के लिये वे प्रसिद्ध हैं और जिनके द्वारा रीतिमार्ग से वे पृथक् होते है वे सब विरह में ही अभिव्यक्त हुए हैं। भावों की सूक्ष्मता, सहजता, मार्मिकता, आवेग, आंतरिकता आदि विशेषताएँ विरह में ही प्राप्त होती है।

भेद

रसाचार्यों ने विरह के चार भेद किए हैं। पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। रीतिमार्गी [illegible] रीतिपालन के लिये प्रायः चारों प्रकार दिखाए हैं। स्वाभाविक है कि उन सभी की अभिव्यक्ति रीतिपालन के लिये भले ही हो, कवि का अभिनिवेश सब में नहीं हो सकता। अनुभूति भी सबकी नहीं हो सकती। घनानंद की दृष्टि इन भेदों पर नहीं गई है। वे आकार के संवारनेवाले नहीं हैं। प्राणों का निःश्वास प्रश्वास प्रकट करते हैं। इस अर्थ में भी वे स्वच्छंदमार्गी सिद्ध होते हैं। शास्त्रीय परंपरा का कवि काव्य के वाह्य भेद, छंद, आकार, [illegible] के स्वरूप आदि को बुद्धिपूर्वक सजाता है और स्वच्छंदमार्गी भावों की सीधी सादी अभिव्यंजना करता है[3]।

'भावना भेद सरूपं को जानै।'

वर्णन इनकी शुद्धि की उपचेतनावस्था का परिणाम है यह उन्होंने स्वयं कहा है।

'समझि समझि बातें छोलिबो न काम आवे
छावै घनआनँद सु जोलौं नेह बौराई'

इन सबके कारण इनके काव्य में विरह के समस्त भेद नहीं मिलते। पूर्वरागजन्य और प्रिय की कठोरता से उत्पन्न विरह अधिक वर्णित हुआ है। यत्र तत्र प्रवासजन्य के दर्शन होते है। निर्मोहजन्य विरह का सबसे अधिक प्राचुर्य है। यह भेद रीति की परंपरा में मान के अंतर्गत विद्यमान

२. सुहि० ७६१

३. देखिए स्वच्छंद मार्ग प्रकरण

था पर उसका स्वरूप इनसे कुछ भिन्न होता है। मानिनी नायिकाएँ ही होती थीं। इधर ऐसी बात नहीं है। इनका स्वरूप निम्न प्रकार का है।

पूर्वराग

'प्रिय के दर्शन के बाद आँखें उसी की चेरी हो गई हैं। लौटाने से भी लौटती नहीं। रूप से तृप्त होकर वहीं संलग्न हो गई हैं। प्राणों को साथ लेकर परवश बन गई है। इन्होंने प्रेम की बेड़ी व्यर्थ ही पैरों में डाल दी।

नेत्र अब किसी को देखते ही नहीं। वे पुतलियों में अखिल की तरह लटकते रहते हैं। ठहरने के लिये कोई स्थान नहीं। मूँदें तो बड़ी आकुली होती है। यह नई असाध्य व्याधि भगवान ने दे दी है।

प्रिय का रूप देख कर मन, मति, गति, नेत्र आदि अपने वश में नहीं रहे। प्रिय ही नेह लगा कर रूखा हो जाए तो कैसे काम चले। चकोर तो चंद्रमा के प्रेम में ही चिनगारियाँ चुगता है।[1]

प्रवास

'सब तो ये साथ थे। अब उन्हें यह कैसे अच्छा लगा कि सब सुखों को साथ लेकर मुझे वियोग देकर चले गए। रसरंग से सींचे इन अंगों को अनंग के हाथों सौंप कर हृदय में विषम विषाद की बेल बोकर चले गए। ये निगोड़े प्राण उनके पीछे क्यों न लगे। अब मैं बड़ी अधीर हूँ। पीड़ा की भीड़ ने अकेली मुझे घेर लिया है।

'भाग्यवश प्रिय परदेश में हैं। जीव इसलिये जीवित है कि यह कोई नई बात नहीं है। जो पड़ती है सो सहते हैं। किसे कहें। सारा संसार शून्य हो गया है। घनआनंद कहीं नहीं मिलते। मन तो वियोग में चेतना खोकर बैठा है और मित्र ने भूल कर भी सुधि नहीं ली।'[2]

निर्मोहजन्य

'पहले उन्होंने मीठी मीठी बातें कहकर स्नेह प्रदर्शित किया। स्वयं ही फिर वियोग की अग्नि लगाकर विश्वासघात किया। अब प्राण तो

१—सु० हि २, ७, २५

२—वही १८३, ४९२

निकलना चाहते हैं पर आशा का पाश उनके गले में फँसा हुआ है, इसलिए वे आस पास फिरते ही रहते हैं। न निकलते हैं न सुख से रहते हैं।

'हे प्रिय सुजान, तुम्हारे गुणों ने हृदय को बांध लिया है। फिर भी तुमने मेरी सुधि छोड़ दी यह बड़े आश्चर्य की बात है। अपने प्रेम में रँग कर तथा प्रकट रूप से अनुराग दिखाकर अब दृष्टि बचाते हो?'

'पहले संदेशा मिल जाता था। इससे मेल सा मान लेते थे पर अब उसका भी अंदेशा रह गया। अब किस आशा से जीवित रहा जाए। हृदय में उद्वेग की अग्नि भड़क उठी है। रोम-रोम में पीड़ा है। तुमने हृदय अत्यन्त कठोर कर लिया। मोह मिटा डाला। हे जान प्यारे! निकटवर्ती होकर भी दूर की चोट मारते हो[१]।

अनुभूति

कवि के वियोग वर्णन की विशेषता उसकी अनुभूति में है। इस विषय में यह हिंदी के रीतिमार्गी कवि तथा उर्दू फारसी के शायर दोनों से भिन्न सिद्ध होते हैं। रीतिमार्गी लोग बुद्धि के बल से शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार विरह का वर्णन करते हैं, व्यक्तिगत अनुभूति का नहीं। उन्होंने 'हिय आखिन नेह की पीर' नहीं तकी थी। कवि की वैयक्तिकता केवल उसके उक्ति वैचित्र्य मे रहती है। इसलिए यह वैचित्र्य इतना बढ़ा कि अतिशयोक्ति का आश्रयण करना स्वभाव सा बन गया। बिहारी, पद्माकर, देव जैसे उच्च कोटि के कवि भी इसी आवर्त में पड़े हुए दिखाई देते है। परिणाम स्वरूप कविता में न कोई मार्मिकता रही न सत्यता। शंकर का निम्न लिखित पद्य इसका निदर्शन है।

'शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अंबर ते ऊँची चढ़ि जायगी।
झारेंगे अंगारे, वे तरनि तारे तारापति
या विधि खमंडल में आग मढ़ि जायगी।
दोनों ओर छोरन लौं पलमें पिघलकर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी।

१—वही—६९, ८७।

काहू बिधि बिधि की बनावट बचैगी नाहि
जौ पै वा वियोगिनी की आह कढ़ि जायगी।[1]

बिहारी की अतिशयोक्तियाँ इस विषय में प्रसिद्ध ही हैं। इन सबका कारण अनुभूतियों में निजत्व का अभाव है।

उर्दू फारसी के कवियों में भी यही तत्त्व विद्यमान है। सत्यानुराग के अभाव की पूर्ति उक्तिवैचित्र्य और अतिशयोक्तियों से वहाँ की जाती है। किसी के आँसू एकत्र होकर समुद्र बन गए हैं।

'समुन्दर कर दिया नाम उसका नाहक सबने कह कर।
हुये थे जमा कुछ आँसू मेरी आँखों से बह बह कर।'

किसी का हृदय बत्ती की तरह वियोग की अग्नि में जल जल कर नष्ट होता रहता है।

'यहाँ तक आतिशे फुरकत ने तेरी मुझ को फूका है
रगें जो जलती रहती हैं चिरागे दिन में बत्तीसी[2]'

घनानंद की विरहानुभूति अपनी मार्मिकता, सत्यता तथा निश्छलता के कारण उक्त दोनों प्रकारों से भिन्न है। इनका कारण कवि का व्यक्तिगत विरह है। बुद्धि बल से वर्णन करने के विपरीत अपनी मति, गति, खोकर लिखने वाले वे हैं[3]। उन्होंने विरह से अपने शरीर को संतप्तकर बन में रह कर प्रेम के प्रण का निर्वाह किया था।

'विरह सौं तायौ तन निबाह्यौ बन साचोपन
धन्य घनआनँद मुख गाई सोई करी है[4]।'

फलतः विरह का एक एक शब्द कवि के हृदय की मर्म कथा कहता प्रतीत होता है। इन स्थलों पर कवि अभिधावृत्ति द्वारा भावाभिव्यक्ति में ही व्यस्त रहता है। उक्ति के चमत्कार की ओर उसका ध्यान हो नहीं जाता। यही वह सबसे बड़ा गुण है जिसके कारण ये स्वच्छंद प्रवृत्ति के कवि कहे जाते हैं। जहाँ विरह बौद्धिक है वहाँ प्रदर्शन की प्रचुरता है। पर

१—घनानंद ग्रंथावली भूमिका पृ० ३३ पर उद्धृत।

२—सौदा—अ० प० गोयलीय की शेर ओ शायरी में उद्धृत।

३—हित वृन्दाबनदास कृत 'हरि कलावेलि'।

४—देखिए सुहि १७८ तथा घनानंद ग्रं० प्रकीर्ण ११।

आनंदघन की वियोग कथा आंतरिक है। वह प्रगट होना नहीं चाहती। प्राण पीड़ा का चीत्कार भी करते हैं तो मौन में करते हैं। विरही का जीव अंदर ही अंदर घुटता रहता है। प्राण आंतरिक अग्नि में तचते रहते हैं। अंग उसीजता है। जीव मसोसों की उमस से व्याकुल है। प्रिय की स्मृति भाले की नोक की तरह कसकती है। इस मन्मथ पीड़ा से घर भी भारसी सा लगता है।[१]

करुण रस के प्रसिद्ध कवि भवभूति ने भी सच्ची व्यथा का ऐसा ही स्वरूप बताया है। वह गंभीर होने के कारण बाहर प्रगट नहीं होती अंदर ही अंदर पुटपाक की तरह पक पक कर घनीभूत होती रहती है।[२]

८—आशा निराशा

इसी प्रकार कभी निराशा हृदय पर छा जाती है तो कभी आशा का संचार होने लगता है। निराशा में वियोगी कहने लगता है, कि 'प्रिय तुम कब आओगे, इधर तो बहीर के समान समस्त आयु लद चुकी है, जो प्राण पखेरू प्रियरूप के चुगे को देखकर उसके गुणों के फंदे में फँस गए थे अब वे तड़प रहे हैं, हे सुजान ! प्रेम से इन्हें पाल कर वियोग के हाथों में निर्दयता से इन्हें क्यों मारते हो ? अब तो अवधि का सूर्य भी अस्त होने वाला है, अपने मुखचंद्र को दिखाओ'[३] कभी विरही उस दिन की आशा में प्रसन्न होता है जब प्रिय की शृंगार मूर्ति नेत्रों का अंजन बनेगी। कपोलों से उनके पैर माजे जाएंगे। प्रिय के अंग अंग की शोभा में अपने अंग डुबा कर अनंग-पीड़ा दूर की जाएगी। हृदय जो दलक गया है वह उनकी ढरकौंही बान से रंज आएगा, वह उस दिन की आशा लगाये है जब उसके नेत्रों के आँसू प्रिय के पैर पखारेंगे।[४]

९—उन्माद और चेतना

मनोवेग प्रधान काव्य में भावावेग का आना स्वाभाविक है। विषाद की चरमावस्था उन्माद में होती है, जब बुद्धि अपनी चेतना खोकर विक्षिप्त

१—देखिए सुहि० १७० तथा घ० ग० प्रकीर्ण ११

२—अनिर्भिन्नो गभीर त्वादन्तर्गूढ घनव्यथः, पुट पाक प्रतीकाशो रामस्य करुणोरसः। उत्तर रामचरित अंक ३, पद्य १

३—वही ४६।

४—वही १२८, ५६।

'प्राण पीड़ा की असह्यता के कारण शरीर से बाहर निकलना चाहते हैं पर आशा का पाश उनके गले में पड़ा है। फलतः वह आस पास घिरते रहते हैं। सुजान के दर्शनों के लिये तरस तरस कर कभी वे आँखों में आ बसते हैं। दमघुटे होकर दिन रात लालसा में ही लपेटे रहते है। मिलन के सुख का स्मरण कर कमर से आशापट कसते रहते हैं। प्रिय के रूप को चुगा समझ कर पक्षियों की तरह उसपर जा बैठे थे पर वियोग व्याध ने उन्हें मार डाला। वे कभी इस आशा से आँखों में आते हैं कि प्रिय के दर्शन होंगे, कानों में इस लालसा से आ बसते हैं कि उनकी वचनसुधा पीएँगे। इस तरह स्थान स्थान की सम्हाल करते हैं कि किसी तरह उनकी सम्हाल हो जाए। कभी इस बात से बैठे बैठे मुरझाते हैं कि हम न्यौछावर क्यों न हो सके।[१]

११—नेत्र

'नेत्रों की दशा भी इसी के समान बड़ी दयनीय है। वे पीर की भीर में अधीर हो गए हैं। झरनों की तरह बहते हैं। इसी बहाव में सारी मर्यादा बह चुकी है। आँसू घी की धार बनकर वियोगाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित करते हैं। हृदय जला जाता है। नेत्र प्रिय को देखने की एक टेक पकड़ कर सारा विवेक खो चुके हैं। न जाने किस प्यास की पीड़ा से भरे हैं कि जल रिताते रहते हैं। कहने को तो ये मेरे हैं पर मुझसे रंच मात्र भी इन्हें मोह नहीं। जब से उन्होंने सुजान को देखा है तबसे अन्य किसी को पहचानते ही नहीं।

'आँखें यदि प्रिय को न देखें तो फिर देखें भी क्या? प्रिय के दर्शन के अतिरिक्त इनका अन्य कोई मूल्य नहीं; दर्शन की भूख तो भस्मक रोग सी उग्र है पर आँखें सदा लंघन से रहती हैं।

'जिन्हें वे नित्य देखा करती थीं उनके लिये अब रोती हैं। उनके पैरों के पाँवड़े अपने आँसुओं से धोती हैं। प्रिय को बिना पाए स्वप्न में उन्हें खो देती हैं। जान नहीं पड़ता कि ये खुली हैं या मुँदी। ये जागने पर भी सोती हैं।

'उन्होंने जब से आने की अवधि बदी है, आखें प्रतीक्षा में रास्ता नाप रही हैं। लाखों अभिलाषाओं में भरी वे विरहिनियों के रोमांच से काँपती हैं। पलकों के पावड़े बनाकर टकटकी लगाए हुए हैं।

१—वही ३२१, ३४८, ४५८।

'इस निरंतर पीड़ा से निराश होकर प्रेमी निश्छल भाषा में प्रिय से पूछता है। 'क्या ये आँखें आपके रूपसुधारस के ध्यान में नहीं सदा आँसू ही ढाला करेंगी? मिलने की साध जब असाध्य हो गई तो क्या ये इसी प्रकार अपना जीवन हरेंगी? क्या ये इसी प्रकार मरा करेंगी? हे आनंद के घन मित्र सुजान, क्या ये यों ही जला करेंगी'।

१२—ध्यान

'प्रिय का ध्यान वियोग की बहुत बड़ी सांत्वना है। प्रिय दूर रहे फिर भी ध्यान के बल से वह निकट हो निकट दिखाई देता है। प्रेमी ने वियोग के अनेक व्यवधानों में ध्यान द्वारा प्रिय को फानूस का दीपक बनाकर हृदय में रख लिया है। नेत्र पतगों के समान इसके आसपास मँडराते है। इस प्रकार मन के सिंहासन पर विराजमान रहते प्रिय दूर नहीं कहा जा सकता। दुःख यही है कि वह दृष्टि के आगे आगे डोलता है पर बोलता नहीं।

'प्रिय हृदय में रहता है पर सुख नहीं मिलता। वियोग में जो दिन रात दुःख अनुभूत हो रहे है, उन्हे यदि कहा जाय तो अनुभूति और कथन में दिन रात का अतर पड़ जाए।

'प्रिय के मुँह फेरते ही ध्यान संमुख हो जाता है। प्रिय पृथक् हो जाता है पर यह भूलकर भी पृथक् नहीं होता। प्रिय दुखदाई है और यह सुखदाई। प्रिय अमोही है तो यह मोहवान। यदि ध्यान न हो तो विरह बहुत कुछ सह्य हो जाए।

ध्यान के कारण समस्त जगत् प्रियमय दिखाई देता है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ प्रिय के दर्शन न होते हों।[2]

१३—अध्यात्म

ध्यान के कारण ही विरह के वर्णन में आध्यात्मिक भावों का रहस्यवाद की शैली से यत्रतत्र आभास मिलता है। ध्यानप्रवण वियोगी अपने हृदयदेश में जब प्रिय के दर्शन करता है तो पूज्य बुद्धि के सहारे प्रिय में परमेश्वर की अतर्यामिता तथा व्यपकता का वर्णन समासोक्तिपद्धति से हो जाता है। प्रिय का ध्यान प्रस्तुत है, परमेश्वर की भावना अप्रस्तुत। वस्तु

१—वही, ३२१, ३५८, ४५८।

२—वही, ६४, २०७, ३१०, ४७८।

मर्यादा भी विरही भावना के लोक में इतना ऊँचा चढ़ जाता है कि उसे प्रिय तथा परमेश्वर का अभेद प्रतीत होने लगता है।

कवि का अप्रस्तुत भी कुछ इस स्वभाव का है कि उसमें अप्रस्तुत अध्यात्म का आरोप बड़ी सरलता से हो गया है। यहाँ प्रिय आनंदघन है जो आकाश में छाया रहता है। इससे परमेश्वर की व्यापकता की व्यंजना हो जाती है। उनका प्रिय सुजान है इससे अप्रस्तुत की सर्वज्ञता की अभिव्यक्ति होती है। प्रिय का हृदय में निवास परमेश्वर की अंतर्यामिता का व्यंजक बन जाता है।

'विरही आत्मनिवेदन करते हुए कहता है कि मन तुम्हें जिस प्रकार चाहता है वह अन्यथा कैसे जाय। तुम सुजान हो। प्राणों की तुम्हीं एक मात्र गति हो। बुद्धि, स्मृति, नेत्र और वाणी सबमें तुम्हारा निरंतर वास वर्तमान है। अब तो संसार भी दृष्टि से हट गया है। प्रिय घन, तुम्हीं छाए हुए हो। मन चातक की तरह तुम्हारी ओर देख रहा है।'

'अंतर में रहते हो पर प्रवासी का सा अंतर अर्थात् भेद वर्तमान रहता है। न मेरी सुनते हो न अपनी कहते हो। नेत्रों के तारे बन कर सूझते हो पर सूझता कुछ नहीं। हो तो जानराय पर जाने नहीं जाते इसलिए अजान हो। हे आनंद के घन, छा छा कर उघड़ जाते हो। अपनी कृपा की मूर्ति दिखाओ। हमें खो कर क्या लाभ उठाओगे?[1]

१४ विरही की रहनि

'विरह के कष्टों में विरही किस प्रकार अपना जीवन यापन करता है इस का सामूहिक चित्र भी आनंदघन जी ने दिया है। इस चित्र में इतनी सत्यता प्रतीत होती है कि वह कवि के भावात्मक जीवन का ऐतिह्य सा लगता है। उनका प्रेमकाल तथा भक्तिकाल आसक्ति, लगन और अनुभूति की दृष्टि से समान ही बीता था। जैसा एकनिष्ठ प्रेम सुजान से था वैसा ही कालांतर में श्री कृष्ण से हो गया। फलत: रचना चाहे किसी काल की हो कवि की वह आत्मकथा ही है। इस संकेत से लिखे गए पद्यों का महत्व इस दृष्टि से बहुत बढ़ जाता है। प्रेमी की रहनि इस प्रकार है :—

---

१. सु० हि० २६५, २७१।

मृत्यु के लक्षणों का वर्णन भी मिलता है, जैसे :—बहुत दिनों से अवधि की आसा से प्राण पड़े थे वैसे ये निकलने के लिये व्याकुल थे। मनभावन के आगमन का संदेश दे दे कर उन्हें अब तक रखा गया था। पर उन झूठे विश्वासों पर अब वह नहीं ठहरते। प्रयाण कर अधरों पर आ लगे हैं। सुजान का संदेश लेकर अब वह चलना चाहते हैं।[1]

किंवदंती है कि मरते समय ही आनंदघन जी ने यह पद्य कहा था। यह ऐतिह्य तो प्रमाणपुष्ट नहीं है पर रसमीमांसा से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह वर्णन भी रीतिपरंपरा के अनुसरण से बुद्धिपूर्वक किया गया नहीं है। भावविभोर हृदय की निश्छल सहज अनुभूति है।

१५—उपालंभ

यह बताया जा चुका है कि विरह का प्रमुख कारण प्रिय की उदासीनता और निरमोह है। विरही अपने प्रेम की अडिग एकनिष्ठता तथा प्रिय की प्रेमउदासीनता दोनों का समान अनुभव करता है। इसी वैषम्य को जो प्रिय के संबोधन से प्रकट किया गया है वह उपालंभ है। विरही के कष्टों का जो वर्णन है वह तो विरहसंदेश है। विषम प्रेम में उपालंभ का अवकाश अधिक रहता है। फलतः आनंदघन जी की विरह रचनाओं में उपालंभ के पद्यों की संख्या अधिक है। उनमें विरही अपने को हीन, दुखी, विनीत और अनन्य प्रेमी तथा प्रिय को महान सुखी, छली, चंचलचित्त एवं प्रेमहीन अनुभव करता है। पर प्रिय की इस अप्रिय दशा से विरही की टेक में कोई अंतर नहीं आता। वह अपने प्रेम का निर्वाह अंतिम श्वास तक ज्यों का त्यों करता रहता है।

प्रिय और प्रेमी की स्थिति में कुछ मौलिक अंतर है। इसके कारण सुख दुःख का वैषम्य स्वाभाविक है। विरही कभी इसे ध्यान में रख कर विरहपीड़ा को अपना भाग्य समझ लेता है। वह कहता है—

'तुम्हें कैसे उलाहना दें। हमारे बांट में सुधि और तुम्हारे बांट में भूल है। जीवन प्राण सुजान ? हम तो तुम्हारी बातों से ही जीवित रहते हैं। 'तुम सदा सुखी हो। किसी बात की चाह नहीं है। पर हमारा भी

१—वही ५४।

आर्शीवाद लीजिए। हे कृष्ण ? तुम बहुतों में पले हो। अकेलेपन की वेदना क्या समझो। तुम मनमोहन हो स्वयं कहीं पर मुग्ध नहीं होते। फिर मनोव्यथा का तुम्हें क्या पता। हे आनंद के घन, तुम्हें आर्त पपीहों की क्या पहचान ?[१]

विरही का उपालंभ यहाँ तक है कि प्रिय बधिक से भी अधिक निर्दय और निर्मम है। बधिक मार कर अपने वध्य की सुधि लेता है पर प्रिय बिलकुल ही भूल जाता है।

सातवाँ परिच्छेद

प्रेम तत्व

"हिय आखिन नेह की पीर तकी"

आनंदघन जी द्वारा अनुभूत प्रेमतत्व का विचार करने से पूर्व यह प्रासंगिक प्रतीत होता है कि इसके लक्षण तथा साहित्य में किए गए प्रयोग पर सूक्ष्मतया विचार कर लिया जाए। इस पृष्ठभूमि पर कवि के कृतित्व का भली भाँति परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

१—शब्द निरुक्ति—

प्रेम 'प्रिय' शब्द का भाववाचक रूप है। 'प्रिय' शब्द का अर्थ है तृप्तिकारक। (प्रीणातीति प्रियः।) उसके भाववाचक रूप का अर्थ हुआ 'तृप्ति'। प्रेम शब्द से हृदय के उस तृप्तिरूप आनंद का संकेत होता है जो हमें किसी विषय के दर्शनादि से मिलता है।

२—लक्षण

सबसे पूर्व प्रेम के लक्षण पर विचार किया जाता है। वैष्णव विद्वानों ने प्रेम-लक्षणा-भक्ति के प्रसंग से लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार के प्रेम-तत्वों का विचार किया है। भक्ति-निरपेक्ष शारीरिक प्रेम का किसी विद्वान ने शास्त्रीय पद्धति से विमर्श नहीं किया। काम शास्त्रादि ग्रंथों में शृंगार का विवेचन अवश्य किया गया है। अतः नीचे कतिपय वैष्णव आचार्यों द्वारा निश्चित किए गए प्रेम के लक्षण दिए जाते हैं।

प्रेमरसायन ग्रंथ के रचयिता श्री विश्वनाथ ने बड़े विस्तार तथा गांभीर्य के साथ इसका विश्लेषण किया है। उनके अनुसार चित्तरूपी समुद्र में जब सत्व गुण का जल भर जाता है तो उसमें दृष्टि, परिचय, हार्द, तथा प्रेम नाम की चार प्रकार की तरंग उठा करती है। प्रेम का मूलोपादान आत्मा का सत्व गुण है। विषय तो केवल निमित्त कारण है। वह उद्दीपन है और भाव की जिस स्थिति को प्रेम कहते हैं वह अनुभूति की चरम कोटि है। उससे पूर्व तीन विकास क्रम दृष्टि, परिचय और हार्द

समाप्त हो लेते हैं। इनमें दृष्टि चित्त की वह वृत्ति है जिसमें चंचल चित्त विषय की ओर हठात् प्रवृत होता है। परिचय से विषय के विविध संस्कार मन में उत्पन्न होते हैं। दोषों पर ध्यान न देना हार्द है जीव में आत्मा का ही रूप जो रस है वह जिस उपाधि का आश्रय लेकर शृंगार बनता है वह उपाधि प्रेम है; अर्थात् प्रेम रसमय आत्मा के बहिर्विकास का साधन है; उसी का अंगभूत तत्व है।[१] अपने सिद्धांत की स्थापना से पूर्व इसी ग्रंथ में विश्वनाथ ने शांडिल्य, भारत, अभिनव गुप्त तथा गुणाकर के प्रेम लक्षणों का विवेचन किया है। उसके आधार पर निम्नलिखित मतसंग्रह किया जाता है।

शांडिल्य के अनुसार अंतःकरण की वह वृत्ति, जिससे वस्तु के संयोग काल में भी वियोग सा बना रहता है प्रेम है।[२] इसके टीकाकारों ने यह भी इसका अर्थ किया है कि योग में वियोग और वियोग में योग दोनों प्रकार की भावनाएँ प्रेमजनित होती हैं। आनंदघन की रचनाओं में यह अनुभूति स्थान स्थान पर मिलती है। वियोग के भय, अभिलाषातिरेक, आश्चर्यानुभूति आदि के कारण संयोग में वियोग तथा ध्यान के सातत्य से वियोग में संयोग इनके प्रेमी के हृदय में बने रहते हैं।

कुछ लोगों ने भोग पर्यवसायी सौहार्द को ही प्रेम बताया है। पर विश्वनाथ ने मुकुंदनादि के भियरहित प्रेम का निदर्शन दे कर इसका खंडन कर दिया है :

आचार्य भरत ने चित्त की द्रवावस्था[३] को प्रेम बताया है। द्रवीभूत चित्त से संयुक्त इंद्रियाँ विषय का ज्ञान नहीं कर सकतीं।[४] क्योंकि इसके लिये कठिन चित्त के संयोग की अपेक्षा होती है। द्रवीभूत हृदय का आसक्तिपूर्वक विषयसंसर्ग भावना कहलाती हैं। स्नेहजन्य द्रव से उद्भूत भावना को प्रेमभावना कहते हैं।

१—प्रेम रसायन, लक्षण खंड।

२—योगेवियोग वृत्तिः प्रेम।—शांडिल्य।

३—मिलाइये आनंदघन—'अग अंग आभा संग स्रवित द्रवित ह्वै कै' सु०हि० २११।

४—मिलाइए आनंदघन—'भूलै सुधि सातौदसा विवस गिरत गातो'।

आचार्य अभिनवगुप्त इच्छाविशेष को प्रेम कहते[1] हैं। यह इच्छा विषयलाभ से संतुष्ट नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती है। यह मत एक प्रकार से शांडिल्य के लक्षण के समनुगत ही है। संयोग में भी वियोग की सी व्याकुलता इच्छातिरेक से ही हो सकती है। यह इच्छा दोषदर्शन से भी समाप्त नहीं होती। विषयलाभ से समाप्त होनेवाली इच्छा को 'हार्द' और दोषदर्शन से लुप्त होनेवाली इच्छा को सौहार्द कहा जा सकता है। 'भाव चन्द्रिका' के लेखक गुणाकर ने दोषदर्शन से हटनेवाले स्नेह को हार्द तथा अक्षुण्ण बने स्नेह को सौहार्द बताया है। गुणाकर सौहार्द को ही प्रेम पदवी देते हैं। विश्वनाथ प्रेम को 'हार्द' तथा सौहार्द दोनों से लक्षण मानते हैं। प्रेम में दोषाभाव की ओर भी आग्रह नहीं होता और लाभ से उसमें कृतार्थता नहीं आती। प्रेम का कोई विषय भी नियत नहीं। किसी भी विषय के प्रति हृदय का प्रेमभाव हो सकता है। लौकिक अलौकिक भेद तात्विक नहीं है। उभयत्र प्रेम जात्या एक ही है। भेद केवल विषय निबंधन से होता है। विश्वनाथ के अनुसार प्रिय प्रेमी नहीं हो सकता।[2]

नारद-भक्ति-सूत्र में प्रेम को अनुभवैकगम्य माना है। वह वाणी का विषय नहीं है। मूकास्वादवत् अनिर्वचनीय है। यह पहले तो विषयजन्य होता है। गुणों के कारण उत्पन्न होता है। पर बाद में भावात्मक, विषयानपेक्ष बन जाता है।[3]

उज्वलनीलमणिकार जीव गोस्वामी ने प्रेम को ऐसा सांद्र भाव माना है जो हृदय को स्निग्ध करता हो और ममत्व के अतिशय से संयुक्त हो।

सम्यङ् मसृणितस्वांतो ममत्वातिशयांकित:
भाव स एव सांद्रात्मा बुधै: प्रेमा निगद्यते।"

(उ० नी० म० दक्षिण लहरी श्लोक १२)

१—देखिए भाव प्रकरण में अभिलाष वर्णन।

२—य: प्रेम विषयो लोके स प्रेमाधारतां व्रजेत्। इति नैवास्ति नियमो विपरीतावलोकनात्। प्रेम रसायन लक्षण खंड ७३।

३—अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम् मूकास्वादनवत्।
गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम्, अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरम् अनुभवरूपम्। नारद भक्ति सूत्र ५१, ५२

चैतन्य चरितामृत में भी इसी से मिलता जुलता लक्षण है। उसके अनुसार साधनाभक्ति से रति का उदय होता है। वही रति प्रगाढ़ होकर प्रेम बन जाता है,

'साधनाभक्ति हते हय रतिर उदय।
रति गाढ हइ ले तारे प्रेम नामे कय॥'

इन समस्त लक्षणों में प्रेम को सात्विक हृदय की भावना माना है। शारीरिक मनोविकार के रूप में किसी विद्वान ने इसका विमर्श नहीं किया। इसके लिये मनोविश्लेषक फ्रायड का सिद्धांत प्रसिद्ध है। उनके अनुसार प्रेम यौनवासना है। यही समस्त भावों के मूल में रहती हैं। वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति आदि सब इसी के भेद हैं। इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति बुद्धि की उपचेतन दशा में होती है। चेतनावस्था में तो सामाजिक मर्यादाएँ अभिव्यक्ति पर आवरण डाले रहती हैं। आधुनिक मनीषी श्री परशुराम चतुर्वेदी ने "हिंदी काव्य में प्रेम प्रवाह" नामक अपनी पुस्तक में प्रेम की व्याख्या निम्न प्रकार से की है।

"प्रेम शब्द का अभिप्राय साधारणतः उस मनोवृत्ति से लिया जाता है जो किसी व्यक्ति की दूसरे के संबंध में उसके रूप, गुण, स्वभाव, सांनिध्य आदि के कारण उत्पन्न कोई सुखद अनुभूति सूचित करती हो तथा जिसमें उस दूसरे के हित की कामना बनी रहती है।[१]"—प्रीति को परम पुरुषार्थ मानकर 'प्रीति संदर्भ' पुस्तक में उसका यह लक्षण किया है कि 'जैसी अविवेकी लोगों की विषयों में अनपायिनी आसक्ति होती है उसी प्रकार की भगवान में आसक्ति हो तो उसे प्रीति कहते हैं।[२]'

इसमें सांसारिक विषय और भगवान की प्रीति एक रूप ही मानी है। पहली माया की वृत्ति है दूसरी साक्षात् परमेश्वर की शक्ति की वृत्ति। प्रीति और प्रियता दो पृथक् पृथक् भाव हैं। प्रीति सुख है इसके पर्याय हैं मुद, प्रमुद, हर्ष, आनंद आदि। प्रियता अनुभूति है। इसके पर्याय हैं भाव, सौहार्द हार्द आदि। प्रीति में उल्लासात्मक ज्ञान होता है। प्रियता में विषयों को

१—हिंदी काव्य में प्रेम प्रवाह, पृ० १।
२—या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सामे हृदयान्नापसर्पतु।
(विष्णुपुराण) प्रीतिसंदर्भ ५०, ७१८ पर उद्धृत।

आचार्य अभिनवगुप्त इच्छाविशेष को प्रेम कहते[1] हैं। यह इच्छा विषयलाभ से संतुष्ट नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती है। यह मत एक प्रकार से शांडिल्य के लक्षण के समनुगत ही है। संयोग में भी वियोग की सी व्याकुलता इच्छातिरेक से ही हो सकती है। यह इच्छा दोषदर्शन से भी समाप्त नहीं होती। विषयलाभ से समाप्त होनेवाली इच्छा को 'हार्द' और दोषदर्शन से लुप्त होनेवाली इच्छा को सौहार्द कहा जा सकता है। 'भाव चन्द्रिका' के लेखक गुणाकर ने दोषदर्शन से हटनेवाले स्नेह को हार्द तथा अक्षुण्ण बने स्नेह को सौहार्द बताया है। गुणाकर सौहार्द को ही प्रेम पदवी देते हैं। विश्वनाथ प्रेम को 'हार्द' तथा सौहार्द दोनों से लिक्षण मानते हैं। प्रेम में दोषाभाव की ओर भी आग्रह नहीं होता और लाभ से उसमें कृतार्थता नहीं आती। प्रेम का कोई विषय भी नियत नहीं। किसी भी विषय के प्रति हृदय का प्रेमभाव हो सकता है। लौकिक अलौकिक भेद तात्विक नहीं है। उभयत्र प्रेम जात्या एक ही है। भेद केवल विषय निबंधन से होता है। विश्वनाथ के अनुसार प्रिय प्रेमी नहीं हो सकता।[2]

नारद-भक्ति-सूत्र में प्रेम को अनुभवैकगम्य माना है। वह वाणी का विषय नहीं है। मूकास्वादवत् अनिर्वचनीय है। यह पहले तो विषयजन्य होता है। गुणों के कारण उत्पन्न होता है। पर बाद में भावात्मक, विषयानपेक्ष बन जाता है।[3]

उज्वलनीलमणिकार जीव गोस्वामी ने प्रेम को ऐसा सांद्र भाव माना है जो हृदय को स्निग्ध करता हो और ममत्व के अतिशय से संयुक्त हो।

सम्यङ् मसृणितस्वांतो ममत्वातिशयांकितः
भाव स एव सांद्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।"

(उ० नी० म० दक्षिण लहरी श्लोक १२)

१—देखिए भाव प्रकरण में अभिलाष वर्णन।

२—यः प्रेम विषयो लोके स प्रेमाधारतां व्रजेत्। इति नैवास्ति नियमो विपरीतावलोकनात्। प्रेम रसायन लक्षण खंड ७३।

३—अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम् मूकास्वादनवत्।
गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम्, अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरम् अनुभवरूपम्। नारद भक्ति सूत्र ५१, ५२

चैतन्य चरितामृत में भी इसी से मिलता जुलता लक्षण है। उसके अनुसार साधनाभक्ति से रति का उदय होता है। वही रति प्रगाढ़ होकर प्रेम बन जाता है,

'साधनाभक्ति हते हय रतिर उदय।
रति गाढ हइ ले तारे प्रेम नामे कय॥'

इन समस्त लक्षणों में प्रेम को सात्विक हृदय की भावना माना है। शारीरिक मनोविकार के रूप में किसी विद्वान ने इसका विमर्श नहीं किया। इसके लिये मनोविश्लेषक फ्रायड का सिद्धांत प्रसिद्ध है। उनके अनुसार प्रेम यौनवासना है। यही समस्त भावों के मूल में रहती हैं। वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति आदि सब इसी के भेद हैं। इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति बुद्धि की उपचेतन दशा में होती है। चेतनावस्था में तो सामाजिक मर्यादाएँ अभिव्यक्ति पर आवरण डाले रहती हैं। आधुनिक मनीषी श्री परशुराम चतुर्वेदी ने "हिंदी काव्य में प्रेम प्रवाह" नामक अपनी पुस्तक में प्रेम की व्याख्या निम्न प्रकार से की है।

"प्रेम शब्द का अभिप्राय साधारणतः उस मनोवृत्ति से लिया जाता है जो किसी व्यक्ति को दूसरे के संबंध में उसके रूप, गुण, स्वभाव, सांनिध्य आदि के कारण उत्पन्न कोई सुखद अनुभूति सूचित करती हो तथा जिसमें उस दूसरे के हित की कामना बनी रहती है।[१]"—प्रीति को परम पुरुषार्थ मानकर 'प्रीति संदर्भ' पुस्तक में उसका यह लक्षण किया है कि 'जैसी अविवेकी लोगों की विषयों में अनपायिनी आसक्ति होती है उसी प्रकार की भगवान में आसक्ति हो तो उसे प्रीति कहते हैं।[२]'

इसमें सांसारिक विषय और भगवान की प्रीति एक रूप ही मानी है। पहली माया की वृत्ति है दूसरी साक्षात् परमेश्वर की शक्ति की वृत्ति। प्रीति और प्रियता दो पृथक् पृथक् भाव हैं। प्रीति सुख है इसके पर्याय हैं मुद, प्रमुद, हर्ष, आनंद आदि। प्रियता अनुभूति है। इसके पर्याय हैं भाव, सौहार्द हार्द आदि। प्रीति में उल्लासात्मक ज्ञान होता है। प्रियता में विषयों की

१—हिंदी काव्य में प्रेम प्रवाह, पृ० १।
२—या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सामे हृदयान्नापसर्पतु।
(विष्णुपुराण) प्रीतिसंदर्भ ५०, ७१८ पर उद्धृत।

अनुकूलता तथा तदनुसार विषयों की स्पृहा होती है। प्रियता में सुख का संनिवेश भी है पर इसके अतिरिक्त अंश भी इसमें वर्तमान हैं। प्रीति कर्त्र-पेक्ष होती है। प्रियता विषयापेक्ष। प्रीति का विपरीतार्थ दुःख है। प्रियता का द्वेष। सुख और दुःख का आश्रय पक्ष ही होता हैं विषय पक्ष नहीं। प्रियता का आश्रय पक्ष भी होता है और विषय पक्ष भी। सुख और दुःख के आश्रय क्रमशः शोभनकर्मा तथा अशोभनकर्मा प्राणी होते हैं। प्रियता और द्वेष के क्रमशः प्रेमी और द्वेषी। इनके विषय है क्रमशः प्रिय एवं द्वेष्य।

प्रीति भगवदालंबनक होने से भक्ति कहलाती है। इस विषयभेद से भाव में भी भेद हो जाता है। एक ही प्रकार के तिल जैसे गुलाब चमेली आदि के पुष्पों के संसर्ग से भिन्न भिन्न गंधवाले हो जाते है उसी प्रकार एक ही अनुभव माया अथच परमेश्वर दो विषयों के संसर्गभेद के कारण भिन्न स्वभाववाला हो जाता है। ये भेद हैं सात्विक, राजस तथा तामस। भगवद् विषयक प्रेम सात्विक होता है। यही भक्ति है। सत्व अर्थात् विष्णु या उसके आविर्भाव के किसी रूप में एकमन होकर स्वाभाविक और अनिमित्तक जो प्रेम किया जाता है वह भक्ति[१] है।

प्रेम के तीन श्रेणी भेद हैं—उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट। इनमे निकृष्ट प्रेम वह है जब कि दो मित्र एक दूसरे को किसी स्वार्थ के कारण प्रेम करते हैं। उनमें सौहार्द अर्थात् हृदय की उदात्तता नहीं होती; स्वार्थ होता[२] है। मध्यम प्रेम कर्तव्यपालन का रूप है जिसमें किसी भावांतर से प्रेरित होकर व्यक्ति दूसरों से प्रेम करता है—जैसे करुणाप्रेरित माता पिता संतान से प्रेम करते[३] हैं। श्रेष्ठ प्रेम में न स्वार्थ होता है न भावांतर की प्रेरणा। वह प्रेमपात्र की अनुकूलता की भी अपेक्षा नहीं करता। उसको

१—सत्वएवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या
अनिमित्ता भागवती भक्तिः — प्रीति संदर्भ, पृ० ७२५

२—मिथोभजंति ये सख्यः स्वार्थैकांतोद्यमाहिते
न तत्र सौहृदं धर्म स्वात्मानं तद्धिनान्यथा — वही पृ० ७२५

३—भजंत्यभजतो ये वैकरुणाः पितरोयथा
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः — वही

प्रतिकूलता में भी—अर्थात् प्रेमपात्र के प्रेम न करने पर भी—प्रेम करता रहता है। यही भक्ति है। यही श्रेष्ठ है।

प्रेम में आठ ऐसे गुण होते हैं जिनसे प्रेमी के चित्त का संस्कार होता है। वे ये हैं—

(१) उल्लास (२) ममता (३) विस्रंभ (४) प्रिय के गुणों का अभिमान (५) चित्त का द्रवीभाव (६) अतिशय अभिलाष (७) प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नवनवत्व की अनुभूति तथा (८) प्रिय संबंधी किसी विलक्षण गुण के कारण उन्माद।

(१) उल्लास

उल्लास मात्र की व्यंजक प्रीति 'रति' कहलाती है। इसके उत्पन्न होने से केवल प्रिय में ही प्रेम होता है। अन्य में तुच्छत्व बुद्धि हो जाती है।

(२) ममता

ममता उत्पन्न करनेवाली प्रीति 'प्रेमा' है। इसके उत्पन्न होने पर प्रीति भंग करने के हेतु न तो प्रेम के उद्यम को ही कम कर सकते हैं और न उसके स्वरूप को। मार्कंडेय पुराण में ममतातिशय को ही प्रेम-समृद्धि का कारण माना है। जिस प्रकार का दुःख घर में मुर्गे को बिल्ली के खा लेने पर होता है वैसा गौरैया के चूहे को खा लेने पर नहीं होता। कारण कि दूसरे में हमारी ममता नहीं होती।[२] इसलिये प्रेम-लक्षणा-भक्ति में ममता को मुख्य हेतु पंचरात्र में भी माना है।

'अनन्य ममता विष्णौ ममता प्रेम संयुता
भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धवनारदैः'

(३) विस्रंभ

प्रणय में विस्रंभ का अतिशय होता है। इसके उत्पन्न हो जाने पर संभ्रम के स्थल में भी संभ्रम (शक) नहीं होता।

१—'नाहं तु सख्यो भजतोपि जंतून्।
भजाम्यमीषामनुवृत्तिसिद्धये'॥ वही

२—मार्जारभक्षिते दुःखं यादृशं गृहकुक्कटे।
न तादृङ् ममताशून्ये कलविङ्केण मूषिके॥

अनुकूलता तथा तदनुसार विषयों की स्पृहा होती है। प्रियता में सुख का सनिवेश भी है पर इसके अतिरिक्त अंश भी इसमें वर्तमान हैं। प्रीति कर्त्रपेक्ष होती है। प्रियता विषयापेक्ष। प्रीति का विपरीतार्थ दुःख है। प्रियता का द्वेष। सुख और दुःख का आश्रय पक्ष ही होता है विषय पक्ष नहीं। प्रियता का आश्रय पक्ष भी होता है और विषय पक्ष भी। सुख और दुःख के आश्रय क्रमशः शोभनकर्मा तथा अशोभनकर्मा प्राणी होते है। प्रियता और द्वेष के क्रमशः प्रेमी और द्वेषी। इनके विषय हैं क्रमशः प्रिय एवं द्वेष्य।

प्रीति भगवदालंबनक होने से भक्ति कहलाती है। इस विषयभेद से भाव में भी भेद हो जाता है। एक ही प्रकार के तिल जैसे गुलाब चमेली आदि के पुष्पों के संसर्ग से भिन्न भिन्न गंधवाले हो जाते है उसी प्रकार एक ही अनुभव माया अथच परमेश्वर दो विषयों के संसर्गभेद के कारण भिन्न स्वभाववाला हो जाता है। ये भेद है सात्विक, राजस तथा तामस। भगवद् विषयक प्रेम सात्विक होता है। यही भक्ति है। सत्व अर्थात् विष्णु या उसके आविर्भाव के किसी रूप मे एकमन होकर स्वाभाविक और अनिमित्तक जो प्रेम किया जाता है वह भक्ति[१] है।

प्रेम के तीन श्रेणी भेद हैं—उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट। इनमे निकृष्ट प्रेम वह है जब कि दो मित्र एक दूसरे को किसी स्वार्थ के कारण प्रेम करते हैं। उनमें सौहार्द अर्थात् हृदय की उदात्तता नहीं होती; स्वार्थ होता[२] है। मध्यम प्रेम कर्तव्यपालन का रूप है जिसमें किसी भावांतर से प्रेरित होकर व्यक्ति दूसरों से प्रेम करता है—जैसे करुणाप्रेरित माता पिता संतान से प्रेम करते[३] हैं। श्रेष्ठ प्रेम में न स्वार्थ होता है न भावांतर की प्रेरणा। वह प्रेमपात्र की अनुकूलता की भी अपेक्षा नहीं करता। उसको

१—सत्वएवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या
अनिमित्ता भागवती भक्तिः — प्रीति संदर्भ, पृ० ७२५

२—मिथोभजंति ये सख्यः स्वार्थैकांतोद्यमाहिते
न तत्र सौहृदं धर्म स्वात्मानं तद्धिनान्यथा — वही पृ० ७२५

३—भजंत्यभजतो ये वैकरुणाः पितरोयथा
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः — वही

अतिकूलता में भी—अर्थात् प्रेमपात्र के प्रेम न करने पर भी—प्रेम करता रहता है। यही भक्ति है। यही श्रेष्ठ है।

प्रेम में आठ ऐसे गुण होते हैं जिनसे प्रेमी के चित्त का संस्कार होता है। वे ये हैं—

(१) उल्लास (२) ममता (३) विस्रंभ (४) प्रिय के गुणों का अभिमान (५) चित्त का द्रवीभाव (६) अतिशय अभिलाष (७) प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नवनवत्व की अनुभूति तथा (८) प्रिय संबंधी किसी विलक्षण गुण के कारण उन्माद।

(१) उल्लास

उल्लास मात्र की व्यंजक प्रीति 'रति' कहलाती है। इसके उत्पन्न होने से केवल प्रिय में ही प्रेम होता है। अन्य में तुच्छत्व बुद्धि हो जाती है।

(२) ममता

ममता उत्पन्न करनेवाली प्रीति 'प्रेमा' है। इसके उत्पन्न होने पर प्रीति भंग करने के हेतु न तो प्रेम के उद्यम को ही कम कर सकते हैं और न उसके स्वरूप को। मार्कंडेय पुराण में ममतातिशय को ही प्रेम-समृद्धि का कारण माना है। जिस प्रकार का दुःख घर में मुर्गे को बिल्ली के खा लेने पर होता है वैसा गौरैया के चूहे को खा लेने पर नहीं होता। कारण कि दूसरे में हमारी ममता नहीं होती।[२] इसलिये प्रेम-लक्षणा भक्ति में ममता को मुख्य हेतु पंचरात्र में भी माना है।

'अनन्य ममता विष्णौ ममता प्रेम संयुता
भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धवनारदैः'

(३) विस्रंभ

प्रणय में विस्रंभ का अतिशय होता है। इसके उत्पन्न हो जाने पर संभ्रम के स्थल में भी संभ्रम (शक) नहीं होता।

१—'नाहं तु सख्यो भजतोपि जंतून्।
भजाम्यमीषामनुवृत्तिसिद्धये'॥ वही

२—मार्जारभक्षिते दुःखं यादृशं गृहकुक्कटे।
न तादृङ् ममताशून्ये कलविङ्केण मूषिके॥

(४) अभिमान

प्रिय को अधिक प्रिय समझ कर उसके विषय में ऐसा प्रणय दिखाना जो कुटिलता के आभास से कुछ विचित्र हो जाए—अभिमान या मान कहलाता है।

(५) द्रवीभाव

स्नेह में चित्त का द्रवीभाव अधिक होता है। इसके उत्पन्न होने से प्रिय के संबंध के आभास से ही सत्वोद्रेक हो जाता है। प्रिय के दर्शनादि से तृप्ति नहीं होती। उसके समर्थ होने पर भी उसके अनिष्ट की आशंका रहती है।

(६) अतिशय अभिलाष

स्नेह में अभिलाष का अतिशय हो तो वह राग में विकसित हो जाता है। इसके उत्पन्न होने पर प्रिय का क्षणिक वियोग भी अत्यंत असह्य हो जाता है; उसके संयोग का सुख भी दुःख बन जाता है।

(७) नवनवत्व की भवाना

राग अनुराग में विकसित होकर प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नवनवत्व की भावना कराता है। वह स्वयं भी नया नया होता रहता है।

(८) उन्माद

अनुराग दशा में उन्माद के उदय होने पर महाभाव दशा आ जाती है, जिसमें संयोग के कल्प भी निमेष के समान बीत जाते हैं और वियोग का निमेष भी कल्प जैसा लगता है।

इस प्रकार रति ही क्रमशः प्रेमा, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग तथा महाभाव में परिवर्तित होती रहती है। इस विकसित परिवर्तन के कारण उपर्युक्त आठ गुण रति में उत्पन्न होते हैं।

आनंदघन जी की ऐसी कोई रचना नहीं मिलती जिसमें प्रेम का शास्त्रीय पद्धति से लक्षण किया गया हो। कविहृदय से दो एक मुक्तक पद्यों में तथा प्रेमपद्धति मे उसके स्वरूप का निर्देश किया गया है, जिसमें प्रेम का तटस्थ लक्षण माना जा सकता है। इनके अनुसार प्रेम की उत्पत्ति दिव्य है। उसका स्पंदन देव-मानव साधारण हृदयों में होता है। मानवीय प्रेम

ईश्वरीय प्रेम का ही लघुतम अंश है। जिस प्रेमसमुद्र में राधा और कृष्ण विवश होकर स्नानकेलि करते हैं उसी की तरल तरंग में कोई बिंदु छुट कर लोक में आ गया है। वही प्रेम है। उस प्रेमसमुद्र को देखकर बेचारा विचार तो इस पार से ही लौट आता है। उसमें प्रवेश करने का साहस नहीं करता[1]।

इसकी चरम परिणति प्रेमी और प्रिय का अभेद है। प्रेम में चकोर चंद्रमा हो जाता है चंद्रमा चकोर। देखने में ही वे दो हैं। वास्तविक रूप से वे एक ही हैं। इसकी पदवी ज्ञान से भी ऊँची है। विषयी भी इसमें डूब जाता है। भूलने से इस पंथ पर चलते हैं, सुधि से थक जाते[2] हैं। इसका मार्ग अत्यंत सरल सीधा है। सयानप का बांक यहाँ नहीं होता। सीधे सरल व्यक्ति इसका पार पा जाते हैं, कपटी झिझकते रहते हैं। अहंता और प्रेम साथ साथ नहीं चलते। इसका निर्वाह कठिन होता है। धूप से नवनीत की तरह थोड़ी असावधानी से भी यह म्लान हो जाता[3] है।

'प्रेमपद्धति' में भी इसका स्वरूपपरिचय कवि ने दिया है। इसके अनुसार प्रेम का सर्वोच्च अधिष्ठान गोपिकाएँ हैं। उनके अनुराग में सब विधि-नियम भूल जाते हैं। प्रेम का पंथ वैसे अत्यंत वक्र है पर इन्होंने सीधे प्रकार से उसका अवगाहन किया है। जो प्रेम मन, बुद्धि और वाणी का अगम्य है उसे इन्होंने प्राप्त किया है। इन्होंने अपने प्रबल प्रेम का ओज इससे प्रकट कर दिया है कि भगवान श्री कृष्ण भी उनके आगे नाचते हैं। प्रेमसाधना का सर्वोत्तम स्थान ब्रज है। ब्रजरज के स्पर्श से प्रेमतत्व का लाभ अनायास ही हो जाता है। पर ब्रजरज का लाभ भगवत्कृपा के बिना नहीं होता। गोपियों का चरणरज के स्पर्श से तथा उनके मार्ग के आश्रयण करने से प्रेम का लाभ होता है।

१—प्रेम को महोदधि अपार हेरि के विचार बापुरो हहरि वार ही तें आयौ है। ताको कोऊ तरल तरंग संग छुट्यौ कन पूरि लोक लोकनि उफनायौ है। सोई घनआनँद सुजान लागि हेत होत ऐसे मथि मन में ठहरायौ है। ताहि एक रस है बिबस अवगाहैं दोऊ नेही हरि राधा हेरि सरसायौ है। सुहि० ११६।

२—वही २९६।

३—वही २६७, ३१४।

प्रेमरस के वशीभूत होकर व्यक्ति एकरस हो जाता है। उसे अमोघ सुख की प्राप्ति होती है। ब्रजबधुओं के साथ श्री कृष्ण की केलि में जो अपूर्व सागर उमड़ता है उसकी एक तरंग प्रेम कहलाती है। उसे प्राप्त करना तथा कहना असंभव है। वाणी वहाँ मौन हो जाती है। शिव, शुक, उद्धव जैसे इसकी याचना करते हैं पर उन्हें भी प्राप्त नहीं होता। भगवत्कृपा से यह हृदय में स्फुरित हो जाता है। दिव्यज्ञान के उदय होने पर भी यह छिप जाता है। इसकी गति परम अगम्य है तथा इसका रूप अमल और अपूर्व होता है। इसकी थाह लेने में मन, बुद्धि तथा विचार थक जाते हैं। इसके वशीभूत होकर मोहन भी 'अपनपौ' हार जाते[१] हैं।

प्रेमपद्धति तथा फुटकल पद्यों में आनंदघन जी ने प्रेम के जो लक्षण तथा स्वरूप का जो निर्देश किया है वह भक्तों की परंपरा का है। लौकिक प्रेम की अनुभूति जैसी उनकी थी उसका कोई आभास इनमें नहीं मिलता। प्रतीत होता है यह रचना उनके भक्तिकाल की है।

वासना और प्रेम

वासना शारीरिक आकर्षण का भाव है। यह भोगपर्यवसायी होती है। भोग भी इंद्रियतृप्ति अर्थात् शरीरसंबंध मात्र होता है। इसलिये वह क्षणिक होता है। विषयलाभ से वासना संतुष्ट हो जाती है पर प्रेम हार्दिक तथा एक-रस हो जाता है। यह विषयलाभ से शांत नहीं होता। लेकिन फ्रायड जैसे विद्वान वासना को ही प्रेम कहते हैं।

काम और प्रेम

हिंदी भाषा में काम शब्द इंद्रियासक्ति या वासना के लिये ही व्यवहृत होता है। पर पहले संस्कृत के ग्रंथों में इसका अर्थ अभिलाषा था, जिसमें प्रेम भी अंतर्भूत हो जाता है। वेदों में इसका प्रयोग स्रष्टा की इच्छा के अर्थ में हुआ है जो समस्त सृष्टि का मूल कारण[२] है।

इश्क और प्रेम

फारसी का इश्क शब्द भी वैसे प्रेमार्थक ही है पर उसके साथ ऐसे भावों का संबंध हो गया है जो उथले हैं। फलतः वह भी उथला हो गया है। बोधा ने इश्क शब्द का ही व्यवहार उच्च प्रेम के अर्थ में किया है।

१—प्रेमपद्धति।

२—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्। इमे कामं मन्दया गोभिरश्वैश्चन्द्रावताराधसा पप्रथ्यश्च ऋ० वे० ३, ३०, १२०।

'इश्क मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब ।
सो साँचो ब्रजराज है जो मेरा महबूब ॥'

× × × ×

प्रेम और भक्ति

साधारण व्यवहार में भक्ति परमेश्वराश्रित प्रेम को कहते हैं। 'सा भक्ति या परानुरक्तिरीश्वरे'[1]। भागवत के प्रणयन से पहले भक्ति में पूज्य बुद्धि तथा भक्त का दैन्य, दास्य, आदि भाव अधिक रहते थे। पर बाद में मधुर भक्ति का संनिवेश होने से प्रेमलक्षणा भक्ति भी मानी गई। वह अन्य भक्ति भेदों से उत्कृष्ट सिद्ध हुई क्योंकि उसमें मानव की रागमिका वृत्ति-शांत होती थी। इस में परमेश्वर के साथ भक्त का सख्य भाव रहता है। समतल भूमि पर प्रसृत होता है। पूज्य भाव दास्य भक्ति में आता है। अतः दास्य भक्ति और प्रेम में तो कुछ अंतर है भी; क्योंकि प्रेम की प्रसारभूमि समतल होती है भक्ति की विषम। पर सख्य या मधुर भक्ति तथा प्रेम में आलंबन के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है। स्वरूपतः दोनों प्रकार के प्रेम लौकिक भी हैं और अलौकिक भी। तत्वतः वे एक हैं। लौकिक अलौकिक केवल आलंबन होते हैं, भाव नहीं। इस लिये भक्त आचार्यों ने जहाँ भक्ति के अंगभूत प्रेम का विवेचन किया है वहाँ लौकिक अलौकिक व साधारण प्रेम का ही किया है। भक्तों के भगवद् विषयक प्रेम की अनुभूति लोक साधारण है। मीरा के आलंबन अलौकिक श्रीकृष्ण थे। पर भावानुभूति उनकी लौकिक है। वे प्रेयसी हैं। श्री कृष्ण प्रियतम। जैसे लोक में होते हैं वैसे ही दोनों दंपतियों का स्नेहसिंचित व्यापार हृदय के गंभीर पर्तों की सरल सीधी मानवीय अनुभूतियों को खोलता जाता है। इनका 'औलगिया' घर आता है। शरीर का सारा संताप मिट जाता है। मीरा अपने मन में प्रसन्न होती हैं कि उन्हें एक क्षण में पिया मिल गए उन्होंने अपना दीदार दिखाया।[2]

कबीर ने तो निर्गुण राम के प्रति भी लौकिक प्रेम ही व्यक्त किया है। जीव प्रेयसी है ब्रह्म प्रियतम। उनका विवाह होता है। कभी वे प्रेम की झूला पर झूलते हैं, जिसके खंभे प्रिय की बाहें होती हैं और रस्से प्रेम के होते हैं।

१—नारद भक्ति सूत्र।

२—मीरा की पदावली पृ० ५१।

'कोई प्रेम की पैंग झुलावै रे'
भुज के खंभ और प्रेम के रस्से
तन मन आज झुलावै रे।'

दूसरी ओर विशुद्ध प्रेम को लेकर चलनेवाले स्वच्छंदमार्गी बोधा हैं। इनके द्वारा व्यक्त किए गए प्रेम का स्वरूप आमूलचूल लौकिक है। पर वे भी इश्क मजाजी को इश्क हकीकी कहते हैं। उनका जो प्रिय है वही श्री कृष्ण[१] है। सहजिया पंथ के वैष्णवों का तो यह मत है कि मानवीय लौकिक प्रेम ही अपने पूर्ण विकास में आध्यात्मिक हो जाता है। इस लिये वे अपने से बाहर अपने इष्टदेव को खोजने नहीं जाते। फलतः प्रेम का लौकिक अलौकिक भेद स्थूल और अतात्विक है। उसी प्रकार भक्ति और प्रेम का भी[२]।

३—प्रयोग

प्रेम मानव चिंतना का इतना प्रमुख विषय है कि वह प्रत्येक सौंदर्य-विभूति में प्रकट या प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहता है। साहित्य तो इसकी मुख्यनिधि है। साहित्य में इसका प्रयोग तीन प्रकार से मिलता है। अनुभूति, साधना तथा अप्रस्तुत योजना के रूप में।

अनुभूति

वेदों से लेकर भागवत तक के भारतीय साहित्य में प्रेम का व्यवहार प्रायः मानवीय अनुभूति के रूप में हुआ है। परमेश्वर के साथ इसका संबंध न था। उधर दास्य भाव का ही प्रदर्शन किया जाता था। वेदों में सहज वासनात्मक तथा आदर्शभावनात्मक दोनों ही प्रकार के प्रेम मिलते हैं। यमयमी संवाद में पहला है और पुरुरवा-उर्वशी संवाद में तथा श्यावाश्व की कथा में दूसरे प्रकार का। पुराणों में अनेकत्र दोनों रूप मिलते हैं। रामायण महाभारत में भी यह आदर्श भावना के रूप में मिलते हैं।

हिंदी साहित्य के वीरगाथाकाल से लेकर रीतिकाल के अंत तक लोकानुभूति के रूप में इसका प्रयोग प्राप्त होता है। 'ढोला मारूरा दूहा'

— देखिए इश्क और प्रेम का प्रकरण

२—हिंदी काव्य में प्रेमप्रवाह—श्री परशुराम चतुर्वेदी।

अब्दुल रहमान का 'सनेह रासय' आलम की 'माधवानल कामकंदला' बोधा के 'विरहवारीश' ठाकुर तथा आनंदघन के कतिपय पद्यों मे लोकानुभूति स्वरूप प्रेम के दर्शन होते हैं ।

साधना

भागवत के प्रणयन के बाद यह ईश्वर की प्राप्ति का साधन भी माना जाने लगा। श्री कृष्ण का जिन जिन लोगों से संपर्क हुआ था उन्हें भागवत में भक्त माना गया। जैसे नंद, गोप, गोपियाँ, यशोदा आदि। उनके संबंध को भक्ति स्वीकार किया गया। इस लिये दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि पाँच प्रकार की भक्ति स्थिर हुई। इनमें सर्वश्रेष्ठ प्रणय माना गया। यही 'मधुरा-भक्ति' अभिहित हुई। इसका शास्त्रीय विधि से विवेचन और व्यवस्थापन श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' तथा 'उज्वल नीलमणि' ग्रंथों में किया है। इस समय तथा इसके बाद १७ वीं शताब्दी तक भक्तिप्रधान साहित्य का प्रणयन प्रारंभ हुआ। उसमें कृष्ण-भक्ति-धारा के कवियों ने दांपत्य प्रेम का ही साधनात्मक रूप में प्रयोग किया है। सबसे पहले दक्षिण के अडवारों की रचनाओं में इस के दर्शन होते हैं। तिरुमंगई, नम्म, अंदाल आदि की बहुत सी भावनाएँ यौनप्रेम के माधुर्य से पूर्ण हैं। नम्म तो मीरा की तरह समस्त विश्व को भगवान के समक्ष स्त्रीवत् मानते थे। स्वयं कभी कभी स्त्री का वेश तक धारण कर लेते थे। अंदाल गोपी भाव से रहती थी।[1]

इसके बाद सहजिया वैष्णवों की रचनाएँ आती हैं। इन्होंने मानवीय प्रेम के सहज रूप की साधना की है। प्रत्येक व्यक्ति में दो तत्व रहते हैं। स्वरूप तथा रूप। पहला उत्कृष्ट है दूसरा निकृष्ट। ये क्रमशः ईश्वरीय एवं लौकिक हैं। रूप को विस्मृत कर स्वरूप की भावना करने से स्त्री राधा बन सकती है, पुरुष श्रीकृष्ण। राधा परकीया थी। इसलिये परकीया सेवन ही साधना का सर्वोत्तम प्रकार है। उन लोगों की मान्यता है कि श्रीकृष्ण रूप में भगवान ने भी जब मानव सहज प्रेम का अनुभव किया तो वह प्रेम संसारी मानवों को भी ईश्वरप्राप्ति का साधन हो सकता है।[2]

इसी के आसपास बाउलों की प्रेम साधना का समय आता है। इनके अनुसार मानव शरीर मंदिर है। इसका देवता है 'मनेर मानुष'

१ — परशुराम चतुर्वेदी मध्यकालीन प्रेमसाधना, पृ० २०

२—वही—वैष्णवों का सहजिया संप्रदाय शीर्षक लेख, पृ० २७—३७

बाउल इस हृदय स्थित देवता को ही परमेश्वर मान कर उसे विविध प्रकार के प्रेम द्वारा प्राप्त करना चाहता है। दांपत्य प्रेम को ये लोग सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। प्रेम परमात्मा के सार का भी सार है। इस मत में आत्मरति और मानव-प्रेम प्रकारांतर से साधना कोटि में गृहीत[1] हुए हैं।

अडवार, सहजियावैष्णव तथा बाउलों की साधना हिंदी साहित्य से पृथक बनी रही है। इसकी भक्ति साहित्य की धारा तो जयदेव से प्रारंभ होती है, जिस में सरस दांपत्य-प्रेम का परमेश्वर से संबंध स्थापित कर उसे परमेश्वर की प्राप्ति का साधन बनाया गया है। इसी धारा में कृष्णधारा का वैष्णव साहित्य है। यहाँ संयोग में हर्ष तथा वियोग में पीड़ा की अनुभूति है। दूसरे निर्गुणी भक्त कबीर, दादू, जायसी आदि प्रेम के ही साधक हैं। इन भक्त कवियों में कुछ लोग प्राधान्येन प्रेमी हैं। उन पर भक्ति की शास्त्रीय मर्यादाओं का प्रभाव नहीं है, जैसे नामदेव तथा रसखान।

रीति काल में भी प्रेमसाधना चलती रही है। आनंदघन, नागरीदास, बख्शी हंसराज, भगवतरसिक, ललितकिशोरी आदि प्रेम के साधक हैं। रीति तथा भक्ति दोनों के बंधनों से ये आबद्ध नहीं हैं। पर आनंदघन को छोड़ कर शेष को स्वच्छंद मार्गी इसलिये नहीं कह सकते कि इनका प्रेम साधना ही है अनुभूति नहीं है। इस प्रकार प्रेम का साधना रूप में प्रयोग १७ वीं शताब्दी तक निरंतर मिलता है। आनंदघन जी के मुक्तकों में अनुभूत्यात्मक तथा कृपाकंद एवं निबंधों में साधनात्मक प्रेम का प्रयोग हुआ है।

अप्रस्तुत

तीसरा रूप अप्रस्तुत रूप से प्रयुक्त हुए प्रेम का भी है। अप्रस्तुत प्रेम वह कहलाता है जो किसी रचना का मुख्य रूप से वर्ण्य विषय न हो। उसके द्वारा किसी दूसरी वस्तु की सिद्धि अभिप्रेत हो। भक्ति और अनुभूत्यात्मक प्रेम में प्रेम ही मुख्य रहता है, पर अप्रस्तुत प्रेम में वह गौण हो जाता है। इस में जैन धर्मियों तथा सिद्धों की रचनाएँ आती हैं। जैन धर्मियों ने प्रेमकथाएँ लिखी हैं, पर उनका पर्यवसान जैन धर्म की प्रशंसा या साधना में होता है। वहाँ जैन धर्म ही प्रस्तुत है। सिद्धों का भी प्राप्य योगसिद्धि है, पर 'कामिहि नारि पियारि जिमि' की तरह उपमान रूप में प्रेम

१—बाउलों की प्रेम साधना शीर्षक लेख पृ० ४१—५०।

व्यापारों का आश्रय वहाँ होता है। सिद्ध गंडरीपा योगिनी को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे योगिनी, मैं तेरे बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता। तेरे ही चुंबन द्वारा मैं कमलरस का आस्वादन करता हूं।'

जोइनि तहँ बिनु रामहि न जीवमि।
तो मुह चुंबी कमल रस पीवमि[१]

४—प्रेम की विषमता

आश्रय और आलंबन के पारस्परिक संबंध की दृष्टि से प्रेम के दो भेद किये जा सकते हैं—सम और विषम। दोनों समान भाव से एक दूसरे को प्रेम करते है तो सम और प्रेमी प्रेमप्रवण हो, प्रिय नहीं, तो विषम प्रेम कहलाता है। आनंदघन का प्रेम विषम ही है। वह भारतीय साहित्य में एक नवीन भावना है। अतः यह परीक्षण आवश्यक है कि इस परंपरा का आदि स्रोत कहाँ है।

प्राचीन काव्यों मे सम प्रेम ही उपलब्ध होता है। रस-रीति में एक-निष्ठ प्रेम को 'रसाभास' माना गया[२] है। इसकी उत्पत्ति या आगमन कहाँ से हुआ यह प्रश्न उठता है। इसके उद्गम स्रोत दो प्रतीत होते हैं। भागवत और फारसी साहित्य। भागवत मे प्रेमलक्षणा भक्ति की परिपक्वता अनन्यता, दृढ़ता आदि दिखाने के लिये तथा परमेश्वर को आप्तकाम, निष्काम सिद्ध करने के लिये एक पक्षीय प्रेम का विधान किया गया मिलता है। दशमस्कंध में इसका विवेचन करते हुए तीन दशाएं मानी गई है, सख्य वात्सल्य और आप्तकामता। सख्य वह स्थिति है जब प्रेम करने वाले के साथ प्रेम किया जाता है। वात्सल्य का अर्थ है प्रेम न करने वाले को भी प्रेम करना। पर इसमें दूसरे भाव दया आदि प्रेरक होते हैं। आप्तकामता वह है जब कि प्रेम न करनेवाले को प्रेम किया जाए। इसमें प्रथम स्वार्थ दूसरा दया मिश्रित तथा तीसरा विशुद्ध प्रेम है। प्रेम करनेवाले को प्रेम करने में प्रेमी का स्वार्थ निहित है[३]। प्रेम न करने वाले पुत्रादि को माता

१—हिंदी साहित्य में प्रेमप्रवाह पृ० १६ पर चर्यापद से उद्धृत।

२—रतौ तथाऽनुभयानिष्ठायाम्। साहित्य दर्पण ३,२५२।

३—मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
नतत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा।
भजन्त्यभजतो येवै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः।

को श्रेष्ठ माना है, जो प्रिय के गुणों को अपेक्षा न करता हो। कामना रहित हो, प्रति क्षण बढ़ता हो, मध्य में विच्छिन्न न हो और अनुभव स्वरूप हो।[1] विषम प्रम में भाव के इसी उत्कर्ष के दर्शन होते है।

५—स्वरूप

अब हमे देखना चाहिये कि कवि ने स्वयं प्रेम का क्या स्वरूप उपस्थित किया है।

आसक्ति प्रधान

इनकी प्रेमभावना रीतिकालीन कवियों की भावना से भिन्न है। वासनात्मक प्रेम की तरह एक ओर तो इस में प्रगाढ़ आसक्ति है दूसरी ओर निर्वाह के लिये यह साधना जैसा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम' में आसक्ति की जिस प्रगाढ़ता की ओर संकेत किया है वैसी इनके प्रेम में मिलती है। 'रूपनिधान सुजान को देखे बिना' दृष्टि सब ओर से पीठ फेर लेती है। आँखे पुतलियों में उखिल की तरह खटकता रहती हैं। मूँदने पर महा अकुलानि होती हैं। जीव डूबने सा लगता है'। विरह व्यथा का जो अत्यंत मार्मिक अनुभव हुआ है उसका कारण आसक्ति ही है। इसका परिचय वियोग में ही नहीं संयोग में भी मिलता है। प्रिय आते हैं तो ऐसा लगता है कि करोड़ों प्राण आँखों में आ गए, आनंद छा गया, महारस की वृष्टि हो गई। पर वही जब आखों से ओझल हो जाते है तो जीव को ऐसी दुर्गति होती है कि वही जानता है। प्रिय मार कर जिलाता है। जिलाकर मारता[3] है। प्रतीक्षा करते समय लालसा पलकों में आ छलकती है। मिलन समय में इतना हर्ष होता है कि सातों सुधि भूल जाती हैं। रीझ बावरे होकर कुछ का कुछ कहने लगते हैं। इन भावों में आसक्ति प्रधान प्रेमभावना के दर्शन होते हैं।

१—गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम् अविच्छिन्नम् सूक्ष्मतरम् अनुभवरूपम्। —नारद भक्ति—सूत्र ५२।

२—सु हि० ३

३—वही ५५

४—वही ६७

साधना प्रधान

पर जितनी प्रगाढ़ आसक्ति है उतनी ही सुदृढ निर्वाह की क्षमता है। वियोग व्यथाएँ पहाड़ बन कर आती हैं पर प्रेमी अपनी निर्वाह-साधना से विचलित नहीं होता। प्रिय की निःस्नेहता, कपट-रुक्षता, प्रेमी की टेक में अन्तर नहीं ला सकते। प्रेम की समस्त प्रतिकूलताएँ उसका भाग्य है। यह 'बिसासी' सुजान से भी प्रेम करेगा। प्राण मृत्यु के समय भी प्रणय नहीं छोड़ते। सुजान का संदेश लेकर ही शरीर से बाहर निकलना चाहते हैं। आशा की रस्सी में भरोसे की शिला छाती से बाँध कर अश्रु के सिंधु में डूबने तथा व्यथाओं का आरा अपने सिर पर चलवाने को प्रेमी तैयार है। पर कठोर प्रिय के हृदय में वह दया उपजा कर रहेगा। संयोग और वियोग दोनों के वर्णन पढ़ने पर यही धारणा पाठक की बनती है कि प्रेम कवि की साधना है। भोग का विलास या मन का उद्वेग नहीं है।

भावात्मक

यह स्थूल और शारीरिक नहीं है। भावात्मक है। संयोग में कवि ने कहीं भी अश्लील चेष्टाओं का तथा ऐंद्रिक भोगविलासों का वर्णन नहीं किया। उलटे संयोग मे प्रेमाभिलाष वियोग की सी स्थिति की रचना कर देता है। इनके वियोग में शारीरिक भोगों का स्मरण नहीं है। हृदय की मार्मिक पीड़ाओं का अनुभावाश्रित विश्लेषण हुआ है, अभिलाषाओं के भी विविध रूप उपस्थित किए गए है पर शरीर संयोगो का कहीं भी दर्शन नहीं होता। केवल प्रिय के सान्निध्य की अभिलाषा रहती है।[1] रूप के वर्णन भी वासनादृष्ट नहीं हैं। अभिलाषुक दृष्टि से देखे गये प्रभविष्णु यौवन का सरल तथा यथार्थ चित्रण है।

प्रिय हृदयस्थ रहता है। संयोग हो चाहे वियोग उसकी विद्यमानता हृदय में रहती है। वह पास बैठा हो फिर भी हृदयस्थ प्रिय से वियोग हो बना रहता है। सतत ध्यान के कारण वह आँखों के आगे से टलता नहीं। संसार को देखने में स्वयं प्रिय झाँकता है। प्रेममूर्ति प्रिय की प्रेमी ने जो आरती सजाई है उस में हृदय दीपक है, स्नेह तेल है, वियोग व्यथा बत्ती है। यह सब भावना के थार में रक्खी जाती है।

१—वही १०४

पिता जो प्रेम करते हैं उसमें उसका दया-भाव भी कारण होता है। तीसरा अर्थात् आप्तकाम प्रेम या तो कृतद्रोही का हो सकता है या आप्तकाम का। भागवतकार ने श्री कृष्ण के मुख से यह कहलाया है कि 'मैं प्रेम करने वाली को भी प्रेम नहीं करता'[१]। रासलीला के मध्य में श्री कृष्ण का थोड़ी देर के लिये तिरोहित हो जाना इसी तथ्य का व्यंजक है। भ्रमरगीत से भी इसकी व्यंजना होती है, जहाँ गोपियाँ श्री कृष्ण को 'छली' 'निःस्नेह' आदि कहती हैं। वैष्णव भक्तों की कृतियों में जो प्रेम को वैषम्य प्राप्त होता है वह भागवत की परंपरा के कारण ही है, जैसे सूरदास की रचनाओं में। तुलसीदासजी ने भी विषमप्रेम को श्रेष्ठ माना[२] है, पर यह दास्य भक्ति के कारण है जहाँ भक्त और भगवान का लघु गुरु भाव अनिवार्य[३] हो जाता है। सख्य भाव में प्रेम के वैषम्य भाव की विशेषता है, पर दास्य भाव में यह पात्रों की विशेषता है। सूरदास के प्रेम का वैषम्य भावमूलक है, तुलसीदासजी का पात्रमूलक। अस्तु, विषम प्रेम की एक परंपरा भागवत भक्ति धारा में विद्यमान है। जिस आप्तकामत्व का भागवतकार ने उल्लेख किया है उसकी व्यंजना आनंदघनजी के निम्नलिखित सवैये से होती है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इनके प्रेमगत वैषम्य का कारण भागवतानुसारी भक्ति-भाव है।

'किहि बानि ठगी हौ सुजान, मनौगति जान सकै सु अजान कर्यौ।'

× × × ×

तुम तौ निहकाम, सकाम हमैं घनआनँद, काम सौं काम पर्यौ ॥[४]

× × × ×

भजतोपि न वै केचित् भजन्त्यभजतः कुतः।

आत्मारामा आप्तकामा अकृतज्ञ गुरुद्रुहः। भा० १०, ३२, १७, १९।

१—नाहंतु सख्यो भजतोपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिसिद्धये। वही १०, ३२ २०।

२—कै लघु कै बड़ मीत भल सम सनेह दुख होय दोहावली।

३—भरतजी ने राम के प्रति अपना स्नेह चातक के साम्य से व्यक्त किया है 'जलद जनम भरि सुरति बिसारउ, जाचत जल पवि पाहन डारउ। चातक रटनि घटै घटि जाई, बढ़ै प्रेम सब भाँति भलाई। रामायण अ० का० २,२०६।

४—सुहि० ४२५।

दूसरी परंपरा फारसी की है वहाँ प्रेम की एकांतिकता, अनन्यता, उच्चता आदि दिखाने के लिये प्रिय को कठोर एवं स्नेहहीन दिखाया जाता है। आनंदघनजी उर्दू फारसी भाषा से परिचित थे। यह उनकी 'इश्कलता और 'वियोगवेलि' से अनुमित होता है। अतः यह भी संभव है कि उन पर इसका भी प्रभाव पड़ा हो। उन्हीं के समकालीन मित्र नागरीदासजी ने 'इश्कचमन' उर्दू फारसी की प्रेरणा से ही लिखा जान पड़ता है। इसका कारण यही है कि भक्ति में सख्य प्रेम का प्रचार बढ़ा तो उसके समस्त अस्त्र देखे गए। उर्दू फारसी के कवियों की रचनाओं में विषम प्रेम प्रचलित था ही। हिंदी के भक्त प्रेमियों ने भी उसे अपना लिया।

आनंदघनजी के साधनात्मक प्रेम में वैषम्य के दर्शन नहीं होते। वर्णनात्मक प्रबंधों में राधा और श्रीकृष्ण दोनों ही एक दूसरे को प्रेम करते प्रतीत होते हैं। इन रचनाओं में वर्णित प्रेम का स्वरूप साधनात्मक है, क्योंकि उसका भक्ति में विनियोग होता है। अनुभूत्यात्मक प्रेम में ही अर्थात् उस प्रेम में जो किसी साध्यांतर का साधन नहीं है, अपने में स्वतंत्र है. विषम भाव की बार बार आवृत्ति हुई है। इसकी अत्यधिक आवृत्ति उर्दू फारसी के प्रभाव की व्यंजिका है। 'इश्कलता' में उर्दू की शैली का प्रेम व्यक्तकर अंत में कवि की भावना है कि जो व्रजचंद की 'इश्कलता' मन लगा कर पढ़ेगा उसे वृंदावन के धाम का सुख प्राप्त होगा।

इश्कलता व्रजचंद की जो बाँचै दे चित्त।
वृंदावन सुखधाम सो लहै नित्तही नित्त[1]॥

× × × ×

अंत में यही कहा जा सकता है कि इन पर उर्दू फारसी तथा भक्ति परंपरा दोनों के प्रेमगत वैषम्य का प्रभाव है।

प्रेम की उत्पत्ति आलंबन को देख कर होती है। प्रारंभ में लाभ की भावना इस में विद्यमान रहती है, पर अगले विकासक्रम में कामना का अभाव हो जाता है। तीसरे क्रम में आलंबन की धारणा भी लुप्त हो जाती है प्रेम अनुभव स्वरूप, निर्विषय ही रह जाता है। इस स्थिति में आलंबन स्नेहयुक्त हो या स्नेहहीन, प्रेम तदवस्थ रहता है। पहली स्थिति स्थूल, दूसरी सूक्ष्म तथा तीसरी सूक्ष्मतर कही जा सकती है। नारद ने ऐसे प्रेम

१—इश्कलता ४४।

'नेह सों मोय सजोय धरी हिय दीप दसा जु भरी अति आरति।
भावना थार हुलास के हाथनि यों हित मूरति हेर उतारति[१]॥'

अतः आनंदघन के प्रेम का रूप भावात्मक ही सिद्ध होता है। रीति-मार्गी प्रेम की तरह वह स्थूल शारीरिक नहीं है।

अभिलाषा प्रधान

संयोग तथा वियोग के प्रसग में यह विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है कि इनके प्रेम में अभिलाषा का प्राधान्य है। प्रिय का मिलन हो या विरह चाह की अंतर्ज्वाला हृदय में जलती रहती है। प्रिय के मुख को देखने की चाह का झड़ सा लग जाता है। कभी दैवगति से प्रिय मिलते भी हैं तो लाखों मनोरथों की भीड़ लग जाती है। मिल कर भी मिलाप नहीं हो पाता।[२] मिलन में प्रिय और प्रेमी के अभिन्न हो जाने पर भी अभिलाषा का विनाश नहीं होता। 'वे दोनों मिलकर एक हो गए हैं। घनआनद का शुद्ध सामीप्य मिल गया है। फिर भी रूप की अनूप तरंगों को देख कर चित्त चाह के प्रवाह में बहा जाता है[३]।

अभिलाषा की इस प्रधानता में भक्ति के सिद्धांत की व्यंजना की गई प्रतीत होती है। भक्त लोग भगवत्सान्निध्य पाकर भी प्रेमलक्षणा भक्ति का सुख लिया करते हैं। वह इस रूप में संभव हो सकता है कि मिलन भी अभिलाषा बना रहे। इसलिये कुछ वैष्णव आचार्यों ने तो अभिलाषा को ही प्रेम माना है। उस अभिलाषा स्वरूप प्रेम का संयोग हो चाहे वियोग कभी विनाश नहीं होना चाहिये। इसी मान्यता की अभिव्यक्ति मिलन में अभिलाषा की विद्यमानता द्वारा की गई प्रतीत होती है। 'प्रेम तृषा बाढति भली घटे घटैगी कानि'।

यह बुद्धि व्यापार गम्य नहीं

प्रेम बुद्धिव्यापारगम्य नहीं है। हृदय की सहज सरल अनुभूति है। बुद्धि का सयानप व्यवहार में बाँकपन लाता है। प्रेम का मार्ग 'सूधौ' है। इसलिये बुद्धि का विचार प्रेम के अपार समुद्र को देखकर हैरान हो जाता

१—सुहि० ५०७
२—वही ७२
३—वही २३६
४—वही ४१२,

है और न 'र' से ही लौट आता है। हृदय पर रूप का आक्रमण होते ही प्रेम की दुहाई फिरने लगती है। बुद्धि दासी हो जाती है। रीझ[१] पटरानी। यहाँ देखने पर कुछ भी नहीं सूझता। बूझते बूझते तो बौराई मिलती है। कवि प्रेमानुभूति को बुद्धि की उपचेतना दशा की अनुभूति समझता है। भूल को प्रेमानुभूति में सहायक माना गया है। प्रिय की स्मृति का सुख तभी तक सोया रहता है जब तक भूल नहीं जागती। अर्थात् प्रिय के स्मृतिसुख के लिये सांसारिक पदार्थों की भूल आवश्यक है। यदि स्मृति अनुकूल हो जाए, ध्यान में प्रेमी आपादमस्तक मग्न हो जाए, तो वह विषयभोगों की सारी सुखसुधि भूल जाता है।

'जौ लौं जगै न भूल, तौ लौं सोवैं सुगति सुख।
वही होय अनकूल, तौ भूलै सुख सुधि सबै॥'[२]

\+ \+ \+ \+

प्रेमानुभूति में बुद्धि का गौण स्थान स्थिर करने से फ्राइड के उस मनोविज्ञान के सिद्धांत का स्मरण होता है जिसके अनुसार हृदय के सहज सच्चे भाव बुद्धि की उपचेतन या अवचेतन दशा में ही व्यक्त होते हैं। चेतनावस्था में तो सामाजिक, धार्मिक मर्यादाएँ अथवा लज्जा, अभिमान आदि व्यक्तिगत कृत्रिमताएँ हृदय की सहज गति को रोक लेती हैं, भावों को सरल सीधे रूप में व्यक्त नहीं होने देतीं। इसके अतिरिक्त भक्ति के एक सिद्धांत की भी व्यंजना इससे होती है। भक्ति में ज्ञान, क्रियादाक्ष्य आदि लोकनिपुणताओं का आदर नहीं किया जाता। भागवत के दशम स्कंध के २३ वें अध्याय में जो 'यज्ञ-पत्नी उद्धरण' का संवाद है उससे यही व्यक्त किया गया है। कर्मकांडी विद्वान ब्राह्मण माँगने पर भी श्रीकृष्ण को भोजन नहीं देते। उनकी पत्नियाँ श्रद्धापूर्वक लेजाकर भेंट करती हैं। बाद में ब्राह्मण लोग अपने ज्ञान, क्रियादक्षता आदि को धिक्कारते हैं, कि इसका उपयोग भगवद्भक्ति में नहीं हो सका। 'हमारे जन्म, तीनों वेदों के ज्ञान, व्रत, बहुज्ञता' कुल, क्रियादक्षता आदि सबको धिक्कर है कि ये भगवान के विमुख हैं।[३]

१—वही १४८
२—वही ३९६।
३—धिक जन्मनस्त्रिवृद्विद्यां धिग व्रतं धिग् बहुज्ञताम्। धिक् कुलं धिक् दाक्ष्यं विमुखा येत्वधोक्षजे। भाग० १०२, २३, ४०।

५—प्रथम दर्शनजन्य

यह सहवासजन्य नहीं प्रथम दर्शन का प्रेम है। प्रेमी ने जब से रूप-निधान सुजान को 'नेकु' देखा है तभी से दृष्टि अनुरागमय होकर थक सी गई है। बुद्धि ने सब प्रकार की लज्जा त्याग दी है। रसमूर्ति श्याम सुजान के देखने से हृदय की जो गति होती है वह किससे कही जाए। चुंबक लोहे की तरह चित्त प्रिय से चिमट गया है। छुटाने से और अधिक आसक्त[१] होता है। प्रिय का प्रथम दर्शन ही समस्त इंद्रियों पर रीझ का जादू सा डाल देता है। वे चेतनाहीन हो जाती है। विकलता आदि हृदय पर छा जाती हैं। इस प्रकार यहाँ प्रेम में किसी प्रकार का क्रमिक विकास नहीं दिखाई देता। रूप का प्रभाव सेना की तरह अकस्मात आक्रमण करता है और समस्त इंद्रियों को आत्मसात् कर लेता है। मुक्तककार प्रेमी कवियों के लिये यही प्रेमप्रकार अनुकूल पड़ता है। क्रमिक विकास तो प्रबंधो में ही दिखाया जा सकता है।

स्वच्छंद

रीतिमार्गी कवियों की भाँति इनका प्रेम शरीरसीमा में ही आबद्ध नहीं है। इसकी उत्पत्ति अवश्य शरीर से है पर इसकी भावना पूर्ण रूप से मानसिक है। साथ ही यह व्यापक भी है। प्रिय आनंद का घन है जो सर्वत्र छाया हुआ है। वह जगत् के पदार्थ जात में दृष्टिगत होता है। अनुभूत्यात्मक प्रेम का परम सत्ता के साथ जो संबध स्थापित किया गया है वह भी दार्शनिक पद्धति पर नहीं। भले ही वह सत्ता राधा कृष्ण ही हों। आधिदैविक और आधिभौतिक प्रेम का योग भक्तों की रचनाओं में मिलता है। घनानंद की रचनाओं में आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक प्रेम ही का योग है। इसलिये 'रहस्यवाद' का अंश कहीं कहीं आ गया है। अनुभूति की यह उच्चता तथा आदर्श भावना स्वच्छंदता की व्यंजिका है। यह पारवारिक नहीं है। नायक का धृष्टत्व दिखाने के लिये यदि कहीं प्रच्छन्नरति का प्रदर्शन किया गया है तो वह केवल एकपक्षीय प्रेम की व्यंजना के लिये। प्रेमपात्र नर्तकी है जो आसव पान

१—वही १।

२—वही २।

करती हैं, नृत्य करती है और खुले आमोद प्रमोद करती है। उसके रूप सौंदर्य पर लाज भी इकौसी होकर रीझती है। उसका यौवन सौंदर्य अधिकतर अनावृत है। लज्जावृत नहीं। पारिवारिक प्रेम की मर्यादा में तो वेश्या प्रेम का नहीं अपितु प्रेमाभास का पात्र मानी जाती है। यहाँ सामाजिक बंधन भी प्रेम की अनुभूति में बाधा उपस्थित नहीं कर सकते। निंदक प्रेमहीन हैं, दोषदर्शी हैं, अतः उपेक्ष्य हैं। कोई मुँह मोड़ो, करोड़ों चवाइयाँ करो। अपना संबंध तोड़ लो। पर इनकी सुने कौन। वे लोग तो स्नेहहीन, नीरस हैं। उनका हृदय मलीन है। वे सदा दोषों में ही रहते हैं। गुण वे कैसे गिनेंगे। निंदक सीस धुना करें प्रेमी अपनी टेक नहीं छोड़ सकता[१]।

रीतिमार्गी लोगों ने प्रेम व्यवहार की जो कृत्रिमताएँ चित्रित की हैं जैसे दूती, सखी आदि की मध्यस्थता, अभिसार, वचनविदग्धता, क्रियाविदग्धता आदि छल, आनंदघन ने वे वर्णित नहीं कीं। प्रेमानुभूति का सीधा विश्लेषण किया है। उनके लिये तो 'अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानक बाँक नहीं। तहाँ साचे चलै तजि आपुनपौ झिझकें कपटी जे निसाँक नहीं।' अतः इनकी प्रेमभावना स्वच्छंद है।

प्रेमरंजित दृष्टि

कवि की मान्यता है कि प्रेम जैसे सूक्ष्म तत्व के पहचानने में प्रेमरंजित दृष्टि ही समर्थ हो सकती है। जो सूझवाले हैं वे भी इसका अनुभव करते समय अपनी दशा भूल जाते हैं। उसे बिचारे साधारण जीव कैसे पहचान लेंगे। वे लोग तो प्रिय के मिलने पर हर्ष और वियोग में विषाद का निरर्थक अनुमान किया करते हैं। उन्हें इसका यथार्थ अनुभव नहीं होता है। प्रेम के साक्षी तो वे आँखें हैं जिन्हें चाह की मीठी पीर उठती[२] है।

यह दृष्टि (प्रेमरंजित) वस्तु का विलोडन कर सार का पता लगा लेती है। रूप भी रिझवार को देख कर अपने गुप्त गुणों को उसके समक्ष प्रकट कर देता है। वैसे चंद्रमा सब के लिये प्रत्यक्ष है, पर देखता उसे चकोर ही है। प्रेमरंजित दृष्टि तो प्रिय के रूप को देख कर न थकती है न ऊबती है। उसके लिये प्रिय की रूक्षता में मिठास है, उसके न बोलने पर

१—वही ८०।
२—सुजान० २३०।

अपनी वाणी न्यौछावर की जाती है. उनके न देखने को देखते ही रहती है। फिर ऐसी दृष्टि का साधारण आँखों से कैसे मेल हो।[१]

७—प्रेम हीनों की निंदा—

उपर्युक्त दृष्टिकोण के भेद के कारण ही आनंदघन जी ने प्रेमहीनों की बड़ी तीव्र और मार्मिक निंदा की है। इस निंदा में एक ओर तो प्रेम की सूक्ष्मता और स्वच्छंदता की व्यंजना है दूसरी ओर कवि अपने काल के तथा कथित प्रेम कवियों की भी आलोचना करता है। रीति काल के प्रधान भाव प्रेम और शृंगार हैं। पर प्रेम का मार्मिक चित्रण वहाँ नहीं हो सकता है आनंदघन की दृष्टि मे प्रेम का निरूपण करने पर भी वे सच्चे प्रेमी कवि नहीं। उन्हें बातों की सूक्ष्मता का ज्ञान नहीं है। वे जड़ता के निकट हैं उनके हृदय ठंढे है। चित्र की सी आँखो से शृंगार रस के रूप और स्वाद को सराहना वे करते है। पर इनका स्नेह कथन नीर मंथन के सामन हैं। वे लोग 'षठ प्रेम' का निर्वाह करते वाले है। ऐसे अमिल प्रमियो से आनंदघन का मेल नही हो सकता। ये लोग प्रेम की अनुभूति नही करते संयोग-वियोग के हर्ष-विषाद का बुद्धि के सहारे अनुमान भर करते हैं। इस लिये इनकी रचनाओं में स्वाभाविकता नहीं रहती। आनंदघन ऐसे लोगों के पास भी नहीं टहरना चाहते, जिनकी दृष्टि में दही और मट्ठा, हंस और बगला कोयल और कौआ, कांच और मणि, चंदन और ढाक तथा राँग और चांदी एक से है। वे मूढ़ कवि 'व्यौरि' कर नही बोलते। प्रेम का नियम तथा हित की चतुराई नही विचारते।

"मही दूज सम गनै, हंस बग भेद न जानैं।
कोकिल काक न ज्ञान, काच मनि एक प्रमानैं॥
चंदन ढाक समान, राँग रूपौ संग तौलैं।
बिन विवेक गुनदोष मूढ़ कवि व्यौरि न बोलैं॥

१—वही १४३,

२—बात के देखते दूरि परे जड़ता नियरे सियरे हित दाहैं।
चित्र की आंखिन लीने विचित्र महा रस रूप सवाद सराहैं।
नेह कथैं, सठ नीर मथैं, हठ कै कठ प्रेम को वेम निबाहै।
क्यौं, घन आनंद, भीजै सुजाननि यौं अमिले मिलिबौ फिरि चाहै।
सुहि० ३८३।

३—वही २३०।

प्रेम नेम हित चतुरई जे न विचारत नेकु मन।
सपनेहू न विलंबियै छिन तिन ढिग आनंदघन।।"

इसमें उन मूढ़ कवियों के लिये फटकार है जिन्होंने आनंदघन जैसे धार्मिक कवि को फारसी भावों का चोर बताया है, जैसे भड़ौआ छंदों में।

८—व्यथापूर्ण

आनंदघन ने अपना प्रिय आनंद का धन सुजान पाना हैं। वह सर्वत्र आनंद की वृष्टि करता है। पर चातक जिस प्रकार उसके विरह में विषाद-पूर्ण रहता है उसी प्रकार यहाँ प्रेमी वियोग व्यथा का ही अनुभव करता है। यहां तक कि संयोग में भी उसे सुख का लाभ नहीं होता। 'यह कैसो संयोग न बूझि परै जो वियोग न क्यौंहू विछोहत है।' इस व्यथाप्रचुर प्रेमानुभूति में सूफी कवियों का प्रभाव अनुमित होता है। कवि को अपने प्रिय घन का कभी कभी बिजली की कौंध के समान क्षणिक साक्षात्कार होता है। उसमें भी मनोरथों की भीड़ आ पड़ती है। वर्षा काल में जल की धारा से भीगी दृष्टि बिजली का पूर्ण दर्शन नहीं कर पाती। इसी प्रकार आनंदघन का प्रेमी अपनी रीझभीजी दृष्टि से प्रिय का पूर्ण दर्शन नहीं कर पाता। सूफी लोग भी इसी प्रकार प्रिय परमेश्वर का क्षणिक दर्शन करते हैं।[२]

आशा की भी यदा कदा अनुभूति होती है। विरही आँखों को नष्ट कर देना चाहता है पर उनसे प्रिय दर्शन की अभिलाषा है। कानों को समाप्त कर देना चाहता है पर उनमें प्रिय के वचनामृत पान करने की अभिलाषा है। इसी प्रकार प्राणों को प्रिय पर न्यौछावर करने की लालसा से उन्हें समाप्त नहीं करता। पर ऐसी आशा मृत्यु से विरही की रक्षा भर करती है। उसके हृदय में आनंद का संचार नहीं करती। इसका फल तो व्यथा का आगे जीवित रहना होता हैं। कवि की दृष्टि में मृत्यु कष्टों से छुटकारा देती है। इसलिये

१—सुहि० २८५।

२—पद्मावती के दर्शन का वर्णन अलाउद्दीन ने बिजली के साम्य से ही किया है 'बगसा केवल सरग निसि जनहुँ लौकि भई बोजु। ओहि राहु भा भानुहि राघव मनहि वतीजु।" पद्मावत चितौरगढ़ वर्णन, खंड।

वियोग में मरनेवाले मीन और पतंगों को वह हेय दृष्टि से देखता है। आशा गले की फाँसी है जो मरने भी नहीं देती और प्रेम का त्याग भी नहीं करने देती है। व्यथा का खारी समुद्र इतना विशाल है कि इसमें आशा जैसा मधुर भाव भी गिर कर खारी हो गया है।

यह व्यथा-बहुलता रीतिमार्ग की लकीर से हटती हुई है। वहाँ पर संयोग में हर्ष और वियोग में विषाद के वर्णन का ही विधान है। पर इनका प्रेम व्यथाबहुल है। कवि की समस्त कविता ही मानो व्यथित हृदय की पुकार है। कवि ने कहा भी है कि काव्य का सच्चा रूप व्यथा ही है। हर्ष का वर्णन हृदय के सत्य स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकता। कवि की उक्ति है कि 'जिन्हें रोना नहीं आता उनका गाना भी रोने के समान हो जाता है[१]।

प्रकृति का सौंदर्य भी कवि के व्यथित हृदय को व्यथापूर्ण ही लगता है। वर्षा की धार वियोगी की दशा पर आँसू बरसाती है। पर्व त्यौहारों का आमोद-प्रमोद व्यथा को हल्का नहीं कर सकता। वास्तव में विषयिगत भाव के अनुभविता कवि के लिये समस्त बाह्य उपकरण उसके हृदयस्थ भाव को ही बढ़ाने का कार्य करते हैं। कवि विरही है जिसके 'शरीर रूपी बन में बिरह की दावाग्नि उठी हुई है। वह यत्नों के जल से शीतल नहीं हो सकती। उससे हृदय की प्रौढ़ता फट जाती है। साँस बाँस की तरह चटकते हैं। आशा की लंबी लता भी उद्वेग की झर से मुरझा जाती है। प्राण-खग दुःख के धूम में घुटे होकर घिर जाते हैं। यह ज्वाला प्रिय के दर्शनजल से ही शांत हो सकती है[२]।

६—वैषम्य

वैषम्य इसकी (प्रेमभावकी) सबसे बड़ी विशेषता है। इस वर्णन के प्रसंग में प्रेमी और प्रिय के स्वरूपों का परिचय विस्तार से दिया जा चुका है। सूक्ष्मतः प्रेमी की प्रेमाशक्ति जितनी उत्कट है उतनी ही प्रिय की उपेक्षा-वृत्ति प्रबल है। वह निःस्नेह है, छली है। प्रेमी स्नेहसिक्त, सरल, सीधा है। प्रेमी का स्वभाव स्मरण का है, प्रिय का भूलने का। प्रिय मोहन है, प्रेमी मोहित। वह 'निहकाम' है, प्रेमी सकाम। इस प्रकार प्रेमी और प्रिय के स्वभाव की विषमता भाव को भी विषम बना देती है। व्यवहार भी दोनों का

१—रोयबो न आवै तो पैं गायबोहू रोयबो। प्रकी० ३०।

२—सुहि० ५०।

विषम हैं। प्रिय दुःख देकर सुख प्राप्त करता है। प्रेमी हृदय देकर चिंता लेता[1] है।

प्रेम भावना का प्रभाव भी दोनों पर सम नहीं पड़ता। प्रेमी को प्रेम दुःखदोषों से दुखी करता है, प्रिय को सुखों से पोषित। वह प्रेमी को चिंता तथा प्रिय को निश्चिंतता प्रदान करता है। प्रेमी रोकर जागता है, प्रिय हँस कर सोता है। प्रिय में प्रेमी भूलें भरता है, प्रेमी में शल्य बन कर करकता रहता है। प्रिय के लिये चैन की चाँदनी हर्ष की सुधा बरसाती है, प्रेमी के लिये विषाद का सूर्य तपता रहता है। आनंद का घन कहीं उमड़ता है कहीं उघरता है। प्रेम की विषमता अतर्क्य है[2]।

इस तरह पात्रों के स्वभाव, व्यवहार तथा भावना के प्रभाव आदि के कारण प्रेमगत वैषम्य का जन्म होता है। वह विविधरूप से कवि द्वारा चित्रित किया गया है। यह तत्व इतना बढा हुआ है कि इसके द्वारा शैली में भी विरोध की प्रवृत्ति आ गई है। यह फारसी के प्रेमगत वैषम्य के रूप में भी प्राप्त है और भक्त तथा भगवान के भेद का विषमता के रूप में भी।

१०—अनन्यता

अनन्यता प्रेम का मूलतत्व है। यही इसका सत्यापक प्रमाण होता है। आनदघन की रचनाओं में इसकी उच्चतम कोटि प्राप्त होती है। यहाँ प्रेमी चातक है, प्रिय घन। चातक भारतीय साहित्य में अनंत काल से अनन्य प्रेम का प्रतीक माना गया है। कवि ने उसे अपना मुख्य प्रतीक बना कर अनन्यता का परिचय दिया है। प्रिय अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल, विद्यमान हो चाहे अविद्यमान पर प्रेमी उसी से प्रेम करता रहेगा। चातक का जीवन तो प्रेम की टेक के निर्वाह करने में है। वह दिन रात घन के रस बरसाने को देखने के लिये टकटकी लगाये रहता है।[3] वह तो पुकार करना जानता है, बादलों के हट जाने पर भी वह क्या आंखें और मुख मूँद लेगा?[4] प्रेमी अपनी अनन्यता का भी परिचय देता हुआ कहता है कि प्रिय, तुम जहाँ हो प्राण वहीं है। यह जीवन तो भ्रम सा है। मेरी तो गति मति, और सुरति सब आप ही हैं। फिर कहीं ऐसे आश्रित को भी छोड़ा जाता है?[5]

१—वही १३१।
२—वही ११३।
३—वही १२३।
४—वही १३८।
५—वही १६५।

११—आंतरिकता

इसकी अनुभूति आंतरिक है। रीतिमार्गी प्रेम की तरह बाहर इसका प्रदर्शन नहीं होता। भीतर ही भीतर हर्ष विषाद की तरंगें उठती रहती हैं। प्रेमी का मौन उसके मनोवेगों को छिपा लेता है। ध्यान की प्रचुरता भी इस आंतरिकता के कारण ही है। विरह में श्वास आँतरिक अग्नि से तपते रहते हैं। उद्वेग की अग्नि से अंग उसीजते हैं, मसोसों की ऊमस से जीव व्याकुल रहता है।

संयोग में अभिलाषाओं के अतिरेक से, भावी वियोग की आशंका से अथवा प्रिय के रूप के लोकोत्तर होने से जो विषाद उत्पन्न होता है वह भी प्रेमभावना की आंतरिकता के ही कारण है। अन्यथा रीतिकाल के शृंगारी कवियों ने तो संयोग में विलासों का स्थूल वर्णन किया है जिसमें अनुभूति पक्ष लुप्त ही हो जाता है।

वियोग में वैसे सभी कवि ध्यानप्रवण हो जाते हैं। वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। पर घनानंद में यह प्रवृत्ति चरम सीमा तक पहुँची हुई है। अनेक अंतरायों के मध्य में आ जाने से प्रिय से शरीर संबंध नहीं हो सकता पर प्रिय उसी में (शरीर में) फानूस के दीपक के समान उजाला किये हुए है। लोचन पतंग के समान हृदयगत प्रिय के आस पास ही मडराते रहते हैं। ध्यान की सीप में प्रिय मुक्ता के समान विद्यमान है इसलिये प्राणहंस उड़ कर नहीं जाते। ऐसी स्थिति में प्रिय को दूर कैसे बताया जाय, जब कि वह हृदय के सिंहासन पर ही विराजमान है? वह दृष्टि के आगे घूमता है। बोलता नहीं तो इसमें उसका क्या वश? प्रेमी को तो यह वियोग में भी समीप ही लगता[2] है।

इनकी प्रेमानुभूति की यह सबसे बड़ी विशेषता है। यहां मौन में पुकार रहती है। प्रेमानुभूति से ज्ञान की अंतरिंद्रियाँ जैसे बुद्धि, जीव, मन आदि की जैसी दशा होती है उनका चित्रण कवि ने अधिक किया है। भाव जैसे अभिलाष, रीझ, मोह, आशा, निराशा, उत्साह, हर्ष, औत्सुक्य, मति एवं रति आदि का ही चित्रण तथा विश्लेषण अधिक किया गया है। यह सब अनुभूति की आंतरिकता के बिना नहीं हो सकता।

१—वही १७०।

२—सुहि० ६४।

(ख) रीतिकालीन प्रेम और आनंदघन का प्रेम

श्रृंगारिकता रीतिकाव्य की प्रधान प्रवृत्ति है। इस समय के आचार्य तथा कवियों का प्रमुख रस प्रेमश्रृंगार ही है। पर घनानंद का प्रेम उससे विलक्षण है। रीतिमार्गियों का प्रेम किसी प्रकार का अतरंग साधन नहीं है। वह बाह्य साध्य है। इसीलिये उसमें इंद्रियतुष्टि और विलासवासना का प्राधान्य विद्यमान है। रीतिकाव्य को श्रृंगारिक कह सकते हैं, प्रेम प्रधान नहीं। प्रेम की जो एकनिष्ठता होती है उसका वहाँ अभाव है। नायक नायिकाओं की बहुविषयक आसक्ति के कपटपूर्ण व्यापारों से उसका साहित्य भरा पड़ा है। विलास की रसिकता वहाँ मिलती है। इस रसिकता में भी किसी प्रकार का गाम्भीर्य या आंतरिकता हो, वह भी नहीं। स्थूल शारीरिकता की प्रमुखता है। प्रिय की आसक्ति प्रेयसी के शरीर सौंदर्य में रहती है। इसलिये वह अंगों के वर्णन में अनेक उपमानों का प्रयोग करता है। उसकी शोभा में उसकी आँखें मधु मक्खी बनकर संलग्न हो जाती हैं। उसका प्रेय भी प्रेयसी का शरीरसंयोग ही रहता है। संयोगकाल में आलिंगन, चुंबन सुरत, उसके अवसाद आदि श्लील-अश्लील शारीरिक व्यापारों का ही कवियों ने वर्णन किया है। प्रेम की भावना-प्रधानता का यहाँ अभाव मिलेगा। रीतिकाल की रसिकता में तरलता विद्यमान है, तीव्रता नहीं है ! अतः रीति-काल के प्रतिनिधि कवि बिहारी, मतिराम पद्माकर रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनकी रसिकता या सौंदर्य भावना भी बहिरंग ही थी अंतरंग नहीं[1] थी। वह विषयगत ही थी विषयिगत नहीं, जिसमें भावों के विविध रूप एक के बाद दूसरे आते जाते और बनते बिगडते रहते हैं। इसीलिये रीतिकारों की रचनाओं में भावों के विश्लेषण की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। 'भावना भेद स्वरूप को जाने' की प्रशसा इन लोगों में से किसी की नहीं की गई।

गार्हस्थिकता भी इस काल के श्रृंगार की विशेषता है। कन्या, परोढा, वेश्या आदि के प्रेम की सर्वत्र निंदा की गई है। उसे रस के स्थान पर रसाभास ही माना है। 'प्रेमहीन त्रिय वैश्या है श्रृंगाराभास।"[2] इसीलिये

१-डा० नगेंद्र-रीतिकाल की भूमिका और देव तथा उनकी कविता, पृ० १७४

२-देव-प्रेम चद्रिका

प्रियामिलन के लिये दूती, सखी आदि का प्रचुर प्रयोग किया जाता है। इसमें पारिवारिक मर्यादा का भंग नहीं होता। सास, ननद, गुरुजन आदि का भय तथा लज्जा आदि भाव सर्वत्र बने रहते है। अभिसार आदि में थोड़ी बहुत उच्छृंखलता दिखाई देती है। वहाँ भी दूतियाँ मार्गप्रदर्शन करती हैं, नायिका को चलने के लिये प्रोत्साहित करती है। उसकी सहज लज्जा का अनेक प्रकारों से अपनयन करती हैं। इसलिये घटनात्मक साहसिकता का इसमें अभाव रहता है। इसका कारण संस्कृत की प्रेम-शृंगार-परंपरा का प्रभाव है। संस्कृत का उत्तरकालीन साहित्य शृंगारप्रधान तो हो गया था पर वर्णाश्रम मर्यादाओं का प्रभाव उस पर बड़ा प्रबल था। उसके फलस्वरूप अमर्यादित प्रेम के वर्णन संस्कृत साहित्य में बहुत कम हैं। समझिए नहीं ही हैं। हिंदी के रीतिकाल का प्रेम उसी का विकास है। यद्यपि इस समय तक विदेशी प्रेम फारसी साहित्य के द्वार से आकर प्रविष्ट हो गया था। पर वह भावानुभूति तथा अभिव्यंजना के छोटे मोटे परिवर्तनों के अतिरिक्त मूल ढाँचे में कोई अदल बदल नहीं कर सकता था। यहाँ के प्रेम शृंगार का रूप शुद्ध भारतीय ही रहा था।

यह बताया जा चुका है कि रीतिकाल के कवि प्रकृत्या प्रेमी नहीं थे। काव्यगत प्रेम उन्हें कविपरंपरा से मिला था। उसी का वे शास्त्रों के बल पर निर्वाह करते थे। उसी से इसकी महत्ता की घोषणा करते थे। इनकी व्यक्तिगत अनुभूति इस विषय की नहीं थी। प्रेमहीनों की निंदा में इन कवियों को ही घनानंद ने लिया है। साधारण व्यक्तियों को नहीं। क्योंकि इनकी प्रेमानुभूति में वैयक्तिकता का अभाव मिलता है। भाषा शैली की दृष्टि से रीतिकाल की एककी रचना दूसरे की रचनाओं से पृथक की जा सकती है। पर भाव की दृष्टि से प्रायः सब एक ही प्रकार की हो जाती हैं। कभी ये लोग नारियों के रूपसौंदर्य की प्रशंसा में संसार की समस्त श्रेष्ठ वस्तुओं को तुच्छ प्रमाणित करते है, तो कभी उनकी निंदा भी करते है। उनके व्यक्तिगत भाव कुछ नहीं प्रतीत होते। प्रेम-पात्र भी इनके प्रेम में कोई स्त्री विशेष नहीं है, साधारण नारी है जो उपभोग्य से अधिक और कुछ नहीं। देव ने अपने रसविलास में इसी भाव को स्पष्टरूप से स्वीकृत किया है।

"काम अंधकारी जगत, लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिए डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप॥

तातै कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद।
रागै पागै प्रेम रस मेटै मन के खेद ॥[1]"

\+ + + +

इससे स्पष्ट है कि प्रेम के आश्रय और आलंबन दोनों में व्यक्तित्व का अभाव था।

कृत्रिमता इसमें इसलिये आ गई थी कि अनुभूति की सत्यता नहीं थी। कवियों को कुछ अपने हृदय का अनुभव जब कहने को नहीं था तो बाह्य उपचारों के वर्णन से काम चलाते थे। नायिका भेद, दूती, सखी आदि का आश्रयण, पूर्वराग, मान आदि की परिस्थितियाँ, अभिसार आदि में वेष भूषा आदि का बखेड़ा फैलाना सब कृत्रिमताएँ है। सच पूछा जाय तो रीतिकाल के प्रेम शृंगार में इन सबके अतिरिक्त कुछ और मिलता ही नहीं

प्रेमनिरूपण की शैली में ऊहात्मक पद्धति से हर्षविषाद की मात्रा का साम्यादि द्वारा अनुमान कराया जाता है। जाड़े के दिनों में भी सखियाँ गीले वस्त्र लपेट कर बिहारी की विरहिणी के पास जाती है। इससे उसके विरहसंताप का अनुमान किया जा सकता है। संताप के समय विरहिणी के हृदय में कैसे और क्या क्या भाव उठते हैं यह बिहारी के अनुभव से बाहर की बात है।

रीतिकारों का प्रेम सम था। संस्कृत साहित्य की परंपरा में अनुभयनिष्ठ प्रेम को रसाभास का हेतु माना है। इसी परंपरा का अनुसरण रीतिकारों ने किया था। इसलिये नायक और नायिका दोनों ही समान रूप से एक दूसरे को प्रेम करते हैं। मानिनी नायिका का अनुनय विनय करने के बाद यदि प्रिय निराश होकर लौट जाता है तो नायिका पीछे पश्चाताप करती है। प्रेम की विषमता में जो भाव की उच्च भूमि तथा एकान्तिकता सिद्ध होती है उससे ये लोग परिचित तो रहे होंगे पर अपनी शास्त्रमर्यादा के भंग-भय से उन्होंने उसे अपनाया नहीं।

डा० नगेंद्र ने रीति मार्गीय प्रेम शृंगार की मुख्य विशेषताएँ चार बताई हैं।

१—उसका मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं। वह रसिकता शुद्ध ऐंद्रिक

१—डा० नगेंद्र रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता पृ० १७७ पर उद्धृत।

अतएव उपभोग प्रधान है । उसमें पार्थिव एवं ऐंद्रिक सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है। किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रीय सौंदर्य के रहस्य संकेत नहीं।

२—इसीलिए वासना को अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम रूप में स्वीकार किया गया है। उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया न उदात्त और परिष्कृत करने का।

३—यह शृंगार उपभोग प्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या विलास से भिन्न है दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान भावना भी प्रायः उसमें नहीं मिलती।

४—इसीलिए इसमें तरलता और छटा अधिक है आत्मा की पुकार और तीव्रता कम[१]।

आनंदघनजी की प्रेमभावनाओं में अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो उपर्युक्त रीतिमार्गी विशेषताओं से भिन्न है। इसलिये प्रस्तुत कवि का मार्ग रीतिमुक्त स्थिर होता है। यह बताया जा चुका है कि इनका प्रेम भावात्मक है शारीरिक नहीं। संयोग में शरीरसहवास की चेष्टाओं का तथा वियोग में उसके हाव भाव या हासविलास का वर्णन कवि ने नहीं किया। उभयत्र हृदय के भावों का ही विश्लेषण किया है। प्रिय के बिछुड़ने पर तथा मिलने पर प्रेमी शांति का अनुभव नहीं करता।

'बिछुरै मिलै प्रीतम सांति न मानै'

प्रियदर्शन की अभिलाषाओं का झड़ सा लगा रहता है। कभी दैवगति से स्वप्न की भाँति उनका मिलन भी होता है तो मनोरथों की भीड़ भर जाती है। फलस्वरूप मिलकर भी मिलाप नहीं होता।

"कबहूँ जौ दई गति सौं सपनो सो लखौं तो मनोरथ भीर भरै।
मिलिहू न मिलाप मिलै तनकौ उर की गति क्यों करि क्यौरि[२] परै।"

प्रिय के रूप का साक्षात्कार कर लेने से भी प्रेमी प्रसन्न नहीं होता। भगवान की छटा देख कर जैसे भक्त आश्चर्य चकित होता है उसी प्रकार

१—वही पृ० १७८
२—सुहि० ७२

प्रेमी की बुद्धि आश्चर्य चकित हो जाती है। मति की गति थक जाती है, कहने का सामर्थ नहीं रहता।

"क्यौ करि अनंदघन लहियै संजोग सुख
लालसानि भीजि रीझि बातैं न परैं कहीं।[1]"

नेत्र रूप को देखते हैं पर वर्णन वाणी को करना पड़ता है। उसे वे कैसे करें। बिना देखे रूप का वर्णन वाणी कर दे तो उसका विश्वास क्या ? नेत्र रूप के स्वाद में भीने रहते हैं, पर वे अबोल हो हैं।

जो कछू निहारैं नैन कैसे सो बखानैं बैन।
बिना देखि कहै तौ कहा तिन्हैं प्रतीति है।
रूप के सवाद भीनें बपुर अबोल कीने
विधि बुधि हीने की अनैसा यह रीति[2] है

रूपदर्शन के समय बाह्य इंद्रियाँ संतुष्ट होकर हर्ष लाभ करें, इससे पूर्व ही हृदय विविध भावों का उद्गम, दुख की धूँधरि उठा देता है। प्राण उसी में घुटने लगते हैं।

संयोग काल में घनानंद की अनुभूति रीतिमार्गी कवियों की भाँति कुंठित नहीं होती। और तीक्ष्णतर होता जाती है। उसका कारण प्रेम-भावना की भावात्मकता है। वियोग में और लोग शरीर-संयोग के सुखों का स्मरण करते हैं। घनानंद आंतरिक पीड़ा की विविध अभिव्यक्ति करते हैं। यहाँ मौन में आकुल प्राण पुकारते हैं।

भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में विकास है

इनके प्रेम में अतींद्रिय सौंदर्य के रहस्यमय संकेत विद्यमान हैं। प्रेम का प्रारंभिक रूप शारीरिक है। रूपसौंदर्य पर इंद्रियों की रीझ, विस्मय आदि के भाव अनुभूत हुए हैं। पर इसका आगे भावना में विकास हुआ है। प्रिय भले ही नाम से राधाकृष्ण हों पर वे स्वभाव में 'आनंद के घन' तथा 'सुजान' हैं। 'आनंद के घन' से प्रिय की आनंदमयता तथा 'सुजान' से उसकी सर्वज्ञता की व्यंजना की गई है। बादलों की तरह ही प्रिय सर्वत्र व्यापक है। ध्यान के सीप में उसे हृदय के अंदर बिठा लिया जाता है तो

१—वही २००
२—वही २०१

वासना का मानसिक भावना में परिणाम भी परिष्कार के ही फलस्वरूप है। अतः आनंदघनजी का प्रेम रीतिकारों के प्रेम के विपरीत उदात्त और परिष्कृत प्रतीत होता है।

आनंदघन का प्रेम गार्हस्थिक भी नहीं कहा जा सकता। वेश्या के साथ उसका प्रारंभ होता है। सुजान का सौंदर्य अनावृत है। वेश भूषा भड़कीली है। हावभाव प्रभविष्णु और मादक हैं। घनानंद का प्रम भी सामाजिक शालीनता से झिझकता नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति निश्छल और स्पष्ट है। प्रेमी सुजान के पैरों पर अपना सिर घिसना चाहता है। उसकी अनखौंही मुद्रा के सामने विनीत भाव से खड़ा रहना चाहता है। ऐसा करते हुए उसे सामाजिक लज्जा का अनुभव नहीं होता। अतः यह पारिवारिक प्रेम नहीं कहा जा सकता।

थोड़े बहुत जो खंडिता के वचन लिखे गए हैं उनमें प्रिय की कठोरता, निःस्नेहता आदि ही बहुविषयक प्रेम द्वारा व्यक्त की गई हैं। पारिवारिकता का आभास उसमे नहीं लगता। यह बताया ही जा चुका है कि सास ननद का भय, सपत्नीदाह, परिजनों से प्रेम का छिपाव, दूती या सखियों द्वारा प्रिय का बुलावा या उसके पास जाना, परिजनों में घिर कर भीतर ही भीतर घुटना आदि यहाँ कुछ नहीं है। प्रिय मिलन में यहाँ पर या तो प्रेमी की ही भावनाएँ बाधक हैं या प्रिय का निःस्नेह रूप। पारिवारिक तथा सामाजिक मर्यादाओं का यहाँ कोई स्थान नहीं। अपने भौतिक रूप में यह निर्भीक वैशिक प्रेम है। सामाजिक निंदा गर्हणा को तो प्रेमहीनों की भूल बताकर तिरस्कार कर दिया गया है।

पर इसकी अनन्यता और एकांतिकता की सिद्धि के लिये कवि ने स्थिरता उच्च कोटि की प्रदर्शित की है। प्रेम का वैषम्य इसकी स्थिरता और अनन्यता को और अधिक उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत करता है। 'प्रिय सुजान को देखने के लिये औरों से अनदेखी कर दी है, उसका मार्ग देखते देखते पलक थक गए हैं, उनमें पीड़ा उत्पन्न हो गई है।' नेत्र भी मार्ग को नाप नाप कर थक गए हैं। हृदय में दिन रात उद्वेग की अग्नि लगी रहती है। प्रिय की आराधना की योग साधन होती रहती है। इस दुसह दुहेली दशा के बीच में पड़कर प्राण थक गए हैं। यद्यपि प्रेमी अपने जीवन से उदास हो गया है फिर भी

वह प्रिय का नाम लेकर जीवित रह[1] रह है। केवल प्रिय की ही आशा और प्रिय का ही विश्वास प्राणों में बैठा हुआ है। वे चातक की तरह आठो याम उसी का नाम लेते रहते है।

एकै आस एकै बिसवास प्रान गहै बास,
और पहचानि इन्हें रही काहू सौं न है।
चातक लौं चाहै घनआनँद तिहारी ओर,
आठौ जाम नाम है बिसारि दीनी मौन है[2]।

स्थिरता चरम कोटि की दिखाई गई है। प्राणांत तक प्रेमी प्रेम को नहीं छोड़ना चाहता। प्रिय की निःस्नेहता, रुक्षता आदि उसकी भावना को चलायमान नहीं कर सकते। मरते समय भी प्राण सुजान का संदेश लेकर ही बाहर जाना चाहते हैं।

इस तरह आनंदघन का प्रेम कोरी शरीर की स्थूल वासना ही नहीं है। उसमें आदर्श भावना की प्रचुरता विद्यमान है। भावात्मक होने के कारण घटनात्मक वह नहीं है। अतः रोमानी साहसिकता के दर्शन आनंदघन के प्रेम में नहीं हो सकते। पर उसका साधनारूप यहाँ अच्छी प्रकार स्पष्ट हुआ है। इस विशेषता से भी ये रीतिमार्गी प्रेम से भिन्न प्रकार के प्रेम के भावुक ठहरते हैं।

रीतिमार्गी प्रेम में जो तल्लता और छटा है उसके स्थान पर यहाँ तीव्रता और आत्मा की पुकार मिलेगी। तीव्रता के दर्शन आसक्ति के स्वरूप वर्णन में प्राप्त होते हैं। वह इतनी तीव्र है कि प्रिय के दर्शनों की लालसा में प्राण आखों में आ बसते हैं। जब प्रिया का मिलन होता है तो लाखों प्राण न्योछावर करने की अभिलाषा इतनी तीव्र हो जाती है कि वह संयोग

१—तरी बाट हेरत हिराने और पिराने पल,
थाके ये बिकल नैंना ताहि नपि नपि रे।
हिये में उदेग आगि लागि रही राति द्यौन,
तोहि को अराधों जोग साधों तपि तपि रे।
जान घनानंद यौं दुसह दुहैली दसा,
बीच परि परि प्रान पिसे चपि चपि रे।
जीये तें भई उदास तऊ है मिलन आस,
जीवहि जिवाऊँ नाम तेरो जपि जपि रे। सुहि० २९४

२—वही २९०

संसार को देखने में वही दिखाई देता है। प्राणों की वह गति है। बुद्धि स्मृति, नेत्र और वाणी में उसका वास है। प्रेमी की मनस्थिति ऐसी है कि ससार आँखों से ओझल हो चुका है। आनदघन सर्वत्र छाया हुआ है। इसलिये चातक की तरह प्राण उसी की ओर ताकते रहते[1] हैं। प्रिय के गुण गाते गाते बुद्धि उसी में उलझ जाती है। जिस प्रकार कानों से उन्हें सुना है उसी प्रकार प्राणों से देखने की साध बनी रहती है। पर प्रिय आँखों से नहीं दिखाई देते। यद्यपि सब जगह वह छाये हुए हैं। उन्हें पाकर प्रेमी खोये से हो जाते हैं। प्रेमी आश्चर्य चकित होकर कहता हैं कि 'हे बिसासी बालम, हम तुम एक दूसरे से परिचित नहीं हो पाये। एक ही बास बसे हैं फिर भी दोनों को एक दूसरे का परिचय नहीं हो पाया।' इन उक्तियों में ब्रह्म की व्यापकता तथा उसे प्रेम द्वारा प्राप्त करने की जीव की अभिलाषा का रहस्य प्रतीत होता है। प्रिय और प्रेमी के एक साथ रहने का अर्थ जीव और ब्रह्म का शरीर में होने वाला एकाश्रय सहवास प्रतीत होता है[2]।

'प्रीतिपावस' में कवि ने व्यक्त किया है कि आनंदघन के निकट सदा प्रेमानंद का पावस ही बना रहता है। वहाँ चाहों की वर्षा होती है। वह ज्यौं ज्यौं बढ़ती जाती है तृषा की अग्नि त्यौं त्यौं प्रचंड होती जाती है। 'इश्कलता' में फारसी ढंग से अनेक प्रेमापालंभ प्रकट किए है। वियोग की तीक्ष्णता 'आशिकाना' ढंग से अभिव्यक्त करते हुए कवि 'शोहदा' सा लगता है—

'जिगर जान महबूब असाने की बेदरदी दैंदा है।
पाक दिला दे अंदर धँस कर बेनिसाफ दिल लैंदा है।।
आनन्द घन हो प्रान पपीहा निसदिन सुध न बिसारी है।
महर लहर ब्रजचंद यारदी जिद असाड़ी जारी है[3]।।'

१—वही २६५

२—भले हो रसीले अरसील सुनिहूजिए व,
गुननि तिहारे उरझ्यौ है मन गाय गाय।
कानँनि सुनो है तैसे आँखिन हूँ देखे जाते,
दीखत नहीं औ सब ठाँव रहै छाय छाय।
ऐसे घन आनँद अचभे सों भरे हौ भारी,
खोए से रहत जित तित तुम्हैं पाय पाय।
एक बास बसे सदा बालम बिसासी पै न,
भई क्यो चिह्नारि कहूँ हमैं तुम्हैं हाय हाय। सुहि० ४९८

३—इश्कलता १८।

पर रचना की समाप्ति पर कवि कहता है कि जो आनंद के घन छैन की छवि ध्यान धर देखेगा वही 'इश्कलता' के अर्थ को समझ सकेगा। इसे जो चित्त देकर बाँचेगा उसे बृन्दावन के धाम-सुख की उपलब्धि होगी—

आनद के घन छैनकी छवि निरखै धरि ध्यान।
इश्कलता के अर्थ को समझैं चतुर सुजान॥
इश्कलता ब्रजनन्द को जो बांचै दे चित्त।
बृंदावन सुखधाम सो लहै नित्त ही नित्त[१]॥

इससे स्पष्ट है कि कवि के प्रेम का विषय कोई संसारी प्राणी नहीं परमेश्वर है।

भौतिक प्रेम के आध्यात्मिक रूपमें विकसित होने की प्रेरणा—

उपर्युक्त रहस्यवाद वैष्णव दर्शन से तो इसलिए प्रभावित लगता है कि वह राधा और कृष्ण पर आधारित है। इसका स्वरूप पदावली तथा वर्णनात्मक प्रबंधों में प्रकट हुआ है। पर दूसरी ओर फारसी शैली से प्रभावित लगता है। जहाँ अधिभूत पार्थिव प्रेम का अध्यात्म अशरीर सत्ता के साथ संबंध जोडा जाता है वह अदृश्य सदा आनदरूप है। वेदांतियों के ब्रह्म के समान जो सर्वत्र व्यापक हैं। फलतः इनका आंतरिक प्रेमानुभूति का रहस्य भावना में विकास होना जैसा स्वाभाविक था वैसा ही हुआ है। इस विशेषता में ये रीतिमार्ग से भिन्न रीतिमुक्त धारा में आते हैं।

भावात्मक होने के कारण ही प्रेम का रूप उदात्त और मानसिक है। कहीं भी शृंगार के अश्लील वर्णन नहीं किये गए। जिस प्रकार की घनी आसक्ति सुजान वेश्या के प्रति प्रारम्भ मे थी वैसी ही सखी भाव की उपासना में श्री कृष्ण और राधा के प्रति हो गई है। वासना साधन बन गई है। भोग की लालसा भौतिक प्रेम में भी नहीं दिखाई देती। केवल दर्शनों की आकांक्षा बनी रहती है। इसी प्रकार सखी भाव में युगल मूर्ति की रहः-केलियों के साक्षात्कार कर लेने तथा उनमें सहायक होने पर भी कवि का सखी रूप श्रीकृष्ण में पति भाव का कामुक नहीं होता[२]। वह केवल केलिसख्य और सेवा के अवसर से संतुष्ट रहता है। प्रेम की भौतिक भावना का ज्यों का त्यों भक्ति में यह विनियोग उसके परिष्कार का ही चिह्न है। शारीरिक

१—वही ४२, ४४।
२—देखिए संप्रदाय के प्रकरण में सखी भाव का स्वरूपविवेचन। सुहि० २४१।

के हर्ष की जगह विषाद उत्पन्न करती है। यह सब आसक्ति की तीव्रता के कारण है। प्रेमानुभूति की तीव्रता कवि ने प्रेयसी और प्रियतम के संयोग-काल में भी व्यक्त की है। नीचे लिखा पद्य उसी का व्यंजक है।

'पौढ़े घनआनँद सुजान प्यारी परजंक,
धरे धन अंक तऊ मन रंक गति है।
भूषन उतारि अंग अँगहि सम्हारे नाना।
रुचि के बिचार सों समोय सौंधी मति है।
ठौर ठौर लै लै राखैं और औरै अभिलाखैं,
बन तन आंखैं तेई जानैं दशा अति है।
मोद मद छाके दूमैं रीझि भीजि रस भूमैं,
गहैं चाहि रहैं चूमैं अहा कहा रति है।[1]'

जिन चेष्टाओं का वर्णन किया गया है उनके पीछे आसक्ति की तीव्रता ही प्रतीत होती है। संयोग की तरह वियोग में भी तीव्रता और अधिक मिलती है। वेदना की मार्मिकता और मौन सहिष्णुता उसकी तीव्रता का ही परिचायक है। एक पद्य का उदाहरण पर्याप्त होगा।

अंतर हौ किधौं अंतर हौ, दृग फारि फिरौं कि अभागिन भीरौं।
आगि जरौं, अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।
जौ घनआनँद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हे धरती मैं धसौं कि अकासहि चीरौं[2]।।

इनकी कविता व्यथाप्रधान है। व्यथा का स्वरूप आंतरिक है, यह भाव-प्रकरण में प्रतिपादित किया गया है। प्रेमी की ऐसी परिस्थिति प्रतीत होती है जिससे वह निकल नहीं सकता। उसमें किसी प्रकार का सुख भी नहीं पा सकता। एक प्रकार की बेबसी में वह फँसा हुआ दृष्टिगत होता है। इसी बेबसी में उसकी अंतश्चेतना व्यथित होकर जो आत्माभिव्यक्ति करती है वही आनंदघन का काव्य है। कवि ने स्वयं यह तथ्य स्पष्ट किया है कि— 'सुजान के तीक्ष्ण कटाक्षबाणों से प्राण जब आहत होते हैं और इसी आघात से उनकी प्यास बढ़ने लगती है तो काव्यानुभूति बादलों की तरह हृदय पर छा जाती है। जिससे प्राणों को शांति मिलती है। यह भावों की

१—सुहि ७०
२—सुहि ४१

घनावली सुजान की ओर से ही आती है। इस तरह और लोग तो लग कर कवित्त बनाते हैं पर घनानंद को उनके कवित्त ही बनाते हैं[1]।" आहत प्राणों की पुकार ही इनकी काव्यवाणी का रूप धारण करके आई है। इनके प्रेम में दिगंतव्यापी कुररी का क्रंदन है। इनका अनुराग करुणोन्मुखी है। वह उस समर्थ असमर्थ का क्षोभ है जिसके अधिकार में न प्रेम है न प्रिय और न अपना शरीर। यह प्रेम मानव हृदय की वह व्यथा है जिसमें प्राणसौंदर्य की सत्यता की कभी न भुलाई जानेवाली एक झलक भर मिल जाती है। विरही का यह अनुराग ऐसा विलक्षण है कि विरह में तो प्रिय की प्रतीक्षा में रोम रोम सजग रहता है पर प्रिय के आते ही उसके स्वर आँखों की तरलता में काँपने लगते हैं; तन में पुलक-प्रस्वेद बन कर बहने लगते हैं।

जो नेत्र पहले घन आनंद प्रिय के दर्शनों के रस से शीतल होते थे वे एक दिन दुःखज्वाल में जलने लगे। जो प्रिय के साथ तुष्ट पुष्ट होकर रहे थे वे अब एकाकी होकर मरने लगे। प्रिय की प्रीति जो थाती की तरह छाती पर विराजमान थी उसी का ध्यान कर कर विरही के नेत्र आँसू बरसाने लगे। तब कवि की अंतश्चेतना से ऐसे स्वर निकलने लगे जो सचमुच व्यथित प्राणों की पुकार हैं।

'हारे उपाय कहा करौं हाय मरौं किहि भांत मसोस यौं मारै।
रोवनि आँसु न नैननि देखैं रु मौन मैं व्याकुल प्रान[2] पुकारै॥'

उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त प्रेम रीतिकारों या रीति के अनुयायियों द्वारा वर्णित प्रेम से भिन्न है। वह अपनी आदर्श अनन्यता, स्थिरता, भावात्मकता, अनुभूतिमयता, स्वच्छंदता, आदि गुणों के कारण स्वच्छंद कहा जाने योग्य है, शास्त्रीय नहीं।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि डा० नगेंद्र ने 'रीति कालीन' प्रेम में जो विशेषताएँ बताई हैं वे इनके प्रेम में नहीं हैं। इनका मार्ग उनसे पृथक् अपना ही है।

१—सुहि २२८।
२—वही ४३७।

आठवाँ परिच्छेद

भक्ति रस

१—आवश्यकता

भगवत्प्राप्ति संसारिक प्राणियों के लिये अभिलषणीय इसलिये है कि वे संसार के दुखसंतापों से संतप्त होकर आनंदछाया में विश्राम चाहते हैं। आनंद इंद्रिय और विषयों के संपर्क से संसार में भी मिलता है पर वह क्षणिक और दुखपर्यवसायी है।[1] इसलिए महर्षि पतंजलि ने विवेकी के लिये संसार के समस्त भोगों को दुख बताया है।[2] पूर्ण सुख अर्थात् आनंद परमेश्वर का रूप है। इसी को प्राप्तकर प्राणी यथार्थतः आनंदी हो सकता है। सांसारिक आनंद उसी समुद्र की एक बिंदु है[3], जो धूलि में पड़कर मलिन भी हो गई है। फलतः सांसारिकों को परम काम्य, परमपदार्थ भगवत्सानिध्य ठहरता है। उसे प्राप्त करने के अधिकारिभेद से दो मार्ग हैं।—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग का अर्थ है शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करना। उनका नाश या अभिभव न करना, उन्हीं को विषयों से हटाकर परमेश्वर में स्थानांतरण करना। इसमें कर्म और भक्ति मार्ग दो आते है। निवृत्ति मार्ग में ईश्वर प्रतिकूल वृत्तियों की निवृत्ति कर विवेक द्वारा अनात्म को त्यागते हुए आत्मसाक्षात्कार किया जाता है। इस मार्ग के ऋषि की प्रार्थना है:—'असतो मासद्गमय तमसोमाज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतंगमय।' योग मार्ग और ज्ञान मार्ग इसके भेद हैं। योग में चित्त वृत्तियों का विषयों से निरोध कर ईश्वर में संगमन किया जाता है और ज्ञान में आत्म अनात्म का भेद। कर्म का अर्थ होता है ईश्वर साधक कर्म यागानुष्ठानादि। ये तीनों मार्ग (ज्ञान, कर्म तथा योग) कठिन भी हैं और सफलता के

१—येहि संस्पर्शजाभोगा दुःखयोनय एवते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः। गीता।

२—परिणामतापसंस्कारदुखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
सर्वमेव दुःखं विवेकिनः। योगसूत्र ८

३—आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्। तस्मैवानंदस्यमात्रामुपजीवंति।
योगदर्शन १२।

अनिश्चित साधन भी। 'नियमों से निराश होकर कर्मवाद की कठोरता से घबड़ा कर परोक्ष ज्ञान और परोक्ष शक्ति मात्र में पूरा पड़ता न देख कर ही तो मनुष्य परोक्ष हृदय की खोज में लगा और अंत में भक्ति मार्ग में जाकर इस परोक्ष हृदय को उसने पाया।[१]

२—स्वरूप

भक्ति प्रवृत्ति मार्ग का श्रेष्ठ साधन है। सत् और असत् सभी वृत्तियों का इस में सदुपयोग होता है। ईश्वर के संपर्क से वे सब श्रेयस्कर बन जाती हैं। भागवतकार का वचन है कि काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, सौहार्द आदि कोई भी भाव भगवान में किया जाय तो भक्त भगवानमय हो जाता है।[२] इसलिए वल्लभाचार्य जी ने अपनी 'चतुः श्लोकी' में भक्तों का यही कर्म निश्चित किया है कि श्री कृष्ण को सर्वभावेन भजना चाहिए।[४] यह सहजता ही भक्ति मार्ग की बड़ी विशेषता है। चूंकि भक्ति का स्रोत प्रवृत्ति है इसलिए प्रवृत्ति की प्रगाढ़ता भक्ति मार्ग का उत्कर्षाधायक गुण माना जाता है। आसक्ति से प्रवृत्ति प्रगाढ़ बनती है। इसलिए जितनी भगवान में आसक्ति अधिक होगी उतनी ही भक्ति श्रेष्ठ होगी। दास्य भाव से मधुर भाव की प्रगाढ़ता है। 'कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।' तुलसीदास जी के इस पद्य में आसक्ति या अनुरक्ति ही व्यंग्य है। भक्ति के सब लक्षणों में आसक्ति का समावेश है। जो आसक्ति निवृत्ति मार्ग में दोष है वही भक्ति मार्ग का गुण है। विष शोधा जाने पर जैसे जीवनदायिनी अमृतोपम औषध बन जाता है उसी प्रकार जीवन के दोष भगवान के संपर्क से अमृत बन जाते हैं।

३—लक्षण

१—भक्तराज शांडिल्य ने अपने सूत्रों से ईश्वर में प्रगाढ़ अनुरक्ति[४] को

१—रामचन्द्र शुक्ल त्रिवेणी पृ० १३३

२—काम क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते। भागवत १०:२९:१५

३—सर्वदासर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः। स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन।

चतुःश्लोकी श्लोक १

४—'सा परानुरक्तिरीश्वरे 'शांडिल्य भक्ति सूत्र, १ मसूत्र'।

भक्ति कहा है। २—नारद ने 'परमेश्वर में परम प्रेम' को भक्ति माना है[1]। नारद के मत से कोरा प्रेम भक्ति नहीं। माहात्म्य ज्ञान अपेक्षित है। कोरा प्रेम जार प्रेम सा है।[2]

३—भागवतकार का भक्ति का लक्षण है कि 'सांसारिक विषयों का ज्ञान देनेवाली इंद्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्कामरूप से भगवान में जब लगती है तो उसे भक्ति कहते हैं।[3]

४—वल्लभाचार्यजी का मत नारदानुसारी है। भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान रखते हुए उनमें सब से अधिक दृढ़ स्नेह करना भक्ति है।[4]

५—पंडित भक्त श्री रूप गोस्वामी ने अपने भक्तिरसामृतसिंधु में भक्ति का यह लक्षण किया है कि 'श्री कृष्ण का अनुकूलरूप से अनुशीलन, जिसमें अन्य किसी प्रकार की अभिलाषा न हो और ज्ञान कर्मादि का उसपर आवरण न हो तो भक्ति कहलाती है।[5]

यह प्रगाढ़ आनंद स्वरूप होती है। इसके बल से भगवान स्वयं भक्त की ओर आकृष्ट होते है। यह क्लेशों को नष्ट करनेवाली एवं सुख सृष्टि का हेतु है। इसके समक्ष मोक्ष भी लघु है। इसके आनंद का महिमा का व्याख्यान करते हुए श्री रूप गोस्वामी लिखते हैं कि ब्रह्मानंद को यदि करोड़ोबार गुणित किया जाए तब भी वह भक्ति के आनंदसागर को बिंदु के समान नहीं होता।[6]

१—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' नारद भक्ति सूत्र २ य सूत्र।

२—तत्रापि न माहात्म्यज्ञान विस्मृत्यपवादः तद्विहीनं जाराणामिव।
नारद भक्ति सूत्र २२, २३।

३—देवानां गुण लिंगानामानुश्रविक कर्मणाम्
सत्व एवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तुया
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। भागवत ३, २५, ३२–३३

४—माहात्म्य ज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः
स्नेहो भक्ति रिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथा। तत्वदीप निबंध शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक ४६

५—अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्ति रुत्तमा।
(हरि भक्ति रसामृत सिंधु पूर्व विभाग लहरी १ श्लोक ११)

६—ब्रह्मानंदो भवेदेषचेत्परार्धगुणीकृतः।
नैति भक्ति तुलाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।
वही पूर्वभाग लहरी १ श्लोक २०

सारांश में यह कहा जा सकता है कि भक्ति में अनुरक्ति की तो अत्यंत आवश्यकता है। परमेश्वर की प्रभुता की भावना इसमें होती भी है और नहीं भी होती। यह आवश्यक तत्व नहीं। प्रतीत होता है कि प्रारंभ से ही भक्ति-मार्गी लोगों में दो प्रकार के विचार विद्यमान थे। एक समाजमर्यादा को सुरक्षित रखते हुए परमेश्वर को पूज्य बुद्धि से भजते थे। दूसरे प्रेम को ही ईश्वरप्राप्ति का एक मात्र साधन मानते हुए उसपर समाज, शास्त्र आदि का बंधन न्यौछावर करते थे। दोनों विकसित स्वरूप में व्यवस्थित हो कर 'वैधी' और 'रागानुगा' भक्ति बने।

वल्लभाचार्य जी माहात्म्य ज्ञान के पक्षपाती थे। पर इन्हीं के संप्रदाय के कुछ लोगों ने इसको आवश्यक नहीं माना। श्री हरिराय जी ने महात्म्य ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा है—

'सो ठाकुर जी भक्त के स्नेहवश होय भक्त के पीछे पीछे डोलत हैं। सो जहाँ ताईं ऐसो स्नेह नहीं होय तहाँ ताईं महात्म्य रखनो.........तामों महात्म्य विचारैं और अपराध सौं डरपै तो कृपा होय। जब सर्वोपरि स्नेह होयगो तब आपही सों स्नेह ऐसो पदार्थ जो महात्म्य कूँ छुड़ाय देयगो।[1]

चैतन्य संप्रदाय के अनुयायियों में भी महात्म्य का आदर नहीं है। केवल प्रेम की महत्ता मानी गई है। चैतन्य चरितामृत में लिखा है कि संसार की तो यह रीति है कि वह प्रभुता के ज्ञान के साथ मेरा भजन करता है। पर ऐश्वर्य के कारण प्रेम शिथिल हो जाता है। इसलिये वह मेरा सच्चा प्रेम नहीं। जो मुझे ईश्वर और अपने को हीन मानते हैं, मैं उनके अधीन नहीं होता। मुझे पुत्र, सखा या पति मान कर जो भजते है वे ही शुद्ध रति करते हैं। जो माताएँ मेरे प्रति पुत्र भाव रख कर मुझे छोटा मान कर लालन पालन करती हैं; जो सच्चा सख्य रखते हुए 'तुम हमसे क्या बड़े हो' ऐसा मानकर जो मेरे कंधों पर चढ़ते हैं, तथा प्रिय भाव रख कर जो मान समय में मेरी भर्त्सना करती हैं—वे मेरे परम भक्त हैं। वेदस्तुतियों से भी अधिक वे मुझे प्रिय लगती हैं।[2] अनुरक्ति की दृष्टि से दास्य से सख्य, सख्य से वात्सल्य और

१—अष्ट छाप वार्ता, कांकरोली पृ० १८ 'अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय पृ० ५३० से उद्धृत।

२—प्रभुता ज्ञान मिल्यौ भजै सब जग की यह रीति,
सिथिल प्रेम ऐश्वर्य करि तासौं नहो मम प्रीति।
मुहि को ईश्वर मानि कैं आपुन मानत हीन,

वात्सल्य से माधुर्य उत्तरोत्तर श्रेष्ठ भाव माने जाते हैं। राधा में महाभाव की भावना का रहस्य अनुरक्ति का प्राबल्य है।

४—भक्ति की प्रेरक भावनाएँ

पीछे बतलाया जा चुका है कि भगवान के प्रति सब प्रकार के भाव रखे जा सकते हैं। उनमें निष्ठा और रति आवश्यक हैं। वैसे भक्ति के सात्विक क्षेत्र में तमोगुण की संभावना नहीं रहती फिर भी यदि कामादि इतने प्रबल हों कि वे वश में न आ सकें तो उन्हें भी भगवान की ओर केंद्रित करना चाहिये। फलस्वरूप समस्त भावों का आलंबन जब भगवान बन जाता है तो उसकी अनुभूति होने लगती है।[1] अंत में कामादि दुर्भावों का भगवत्सम्पर्क से परिष्कार हो जाता है और वे भक्ति भाव में परिणत हो जाते हैं। भागवत में श्री कृष्ण का वचन है कि मेरे में बुद्धि समर्पित करने वालों की काम वासनाएँ फिर कामोद्दीपन नहीं करती जैसे भुंजे या उबले धान फिर बीज नहीं बनते।[2] इस लिए आचार्यों ने भक्ति के क्रोड में दुर्भावों का ग्रहण करते हुए भी उन्हें मूल भावों में नहीं लिया है। मूल भाव पाँच हैं, रति दास्यादि। यह पाँचो रति के आलंबन और आश्रय के भेद से भिन्न हुए रूप हैं। मूल में

कबहूँ ताके प्रेम वश हौं न होहु आधीन।
कृष्ण तनय मम सखा सम मेरे पति है प्रान,
करै सुद्ध रति कोइ जो इहि विधि मोको जान।
आपुन को बड़ मानई मोको सम अरुहीन,
मन बच क्रम करि होन हूँ मै ताके आधीन।
पुत्र भाव कर मात मम बंधन करै प्रवीन,
लालन पालन करति नित जानि मोहि अति दीन।
सुद्ध सख्य करि सखा मम काँधे चढ़े सुजान,
कौन बड़े तुम लोक हो हम तुम एक समान।
मान समै जब प्रिया मन भर्त्सन करै निदान,
वेद स्तुत ते अधिक हो सु मन अरु प्रान।

चै० च० ब्रजभाषा—चतुर्थ परिच्छेद

१. अभ्यास योग युक्तेन चेतसानान्यगामिना। परमं पुरुषं दिव्यं याति: पार्थानु चितयन्। गीता ८, ८

२. नमय्यावेशितधियां काम: कामाय कल्पते। भूर्जिता क्वथिता धाना-प्रायो बीजायनेष्यते। भागवत १०, २२, २६

रति ही एक मात्र भक्ति का प्रेरक भाव है। अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित पाँच प्रकार से परमेश्वर में प्रेम प्रकट किया जाता है।

१ दास्य—परमेश्वर मेरा पिता है, माता है, स्वामी है और मैं उसका आज्ञाकारी पुत्र अथवा दास हूं। इसका नाम दास्य प्रीति या दास्य भक्ति है।

२ सख्य—परमेश्वर मेरे सुख दुख, हर्ष शोक में मेरा साथी है, वह मेरा मित्र है, बन्धु है, उसके अतिरिक्त और कोई मेरा हितू या सखा नहीं। इसे सख्य प्रीति या सख्य भक्ति कहते हैं।

३ वात्सल्य—परमेश्वर बालक है, पुत्र है और मैं उसका पालन करने वाली माता या धाय हूँ। मैं उसका पिता हूँ। यह भाव वात्सल्यप्रीति या वात्सल्य भक्ति है।

४ माधुर्य—परमेश्वर पति है। मैं उसकी पत्नी हूँ। अथवा परमेश्वर प्रिय है और मैं उसका प्रेमी हूँ या परमात्मा प्रेमी है और मैं उसकी प्रिया हूँ। यह शृंगार प्रेम अथवा माधुर्य भक्ति है।

५ शांति रति—परमेश्वर व्यापक है, सर्वनियंता है, शुद्ध है, सच्चिदानंद-स्वरूप है। वह शांतदांत और शुचि है। हम उसके अंश हैं। उससे प्रेम करने पर सात्विक आनंद मिलेगा। यह शांत रति अथवा शांत भक्ति है।

इन पाँच प्रकार के भावों से उत्पन्न हुई भक्ति मुख्य होती है क्योंकि परमेश्वर इन सभी भावों का सीधा आलंबन रहता है और रति सभी में विद्यमान रहती है।

उपर्युक्त ये भाव भक्ति के अनुकूल हैं। साहित्य के आचार्यों ने जो अनुकूल प्रतिकूल दोनों प्रकार के भावों का विश्लेषण किया है उन्हें भक्त आचार्यों ने भी बाद में भक्ति के क्रोड में समेटने का प्रयत्न किया है। साहित्य के नौ रसों में से शृंगार तो दास्यादि चार भावों में तथा शांत शांता भक्ति में अंतर्भूत हो जाते है। शृंगार का स्थायी भाव रति है। सख्य, वत्सलय आदि में रति के ही विभिन्न रूप हैं, यह बताया जा चुका है। शेष रह जाते हैं हास्यादि सात रस। इनके विषय में भक्ति सिद्धांत में निर्णीत है कि हास्यादि के हासादि सातों स्थायी भाव भगवदुन्मुख होंगे तो रति ही उत्पन्न करेंगे। बलि और रावण ने मरते समय भगवान राम में श्रद्धा ही प्रकट की

थी वैर नहीं ! कुछ काल के लिये इनका आधार पृथक् होता है। बाद में भगवद्‌द्विषयक रति में ही इनका उपकारकत्वेन विलयन हो जाता है[१]। चूँकि यह परंपरा से भगवत प्रेम में परिणत होते हैं अतः इनसे उद्भूत भक्ति को भी गौण भक्ति कहा जाता है।

घनानंद की दान छटा इसका उत्तम उदाहरण है। गोपों के साथ श्री कृष्ण एक ओर से और गोपियों के साथ राधा दूसरी ओर से आते हैं। दोनों दलों में परस्पर कलह होना है।

गोपी

'छैल नए नित गोकुल गैल सु फैलन कापै अरैल भए हौ।
लै लुकटी हँसि नैन नचावत चैन रचावत मैन लए हौ॥
लाज अंचै बिन काज लगौ तिनहीं सौं पगौ जिन रंग रए हौ।
ऐंड रुबै निरसैगी अबै घन आनँद आन कहा उनए हौ॥'

\+ \+ \+

श्री कृष्ण

'हैं उनए सु नए न कछू उघटै कित ऐंड अमैंड अयानी।
बैन बडे बड़े नैनन कै बल बोलति हैं क्यौं इती इतरानी॥
दान किए बिन जान न पाइहै आइ है जो चलि खोरि बिरानी।
आगें अछूती गई सो गई घन आनँद आज भई मनमानी॥'

\+ \+ \+

इस अमर्ष का अवसान इस प्रकार हुआ।

'आवौ सखी चलि कुंज मैं बैठि लखैं घन आनँद की सुघराई।
पैठन देहि न एक सखै अकिले इन्हें छौंकि करै मन भाई॥
भावती टैक रही बहु भांति कियै न बनै अति ही कठिनाई।
लेत हो राधे बलाय कह्यौ करि आज मनौ इतनी हम पाई॥'

\+ \+ \+

और फिर

'रंग रह्यौ सुन जात कह्यौ उमह्यौ सुखसागर कुंज मैं आए।
फैलि परचौ रस को झगरौ अति हीं अगरो निबटै न चुकाए॥

---

१. कंचित्कालम् क्वचिद्मीके हासाद्याः स्थायितामभी। रत्यावाहनायांति तल्लीलावनुसारतः। तस्मादनियता धारा सत सामयिका इमे। सहजा अपिलीयन्ते बलिष्ठेर तिरस्कृता। ह० र० दक्षिण विभाग प्रेमलहरी श्लोक ३५-३६।

काहू संभार रही न भट्ट तन को तन मैं घनआनँद छाए।
प्रेम पगे रिझवारन की तँह रीझ कै रीझ ही लेत बलाए॥

× × +

यहाँ पहले दूसरे पद्यों में क्रोध और तीसरे चौथे पद्यों में स्नेह प्रतीत होता है। फलतः क्रोध रति का उपकरण मात्र है स्वतंत्र नहीं।

इस प्रकार मानवीय समस्त भावों का भक्ति में अंतर्भाव हो जाता है। वे चाहे भक्ति के अनुकूल हों चाहे प्रतिकूल।

५. भक्ति के भेद

१. अनेक प्रकार से भक्ति के भेद किए जा सकते है। साधना की दृष्टि से भागवतकार ने नवधा भक्ति का उपदेश दिया है। नौ विधाएँ ये हैं—

(१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पाद सेवनम् (५) (६) वंदन (७) दास्य (८) सख्य और (९) आत्म निवेदन।

इस विभाजन में भक्ति का ही नहीं उसके उपकारी अंशों का भी संनिवेश कर लिया गया है। जैसे श्रवण, कीर्तन और स्मरण भक्ति की साधिका क्रियाएँ हैं। भक्ति स्वयं एक भाव स्थिति है जो अंतिम तीन दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन में व्यक्त की गई है। पादसेवन अर्चन और वंदन उपास्य के रूप में संबद्ध हैं। नंददास जी ने इस नौ भेदों को दो भागों में विभक्त किया है। नाद मार्ग और रस मार्ग। श्रवणादि पहले तीन नाद द्वारा भगवदुपासना के व्यापार है और पाद सेवनादि तीन रूप सेवन द्वारा। शेष तीन भाव हैं। इनके अतिरिक्त वात्सल्य आदि और भी भाव हैं जो पहले कहे जा चुके हैं।[१]

२ अधिकारी की दृष्टि से सात्विकी, राजसी, तामसी तथा निर्गुण चार प्रकार की भक्ति होती है। जो भक्त पापों के नाश के लिये अपने पाप पुण्य सब भगवदर्पित कर देता है और अनन्य भाव से ईश्वर में आसक्ति रखता है वह सात्विक भक्त है। राजसी भक्ति लौकिक विषय, यश ऐश्वर्य आदि पर दृष्टि रख कर की जाती है। तामसी में हिंसा दंभ, क्रोधादि के वशीभूत होकर इच्छापूर्त्यर्थ भगवदुपासना होती है। निर्गुण सबसे श्रेष्ठ है। इसमें परमेश्वर को सबमें सम भाव से व्याप्त जानते हुए अपने कर्म परमेश्वर को समर्पित किए जाते हैं और निष्काम आसक्ति रहती है।[२]

१—देखिए अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय पृ० ५२३।

२—भागवत ३।२९।७।१४

३ प्रेरणाओं के भेद से गीता में चार प्रकार के भक्त बताए गए हैं। उनकी भक्ति भी चार प्रकार की होनी चाहिए। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, और ज्ञानी।[1] वास्तव में ऊपर बताए चार भेदों के अधिकारियों के नाम इसमें लिए गए हैं। भेद का विनिगमक सत्व, रजस्, तमस् तथा विवेक ही है। आर्त तामस भक्ति है। जिज्ञासु सात्विक, अर्थार्थी राजस और ज्ञानी निर्गुण।

४ ज्ञानी भक्त श्री रूपगोस्वामी ने साधना द्वारा होनेवाले विकास की दृष्टि से भक्ति के भेद 'भक्ति रसामृतसिंधु' में विस्तार और शास्त्रीय व्यवस्था के साथ किए हैं। मुख्यत: इसके तीन भेद हैं—

(१) साधन रूपा
(२) भावरूपा
(३) प्रेमरूपा

साधनरूपा

साधनरूपा वह प्राथमिक भक्ति दशा है, जब भक्त का परमेश्वर में पूर्ण राग नहीं होता पर अर्चनादि कर्मों से उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किए जाते हैं। इसका साध्य होती है भावरूपा भक्ति।[2] इसके दो भेद माने गए हैं और वैधी और रागानुगा। जब परमेश्वर में स्वत: राग नहीं होता और शास्त्रों के शासन से अर्जित किया जाता है वह वैधीभक्ति है।[3] जिस प्रकार महाराज परीक्षित को शुकोपदेश से हुई थी। जीवगोस्वामी जी ने 'हरिभक्ति रसामृत सिंधु' की इस स्थल की टीका में लिखा है कि वैधी भक्ति में शास्त्रज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। वर्णाश्रम धर्म के आचार-व्यवहार, पूजा-विधानों की तत्परता, शास्त्रों की अनुवर्तिता आदि गुण इसमें प्रमुख बने रहते हैं। शनैः शनैः ये बाह्याचार क्षीण हो जाते हैं, प्रेम प्रबल हो जाता है! एक स्थिति ऐसी आती है कि शास्त्रीय विधानों की अपेक्षा नहीं रहती! प्रेम ही सर्वस्व हो जाता है! वह रागानुगा भक्ति होती है। यह वैधी का विकास भी है और स्वत: उद्भूत भी! भगवत्कृपा हो तो बिना वैधी के रागानुगा का उदय हो जाता है!

१—चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। गीता० ७।१६।

२—कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावासाजनाभिधा।
ह० र० पूर्व विभाग २ लहरी श्लोक

३—यत्र रागस्वाप्तत्वात् प्रवृत्तिरूप जायते, शासने नैव शास्त्रस्य भक्तिरुच्यते।

रागानुगा भक्ति में भक्त के बिना किसी बाह्य प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से भगवान के प्रति प्रेममयी, उत्कट तथा तन्मय कर देने-वाली तृष्णा उत्पन्न[१] हो जाती है। यह तृष्णा कभी कामप्रेरित होती है कभी दूसरे संबंधों से। फलतः रागानुगा के भी दो भेद हो जाते हैं—कामरूपा और सबंधरूपा। पहली जैसे ब्रज वनिताओं की, दूसरी जैसे शिशुपाल आदि की! इसमें शास्त्र, समाज, तथा परिवार की मर्यादाओं का सर्वथा परित्याग होता है।

भावरूपा

उपर्युक्त द्विविध साधना भक्ति द्वारा भावरूपा भक्ति प्राप्त की जाती है। उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है। परमेश्वर की ह्लादिनी, संधिनी और संवित नाम की जो तीन शक्तियाँ है उनमें से पहली का जीवों में प्रेमरूप से प्रकट होनेवाला अंश 'शुद्धसत्व' कहलाता है। वही भाव है। अर्थात् वह ईश्वर का ही अंश है। उससे हृदय में अनेक अभिलाषों का उदय होने लगता है, तो वह आर्द्र और द्रवीभूत हो जाता है। भाव से अभि-लाषों की किरणें सूर्य से सूर्य किरणों के समान फूटता हैं जो समस्त वृत्तियों को अपने रंग में रंग लेती है।[२] दार्शनिक विश्लेषण करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि रति इच्छा है जो मूलतः आत्मा या परमात्मा का ही अंश है। वह है तो स्वयं प्रकाश पर भक्तों की मनोवृत्ति में प्रकट होकर उसी का (मनोवृत्ति का) रूप धारण कर लेती है। और ऐसा लगता है मानों साधनों से प्रकट हुआ हो।[३] यह दो प्रकार से उत्पन्न होती है। साधनों द्वारा जिसमें वैधी आदि पूर्वोक्त भेद आते हैं और श्री कृष्ण या उनके भक्तों की कृपा द्वारा। साधनों का अभिनिवेश भगवान में पहले रुचि फिर आसक्ति और तदनंतर रतिभाव को उत्पन्न करता है। रूप गोस्वामीजी की स्थिर धारणा है कि रति भाव का ही मूल रूप है। अतः इससे भाव का ही प्रकाश हो सकता है, प्रेम का नहीं।[४] प्रेम भाव से आगे की विकास

१— इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टताभवेत, तन्मयी याभवेद्भक्तिः सात्र-रागात्मिकोदिता। (वही पूर्व विभाग लहरी २ श्लोक ६२)

२—शुद्ध सत्य विशेषात्माप्रेम सूर्यांशु साम्यभाक्
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्चते।
वही पूर्व विभाव लहरी ३ श्लोक २

३— आविर्भूय मनोवृत्तौ ब्रजन्ती तत्स्वरूपताम्
स्वयं, प्रकाशरूपाद भासमाना प्रकाश्यवत्।
वही पू० वि० लहरी ३ श्लोक २

४—रत्यातु भाव एवात्र नतु प्रेमाभिधीयते। वही श्लोक ७

कक्षा में आता है। टीकाकार जीव गोस्वामी भी इस सिद्धांत से सहमत नहीं। वे भाव और प्रेम को एक ही मानते हैं। उनके मत से भक्ति के भी साधन और साध्य दो ही भेद होते हैं तीन नहीं।

भक्ति का स्थायी भाव रति है। जो रुचि के अनुसार पाँच प्रकार की होती है—शांति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, और माधुर्य। इनसे पाँच प्रकार की भक्ति निष्पन्न होती है। शांत, दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुरा। इनके स्वरूपों का निर्देश पहले किया जा चुका है। भाव के उदय हो जाने पर भक्त की जो भाव दशा होती है वह निम्नांकित नौ चिह्नों से जानी जाती है।

१. शांति—अर्थात् क्षोभ कारणों के उपस्थित होने पर भी क्षुभित न होना।

२. वैराग्य—अर्थात् इंद्रियों की अपने विषयों में रुचि न रहना।

३. समय का व्यर्थ न खोना—अर्थात् अधिक से अधिक समय भक्ति में ही लगाना।

४. मानशून्यता—अर्थात् स्वयं उत्कृष्ट होकर भी मान न करना।

५. आशाबंध—अर्थात् भगवत्प्राप्ति की दृढ़ संभावना।

६. समुत्कंठा—अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिये अत्यधिक लालायित रहना।

७ नाम गान में रुचि—अर्थात् कीर्तनादि करना।

८. भगवद्गुणों में आसक्ति—जिस लगाव से संसारिक कर्म किए जाते हैं उसी से भगवद्गुणों का श्रवणादि हो।

९. भगवान के वास स्थल में प्रेम—अर्थात् ब्रज, अयोध्या आदि तीर्थों से अनुराग।

प्रेम रूपा

इसके बाद प्रेम लक्षणा भक्ति का अवसर आता है। इसका लक्षण यह है 'हृदय जब भाव में अत्यंत द्रवीभूत और प्रगाढ़ ममता से संयुक्त हो जाता है तो वही प्रगाढ़ अवस्था प्रेम कहलाती है।' प्रेम-भाव-रूपा भक्ति का विकास भी है और भगवत्प्रसाद द्वारा स्वतंत्र रूप से उद्भूत भी! इसके विकास का संपूर्ण क्रम इस प्रकार माना गया है। सबसे पूर्व श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसकी प्रेरणा से साधु संग किया जाता है। संगति के प्रभाव से भगवद्भजन होने लगता है। भजन से बाधाएँ निवृत्त होती हैं। जिससे दृढ़ आस्था या निष्ठा होने लगती है। निष्ठा के बाद रुचि आदि और इसके बाद आसक्ति होती है। आसक्ति का परिणाम भाव और भाव का परिणाम प्रेम है।

इस प्रकार प्रेमरूपा भक्ति साधना की नवीं कक्षा पर प्राप्त होती है। यह विकास क्रम साधारण साधकों के लिये है। भगवद् अनुग्रह से तो हर समय यह अंतिम विकास हो जाता है।

शांत, दास्य आदि पाँच भक्ति भेदों में से प्रत्येक का स्वरूप।

शांत भक्ति

साहित्य में शांत रस का स्थायीभाव निर्वेद माना गया है। शांत भक्ति का भी वही स्थायी है। पर निर्वेद निष्क्रिय और निरासक्त भाव है[1]। भक्ति रस का परिपाक बिना आसक्ति के कैसे हो सकता है? इस आशंका का समाधान भक्ति के क्षेत्र में दो प्रकार से किया गया है। कुछ लोगों ने निर्वेद के स्थान पर धृति को स्थायी भाव माना है।[2] धृति में त्याग का भाव नहीं रहता। अतः वह रागतत्व के साथ विद्यमान रह सकती है। यह वीरादि रसों में व्यभिचारी होती है शांत रस में स्थायी। इसी के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यदि धर्मवीर का अहंभाव छूट जाय तो उसका अंतर्भाव शांत रस में हो सकता है। इस प्रकार निर्वेद को स्थायी भाव न मान कर शान्त भक्ति को रस-सिद्ध कर दिया जाता है। पर इस मत का अधिक समादर इसलिये नहीं किया गया कि 'शांत भाव' दार्शनिकों के यहाँ एक विशेष अर्थ में रूढ़ है। जिस अनुभूति का इससे संकेत होता है वह निर्वेदमूलक ही होती है। फलतः दूसरे लोग निर्वेद को ही इसका स्थायी मानते हैं। इन लोगों के अनुसार निर्वेद अनासक्त भाव नहीं। इसमें भी रागतत्व विद्यमान रहता है। निर्वेद का अर्थ बुद्धि का विषयों को छोड़ कर परमेश्वरनिष्ठ हो जाना है। परमेश्वर को न माननेवालों के लिये उनका कोई आदर्श हो सकता है। निष्ठा का तात्पर्य रति ही है। इसलिये भक्ति शास्त्र में "शांत रति' मानी गई है।[3] तर्क में बल यह दिखाई देता है कि निर्वेद में बुद्धि यदि विषयों से हटती है तो उसका कोई आलंबनांतर चाहिए। वह निराधार भावग्राहिणी नहीं रह सकती। आलंबन

---

१. नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः ह० र० पश्चिम विभाग ल० १ श्लो० २९।

२. धृतिस्थायिनमेकेतु वही ३१।

३. शान्ताख्याया या रतेरत्र स्वीकारान्नविरुध्यते। शमीमन्निष्ठताबुद्धेरति श्री भगवद् वचः। तन्निष्ठा दुर्घटा बुद्धेरेतां शान्त रतिं बिना। वही श्लोक २८, २९।

का आश्रयण रति से ही हो सकता है। फलतः ज्ञानियों का भी भक्ति में भाग मान लिया जाता है। भगवत्करुणा और प्रेम के कारण उनकी तर्क कर्कशता शिथिल हो जाती है और कोमल हृदय में तत्वज्ञान-जन्य अथच समाधि-जन्य आनंद से भी अधिक रतिजन्य आनंद आता है। निर्वेद दो प्रकार का होता है। एक तो अपनी प्रतिकूलताओं से दूसरे तत्व ज्ञान से। पहला सामयिक होने से व्यभिचारी है दूसरा स्थिर होने से स्थायी।

इसमें आलबन सच्चिदानंद आत्माराम, परब्रह्म, सम, दांत, शुचि, विभु आदि रूपवाला परमेश्वर का स्वरूप है। उपनिषद् आदि अध्यात्म विद्या का श्रवण, एकांत स्थान में निवास, तत्व का विवेचन, विद्या की प्रचुरता, ज्ञानी भक्तों के साथ ससर्ग आदि इस के उद्दीपन हैं।

घनानंदजी में ज्ञान और भक्ति का अद्भुत संमिश्रण था। प्रेम और वैराग्य की वे मूर्ति थे। वृंदावन की गलियों तथा यमुना के घाटों पर विरक्त वेश तथा विरक्त भाव में वे मौन धारण किये हुए घूमा करते थे। उन्होंने अनेक पद वैराग्य पूर्ण भक्ति रस के लिखे हैं। सत्संगति की महिमा का बखान किया है। हृदयस्थ परमेश्वर के दर्शन के लिये लालायित होकर वे कहते हैं —'हे प्रभु आप अंतर में विराजमान हो फिर आखों के आगे क्यों नहीं आते ? ये आपके लिए अश्रु बरसाती हैं। आप निकट भा हैं और दूर भी पर दर्शन नहीं हो पाते।[1] मन को उद्बोधन देते हैं कि "हरि भजन का फल विकारों का निर्मल हो जाना, शात शीतल सुख मिलना आदि है।"[2] परमेश्वर सकल श्रुति के सार आविकारवारी हैं। उन्हें हृदय में बसाया जाय और चातक सी लगन अंतर में रहे तो आनंदघन की वर्षा होती है।[3] आराध्य की व्यापकता का अनुभव उन्हें है। इसीलिये वे कहते है 'हे प्रभु अब और तब सदा तुम हमारे साथ हो। मैं और तुम अभिन्न हैं। लेकिन यह बताओ कि

१—अंत मे बैठे कहा दुखदैन निकसि क्यौ न आवत अँखियन आगे।
ये दुखदाई मुख देखन को जागि जागि अनुरागे।
इनकी दशा बने रहि नित देखई गहै पल पल जल त्यागैं
आ० प० २५।
निकट दूरि लहि परत नही कछु आनंदघन रस मगन सचेते। वही ७८
२—देखिए वही आ० प० ९१
३—देखिए वही ९२

यह प्रकट हो हो कर छिप जाने की शिक्षा कहाँ से सीखी है। बीच में पड़कर दूसरे नाम रखकर अटपटी बातें करते हो। आप ही तो नेत्रों के तारे हो पर दिखाई नही देते।[१] विषयासक्ति छोड़कर भगवादनुराग में मग्न होने का उद्बोधन मन को देते हुए कहते हैं—

'तू सब विषयों से पृथक होकर हरि से भेंट कर। तू मद विकार से भरा हुआ है। इस मैल को मिटाकर शुद्ध बन। अपने यथार्थ रूप को पहचान। माया के संग में तू चेतन से जड़ हो गया। फिर भी उसका संग नहीं छोड़ता। शरीर से निकलकर विदेह रूप धारण कर आनंदघन के रूप में रँग जा'।[२] सांप्रदायिक रूढ़ि से ऊपर उठकर मानसी आरती का सकल्प यह है 'ऐसी आरती करो। हृदय के थार में प्रेम का दीपक रक्खो। निर्मल आचार की बत्ती में स्नेह का तेल डालो। विश्वास के साथ भावों के पुष्प चढ़ाओ। मोहन के मुख के पानिप को देखकर प्रसन्न रहो। इस आरती से श्रीकृष्ण वश में हो जाएँगे।[३]

शांत भक्ति के आराध्य का स्वरूप भी अनेकत्र वर्णित हुआ है। 'हरि-चरण आनंद कंद हैं। इनकी वंदना करो। ये परम सुख की सीमा और दुख को दूर करनेवाले हैं। शिव; ब्रह्मा, नारद आदि इनकी शरण में रहते हैं। रस निवास आनंद के घन हैं जो प्यास को दूर करते हैं।[४]

१—अब तुम तब तुम जब तब तुमहीं तुम बिन कब हौं हौ तुम हौं।
यह दुरि उघग्न कहौ कहाँ ते सीखे तुम्है तुम्हारो सौं।
आपु बाच परि नाम और धरि करत अटपटी घातनि कौं।
आनँदघन सुजान हग तारे लखी न परति अनौखी गौं। वही ६६

२—सब तें न्यारे है हरि भेंटि।
है मन मद विकार भरयौ तू निखरि मैल को मैंटि।
निज सरूप सों सम्हारि छूट लगि भूलनि भले भुलाव।
चेतन ते जड़ भयौ संगवसि अजहु तजत न संग।
तनते निकसि विदेह देह धरि रचि आनंदघन रग॥ वही १६३

३—ऐसी आरति करौ।
सुघर थार हिय विसद बीच चलै प्रेम प्रदीप धरौ।
उज्वल दसा सनेह सजोई ज्योति जगाइ ढरौ।
भाव पुहुप प्रतीत सौं संयुक्त वार निओर अरौ।
मोहम मुख जगमगानि पौनि पै निरखत हरष भरौ॥ वही २४०

४—ये आनंद कंद वंदि लै हरि चरन।
परम सुख की सीमा दुख समूह दरन

भक्ति रस में संतों की महिमा तथा संगति का भी बड़े अनुराग के साथ वर्णन किया है। संत ही वेद पुराण हैं। वे ही महान हैं। इनकी महिमा आनंदघन के रस से सदा भीगी रहती है। ये गुरु की कृपा के कारण आनंद रस से भरे रहते हैं। ससार से विरक्त होकर ये विवेक के देश में निवास करते हैं। खानपान परिधान आदि व्यवहार में अनासक्त रहते हैं। शुभ अशुभ तथा साधारण का भेद भाव इन्हें नहीं रहता। अमल अनूप विदेह रूप धारण कर अपनी गति से विचरते हैं। इनके चरण रज में समस्त लोक-कल्याण निवास करते हैं। कृष्णरसासव के नशे में झूमते रहते हैं। तत्व बोध की झलक से हृदय का आनंदरहस्य सदा प्रकट रहता है।[१] ऐसे संतों की संगति की महिमा यह है कि 'जिन्होंने साधु-जन-संगति साध ली है उन्होंने सब कुछ साध लिया। मनरूपी वस्त्र की वासना को धोकर रागरुचि में रंग दिया है। आनंदघन के रसस्पर्श का प्रसाद पा लिया है और अपने प्रेम के प्रण को पूरा निबाहा है।[२]

शांत भक्ति का थोड़ा बहुत स्वरूप सभी भक्तों की रचनाओं में प्राप्त होता है पर आनंदघन के इस भाव की विशेषता यह है कि उन्होंने ज्ञान सयुक्त वैराग्य का प्रेम से अच्छा योग किया है। दूसरे भक्तों की रचनाओं में शांत भक्ति के भावों में ज्ञान और वैराग्य का अंश तो बढ़ता जाता है। पर प्रेम का माधुर्य क्षीण होता है। आनंद घन मूलतः प्रेमी थे। अतः प्रेमहीन वैराग्य तो ज्ञानमार्ग का अंग बन जाता है।

दास्य भक्ति

दास्य भाव में भगवान और भक्त का जो संबध होता है यह दिखाया

शिव विधि मुनि नारदादि रहत सदा सरन
मोद-पयोद-रस निवास प्यास हरन ॥ वही ३४

१—जिनके मन सुविचार परे
गुरु पद परम पुनीत प्रसादहि पाव प्रेम आनंद भरे,
तत्व बोध की बलक झलक बस ढकी गास व्यौरनि उघरे। इत्यादि
वही १२१

२—तिन सब कुछ साध्यौ हो जिन साधो साधु जननि संगति
पतित पावन पुरुषोत्तम पदवी पावन की परम गति
धोई धोई मन बसन रच्यौ है रागरुचि रंगति
आनदघन रस परस प्रासादहि पाइ पल्यौ पन पंगति वही ५८५

भक्ति रस में संतों की महिमा तथा संगति का भी बड़े अनुराग के साथ वर्णन किया है। संत ही वेद पुराण हैं। वे ही महान हैं। इनकी महिमा आनंदघन के रस से सदा भीगी रहती है। ये गुरु की कृपा के कारण आनंद रस से भरे रहते हैं। संसार से विरक्त होकर ये विवेक के देश में निवास करते हैं। खानपान परिधान आदि व्यवहार में अनासक्त रहते हैं। शुभ अशुभ तथा साधारण का भेद भाव इन्हें नहीं रहता। अमल अनूप विदेह रूप धारण कर अपनी गति से विचरते हैं। इनके चरण रज में समस्त लोक-कल्याण निवास करते हैं। कृष्णरसासव के नशे में झूमते रहते हैं। तत्व बोध की झलक से हृदय का आनंदरहस्य सदा प्रकट रहता है।[1] ऐसे संतों की संगति की महिमा यह है कि 'जिन्होंने साधु-जन-संगति साध ली है उन्होंने सब कुछ साध लिया। मनरूपी वस्त्र की वासना को धोकर रागरुचि में रंग दिया है। आनंदघन के रसस्पर्श का प्रसाद पा लिया है और अपने प्रेम के प्रण को पूरा निबाहा है।[2]

शांत भक्ति का थोड़ा बहुत स्वरूप सभी भक्तों की रचनाओं में प्राप्त होता है पर आनंदघन के इस भाव की विशेषता यह है कि उन्होंने ज्ञान संयुक्त वैराग्य का प्रेम से अच्छा योग किया है। दूसरे भक्तों की रचनाओं मे शांत भक्ति के भावों में ज्ञान और वैराग्य का अंश तो बढ़ता जाता है। पर प्रेम का माधुर्य क्षीण होता है। आनंद घन मूलतः प्रेमी थे। अतः प्रेमहीन वैराग्य तो ज्ञानमार्ग का अंग बन जाता है।

दास्य भक्ति

दास्य भाव में भगवान और भक्त का जो संबध होता है वह दिखाया

शिव विधि मुनि नारदादि रहत सदा सरन
मोद-पयोद-रस निवास प्यास हरन॥ वही ३४

१—जिनके मन सुविचार परै

गुरु पद परम पुनीत प्रसादहि पाव प्रेम आनंद भरे,
तत्त्व बोध की बलक झलक बस ढकी गास व्यौरनि उबरे। इत्यादि
वही १२१

२—तिन सब कुछ साध्यौ हो जिन साधी साधु जननि संगति
पतित पावन पुरुषोत्तम पदवी पावन की परम गति
धोई धोई मन बसन रच्यौ है रागरुचि रंगति
आनदघन रस परस प्रासादहि पाइ पल्यौ पन पंगति वही ५८५

जा चुका है। श्री रूप गोस्वामी ने 'हरि-भक्ति-रसामृत-सिंधु' में इसके दो विभाग किए हैं।

१—अपने स्वभाविक तथा शुभ कर्मों को भगवदर्पित करना।

२—भगवान को स्वामी समझ कर उनको सेवकाई करना[१]

कर्मार्पण की व्याख्या वल्लभाचार्य जी के 'अंतः करण प्रबोध' में मिलती है। उन्होंने लिखा है कि कर्म की फलप्राप्ति न होने पर दास भक्तों को पश्चाताप का अवसर नहीं आता। वह तो सेवक ही है अन्य कुछ नहीं। लौकिक स्वामियों की तरह श्री कृष्ण को नहीं देखना चाहिए। सेवक का तो यही धर्म है स्वामी अपना धर्म स्वयं निबाहेगा।[२] मुख्यता इन में भक्त के दैन्य और आराध्य के महत्व की होती है। ये गुण भक्त के अपने दोषप्रख्यापन, विनय, याचना, दैन्यनिवेदन, आत्मसमर्पण आदि तथा भगवान की शक्ति में विश्वास आदि के द्वारा प्रकट होते हैं। घनानंदजी ने संसार का पर्याप्त अनुभव किया था। विलासी जीवन का रहस्य पहचाना था। जिन के लिये वह प्राण देने को तैयार थे उसने उसकी बात भी नहीं पूछी। ऐसे व्यक्ति को संसार से निर्वेद और परमेश्वर की दयालुता में अटल विश्वास सच्चा होता है। इस लिये इनकी दास्य भक्ति में हृदय की सहज मार्मिकता और सरल प्रेम स्पष्ट हुए हैं। वे कहते हैं 'हे प्रभु मेरे मन को अपने चरणों में स्थान दो। यह संसार में भटक कर फिर आया है। यह भूला हुआ फिरता रहा। मुझे आपका बड़ा भरोसा है। मेरा मन बड़ा विजाति, मोह-ग्रस्त और चपल है। अब भी छल नहीं छोड़ता। अब इसे अपने प्रेम सिंधु के तट पर स्थान देकर अपनी लीलाओं में निमग्न कर दीजिए।[३]

१—दास्यं कर्मार्पणम् तस्य कैंकर्यमपि सर्वथा : ह० र० वि० पू० ल० २ श्लो० ३३

२—पश्चातापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न दृष्टव्यः कदाचन।
सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति

अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय पृ० ६०१ पर से उद्धृत

३—लै राखौं अपने पायनि तर,
यह मन भटकि आयौ जग क्रुस्न कमल लोचन करुनाकर।
+ + +
मरम भरयौ मँडगात निरंतर निहचै रचै न एक घरी घर।
भूल्यौ फिरत भरोसो भारी तुम से नाथ न ऐसे खलबर॥
महा विजाती विरल मोहमय थक्यौ चपल छाँड़त नाहिन छर
प्रेम सिंधु के कूल वास दै लीलामग्न करौ निसवासर॥ आ० प० ४७८

इस प्रकार के निच्छल हृदय में स्वाभाविक रूप से सर्वात्मना आत्म-समर्पण की भावना विद्यमान रहती है। आनंदघनजी कहते हैं—"हे हरि मैं कुछ नहीं जानता। जो भली बुरी आपको रुचे आप ही करिए। मैं तो इन अभिलाषाओं पर टिका हूँ कि तुम अपना जान कर जीवित करोगे। आप मेरे हृदय की जानते हो। अपने आप ही आप कृपा करो।[1]"

इस अनन्य विश्वास का कारण भक्त की निजी दीनता और भगवान की शक्तिमत्ता है। दैन्यभाव की अनुभूति घनानंद जी की यह है—'अपने को दीन, बलहीन तथा क्षीण समझ कर आप की शरण में आया हूँ। हे आनंद के घन ? दीन पपीहों के आप ही प्राणाधार हो।[2] आप शरणागत के स्वामी, सर्व दयालु तथा अंतर्यामी भी हो। जहाँ जहाँ आप का स्मरण हुआ है वहीं वहीं आप शीघ्र दौड़ कर पहुँचे हो। मेरे जैसा कपटी, कुटिल, प्रसिद्ध कामी कोई दूसरा कौन होगा ? हे आनंदघन ! वेद इसके साक्षी हैं कि आप अनेक पापों के बहाने वाले हो।[3]

भगवान की शक्तिमत्ता में इन्हें पूर्ण विश्वास है। उनकी आस्था है कि 'हे भगवान ? तुम्हारे चरण सब फल देने वाले हैं। वे रस-विलास और समग्र सम्पत्तियों के स्वामी, आनंद के घनरस की मूर्ति तथा शरणागत के भय को दूर करने वाले हैं।[4]

हृदय ही नहीं कवि की बुद्धि भी भगवान के समक्ष अपनी अकिंचनता और लघुता का अनुभव करती है। इसका कारण यह है कि भगवान के गुण इतने अपरिमेय है कि उनको गा गा कर प्रभु को रिझाना किसी के लिये संभव नहीं। भक्त थोड़ा बहुत जो कुछ कह पाते हैं वह सब परमेश्वर की ही कृपा से।[5] गंधर्व गण, ब्रह्मा, गणेश तथा अन्य विद्वान भगवान के गुण गागा कर थक जाते हैं। शेष, महेश और अशेष निगम भी बेचारे उनकी

१—वही, ४८३।

२—दीन हीन बलहीन जानि कै लागौ लालगुहार।
दीन पपीहनि के आनंदघन जीवन प्रान अधार आ० प० २५९

३—वही, आ० प० ३७८

४—चरन तुम्हारे सुफलदायक।
रमन भूमि ब्रजमंडन सुनहु सावरे गोकुलनायक।
रस विलास सपदा स्वामी सुखनिधान सुमिरिबै सुलायक।
आनंदघन अमोघ रस मूरति सरनागत भयहरन सहायक। आ० प० १२२

५—वही, ३६७,

यथार्थता को नहीं जान पाते ।[१] भक्त के हृदय की लघुता का कारण आत्मनिरीक्षण है। 'भगवान सच्ची रति से प्रसन्न होते हैं। पर सच्ची रति पहाड़ के बराबर है। आनंदघनजी कहते हैं कि मेरा हृदय तो स्वयं झूठा है। झूठे स्वादों में अनुरक्त हो गया है। सच्चा रस-सार इसने छोड़ दिया है।[२]

अपने प्रति लघुता की अनुभूति का फल उद्बोधन भी होता है, जिसे कवि कभी अपनी बुद्धि को और कभी अपने हृदय को देता है। यह भी दैन्य निवेदन का एक अंग है। इसे भक्ति क्षेत्र में दास्य भावना के अंतर्गत ही गिना जाता है। घनानंदजी ने अनेक स्थलों पर उद्बोधन के पद लिखे हैं। एक पद में मन को समझाते हुए वे कहते हैं कि 'हे मन तू हरिचरणों से परिचय प्राप्त कर। तू मेरा कहना मान। इस सुखसम्पत्ति से अपना घर भर ले। जो ब्रजभूमि के भूषण और ब्रजरमणियों के प्रिय हैं उन्हीं से प्रेम कर। उस आनंदघन का पपीहा तथा उसी अरविंद का भ्रमर बन।[३]

इस उद्बोधन में दार्शनिक ज्ञान का पुट भी यत्र तत्र मिलता है। संसार की असारता को लेकर मन को चेतावनी दी गई है कि 'हे मन यह समस्त संसार धोखा है। सारभूत परमेश्वर का तू स्मरण कर। क्षण क्षण में आयु यों ही बीती जाती है, तू सावधान हो। संसार में कौन किसका बंधु और कैसा परिवार ? आनंदघन के रसामृत का पान कर अमर बन।[४]

वात्सल्य भक्ति

वात्सल्य रति प्रेम के समान मानव प्रकृति का सहज तथा व्यापक भाव है। कठोर से कठोर हृदय शैशव के भोले चेष्टा-व्यापारों पर मुग्ध हो जाता

१—गन गंधर्व गुनी गिरापति गुरु गनेस गुन गहए गावत तिहारे।
गाइ गाइ छकि छकि जकि थकि जीतत है जनम कहि हारे।
सेस महेस निगम असेस गति पावत नहि विचारि विचारे।
ब्रज मोहन आनंद घन हौ चित चातक पन रखवारे। आ० प० ३५३

२—तुम्हैं को रिझाइ सकै हो बड़े रिझवार।
रती साँच सौ रीझि रहत हौ सो मोहि भयौ वै पहार।
झूठे स्वाद हिल्यौ हिय तजि सांचौ रसभार।
अब आनंदघन उमड़ि घुमड़ि कै करो कृपा आसार। आ० प०, ३४६

३—आ० प०, ४४९।

४—वही, ८५६।

इस प्रकार के निश्छल हृदय में स्वाभाविक रूप से सर्वात्मना आत्म-समर्पण की भावना विद्यमान रहती है। आनंदघनजी कहते हैं—"हे हरि मैं कुछ नहीं जानता। जो भली बुरी आपको रुचे आप ही करिए। मैं तो इन अभिलाषाओं पर टिका हूँ कि तुम अपना जान कर जीवित करोगे। आप मेरे हृदय की जानते हो। अपने आप ही आप कृपा करो।[1]"

इस अनन्य विश्वास का कारण भक्त की निजी दीनता और भगवान की शक्तिमत्ता है। दैन्यभाव की अनुभूति घनानंद जी की यह है—'अपने को दीन, बलहीन तथा क्षीण समझ कर आप की शरण में आया हूँ। हे आनंद के घन? दीन पपीहों के आप ही प्राणाधार हो।[2] आप शरणागत के स्वामी, सर्व दयालु तथा अंतर्यामी भी हो। जहाँ जहाँ आप का स्मरण हुआ है वहीं वहीं आप शीघ्र दौड़ कर पहुँचे हो। मेरे जैसा कपटी, कुटिल, प्रसिद्ध कामी कोई दूसरा कौन होगा? हे आनंदघन! वेद इसके साक्षी हैं कि आप अनेक पापों के बहाने वाले हो।[3]

भगवान की शक्तिमत्ता में इन्हें पूर्ण विश्वास है। उनकी आस्था है कि 'हे भगवान? तुम्हारे चरण सब फल देने वाले हैं। वे रस-विलास और समग्र सम्पत्तियों के स्वामी, आनंद के घनरस की मूर्ति तथा शरणागत के भय को दूर करने वाले हैं।[4]

हृदय ही नहीं कवि की बुद्धि भी भगवान के समक्ष अपनी अकिंचनता और लघुता का अनुभव करती है। इसका कारण यह है कि भगवान के गुण इतने अपरिमेय है कि उनको गा गा कर प्रभु को रिझाना किसी के लिये संभव नहीं। भक्त थोड़ा बहुत जो कुछ कह पाते हैं वह सब परमेश्वर की ही कृपा से।[5] गंधर्व गण, ब्रह्मा, गणेश तथा अन्य विद्वान भगवान के गुण गागा कर थक जाते हैं। शेष, महेश और अशेष निगम भी बेचारे उनकी

१—वही, ४८३।

२—दीन हीन बलहीन जानि कै लागौ लालगुहार।
दीन पपीहनि के आनंदघन जीवन प्रान अधार आ० प० २५५

३—वही, आ० प० ३७८

४—चरन तुम्हारे सुफलदायक।
रमन भूमि ब्रजमंडन सुनहु मावरे गोकुलनायक।
रस विलास सपदा स्वामी सुखनिधान सुमिरिबै सुलायक।
आनंदघन अमोघ रस मूरति सरनागत भयहरन सहायक। आ० प० ३२९

५—वही, ३६७,

यथार्थता को नहीं जान पाते ।[1] भक्त के हृदय की लघुता का कारण आत्मनिरीक्षण है । 'भगवान सच्ची रति से प्रसन्न होते हैं । पर सच्ची रति पहाड़ के बराबर है । आनंदघनजी कहते हैं कि मेरा हृदय तो स्वयं झूठा है । झूठे स्वादों में अनुरक्त हो गया है । सच्चा रस-सार इसने छोड़ दिया है ।[2]

अपने प्रति लघुता की अनुभूति का फल उद्बोधन भी होता है, जिसे कवि कभी अपनी बुद्धि को और कभी अपने हृदय को देता है। यह भी दैन्य निवेदन का एक अंग है। इसे भक्ति क्षेत्र में दास्य भावना के अंतर्गत ही गिना जाता है। घनानंदजी ने अनेक स्थलों पर उद्बोधन के पद लिखे हैं। एक पद में मन को समझाते हुए वे कहते हैं कि 'हे मन तू हरिचरणों से परिचय प्राप्त कर। तू मेरा कहना मान। इस सुख सम्पत्ति से अपना घर भर ले। जो ब्रजभूमि के भूषण और ब्रजरमणियों के प्रिय हैं उन्हीं से प्रेम कर। उस आनंदघन का पपीहा तथा उसी अरविंद का भ्रमर बन ।[3]

इस उद्बोधन में दार्शनिक ज्ञान का पुट भी यत्र तत्र मिलता है। संसार की असारता को लेकर मन को चेतावनी दी गई है कि 'हे मन यह समस्त संसार धोखा है। सारभूत परमेश्वर का तू स्मरण कर। क्षण क्षण में आयु यों ही बीती जाती है, तू सावधान हो। संसार में कौन किसका बंधु और कैसा परिवार ? आनंदघन के रसामृत का पान कर अमर बन ।[4]

वात्सल्य भक्ति

वात्सल्य रति प्रेम के समान मानव प्रकृति का सहज तथा व्यापक भाव है। कठोर से कठोर हृदय शैशव के भोले चेष्टा-व्यापारों पर मुग्ध हो जाता

१—गन गंधर्व गुनी गिरापति गुरु गनेस गुन गहए गावत तिहारे ।
गाइ गाइ छकि छकि जकि थकि जीतत है जनम कहि हारे ।
सेस महेस निगम असेस गति पावत नहिं निहारि विचारे ।
ब्रज मोहन आनंद घन हौ चित चातक पन रखवारे। आ० प० ३५३

२—तुम्हैं को रिझाइ सकै हौ बड़े रिझवार ।
रती साँच सों रीझि रहत हौ सो मोहि भयौ वै पहार ।
झूठे स्वाद हिल्यौ हिय तजि सांचो रसभार ।
अब आनंदघन उमड़ि घुमड़ि कै करो कृपा आसार। आ० प०, ३८६

३—आ० प०, ४४६ ।

४—वही, ८१६ ।

है। सृष्टि का यह सप्रयोजन भाव है। निर्बल निरुपकारी बालक के पालन—पोषण की विशालता के लिये माता पिता के जिस त्याग तपस्या की अपेक्षा होती है उसकी प्रेरणा इसी भाव में निहित होती है। शिशुओं का पालन करते समय माता अपने कष्टों को सौभाग्य समझती है। अपने कर्मों का फल लेने की भावना कभी उसके हृदय का स्पर्श नहीं करती। मानों परमेश्वर यही उससे कराना चाहता है। परमेश्वर प्राणियों के हृदयदेश में बैठकर उन्हें इस प्रकार प्रेरित करता है मानो वे यंत्रारूढ़ हों।[१] वात्सल्यरति इसका ज्वलंत उदाहरण है कि परमेश्वर हमारे भावों और विचारों द्वारा सृष्टि का संचालन अपने अनुसार कराता है। बच्चे के लिये स्तनों में दूध आने से पूर्व माता के हृदय में वात्सल्यभाव का उदय होता है। अन्य प्रकार के भावों से इसकी यही विशेषता है कि यह निःस्वार्थ होता है। बदले की कामना वात्सल्य के आश्रय में नहीं होती। शृंगार में आलंबनाश्रित प्रेम न हो तो वह पुष्ट नहीं होता। सख्य भी बिना विनिमय के तिरोहित हो जाता है। पर वात्सल्य में किसी प्रकार का विनिमय अपेक्षित नहीं होता।[२] प्रत्येक प्रकार की रति को 'कामजा" रति माननेवाले पाश्चात्य विचारक विशेष कर फ्राइड के अनुवर्ती भले ही वात्सल्य में भी कामवासना का प्रच्छन्न रूप देखें पर भारतीय विचारपद्धति से तो यह मानवीय प्रेम का ही कोमल रूप है।

अनुग्रह की भावना से मिश्रित विशुद्ध रति 'वात्सल्य' कहलाती है। इसीलिये इसके आलंबन में प्रभविष्णुता की अनुभूति आश्रय को नहीं होनी चाहिए।[३] आलंबन को प्रभावशाली समझनेवाला हृदय उसके प्रति वत्सलरति का अनुभव नहीं कर सकता।

इसका उदय पितृ हृदय में उतना नहीं जितना मातृ हृदय में होता है। वैष्णव भक्तों में कृष्ण के प्रति वात्सल्य का प्रसार जितना यशोदा के हृदय में दिखाया है उतना नंद के हृदय में नहीं। इस सार्वजनीन अनुभूति

१—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया। गीता।

२—अप्रतीतौ हरि रतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य नक्षतिः। ह० र० पश्चि वि० ल० ४, २८।

३—प्रभावानास्पदं तथा वेद्यस्यात्र विभावता। वही श्लोक ४।

को संस्कृत के काव्याचार्यों ने शृंगार के अंतर्गत माना है। पर कृष्ण के बालचरित्र वैचित्र्यपूर्ण होने से अद्भुतरति तथा वात्सल्यरति के विशेष रूप से हेतु बने। और उसके अनुसार साहित्य की सृष्टि हुई। फलतः इस रस की रचनाएँ इतनी अधिक हो गईं कि साहित्य शास्त्रियों ने इसको पृथक् रस मान लिया। भक्तिसिद्धांत में तो पृथक् रस पहले माना ही जा चुका था। भक्ति के ग्रंथों में वात्सल्यरति' रति के पाँच भेदों में से एक स्वतंत्र भेद है। कृष्ण के प्रति जिनकी वत्सल भावना थी वे तथा श्रीकृष्ण इसके आलंबन माने गए। 'नारद भक्ति सूत्र' में भी प्रेम-रूपा भक्ति की ग्यारह आसक्तियों में एक वात्सल्य नाम की आसक्ति भी मानी गई है।[१] श्री रूप गोस्वामी जी ने 'वात्सल्य भक्ति रस' का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसमें आलम्बन श्रीकृष्ण का यह स्वरूप मान्य है। 'श्यामांग, शिशु, रुचिर, सब शुभ लक्षणों से युक्त, कोमल, प्रियवाक्, सरल, लज्जाशील, विनयी, बड़ों के आदरकर्ता आदि।[२] संभ्रमरहित वात्सल्य इसका स्थायी है। श्री कृष्ण की यौवनारंभ काल की चेष्टाएँ भी भक्तों ने वात्सल्य रस में ली हैं। इसका कारण यही है कि वात्सल्यरति के प्रभाव से बालक बड़ा होने पर भी माता पिता की दृष्टि में छोटा ही रहता है। सूरदास जी की यशोदा श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने तथा वहीं राजा बन जाने पर भी जो उनकी माखन रोटी की चिंता से व्याकुल रहती हैं उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या यही है।

घनानंद जी मुख्य रूप से मधुर भक्ति के भक्त तथा स्वच्छंद प्रेम के कवि हैं। इनकी रचनाओं में वात्सल्यभाव के दर्शन अल्पमात्रा में तथा अपरिपुष्ट रूप में होते हैं। वर्णन साधारण रूप का है। कृष्ण के बाल-चेष्टितों से व्रज की सौभाग्यसराहना करते हुए वे कहते हैं कि 'वह ब्रज का आँगन धन्य है जहाँ बालक श्री कृष्ण घुटनों डोलते हैं। यशोदा धन्य हैं जिन से कृष्ण तोतली बोली में बोलते हैं। यह आनंदघन प्रसन्न होकर उनकी गोद में सोते हैं।[३] श्री कृष्ण गोचारण के बाद घर लौटते हैं तो यशोदा उनकी आरती उतारती हैं। अपने आप को उनपर न्यौछावर करती हैं। बड़ी लालसा से उनका मुख देखती हैं। उनकी बलैया लेती हैं। अंचल

१—कृष्णं तस्य गुरुंश्चात्र प्राहुरालंबनान् बुधाः। ह० र० प० विभाग लहरी ५, २।

२—ह० र० प० विभाग लहरी ४ श्लोक २३।

३—आनंदघन पदावली ३३५

मुँह पोंछती हैं। पुचकारों से उनपर प्रेम की वर्षा करती हैं।[१] 'श्रीकृष्ण सिसकते भी जाते हैं और दूध पीते जाते हैं। जिय के आधार उन्हें देख कर मोह की प्रबल तरंगों से माता के स्तनों के दूध की धार द्रवित हो जाती है। वे श्याम को अंचल से ढाँप लेती हैं। निधड़क देख भी नहीं सकतीं।[२]

इसके साथ साथ बधाई के पद घनानंद जी ने बहुत लिखे हैं। यह प्रथा निंबार्कसंप्रदाय के सभी भक्तों में है। उन पदों में भी वात्सल्य भाव की झलक मिलती है। उसी प्रकार के कुछ पद राधा की बधाई तथा सोहिलों पर लिखे गए हैं। राधा की झाँझी पुजाने के भी कुछ पद हैं। जिनमें वात्सल्य भाव व्यक्त किया गया है। माता कीर्ति राधा की लाड़ के साथ झांकी पुजाती हैं। चंदन रोली से पूजा करती हैं। फूल माला पहनाती हैं। मधु मेवा का भोग लगाती हैं। राधा की सहेलियों को घर घर से बुला कर उन्हें ओली देती हैं।[३]

'गिरिपूजन' में भी कृष्ण के शैशव का थोड़ा वर्णन मिलता है। 'स्यामराम की जोड़ी गिरिपूजन को जानेवाली ब्रजांगनाओं के साथ है। ग्वाल बाल क्रीड़ा करते जाते हैं। रोहिणी तथा यशोदा जहाँ पर हैं कृष्ण दौड़ कर वहीं जाते हैं। अपनी गोद मिष्टान्न से भरवा लेते हैं और साथियों में बाँट देते हैं। मधु मंगल ले लेकर भी बाँटता जाता है। श्री कृष्ण गोद से उतर कर पायनि पायनि चलते हैं।[४]

१—जसोमति आरती उतारै उमगि आपनौ ज्यौ वारै)
चित चढ़ि रही ललन की बन तैं गोधन लै घर आवनि।
अति आरति सौं बदन निहारैं।
लै बलाय आँचर मुख पोछति प्रेम पुचकरनि बरसति प्यारैं।

आ० घ० पदावली ८७३

२—सुस्कत पियत जियत अरु ज्यावत जननी जिय आधार
प्रबल मोह की उमंगतरंगनि द्रवति दूध की धार।
झांपि लेत आचर सौं स्यामैं निधरक सकति न चाहि। वही ८०८

३—आनंदघन पदावली ९५९।

४—स्याम राम की जोट सुहाई। सब के मन नैननि सुखदाई।
रंगन करत ग्वालगन संग। ब्रज मोहन सब को सब अंग।

सख्य भक्ति

भगवान श्री कृष्ण के जीवन में सखा भाव का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा था। शैशव में उन्होंने अपनी प्रभुता को भूल कर आभीर बाल-बलिकाओं के साथ अकृत्रिम जीवन का स्वर्गीय सुख स्वयं लिया और दूसरों को बाँटा था। गोचारण, माखनचोरी, दानलीला तथा अन्य खेल कूदों में समान भाव से सबके साथ वे खेले थे। उनका समस्त शैशव सख्य भाव के मधुर वातावरण में ही समाप्त हुआ। प्रौढ़ावस्था में भी अर्जुन सुदामा आदि के प्रति मैत्री का उच्च आदर्श निभाकर अपने को सच्चा सखा बनाया। भागवतकार ने इसी भाव को लेकर ब्रह्मा के मुख से कृष्ण स्तुति में कहलाया है कि 'नंद गोप तथा अन्य ब्रजवासियों को धन्य है कि जिनका मित्र परमानंद 'पूर्ण सनातन ब्रह्म है।[1] भक्त लोगों ने भागवतकार की भावना को लेकर सख्य को भगवद् अनुराग का एक भेद मान लिया और अपने को कृष्णसखाओं में रख कर धन्य माना। अष्ट-छाप के प्रसिद्ध आठ भक्त अपने को श्रीकृष्ण भगवान के आठ सखा मानते थे। सुरदास तथा परमानंददास ने भगवान की उन लीलाओं का बड़े विस्तार तथा तन्मयता के साथ वर्णन किया है जो सख्य भक्ति रस की अनुभूति देती हैं।[2]

इसका स्थायी भाव ऐसा प्रगाढ़ विश्वास है जिसमें किसी प्रकार के दबाव की भावना न हो।[3] भगवान और उनके सखा समभाव से आपस में क्रीड़ाएँ करते हैं। श्री चैतन्य संप्रदाय वालों का मत है कि परमेश्वर ऐसे भक्तों पर शीघ्र प्रसन्न नहीं होता जो उसके अलौकिक महत्व को सदा स्मरण करते हुए अपने दैन्य का निवेदन करते रहते हैं, अर्थात् दास्य भाव को भक्ति करते हैं। दास्य भक्ति के प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि भगवदानुराग में माहात्म्य ज्ञान जो श्री वल्लभ आचार्य जी को संमत है वह भी अंत

रोहिनि जसुमति को समाज जहाँ। दौर जात हैं कान्ह कुँवर तहाँ।
गोद भगाय फिरत कुछ बाँटत। मधु मंगल लै लै फिर नाटत।
गिरधर पायनि पायनि पायन। उतार चलत भरि गोधनभायन॥ गिरि पूजा

१—अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोप ब्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानंदं पूर्ण ब्रह्म सनातनम्। भागवत १०, १४, ३२

२—देखिए अष्ट छाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ६१२

३—ह० र० प० विभाग लहरी ३ श्लोक ६,

में छुट जाता है। सख्यु भाव स्वभाव से ऐसा है कि इसमें भगवान का माहात्म्य विस्मृत हो जाता है। भक्तिसाधना में इसका फिर बड़ा महत्व हो जाता है।

भगवान के सखा चार प्रकार के माने गए हैं।

१—सुहृद।

२—सखा।

३—प्रिय सखा।

४—प्रिय नर्मवयस्य।

उनमें सुहृद वे हैं जो आयु में श्रीकृष्णजी से कुछ बड़े थे। इनकी मैत्री में वात्सल्य की भी गंध रहती है। बलभद्र ऐसे ही थे। सखा आयु में छोटे होते हैं। इनकी मैत्री में प्रीति का योग होता है। जो आयु में समान तथा केवल मैत्री का भाव रखते हैं वे प्रिय सखा होते हैं जैसे श्रीदामा आदि। प्रियनर्मवयस्य वे है जो कृष्ण की रहस्य लीलाओं में उनके साथ रहते तथा उन्हें सहायता देते हैं। प्राय: श्रृंगार चेष्टाओं में जैसे दानलीला, रासलीला आदि में इनका सान्निध्य रहता है। श्री कृष्ण के समान राधा की भी सखियां होती हैं पर उनका आकलन सख्य प्रीति में नहीं होता। वे मधुरा भक्ति में आती हैं। सांप्रदायिक रूप से भी सखी संप्रदाय वालों में कृष्ण के सखा होने की भावना नहीं होती। वे अपने को केवल राधा की ही सखी मानते हैं।

घनानंद जी सखी संप्रदाय के थे। अत: उनकी रचनाओं में सख्य भाव के दर्शन नहीं के बराबर हैं। सखी भाव प्राचुर्येण प्राप्त होता है। इसका विस्तार पूर्वक वर्णन पृथक् किया जायगा।[1] यहाँ सूक्ष्मत: उनके सख्य भाव की रचनाओं का विवेचन करते हैं।

जितना कुछ वर्णन इस भाव का इनकी रचनाओं में मिलता है वह प्रियनर्मवयस्य सखाओं का है। 'व्रज व्यवहार' में, दानलीला के प्रसंग में सखाओं का वर्णन किया गया है। गोपियां दधि लेकर जंगल से निकलती हैं। गायों को देखने के लिये श्रीकृष्ण पर्वत पर चढ़ते हैं। मन में दानलीला का चाव है। सुबल, सुबाहु, तोष, और मधुमंगल जो उज्वल प्रेम में चतुर हैं

१—देखिए संप्रदाय का विवेचन।

तथा अन्य सखा श्रीकृष्ण के साथ हैं। सब ब्रजमोहन के साथ साथ घूमते हैं। आपस में प्रीति कथाएँ कहते है। ब्रज देवियाँ देवीपूजन के लिये गिरि घाटियों से नित्य निकलती हैं। श्रीकृष्ण के संकेतों को वे समझ जाते हैं और उससे प्रसन्न होते हैं। ब्रजांगनाओं की पादध्वनि को सुन कर गिरि घाटियों में लकुटों की बेड़ी लगाकर बैठ जाते हैं। श्रीकृष्ण की आज्ञा से घाटियों को घेर लिया गया। रस भरी बातें करने, प्रसन्न होकर गाने तथा गाल बजाने लगे। एक ओर श्रीकृष्ण खड़े हो गए। वे ब्रज तरुणियों को चपल नेत्रों से देखते हैं और दानकेलि के चाव से मन ही मन प्रसन्न होते हैं। गोरस के बहाने से झटकते झगडते हुए हँस हँस कर क्रोध के वचन बोलते हैं। श्रीकृष्ण गहन कुंजों तथा पर्वत कदराओं में विहार करते हैं। दान केलि में कोलाहल मचता है और सब ग्वाल दधि लूटते हुए मिलकर नाचते हैं।[१]

घनानंदजी ने जिन चार सखाओं का नाम दिया है उनमें से सुबल का नाम श्री रूपगोस्वामी ने हरि-भक्ति-रसामृत-सिंधु में भी दिया है। यह प्रियनर्मवयस्यों मे श्रेष्ठ वयस्य है।[२] 'दान घटा' में ललिता मधु मंगल को संबोधित करती हुई कहती है कि दान माँगने से ऐंठ कर चलने से काम नहीं चल सकता। यदि राधा के गुन गा गा कर रिझा दो तो उनकी न्यौछावर करके दधि तुम्हें दिया जा सकता है।[३] गिरि पूजन' में श्री कृष्ण गोद भर कर कुछ बाँटते फिरते हैं पर मधुमंगल लेकर भी नट जाता है।[४] ये ही महाशय छाक खाते समय दिखाई पड़ते हैं। यशोदा ने श्री कृष्ण के लिये छाक भेजी है। मधुमंगल भूख के मारे बड़े चाव से ताक लगाये बैठा है। छकिहारी छाक लाई तो सब ग्वाल बाल ढाक के पत्तों पर हिल मिल कर खाते हैं।[५]

इतनी अधिक रचनाओं में सख्य भाव का प्राप्त होना तो स्वाभाविक ही है। पर कवि का अनुराग इस भाव के साथ नहीं दिखाई देता। वह तो मधुर भाव या शांत भाव के ही साथ हैं।

१—ब्रज व्यौहार ९८,११२।

२—ह० र० पश्चिम विभाग लहरी ३ श्लोक २१।

३—दान घटा ६।

४—गिरि पूजन २१।

५—आनंदघन पदावली ६०८।

मधुराभक्ति

'रस सवाद रसिया ही जानै
बिनु रस भये कौन अनुमानै'

यह पहले बताया जा चुका है कि भक्ति प्रवृत्ति मार्ग का साधन है। प्रवृत्ति का उत्तेजक तत्व राग होता है। अत: भक्ति मार्ग में राग का प्राधान्य रहता है। रागतत्व की जितनी प्रधानता शृंगार में रहती है उतनी अन्य किसी भाव में नहीं। शृंगार विशुद्ध राग ही है। अन्य भावों में इसका कुछ कुछ अंश विद्यमान रहता है। फलत: रागमूलक शृंगार का भक्ति में बड़ा महत्व माना जाता है। वहाँ इसे मधुर भाव कहते हैं। भक्ति के पाँच भेदों में मधुरा भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। भक्त लोगों ने इसे भक्ति 'रसराज' तथा 'रसनिर्यास' कहा है।[१] राम कृष्ण का श्याम वर्ण जो भक्ति संप्रदाय में माना गया है और उसके साथ श्रंगार का भी श्याम वर्ण साहित्य के आचार्यों ने सिद्धांतित किया है, इस से शृंगार का भक्ति में प्राधान्य ध्वनित होता है।

लोक दृष्टि से अवश्य यह शंकनीय है। सामाजिक मर्यादाओं का भंग होने से यह दंभ जैसा प्रतीत होता है। इसलिये आचार्यों ने मधुरा भक्ति के पात्र उच्चकोटि के भक्त माने हैं। उन्होंने इस भक्ति भेद को रहस्य और दुरूह बताया है। वास्तव में लोक में सबसे अधिक मादक और आध्यात्मिक अभ्युदय का बाधक भाव शृंगार होता है। इसका दमन मानसिक ग्रंथियाँ उत्पन्न कर व्यक्तित्व को दांभिक बना देता है। यदि इसका स्थानांतरण विषयों से हटा कर भगवान में कर दिया जाय तो इसके समस्त दोष गुण बन जाते हैं। भक्त लोग उस आसक्ति की कामना करते हैं जो कामी को अपनी पत्नी के प्रति होती है।[२] इसकी मादकता भक्ति में इस प्रकार समाप्त हो जाती है जिस प्रकार प्रसाद में प्राप्त की हुई माला की। भागवतकार ने बताया है कि जिन भक्तों की बुद्धि भगवान में संलग्न होती है उनके लिये काम शृंगार, उसी

१—पृथगेव भक्ति रसराज स विस्तरेण उच्यते मधुर:। उज्वलनीलमणि पृ० ४ श्लोक० २। कृष्णरसनिर्यासस्वादार्थभवतारिणि। वही श्लोक १८

२—कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तस रघुवीर निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम। तुलसी।

प्रकार मादक नहीं रहता जिस प्रकार भुने या उबले धान उगने योग्य नहीं रहते।[१]

मधुर रस और घनआनंद

घन आनंदजी ने मधुर रस या श्री कृष्ण के संबंध से गोपियों को मिलने वाले आनंद की महत्ता बड़े अभिनिवेश से प्रतिपादित की है। उनके अनुसार गोपियों का प्रेम मधुर रस है। यह परम अगम्य और दुर्बोध है। भक्त के हृदय में भगवान की महिमा का जब तक ध्यान बना रहेगा तब तक इस रस का आस्वादन नहीं हो सकता। ब्रह्मा, शिव, शुक तथा उद्धव जैसे ज्ञानी भक्त महिमा के वशीभूत होकर ऐश्वर्य रस में पड़ जाते हैं। वे मधुर रस में अवगाहन नहीं कर सकते। रस परमेश्वर का नाम है। जब तक व्यक्ति रसस्वरूप नहीं हो जाता तब तक इस रस का आस्वादन उसे नहीं मिलता और वह रस अमिल है। उस को तो श्रुति भी नेति नेति कह कर पुकारती है।

'रस सवाद रसिया ही जानै
बिन रस भये कौन अनुमानै
सो रस अमिल मिलै धौं काहि
निगम नेति करि बरनत जाहि'

प्रेमपद्धति १४, १५

जिनको इस रस का थोड़ा बहुत अनुभव होता है वह श्री कृष्ण की ललित लीलाओं में अवगाहन करने लगता है। वह अत्यंत लघु होकर ब्रज रज की आराधना करता है और गोपी मार्ग सखीभाव पर चलने लगता है। ब्रजरज की कृपा से यह रस प्राप्त हो सकता है। ब्रजरज का अधिकारी भक्त तभी होगा जब भगवान स्वयं उस पर कृपा करें।

'रस ही रस अपने रस ढरै
तब ब्रज रज अधिकारी'[२]

---

१. न मय्यावेशित धियां कामः कामाय कल्पते
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते। भागवत १०, २२,२६।

२—प्रेम पद्धति २१

इस रस का आस्वादन करनेवाला एकरस हो जाता है। उसे अत्यंत अमोघ सुख की प्राप्ति होती है।

'या रस विवस एक रस रहै
अति अमोघ सुख संपति लहै'[1]

इसकी समता करने के लिये कोई भाव नहीं है। यह सबसे ऊँचा और सबसे पृथक है। उसकी प्राप्ति का एक मात्र साधन गोपीमार्ग का आश्रयण है। घनानंद जी कहते हैं कि 'मैं इसलिये गोपियों के गुण गाता हूँ और उनके अनुराग से अपना मन अनुरक्त करता हूँ कि इस रस की अनुभूति प्राप्त कर सकूँ।'

'तातें गोपिन के गुन गाऊँ,
इनकी रचनि मनैं परचाँऊँ'[2]

इसका यथार्थ पात्र गोपिकाएँ हैं। उन्होंने इसका आस्वादन किया है—

'यह संवाद गोपिन ही लह्यौ,
नेति नेति निगमन हू कह्यौ'[3]

आचार्य श्री रूपगोस्वामी ने उज्वलनीलमणि ग्रंथ में इसका विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार साहित्य के रसों में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि अंगभूत होते हैं उसी प्रकार उन्होंने मधुर रस में सब कल्पित किए हैं। लौकिक रस की शैली से भक्ति के रस का प्रतिपादन सर्वप्रथम इन्होंने ही किया है। इससे मधुर भाव का रसत्व अवश्य सांगोपांग स्थापित हो गया पर भक्तिमार्ग को इससे क्षति ही पहुँची। लौकिक रसों की विश्लेषणपद्धति के कारण भक्तिभाव भी लौकिकायमान हो गया। इसका फल यह हुआ कि भक्तिभाव शृंगार रस में परिणत हो गया। रीतिकाल मे जो राधाकृष्ण नायक नायिका बन गए उसका दोष इस परंपरा को भी देना चाहिए। अस्तु.

लक्षण—

लोक में स्त्री पुरुष की प्रीति के जिस विकसित रूप को शृंगार कहते हैं वही परमेश्वर के आलंबन में जब अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त करता है तो वह मधुर रस कहलाता है।

१—प्रेम पद्धति, ४८

२—वही, पृष्ठ ४८

३—वही, पृष्ठ ५९

स्थायी भाव--

इसका स्थायी भाव मधुरा रति है। कुछ भक्तों ने अपने को पुरुष तथा परमेश्वर को स्त्री या प्रिया रूप में मान कर प्रेम किया है। दूसरों ने अपने को स्त्री तथा भगवान को पति या उपपति मान कर प्रेम किया है। वैष्णव-संप्रदाय में गोपीभाव तथा सखीभाव ऐसा ही है। यह सब रति के प्रयोग-भेद हैं। रतिभाव सर्वत्र एक ही है।

स्थायी भाव के भेद--

मधुरा रति तीन प्रकार की मानी गई है। साधारणी, समंजसा और समर्था। स्वार्थ बुद्धि तथा स्थायिता की दृष्टि से इनमें उत्तरोत्तर उत्कंष है।

साधारण रति

साधारण रति हरि के दर्शन से उत्पन्न होती है। यह अधिक सांद्र नहीं होती। संभोग की इच्छा इसका निदान होती है। भावुक भक्त की दृष्टि भगवान के शरीर संसर्ग पर रहती है इसलिये प्रेम की अपेक्षा संभोगकामना अधिक प्रबल होती है। रति का पर्यवसान संभोग में ही होता है जैसे कुब्जा की रति का।

आनंदघन के प्रेम का पर्यवसान शरीरसंयोग में नहीं होता इसलिये साधारणी रति के दृष्टांत इनके काव्य में नहीं मिलते।

समंजसा

समंजसा रति में पत्नीत्व की भावना रहती है। यह लोकमर्यादा का भाव है। श्रीकृष्ण के गुणादि का श्रवण, चित्रदर्शन आदि से इसका जन्म होता है। स्वभावतः यह सम होती है। इसमें कभी संभोग की इच्छा प्रबल हो जाती है और कभी प्रेम की भावना। इसके दर्शन स्वकीयाभाव की रचनाओं में मिलते हैं। आनदघन जी की पदावली में कहीं कहीं स्वकीयाभाव दिखाई पड़ता है। कोई प्रेयसी श्री कृष्ण को संबोधन करके कहती है—

'हे बालम हृदय बड़ा व्याकुल हो गया है शीघ्र मेरा स्मरण करिए। अब विलंब न कीजिए। अनुकूल होकर दुखों को दूर कीजिए। नहीं तो ये मुझे दौड़ कर घेर लेंगे। यदि तुम नहीं समझते हो तो मैं क्या करूँ। आप

ने मुझे अपनी बना कर भुला दिया है। पहले आनंद की वृष्टि की और अब वियोग की अग्नि लगा दी[१]।

समर्था रति

पूर्वोक्त दोनों भेदों से श्रेष्ठ यह भेद माना गया है। इसमें प्रेमी भक्त को भगवान से किसी प्रकार की तृप्ति का सुख नहीं मिलता। इसके विपरीत प्रिय भगवान की तृप्ति की ही कामना की जाती है। संभोग की इच्छा रति में ही लीन होकर तदात्म हो जाती हैं। इसका जन्म या तो स्वत: ही होता है या प्रिय के अचल संबंध से। इसका थोड़ा सा अंश भी अन्य भावों को विस्मृत करा देता है। इच्छा में ही इतना चमत्कार और विलास रहता है कि संभोग की इच्छा का उदय ही नहीं होता। यही अपने पूर्ण विकास से महाभाव कहलाती है। जिसका आश्रय केवल राधा ही मानी गई हैं। गोपियों में भी यह विद्यमान रहती है।

घनानंद ने अपनी रचनाओं में समर्था रति के ही चित्रण किए हैं। कवित्त सवैयों में पदों में और वर्णनात्मक निबंधों में रति का रूप मानसिक भावना में ही मिलता है। यह शारीरिक वासना से सर्वथा भिन्न है।

श्रीकृष्ण की प्रेमिकी कहती है—'उनका रूप देखकर मेरा मन पारे के कूप के समान उमड़ता है। जितना इसे स्थिर करती हूँ उतना ही चंचल होता है। यह श्रीकृष्ण के गुणों की गाड़ में जाकर गिर जाता है। मैं कामदेव के शूल सहती हूँ। उनके चेटक के धुआँ में मेरे प्राण घुटते हैं। मैं अपनी दशा किससे कहूँ। अब तो हृदय में यही है कि ब्रज के छैल की छाया के समान उन्हीं के साथ सदा रहूँ।

१—सुरति सवेरी लेहु विसासी बालम जियरा अति अकुलाय,
अब न विरम करिये ढरिये हरिये दुख हाहा मतरुआइ है धाय,
कहा कहौ जो तुम्हहि न समझौ अपनी करि ज्यौ दई भुलाय।
आनद घन रस बरसि सरसि तब तब अब लाई यह लाय।
आनंदघन पदावली ५५३

२—मान परद कूप लौ रूप चहै उमहै सुरहै नहिं जैतौं गहौं :
गुन गाडनि जाय परै अकुलाय मनोज के ओजनि सूल सहौं :
घनआनंद चेटक धूम में प्रान छुटैं न घुटैं गति कासों कहौं :
उर आवत यों छांव छाँह ज्यों हौ ब्रजछैल की गैल सदाई रहौं :
आनंदघन सुजानहित ११

रस सागर नागर श्याम को देख कर मैं अभिलाषाओं की धार में बह जाती हूँ। धैर्य का तीर दिखाई नहीं पड़ता। हार कर लज्जा की सिवार पकड़ती हूँ। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उनके गुण हाथ में लेकर भी डूबती हूँ। अब तो यही मन में आता है कि ब्रज के छैल की छवि की छाँह के समान उन्हीं के साथ में सदा रहूँ।'[१]

जिस प्रकार ईख का पर्व विकसित होकर पूरा गन्ना, रस, गुड़, खाँड़, मिश्री तथा कंद उत्तरोत्तर बनती जाती है उसी प्रकार यह समर्था रति अपनी विकसित अवस्था में प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और अंत में महाभाव बनती है। इस प्रकार इसके विकास की आठ कक्षाएँ हैं। भक्ति-सिद्धांत के अनुसार रति (अभिलाष) जो परमेश्वर का ही चैतन्यांश जीव में विद्यमान रहती है, वही विकसित होकर महाभाव में परिणत होती है। महाभाव राधा का स्वरूप है। राधा और कृष्ण परस्पर में अभिन्न हैं। इस तरह समर्था रति या प्रेम अपने मूल रूप में परमेश्वर का अंश है। और विकसित होकर भी भगवत्स्वरूप हो जाती है। भगवान के चैतन्यांश का ही विकास होकर स्वरूप में पर्यवसान होता है।

घनानंद ने इस भाव को इतनी प्रचुरता के साथ वर्णन किया है कि उसमें सरलता से इसके समस्त भेद आ गए हैं। इससे यह सिद्ध करना कि कवि भक्ति के उपर्युक्त शास्त्रीय विवेचन से परिचित था, कठिन होगा। इस विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। उनका काव्य साधारणतया प्रेम-परक है। शास्त्रीय भेदों का इसमें कोई संकेत नहीं। पर ये सखी भाव के उपासक होने के कारण मधुरा भक्ति के सिद्धांतों से परिचित रहे होंगे—यह अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अस्तु।

उपर्युक्त भेदों के लक्षण सहित उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

प्रेम

प्रेम प्रेमी और प्रिय का पारस्परिक भावबंधन है जो विरोधी कारणों से कभी नहीं टूटता।[२] जैसे प्रेमी भक्त अनुभव करता है कि :—

देखने मात्र से ही घन आनंद ने मेरा हृदय गुणों से बाँध लिया। इसके

१—वही, १२।

२—सर्वथाध्वंसारहितं सत्यपिध्वंस कारणे।
यद्भाव बंधनं यूनोः स प्रेमापरिकीर्तितः उ० नी० मणि, पृ० ४१८

अपना खेल किया। फलस्वरूप यह उलझ गया। अब यह प्रीति के फंदों में गँस कर कस गया है। छलकपट से इसका सुलझाना नहीं हो सकता। सुजान अब भूल कर भी सुध नहीं लेते, उनके हृदय का छिपा रहस्य जाना नहीं जाता। अब इसी परेखे मे दुःखजाल में पड़ा हुआ मन मुरझाता है।'[१]

ध्वंसायोग्यता

'दुःख धूप की धूँधरि में गिर कर यदि मेरा प्राण घुट जाएगा तब भी मित्र सुजान से नाता नहीं टूट सकता।'

स्नेह

प्रेम की विकसित दशा का नाम स्नेह है। स्नेह अपने तेज से प्रेमी के हृदय को द्रवीभूत तथा अंतश्चेतना के दीपक को और अधिक प्रदीप्त कर देता है। भावों की लपटों में पड़ कर यह घृत का कार्य करता है। इसके उदय हो जाने से प्रिय के दर्शन-स्पर्शन से कभी तृप्ति नहीं होती है।[२] इसमें हृदय के द्रवीभाव और अतृप्ति के निम्नलिखित उदाहरण हैं।

हृदय का द्रवीभाव

'तुम्हारी निकाई पर मेरी रीझ ही बिक चुकी है। देखते देखते देखना ही बंद हो गया है। यौवन—घूमरे नेत्रों को देख कर बुद्धि बौरा गई है। उसने अपनी ममता न्यौछावर कर दी है। तुम्हारी वाणी में मेरी वाणी विलीन हो गई है। तुम्हारे न देखने को देखने से जीवित रह रहा हूँ। इससे अधिक और क्या होगा ?'

"रीझ बिकाई निकाई पै रीझि थकी गति हेरत हेरन की गति।
जोबन घूमरे नैन लखैं मति बौरी भई गति वारि कै मो मति।
बानी बिलानी सुबालनि पै अन-चाहनि चाह जिवावति है हति।
जान के जी की न जानि परैं घन आनँद या हू ते होत कहा अति।"

सुहि० ३४

अतृप्ति

प्रिय के दर्शन-स्पर्शन होने पर भी तृप्ति का न होना दो कारणों से हो जाता है। एक तो संयोगकाल में हर्षविभोर होकर प्रेमी की चेतना लुप्त हो जाती है। दूसरे अभिलाषाओं की बाढ़ आने से संयोग का सुख अभिलाष के दुखों में दब जाता है। प्रत्येक के उदाहरण जैसे—

१—सुहि० २२ :३: सुहि ३
२—उज्वल नीलमणि पृ० ४२४–४२५, कारिका ७०–७१

हर्षविभोर की चेतना का लोप

'हे प्रिय तुम्हें चाहे कुछ भी अच्छा लगे पर मेरा मन तो तुम्हारा वर्णन करना चाहता है। लेकिन बुद्धि की प्रगति थक जाती है। हे माधुरी निधान! तुम्हारे थोड़े साक्षात्कार मे ही सुधि अपनापन भूल जाती है। अंतःकरण लालसाओं से भींग जाता है। फिर आनंद घन ? संयोग का सुख कैसे प्राप्त हो।

"तो हि जैसी भाँति लसै, बरनिबो मन बसै,
बानी गुन गसै, मति गति बिथकै तहीं।
जान प्यारी सुधि हूँ अपुनपौ बिसरि जाय,
माधुरी निधान तेरी नैसिक मुँहाचही।
क्योंकरि आनँदघन लहियै संजोग सुख,
लालसानि भीजि रीझि बातैं न परैं कहीं।[1]"

सुहि० २००

अभिलाषाधिक्य

'हे प्रिय तुम्हारे मुख की ओर देखने की इच्छाओं से उमाह का झड़ लगा ही रहता है। और बिना संयोग बने वियोग का दुख टरे कैसे ? कभी यदि स्वप्न की तरह तुम्हें देख पाती हूँ तो मनोरथों की भीड़ लग जाती है। फलस्वरूप मिल कर भी मिलाप नहीं मिलता।

"मुख चाहन चाह उमाहन को घन आनँद लाग्यौ रहैई झरै।
मनभावन मीत सुजान संजोग बनै बिन कैसे बियोग टरै।
कबहूँ जौ दई गति सौं सपनोसौ लखौं तो मनोरथ भीर भरै।
मिलिहू न मिलाप मिलै तनकौ उर की गति क्यौं करि क्यौंरि परै।"

सुहि० ७२

मान

स्नेह में उत्कृष्टता आजाने से नवीन प्रकार का माधुर्य अनुभूत होने लगता है। आत्मीयता बढ़ने पर ऊपरी छद्मकौटिल्य जो धारण किया जाता है वह मान है।[2] जैसे—

१—सुहि० २००।

२—स्नेहस्तूत्कृष्टता वाप्त्या माधुर्यमानयन्नवम्।
योधारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्तितः॥

उ० नी० मणि, का० ८७, पृ० ४३२

'हे राधे सुजान ! इधर ध्यान दो। प्रेम में मान मरोड़ कहाँ की जाती है ? तुम्हारा तो मन मक्खन से भी अधिक कोमल है। फिर यह कठोरता की बान कहाँ से पड़ गई ? स्याम से मिल कर तुम कैसी शोभायमान होती हो—यह कहा नहीं जाता। वह आनंद का घन होकर भी तुम्हारा पपीहा है; ब्रजचंद होकर भी तुम्हारा चकोर है।

"राधे सुजान इतै चित दे हित में कित कीजति मान मरोर है।
माखन तें मन कोंवरो है यह बान न जानति कैसे कठोर है।
सावरे सौं मिलि सोहति जैसी कहा कहियै कहिबो को न जोर है।
तेरो पपीहा जु है घन आनँद है ब्रजचंद सो तेरो चकोर है।[१]"

प्रणय

मान में पारस्परिक विश्वास की वृद्धि हो जाने से प्रणयकोटि आ जाती है। इसमें प्रेमी तथा प्रिय के प्राण, मन, बुद्धि तथा देह एकमेक हो जाते हैं।[२] प्रत्येक का उदाहरण जैसे—

हृदय की एकता

'मीत सुजान के मिलने का महासुख अंगों को बेसुध किए हुए है। रस रंग में पगे हुए सब स्वाद जाग गए हैं। इस सुख को प्रेमी ही जानते हैं। इनके दो हृदय मिलकर एक हो गए हैं। घन आनंद का शुद्ध सामीप्य मिल गया है।'

"मीत सुजान मिले को महा सुख अंगनि भोय समोय रह्यौ है।
स्वाद जगे रस रंग पगे अति जानत वेई न जात कह्यो है।
द्वै उर एक भये घुरि कैं घनआनँद शुद्ध समीप लह्यौ है।[३]"

सर्वात्म ऐक्य

'मैं तुम्हें देख कर जीवित रहती हूँ। तुम्हारे रूपामृत का पान करती हूँ। पानी में रंग की भाँति मैं तुममें मिल जाऊँ। पर तुम मिलते नहीं हो।

१—सुहि० ३७२

२—उ० नील मणि, कारिका ९८, पृ० ४३७

३—सुहि० २२६ घ० ग्रं०, पृष्ठ ७७

"तुम्हैं देखि जियौं पियौं रूप अमी घनआनँद प्यारे सदा सौं कहौं।
मिल जाहुँ तुम्हें रँग नीर लौं पाय, पै हाथ मिलौ नहि तासौं कहौ।[१]

'प्रेम चंद्रमा को चकोर तथा चकोर को चंद्रमा बना देता है। इस मिलाप में कामनाएँ लुप्त हो जाती हैं। भले ही प्रेमी और प्रिय देखने में दो हों पर यथार्थ में वे एक ही होते हैं।

"चंदहि चकोर करै सोऊ ससि देह धरै
मनसा हू ररै एक देखिबे कौं रहैं द्वै।[२]"

शरीर की एकता

मेरे अंग-अंग उन्हीं के साथ रंगरँगे हो गए हैं। मनसिंहासन पर भी उन्हीं का ध्यान विराजमान है।

'अंग अंग मेरे उनहीं के सँग रंग रँगे।[३]"

राग

प्रणय में उत्कर्ष आ जाने से वियोग का दुख भी जब सुख जैसा लगता है तो राग दशा कहलाती है। जिस प्रकार रंग वस्त्र को अपने स्वरूप में रँगकर उसके रूप का अपह्नव कर देता है उसी प्रकार प्रेमाधिक्य प्रेमी की प्रवृत्तियों को प्रियमय बना देता है[४] जैसे—

'हमारे भाग में स्मृति आई है तुम्हारे में भूल। तुम्हें कैसे उलाहना दिया जाय। अब तो हमने सब सिर चढ़ा लिया है। आपको जो अच्छा लगे वही कीजिए। मैं तो तुम्हारी बातों से ही जीवित रहती हूँ। तुम्हें तो क्या उत्कंठा होगी। पर सदा प्रसन्न रहो यह हमारा आशीर्वाद लीजिए।'

"इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उराहनो दीजिए जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजिए जू।
घनआनँद जीवन प्रान सुजान तिहारियै बातनि जीजिए जू।
नित नीके रहो तुम्है चाँड़ कहा पै असीस हमारियौ लीजिए जू।"
सुहि० २५७

१—वही ४६५, पृ० १४०
२—वही २९६, पृ० ९५
३—वही १०१, पृ० ३३
४—उ० नी० मणि, पृ० ४३८, कारिका ९९,

माधुर्य

'तेरे री मुख की ज्योति आगे कोटिक सरद चंद मंद लागै।
लसत हसनि दसननि की मयूखनि दमकि नंदकिसोर
चकोर नैना नव चैन पियूषनि पागै[१]"

लज्जा

"सकुचनि सोहै निहारि न सकियै।
लालन सनमुख है बड़भागिनि गुरजन डाँट निकसियै।
ओट भएँ मुरझानि होत सब अंग सिथिल ह्वै थकियै।
आनँदघन रसपान करन कौं प्रान पपीहनि लगियै टक जकियै।[२]"

मर्यादा

"ब्रज मोहन प्यारे की मुरलिया बाजि रही।
सोवन देति न सोवति बैरिनि ऐसी टेक गही।
घर के घेर परी तरसति हौं आनि बनी सु सही[३]"

धैर्य

"बरजत बरजत अँखियनि ब्रजमोहन मुख चाह्यौ
धीरज धन दे हाथ परायें बिरहा बिषहि बिसाह्यौ[४]"

विलास

"हँसि हँसि करै बातें रँगीले दोऊ मदमाते।
मौर स्याम अभिराम अंग अँग हिय उगम बाढी गाढी
अति सरस परस ललचाते।
"नई तरुनई की ओप भई मुख सुख समोइ पुलकाते।
रीझि चौप आनँदघन बरसत मिलत हारक रि झाते"

१—वही ६६७।
२—आ० प० १०८
३—वही २१९
४—वही ३३०
५—वही ३६८

महाभाव

"भावती बतियनि लगि लगि छतियनि लाग निपट रस बसे रसाल।
जोवन रूप अनंग रंग राते मदमाते करत रँगीले ख्याल।
छैल छबीले राधा मोहन प्रेम पगे जगमगे लाल।
आनँद घन रस भीजे रीझे बिलसत हुलसत बाढति चौंप बिसाल।[1]"

नववय

"जोवन मौरयौ बसंत फूल्यौ सरस गुराई गोभा निकसी।
अंग अंग नवरंग जगमगे मुख सुख सदन चंद्रिका बिकसी।
रसिया मधुप लट्टू भयौ डोलै बन बोले सो लै सुनि पिक सी।[2]"

उज्वलस्मित

"ललित हसनि दसननि कीं मयूखनि दमकि नंदकिसोर।
चकोर नैंना नव चैन पियूषनि सौं पागै।"

सौभाग्य

"देखौ राधा को सुहाग याके सरोवर पर अनुराग।
कान्ह कत बसंत मूरति नित याके बस बड़ भाग।
बिहारन कौं वृंदाबन बाग।
याकी रूप निकाई बिधना याहि बनाई याके गुन।
मुरली मैं गावत पूरत विविध रागिनी राग।
याहि परसि सरसत आनँद घन पगे परम पग पाग।"

गंधाढ्यता

अति सुगंध मलयज घनसार।
"मिलाइ कुसुम जल सौं छिरकाय उसीर सदन बैठे मदन।
मोहन संग लै राधा प्राननि प्यारी रति रंगनि।

१—वही २०६
२—वही
३—वही ६६७
४—वही ६७२
५—वही ७६४

प्रियमय वृत्ति

'हे प्रिय तुम मेरी दृष्टि के आगे घूमते हो। पर बोलते नहीं। मेरा वश बस है। मुझे तो वियोग में भी निकट ही दिखाई देते हो।

"दीठि आगे डोलौ जौ न बोलौ कहा बस लागै।
मोहि तो बियोग हू में दीसत समीप हो।"

सुहि० ९४, घ० ग्र०, पृ० ३१

अनुराग

जब राग ही नवीन-नवीन रूप धारण कर पूर्वानुभूत प्रिय वस्तु को नवीन रूप से दर्शाता है तब अनुराग दशा होती है।[१] जैसे:—

'आप के रूप की यह नई रीति है जितना देखें उतना ही नया नया लगता है।

'रावरे रूप की रीति अनूप अनूप नयौ नयौ लागत ज्यौं ज्यौं निहारिये।'

उधर जैसे जैसे मुखपर आभा बढ़ती है इधर वैसे ही चाह बढ़ती जाती है।

'ज्यौं ज्यौं उत आनन पै आनँद सुओप औरे
त्यौं त्यौं इत चाहन मैं चाह बरसति है'

प्रकीर्णक १३, घ० ग्र०, पृ० ५८८

भाव

अनुराग की वह उत्कृष्टावस्था भाव कहलाती है जिसमें बुद्धि का स्थान गौण तथा हृदय या भाव का स्थान प्रधान हो। प्रेम स्वसंवेद्य हो, बुद्धि द्वारा पर संवेद्य न हो।

घनानंद जी ने प्रेमी-हृदय की इस दशा का जिसमें मन अवचेतन हो जाता है, अनेकत्र वर्णन किया है। इन्होंने काव्य रचना करते समय अपने हृदय की दशा भी ऐसी ही बताई है।

"लोग पै लागि कवित्त बनावत मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत"

१—सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते उ० नी० म०, कारिका १३१, पृ० ४५४

इस दशा में ज्ञान के साधन आँख, कान आदि अपना कार्य करना बंद कर देते हैं। प्रेम की मोहनी शक्ति जागरूक हो जाती है। विरक्त प्रेमियों की 'रहनि' के वर्णन में कवि ने इस भाव को व्यक्त किया है। जैसे—

'हे श्याम आप का रुचिर रूप देख कर मेरा मन बावला हो गया है। वह कोई शिक्षा नहीं सुनता। बुद्धि अत्यधिक तृप्त हो गई है। वह रति-रस में भींग गई है अतः उसकी गति थक गयी है। रीझ को उडेलता हुआ प्रेम का आनंदघन उमड़ रहा है। नेत्र, वाणी, चित्त मेरे बस में नहीं हैं। मैं आप के गुणों की रस्सी पकड़ कर भी प्रेम रस में डूब रहा हूँ।'

'निरखि सुजान प्यारे रावरो रुचिर रूप,
बावरो भयौ है मन मेरो न सिखै सुनै।
मति अति छाकी, गति थाकी रति रस भीजि,
रीझि की उझिल घनआनँद रह्यौ उनै
नैन, बैन चित चैन है न मेरे बस, मेरी
दसा अचरज देखौ बूढ़ति गहैं गुनै।'

(सुहि० २५, घना० ग्र०, पृ० १०)

'रूप के सेनापति को सजा हुआ देख कर धैर्य रूपी दुर्ग रक्षक दुर्ग छोड़ कर भाग गया है। प्रेम के हृदय नगर में प्रवेश करतेही नेत्र उस से जा मिले। लज्जा लूट ली गई। उसका कुछ भी न बचा प्रेम की दुहाई सारे नगर में फिर गई। कुलनियम रूपी लड़ाकू बाँध लिए गए। चतुर रीझ पटरानी बन गई और बुद्धि बेचारी दासी बन कर बच सकी।

'रूप चमूप सज्यो दल देखि भज्यौ तजि देसहि धीर मवासी।
नैन मिले उर के पुर पैठत लाज लुटी न छुटी तिनकासी।
प्रेम दुहाई फिरी घनआनँद बाँधि लिए कुल नेम गुढासी।
रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी।'

(सुहि० ४८, पृ० १६)

महाभाव

जो अपने आस्वाद में अमृत तुल्य हो तथा जो मन बुद्धि आदि ज्ञान साधनों को अपने स्वरुप में विलीन कर ले वह प्रेमानुभूति महाभाव कहलाता है। इसका अनुभव भक्ति परंपरा के अनुसार केवल ब्रजदेवियों को ही होता

है[१]। लौकिक प्रेम की अनुभूति में यह दशा नहीं होती। अधिदेव प्रेम अर्थात् भक्ति में ही इसके दर्शन होने हैं। आत्मविभोर होकर किए गए राम या कृष्ण के विरहानुभव में प्रायः इस भावस्थिति का दर्शन होता है। यह अनिर्वचनीय है।

"ब्रज को विरह बरने कौन।
टरत विचार विचारि हियतें गहति बानी मौन।
स्याम बिछुरे कहौं कैसे ह्वै रह्यौ सब स्याम।
बिछुरि मिलि मिलि बिछुरि जीवत मौन टेरत नाम।
यह सँजोग वियोग व्यापनि बचन क्यौंऽब समाय।
मन कहाँ या रस परसकों सुनत जड़ है जाय।

ते लहैं ढूढ़े तेई सोई महैं यह धूम।
हाय ब्रज ब्यौहार गति अति मतिहि वितुनति धूम।
लाल ब्रज मोहन छबीलो रैनि दिन दृग संग।
घुमडि घुरि घुरि उघरि बरसत चोंप चेटक रंग।
रमन ब्रज बन गिरि जमुन तट मचि रह्यौ यह खेल।
सब भावसर बढ़वार आनंदघन महारस रेल।[२]"

आलंबन

मधुराभक्ति के आलंबन श्री कृष्ण तथा उनकी बल्लभाएँ हैं, जो ब्रज सुंदरियाँ मानी गई हैं। श्री कृष्ण का 'रसिक' रूप ही इस में ग्राह्य है। श्री कृष्ण को भक्तों ने 'मधुर-रस-सर्वस्व' तथा शृंगार रस के लिए अवतरित माना है। गोपिकाओं को भी प्रेम का अवतार माना है। भागवतकार के अनुसार मुक्तिदाता भगवान से जो सुख गोपियों ने लिया है वह ब्रह्म शिव तथा शरीर वासिनी लक्ष्मी भी नहीं ले सकती। वे आनंद रस से सदा प्रतिभावित रहती हैं तथा भगवान ही की कला हैं। सर्वात्मभूत वह आदि

१—ब्रज देव्यैक संबंधी महाभावस्योच्यते
वरामृतस्वरूपश्रीः स्व स्वं रूपं मनोनयेत
उ० नी० म०, करिका १४५, पृ० ४६३

२—आनंदघन पदा०, ६८१

पुरुष इनके साथ गोलोक में नित्य निवास करता है। घनानंद जी ने गोपियों तथा राधा की प्रशंसा में सैकड़ों पद लिखे हैं। जैसे—

"प्रेम तो गोपिन ही को भाग।
जिन के नंद सूनु सों साँचचौ रच्यौ राग अनुराग॥
कहियै कहा निकाई मन की जो कछु लागी लाग।
सर्वसु बिसरि बिसरि सुधि साधी महा मोह की जाग॥
ब्रज मोहन की महा मोहनी अनुपम अचल सुहाग।
आनँद घन रस झेलि झालरी नव वृंदावन बाग[1]॥

× × × ×

गोपिन की पदवी अगम निगम निहारत जाहि
पद रज विधि से जाँच ही कौन लहै फिर ताहि।[2]"

राधा इस मणिमाला का श्रेष्ठ रत्न है। 'प्रिय का स्पर्श तथा रस इन्हीं को मिला है। वह अनुराग की मंजरी राधा के नख शिख पर फैलती फूलती है। उनका मुख प्रिय रस के सुख का सदन है। वह आनंद का घन राधा के आस पास घुमड़ता रहता है।

"पिय को परम रसतें ही पायौ।
सुनि राधे अनुराग मंजरी उरजनि बीच दुरायौ॥
इनकी फूल फैल परी नखसिख डहडहौ मुख सुख सदन सुहायौ।
ब्रज मोहन आनंद घन रीझनि घमडि घमडि रमडि रमडि सरसायौ[3]।"

मधुरस के प्रसंग में राधा के १६ गुण माने जाते हैं। माधुर्य, नववय, उज्वलस्मित, सौभाग्य, गंधाढ्यता, संगीतविज्ञता, रमणीय तथा नर्महास्य में प्रवीणता, विनय, करुणा, वैदग्ध्य, पाटव, लज्जा, मर्यादा, धैर्य, गंभीरता, विलास, महाभाव, गोकुल प्रेम, सखी प्रणय, आदि।

आनंद घन पदावली में प्राय: इन सभी के दर्शन होते हैं। जैसे—

१—आ० घ० पदा०, १६२

२—प्रेमपद्धति १७।

३—आ० घ० पदा०, ५३४।

संगीत विज्ञता

"सकल कला प्रवीन वृषभान नंदिनी रस रास नाचै।
मंडल मधि लटकि लटकि नाचत पिय प्यारी।
चौंप चुहुल मचि सचि सुकरि अलाप चारी।
विरल राग रूप रचत स्रवन मोदकारी।[१]"

सखी प्रणय

"जैमन करिया कान देख मेई करिबो प्रान सखी विसाखा
बिनती मनै धरिबौ
बंसी की धुनि सुनि सुनि आछै विकार मदन अनल जाला अंतरझार
स्यामे रम रम कथा बूझिते ना पारी आनंदघन ब्रजमोहन बिहारी।"
(आ० प०, ६५०)

इस प्रकार श्री कृष्ण और गोपिकाएँ, जिनमें विशेष रूप से राधा है, मधुर रस का आलंबन हैं। ये ही आश्रय भी हैं।

ब्रजांगनाओं को मधुर रस के प्रसंग से हरिबल्लभा भी कहा जाता है। इनके भेदों के स्वरूप भी आनंद घन की रचनाओं में मिलते हैं।

हरिबल्लभाओं के भेद

हरिबल्लभायें प्रथमतः दो प्रकार की हैं। स्वकीया तथा परकीया। 'रुक्मिणी सत्यभामा आदि द्वारिका की पाणि-गृहीत पत्नियाँ तथा श्री कृष्ण में पति भावना रखने वाली कुछ ब्रजांगनायें स्वकीया हैं। लौकिक स्वीकीया-नायिकाओं की तरह इनमें प्रेम शैथिल्य नहीं रहता। परकीया की अपेक्षा न्यून अवश्य होता है। शेष ब्रजांगनाएँ परकीया हैं। इनके भी तीन भेद हैं—

१—साधनपरा
२—देवी
३—नित्यप्रिया

साधन परा ब्रजांगनाओं में यौथिकी अयौथिकी दो भेद हैं। जो कृष्ण को सामूहिक रूप से भजती हैं वे यौथिकी हैं।

गोपीबल्लभी पद्म पुराण के अनुसार मुनियों तथा उपनिषदों के अवतार हैं। ये मिल कर ही भगवान के मधुर रस का आस्वादन करती हैं।

१—वही ९६५, ४०९,

अतः यौथिकी हैं। अयौथिकी एकाकिनी होकर रसास्वाद लेती हैं। घनानंद जी ने ब्रजबालाओं में ही यौथिकी अयौथिकी दोनों प्रकार की दिखाई हैं। रास, होरी, दानलीला आदि में ये यौथिकी हैं। अन्यत्र पनघट, गोदोहन आदि में अयौथिकी।

यौथिकी

"मची चुहल चाँचरि की नद महर के द्वारे।
आई उमहि ब्रजबधू चोंपनि चतुर खिलारैं।
सुमिल सुगीतनि गावैं निपट रसीलो भामनि।
मोहन मनहि घुमावैं प्रेम लपेटी गाननि।
झूमर झमक रमक सों भँवरि भरन लगी है।
खुलनि झुलनि अलकनि की मिलि मुख ज्योति जगी है॥"

आनंदघन पदा०, ५३०

अयौथिकी

"गोकुल गाँ के ग्वार डगर बताइ रे हौं भूली।
बिछुरि परी सहचरिन संग तें डोलत बन बिलकाय रे॥
सांझ निकट घर दूरि साँवरे हियरा सोच सताइ रे।
सुनत ही झूमि आए आनँदघन दीनी गैल बताइ रे॥

आ० घ० पदा०, ८६४

"लई कन्हैया ने हौं घेरि।
खोरि साँकरी माँझ सझोखें आइ गयौ कितहूँ तें हेरि॥
कौरी भरि उर धरी औचकाँ अकली काहि सुनाऊं टेरि।
आनँदघन घुरि सराबोर लरि पठई घर कौ निपट लथेरि॥

आ० घ० पदा०, १६७

नित्य प्रिया

राधा, चंद्रावली आदि प्रमुख ब्रजांगनाएँ जिनमें कृष्ण के समान ही नित्य सौंदर्य, नित्य वैदग्ध्य आदि गुण विद्यमान है, नित्य प्रिया कहलाती हैं। इन में राधा सर्वश्रेष्ठ हैं। राधा के प्रेम, सौंदर्य, सुहाग, विलास, रास, होली आदि के सैकड़ों पद, कवित्त, सवैये, दोहे घनानंदजी ने लिखे हैं। वे राधा के

ही उपासक थे ! सुजान का प्रयोग उन्होंने उत्तर काल में राधा के लिये ही किया है ! जैसे:—

"राधा पिय प्यासनि भगी आनँदघन रसरासि।
स्याम रंगमयी सगमगी राधा रही प्रकासि ॥"

प्रियाप्रसाद, ८७

राधा के प्रेमानंद को या तो श्रीकृष्ण जान सकते हैं या स्वयं राधा।

"राधा के आनंद को मन मोहन मन साखि।
राधा की अभिलाष जो राधा प्रिय अभिलाष।"

वही ७७

देवियाँ

भगवान के अंश, उसी की तुष्टि के लिये जो वृज में अवतरे वे देवियां बनी। ये गोप कन्याएं बन कर अंशिनी राधा की प्रिय सखियाँ बन गईं।

इनकी संख्या तो अपरिमेय है पर मुख्य आठ ही मानी जाती हैं ! सखी संप्रदाय के भावुक भक्त इन देवियाँ की भावना अपने में रख कर भगवान के निकट पहुँचना चाहते हैं। सखियाँ राधा कृष्ण के युगल रूप से तथा पृथक् पृथक् रूप से काम जन्य रति हृदय में रखती हैं ! पर अपने व्यक्तिगत सयोग की कामना नहीं करती।[1]

"समझ समय रस भेद की बतियानि सुनाऊँ।
भीतर की कैसे कहों उठि बाहिर आऊँ[2] ॥"

राधा के सुख में ही अपना सुख मानती हैं।

'राधा रीझ अटपटी अति है
सोई मो मति की गति अति है[3]"

१—उ० नी० म०, पृ० २१७।

२—मनोरथ मंजरी १०।

३—वृषभानपुर सुषमा वर्णन १७।

राधा को सुख मेरो सुख है[१]

इन में भी ललिता और विशाखा श्रेष्ठ हैं। राधा की रहस्य केलि में इनकी सेवा रहती है। सखी संप्रदाय के भक्त राधा कृष्ण को प्राप्त करने के लिये इन सखियों की आराधना राधा के ही समान करते है! घनानंदजी ने बहुगुनी को भी ललिता और विशाखा की कृपापात्री माना है। बहुगुनी कवि का सखी भाव का नाम है।

ललिता सखी मोहि अति मानै। राधा को हित लै पहचानै।
प्रीति बिसेख बिसाखा करै। बिहँसि बोलि माथे कर धरै।।[२]

अब इन सखियों के उन कार्यों का उल्लेख किया जाता है जो राधा कृष्ण के प्रीति संवर्धन के लिये ये करती हैं।

१ कृष्ण का राधा के तथा राधा का कृष्ण के गुण का वर्णन करना।

कृष्णगुणप्रख्यापन राधा से

"साँवरे छैल की आछी अँगौट पैं काम करोरिक वारियै जेहि कै।
नैसिक हेरियै मेरियै सोहैं सुएरी सुजान यों चोरियै मोहिकै।।"

राधागुणप्रख्यापन कृष्ण से

"देखि जियौ न छियौं घनआनँद, कौबरे अंग सुजान बधू के।
चोली चुनावट चीन्हैं चुमें, चपि होत उजागर दाग उतू के।"

सुहि० १४६

२--राधा कृष्ण का परस्पर आसक्ति कराना

"लाल बिहारिनि कौं तहाँ रस रीतिनि ल्याऊँ।
सुखद भावती तलप को अभिलाष पुजाऊँ
× × ×
समझि समय रस भेद की बतियानि सुनाऊँ
× × ×
परम चतुर रस रीति मैं हौं ज्ञितू कहाऊँ"

मनोरथ मंजरी ८, १०, १९

१—प्रियाप्रसाद ४८, ४९।

२—वृषभानपुर सुषमा वर्णन २६, २७।

३. अभिसार के लिये प्रेरित करना

"अंजन दै री राधे न करि गहर है हा हा।
निझनक बार टरी जाति मन भावन व्रज मोहन मिलन उमाहा।।"
(आ० घ० पदा० ४६२)

"चलि रात्रे वृंदावन बिहरन औसर बँधौ है मनोरथ पुरवा।
आनंदघन पिय बैन बजावत अति आरति सौं ताहि
बुलावत, लै रीझनि भीजै सुरवा।"
(वही ६७१)

४. सखी का कृष्ण को समर्पण करना

"ल्याइहौं मनाय करि करि मनुहारि।
अब तुम लेहु निहोरि रसिकबर सबुझ सँभारि।
जाके अंग सग सुख चहियै ताकी सहियै रारि गारि।
आनंदघन तुम सुघरराय रस राखियै बिचारि।"
(आ० घ० पदा० ५१२)

५. मधुर परिहास

"उझति जुकति रस भरी उठाऊँ। भाग भरी को हरष बढ़ाऊँ।।
चंद कवित्तनि रटौ चटक सौं। कहीं प्रेम रस रंग अटक सौं।"
(वृषभानपुर सुषमा वर्णन १८, १९)

६. वेष भूषा बनाना

"पुहुप पुंज बीनत रँगभीनी। माला रचति गास गहि झीनी।।
सुहृद सखी सिंगारनि सजै। अधिक प्रान से राधे भजै।।"
(भावना प्रकाश ७०, ७१)

७. दोनों के हृदयरहस्यों को चतुराई से प्रकट करना

रीझनि बिवस होत जब जानौं। तब बहुगुनी कला उर आनौ।।
दुरी बात हू उघरि परै जब। सो सुख कह्यौ परत न कछु तब।।"
(वृष० पु० वर्णन २१, २३)

८. श्री कृष्ण अथवा राधा के रहस्यों पर पर्दा डालना

विसाखा कृष्ण को गोरी वेष में झुलाने लाई है। इस गुप्त रहस्य की ओर व्यंग्य करती हुई सखी से राधा कहती हैं।

"को है जू विसाखा यह पाहुनी तिहारी।"

साँवरे बरन मन हरति लजौंही बानि ऐसी लगति कहूँ कबहूँ निहारी।।
मेरे मन भावति है भूलै तो झुलाऊँ याहि हौं तो याकी ऊठ की परख-
पचिहारी।।" (आ० घ० ७१६)

९. शिक्षण देना

"राधे सुजान इतै चित दै हित मैं कित कीजति मान मरोर है।
माखन तें मन कोंवरो है यह बानि न जानति कैसे कठोर है।
साँवरे सौं मिलि सोहत जैसी कहा कहियै कहिबे को न जोर है।
तेरो पपीहा जु है घनआनँद है ब्रजचंद सु तेरो चकोर है।।"

(सुहि० ३७२)

१०. व्यजनादि की सेवा करना

"राधा मदन गुपाल की हौं सेज बनाऊँ।
दूध फेन फीको करै बर बसन बिछाऊँ।
बासती नव कुसुम रुचि रुचिहि रचाऊँ।
नव पराग भरि भाव सों तिन पर बगराऊँ।"

(मनोरथमंजरी १, ३)

राधा पिय पै विजना ढोरों। स्नमजल सुखऊँ मनरस बोरों।

(प्रि० प्रसाद १९)

११. प्रेम संदेशा पहुँचाना

"कहियै कहा हारि हिय की आरति जु कछू बढ़ी राधे लकि तोहि।
रूप नवेली निहारि लेहि नैंक जिन अँखियनि आई उनहि जोहि।।
आनंद धन अभिलाषा सजल दृग हा हा कहि पठई टोहि"

(आ० पदा० ६२०)

इस प्रकार मधुर रस में भगवान श्री कृष्ण, राधा, ब्रजांगनाएँ तथा सखियाँ आलंबन और आश्रय बनते हैं। चैतन्य संप्रदाय के अनुयायी

इस रस का सर्वोत्कृष्ट परिपाक उपपति रति में ही मानते हैं। साहित्यिकों ने भी श्रृंगार रस की उत्कृष्टता उपपति भाव में ही मानी है।

उद्दीपन विभाग

इस रस के पाँच प्रकार के उद्दीपन विभाग होते हैं।

१—गुण—मानस जैसे शील। वाचिक जैसे मधुर सरस भाषण। कायिक जैसे वय, रूप, लावण्य, सौंदर्य, माधुर्य, मार्दव आदि।

२ चरित—रास, वेणुवादन, गोदोहन, पर्वतोद्धार आदि।

३ मंडन— वेष-भूषा, वस्त्रालंकार आदि।

४ संनिहित—मोरपिच्छ, गुंजा, लकुट, वेणु, गोवर्धन, यमुना आदि।

५ तटस्थ—चंद्रिका, मेघ, शरद, वसंत आदि।

घनानंद जी ने सभी उद्दीपन विभावों का अनेक बार चित्रण किया है। रूप का आनंदघन पदावली २०६ में, लावण्य का वही २३६ में, माधुर्य का सुजानहित २८ में, मार्दव का आ० पदावली ८६८ में वर्णन है। वेष भूषा के लिये आ० पदावली २०१, ५७५, ७५०, देखने चाहिएँ। संनिहित पदार्थ जैसे मयूर पिच्छ आ० पदावली १२६ में, गौ—आ० पदा० ७४०, ७५३, में, वेणु पदा० ५०६ आदि में, गोवर्धन वही ८५३ में, यमुना वही १३८, ८२३, आदि में वर्णित है। तटस्थ में चंद्रिका पावस, शरद, वसंत फाग, हिंडोल, आदि पर अनेकों पद हैं जो विषय विभाजन के वर्णन में दिखा दिए गए है।

अनुभाव और व्यभिचारी भाव श्रृंगार के ही इसमें मान्य हैं। व्यभिचारियों में उग्रता तथा आलस्य का ग्रहण नहीं है। घनानंद जी ने आलंबन तथा उद्दीपन विभाव और स्थायीभाव का ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। उसमें भी स्थायी भाव के अनेकानेक भेद अनुभूति के आधार पर दिखाना उनकी विशेषता है।

मधुर रस का संयोग—

आनंदघन जी ने भक्ति रस के प्रसंग से संयोग और वियोग दोनों का ही समान रूप से वर्णन किया है। इतना अंतर कवि ने अवश्य रक्खा है कि कवित्त सवैयों में संयोग नहीं के बराबर है। वहाँ विरह ही अधिक है।

गीतों और निबंधों में दोनों का समान रूप से वर्णन किया है। वियोग का स्वरूप उभयत्र समान ही है अतः यहाँ केवल संयोग का परिचय देना उचित है। प्रियाप्रिय समागम, रति, बनविहार, जलकेलि, फाग, गोदोहन, पनघट आदि लीलाओं में संयोगपक्ष का वर्णन हुआ है। सखी भाव की उपासना के कारण संयोग का खुलकर वर्णन किया गया है। 'प्यारी के घर प्रिय आने वाले हैं। इस समय संयोगिनी अत्यधिक प्रसन्न है। सौंदर्य के रंग अंग में नहीं समाते। प्रिय के साथ अनेक प्रकार से रास किया है। श्रम में डूबे दोनों एक दूसरे को हित प्रदर्शन करते हैं। आनंद के बादल घमड़े रहते हैं और प्रीति अधिक से अधिक सरस होती जाती है।[१]

राध माधव वन में बिहार करते हैं। दोनों मन में फूले फूले यमुना की हरी भरी कछारों में घूमते हैं। शरीर में नवीन तारुण्य है और कामकेलि के रस में पगे हैं।[२]

राधा अपनी सखी से कहती हैं—

हे सखि, प्रिय स्वयं जागता है और मुझे भी जगाए रखता है। इसके हृदय की बात जानी नहीं जाती। टकटकी लगा कर देखता है। मैं लज्जित हो जाती हूँ। इसी प्रकार प्रभात हो जाता है। आनंद की यह अवस्था कही नहीं जाती। सुख के घनों का आना जाना बना ही रहता है।[३]

इनके संयोग की यह विशेषता है कि उसमें भोग का परिणाम अवसाद नहीं नहीं दिखाया गया। आलस्य संचारी भाव मधुर रस में स्वीकारा ही नहीं गया। प्रियमिलन में प्रेम की तृष्णा और अधिक उद्दीप्त होती रहती है। इसीलिये कभी सतोष नहीं होता। संयोग में वियोग की लालसा बनी ही रहती है।

घनआनँद मीत सुजान मिलें बसि बीच तऊ मति मोहतु हैं।
यह कैसो संजोग न सूझि परै जु वियोग न क्यों हूँ बिछोहतु है।[४]

१—आ० पदा०, २८
२—वही
३—वही, ११०
४—सुहि०, १०४

दूसरी ओर वियोग में भी राधा की दृष्टि श्री कृष्णमय हो जाने से सर्वत्र संयोग रहता है।

"ब्रज मोहन मैं ह्वै रह्यौ, देखत बिरहीं लोग।
याते कछु कहत न बनै, अचिरज बिरह सँजोग।[१]

राधा को तो भावना के बल से ऐसा अनुभव होता है कि वह सदा श्री कृष्ण के ही घर है। पर लोग बाहर ही समझते हैं। प्रेम की रीति विपरीत होती है। इस प्रकार घनानंद जी द्वारा वर्णन किए गए प्रेम में संयोग वियोग का संमिश्रण सदा बना रहता है।

ब्रज में प्रेम के बादल सदा बिजली की लपटों के साथ ही वर्षा करते हैं।

"मिलैं चटपटी बिरह की बिछुरे मिलन विनोद।
लपट लपेट्यौ बरसई ब्रज में प्रेम पयोद।।[२]"

लीलाओं में फाग का वर्णन सबसे अधिक पदों में किया गया है। दान-लील के लिये 'दान घटा' नाम का एक छोटा प्रबंध ही सवैयों में लिखा है।

सखी राधा को संमति देती है कि मन के समस्त संकोचों को निकाल कर बेधड़क श्री कृष्ण से होली खेलो। आँखों में उनके अंजन लगाओ, मुँह पर रोली मलो, हँस कर गल-बाँही डालो। बिलंब करने का यह समय नहीं है। हे राधे! श्री कृष्ण तमाल वृक्ष के समान हैं और तू सुहाग की वल्लरी है। प्रिय को रिझा कर भिजाओ और रस लो।[३]

'गोकुल विनोद' प्रबंध में जलविहार का चित्रण विस्तार और सरसता के साथ किया है। कमलखंडों में श्री कृष्ण नौका ले जाते हैं। जल में दोनों एक दूसरे पर जल छिड़कते हैं। आँखों में पानी मारते हैं। राधा के भीगे वस्त्र शरीर से लिपट जाते हैं। श्री कृष्ण कभी डुबकी लगा कर दूर तक निकल जाते हैं। किनारे आकर खड़े होते हैं तो उनका निखरा रूप मन को मोहित करता है।[४]

१—ब्रज विलास ३८
२—वही ५०
३—आ० पदा० ९७९
४—गोकुल विनोद ४२, ५०

स्वकीया रति

यह दो टूक निर्णय करना कि घनानंद जी ने राधाकृष्ण के प्रेम में स्वकीयारति का वर्णन किया है या परकीया का, कठिन है। फिर भी कुछ विशेषण राधा के या नायिका के ऐसे मिलते हैं जिनके सहारे प्रस्तुत विषय पर कुछ कहा जा सकता है। पहले स्वकीया भाव के पोषक विशेषण देखें। हेमंत ऋतु का सेवन करते हुए राधाकृष्ण को एक पद में दंपति (जाया पति) अर्थात् पति और पत्नी कहा है। पर उसी पद्य में रसकेलि का जिस ढंग से वर्णन किया है वह परकीया रति ही लगती है। हेमंत-विलास का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वे दंपति संकेत द्वारा निश्चित किए हुए स्थान पर पर्वत कंदराओं में मंदिर बनाते हैं जो कि पत्तों के कारण मखतूल तथा रुई से भी अधिक कोमल हो गया है। रसिकराय श्रीकृष्ण ने राधा के लिये शय्या बनाई है। पीत वस्त्र बिछाकर उसपर प्राणप्रिया को बिठाया है इत्यादि।[१] पति पत्नी का प्रेम पारिवारिक होता है, उसका क्षेत्र गृह है। पर्वत कंदराओं में परकीय रति की ही अनुकूलता हो सकती है।

दूसरे एक पद्य में श्रीकृष्ण को 'दुल्हा' और 'बना' तथा राधा को 'बनी' (वरणी) कहा है।

"नवल बना री नवेली बनी राधा को।
ब्रजमोहन नीको नाँव रसीलो भागभरे दुलहा को।"
जमुना तीर स घन... ... ...[२]

पर इसी पद में आगे कहा गया है कि वे जमुना के तीर पर पुष्पमंडित मंडप में नित्य भाँवरे भरते हैं।

"जमुना तीर सघन वृन्दान मंडित मंडप सुमन सदा को'
'आनँदघन हित घमंडि भाँवरे करत रहत धनि धनि सुहाग याको"

इससे स्पष्ट है कि 'दुलहा' बनी आदि विशेषण विवाह समय के परस्पर के प्रेमातिशय तथा शोभातिशय की व्यंजना के लिये प्रयुक्त हैं। वे पति पत्नी भाव प्रदर्शन के लिए नहीं।

१—हिमरितु दंपति अति सुखदाई।
गिरिकंदरनि रचावत मंदिर लखि निज संकेत ठौर ठहराई।
नवमखतूल तूल तें कोमल दल कल अनुकूल मढ़ाई।
रसिकराय रसनिधि राधा हित रचि पचि सुन्दर सेज बनाई॥
—पदावली ३७२

२—आ० प० ५७७

तीसरे एक और पद्य में राधा कृष्ण के लिये कंत और कामिनी विशेषणों का प्रयोग हुआ है। 'कंत और कामिनी राधा कृष्ण के लिये नित्य वसंत बना रहता है[१]।' दूसरे एक पद में वियोगिनी नायिका अपने पति को 'बालम' कह कर संबोधित करती है।[२] 'सरस बसंत' निबंध में राधा माधव को 'कामि निकेत' कहा है।[३]

ये विशेषण साधारण व्यवहार में 'पति पत्नियों' के लिए ही प्रयुक्त होते है। अतः अनुमित्सा होती है कि स्यात घनआनंद जी का तात्पर्य भी स्वकीया रति का रहा होगा। पर दूसरे प्रमाणों से उपर्युक्त अनुमान ठीक नहीं बैठना।

परकीया रति

परकीया भाव के पोषक अनेकों प्रमाण मिलते है। 'प्रेम पद्धति' निबंध की एक पंक्ति में राधा को 'गोपी नट गुपाल की प्रिया'[४] बताया है। 'नाम माधुरी' में 'कमनीय कुमारी'[५] कहा है! इसी की दूसरी एक पंक्ति में 'अभिसार प्रपन्ना'[६] विशेषण आया है 'कृष्ण कौमुदी' में श्री कृष्ण को 'राधा सखा'[७] कहा गया है।

इसके अतिरिक्त राधा का अभिसार, बन विहार, प्रच्छन्न रति आदि अनेकत्र वर्णित हैं। इनसे उनके परकीयात्व का ही अनुमान होता है। अभिसार, जैसे—

'अंजन दै री राधे न करि गहर हे हाहा।
निझनक बार टरी जाति मन भावन ब्रज मोहन मिलन उमाहा॥
चलि राधे वृंदावन विहरन औसर बन्यौ मनोरथ पुरवा।
आनँदघन पिय बैन बजावत अति आरति सौं तोहि बुलावत
लैं रिझनि भींजे सुरवा॥

१—आ० घ० पदा० ५३१
२—सुरति सवेरी लेहु बिसासी बालम जियरा अति अकुलाय, आ० प० ५५३
३—राधा माधव कामिन कंत—सरस बसंत २१
४—प्रे० प० २३
५—कमनीय कुमारी श्री राधा, नामक माधुरी ३६
६—अभिसार प्रपन्ना श्री राधा, वही ४१
७—राधा को विपुल धन राधासखा सरूप——कृ० कौ० २०
८—आनंदघन पदावली ६७१

परकीया चित्रण बार बार पदों, और कवित्त सवैयों में किया गया है। प्रेम की संयोग तथा वियोग काल की 'न्नोंप', वियोग की व्याकुलता उपालंभ तथा प्रिय की अनेकों से स्नेह कर किसी को न निभाने की कठोरता आदि भाव परकीया रति की ओर संकेत करते हैं। किसी गोपी का प्रणयक्रोध है कि मुझे अकेले में कृष्ण ने घेर लिया। वह मेरे घर में आ गया और मनमानी करके ही छोड़ा। दूसरी कोई दधि बेचती हुई कृष्ण का अभिप्राय समझकर उन्हे लज्जित करना चाहती है।

१ लई कन्हैया ने हौं घेरि

खोरि साँकरी माँझ सँझोखे आइ गयौ कितहु तें हेरि।
कौरी भरी उर घरी औचका अकेली काहि सुनाऊँ टेरि।
आनँदघन घुरि सरासोर करि पठई घर लौं निपट लथेरि।

(आ० एदा० १६७)

× × ×

२ गोरस जो चाहौ तो दीजिए जो रस चाहै सो व
दियौ क्यों जाइ :
देख विरानी धरोहरि पै मन ललचावै ऐसो ढीठ न
काहू सकाय

× × ×

वास्तव में हरिदासी संप्रदाय श्री चैतन्य मत से प्रभावित है। आनंदघन जी ने चैतन्य महाप्रभु की स्तुति में भी एक पद लिखा है। ये उनके मत से प्रभावित हुए हों—यह बहुत संभव है। कीर्तन के पद तथा प्रबंध लिखना भी इसी ओर संकेत करता है। चैतन्य संप्रदाय में परकीया भाव की, ही उपासना होती है। अतः घनानंद जी का यही अभिप्रेत रहा होगा।

पति पत्नी भाव के सूचक विशेषण—प्रेमातिशय के व्यंजक मात्र ही समझने चाहिए। ये स्वकीया के अभिप्राय से प्रयुक्त नहीं प्रतीत होते। अतः भक्ति में घनानंद जी ने परकीया भाव माना है—यही प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है।

भगवत्कृपा

भगवत्कृपा का भक्ति संप्रदाय में बड़ा महत्व है। ऐसा कोई संप्रदाय नहीं जिसमें इसके बिना भगवत्प्राप्ति संभव हो। वल्लभ संप्रदाय का तो यह मुख्य आधार है। वहाँ इसका नाम 'पुष्टि' है। मधुरा भक्ति के भक्तों के लिये भी यह तत्व उतना ही आवश्यक मान्य है जितना अन्य भक्तों का। सखी संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी कहते है—'हे विहारिणी जी ? किसी का वश नहीं चलता। तुम्हारी कृपा से कुछ बनता है।[१] श्री ललित किशोरी जी की आस्था इससे भी बढ़ कर है। वे कहते हैं 'हरि हमारे सदा सहायक रहते हैं। हमें जो जो अच्छा लगता है वही वही वे करते हैं। हर्ष और उत्साह बढ़ाकर जीवन सुखदाई बनाते है। वे हँस हँस कर कंठ लगाते हैं।[२]'

घनानंद जी ने कृपा विषय को लेकर पूरे एक निबंध कृपा कंद निबंध' की रचना की है। कवि की धारणा है कि भगवत्कृपा हो तो और सब साधन व्यर्थ हैं। धर्म कर्म सब दूर रहें। हानि लाभ का भी कोई डर नहीं। लोक परलोक को हम छूना भी नहीं चाहते। क्षीर सिंधु में स्नान करनेवाले को तलैया क्या अच्छी लगेगी ? भक्त को तो कृपा वे आनंदघन ही सदा फिरते रहें। कार्याभि-मानी भले ही सोच में सूख जाय पर कृपा की ओर देखने वाला किसी दूसरी ओर नहीं देखता।[३]

इसके बिना भगवान का अनुकूल होना असंभव है। उन मूर्खों का हठ व्यर्थ है। वे यों ही मन तरसाते हैं जो अन्य साधनों की खोज में रहते हैं।

१—काहू को बस नाहि तुम्हारी कृपा ते सब होय बिहारिनि

हरिदास—निम्बार्क माधुरी पृ० २०२

२—हमारे हरि है सदा सहाई, जोइ रुचै करैं पुनि सोई पोषन मन भाई।
हरष हरष अनुराग बढावत जीवनि अति सुखदाई।
श्री हरिदासी ललित किशोरी हँसि हँसि कंठ लगाई।

ललित किशोरी—निम्बार्क मा० पृ० ३३४

३—कृपाकंद—पद्य २

उनके (अन्य साधनों के) पैर छूने से स्याम सुजान वश में नहीं होते हैं। उस आनंद की कृपा बरसी कि ऊसर भी सर बन जाता है।[१]

भगवत्कृपा इतनी गुर्वी है कि प्राणी उसको सम्हाल भी नहीं पाता। घनानंद जी अनुभव करते हैं कि चित्त रूपी चातक की चोंच में कृपा के आनंदघन समा नहीं सकते। बुद्धि के कटे फटे वस्त्र में यह रत्नाकर का दान कैसे समा सकता है। पर धारण करने की सामर्थ्य कृपा ही देगी यह विश्वास है। नदी का प्रवाह बढ़ता है तो वह अपने किनारे स्वयं बढ़ा लेता है।[२] कृपा में कृपालु परमेश्वर विराजमान रहते हैं। अतः कृपा की प्राप्ति का अर्थ भगवान की प्राप्ति है। कृपा के अतिरिक्त भगवान के अन्य कोई गुण भक्त के काम नहीं आते। केवल कृपा ही उसका हित करने को सदा उद्यत रहती है। भगवान् का दानीपन माँगने पर अनुकूल होता है। दीनबंधुता दीन बनने से काम आती है। पर कृपा सर्वदा सबको प्राप्त रहती है। जल थल सब जगह वह मिलती है। उसके भरोसे विषम भी सम दिखाई देता है। गुणी हो चाहे निर्गुण वह सबके लिए समान है।

भक्ति क्षेत्र में ही नहीं दैनिक जीवन में भी भगवत्कृपा के बिना काम नहीं चल सकता। जो श्वास बाहर आता है वह फिर भीतर वापिस जायगा इसका विश्वास भागवत्कृपा के बल पर ही है। बरुनी खुल कर फिर बंद हो

१—क्यौ हठ कै सठ साधन सोधत होत कहा मन यौं तरसैं ते।
हाथ चढ़ै जिहि स्याम सुजान कहूँ तिहि पाइन रे परसैं ते।
नीरस मानस है रसरासि विराजत नैसिक जा सरसैं ते।
ऊसर हूसर होत लखै घनआनंद रूप कृपा बरसैं ते।
कृ० क० १०

+ × ×

२—चातिक चित्त कृपा घनआनँद चौच की खौंच सु क्यौं करि धारौं।
त्यौं रत्नाकर दान समै बुधि जीरन चीर कहा लै पसारौं।
पै गुन ताके अनेक लखौं निहचै उर आनि कै एक विचारौं।
कूल बढ़ाय प्रवाह बढ़ै यौ कृपा बल पाय कृपाहि सम्हारौं।
आ० कृ० कंद १७

३—कृपा चंद्रिका में नंद नंदन मयंक है, वही १८।

४—वही १६ कृपा कंद।

५—वही २२।

जायगी यह कौन जाने ? सारा जीवन एक अवसर मात्र है। प्रयत्न सब व्यर्थ हैं। सिद्धि भगवत्कृपा के बिना नहीं होती।[1]

कृपा प्राप्ति के लिये भक्त में दो गुणों की अपेक्षा होती है। दैन्य की अनुभूति और कृपा पर भरोसा। घनानंद जी में दोनों गुण प्राप्त होते हैं। इन्होंने अपने जीवन में प्रयत्नों की घुड़दौड़ पर्याप्त की थी। जब किसी से काम नहीं बना तो भगवान के द्वार पर पहुँचे। अतः दैन्य का भाव कवि का स्वानुभूत है, इसलिए बड़ा मार्मिक और निश्छल है। वे स्पष्ट कहते हैं।

"दौर दौरि थाक्यौ पै थके न जड़ दौरनि ते।
गनि भूले मन की न दुगी कछु तो तेंरे।"

अतः अंतिम उपाय यह किया—

"द्वारे न जाइ हौं जू जन के जगदीश तिहारियै पौरि पर्यौ हौं।
आस की पास ही काटि कृपा बल पूरन पैंज भरोसे भर्यौ हौं।।"

कृपा की संरक्षकता में इनका विश्वास भी बड़ा अडिग है। वे कहते हैं कि हे भगवान् जहाँ तहाँ भाग भाग कर भक्तों का भला युगों से करते रहे हो, भक्तों को अपनाने के अपने प्रण को प्राणों के समान पालते रहे हो।[2]

भक्ति संप्रदाय में भगवत्कृपा का फल भगवत्प्रेम की प्राप्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति होना है। घनानंद जी ने पदों में कृपा का यह रूप स्पष्ट किया है। वह भगवान से ही भगवान को प्राप्त कर सकते हैं। उनकी कृपा न होगी तो बुद्धि की लीला का पार नहीं मिल सकता। कृपा ही भक्त का हाथ पकड़ कर भगवान के चरणों में डालती है।

"प्रान अधार सदा के संगी तुमहीं ते तुमको पाइहौं।

१—चलि जात उसास जो ऊरध को अध आवन आस बिसास नहीं।
गति औसर की अति दीसि परी बरुनी खुलि फेरि मिलैं कि नहीं।
इहि बीच बिचारियै जीवन सौं मरियै तिहि साधन सोच महीं।
घन आनँद बात कृपा बस है अब यौ सबही करतूति रही।
कृपा कंद २८

२—आ० कृपा कंद ५५।

तथा—

लीला की मरम न जान्यौ जाइ।
कैसे कै करियै उपासना समुझत मति बौराइ ।।
एक कृपाई गुन उर आएँ रंचक ठिक ठहराइ।
वे आनँदघन की सुधि आवै सहजै दरसै आइ ।।"[1]

जीवनमुक्त भक्त की अनुभूतियाँ—

घनानंद जी ने भक्ति की उस दशा का चित्र दिया है जब वह परमेश्वर की पूर्ण अनुभूति कर लेता है। अपने भावनालोक में विचरता हुआ ही वह अपना अधिक समय व्यतीत करता है और संसार से सर्वथा उदासीन बन जाता है। दार्शनिकों ने इस स्थिति को 'जीवन्मुक्त' अवस्था माना है। ज्ञान मार्ग की चरम दशा का आभास गीता में दिया गया है कि ब्रह्म के साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की सब ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। समस्त संशय छिन्न भिन्न हो जाते हैं और कर्मों के संस्कार भी क्षीण हो जाते हैं[2] भक्ति का मार्ग स्नेहार्द्र होने से इनसे भिन्न होता है। उसमें प्रिय की अनुभूति का आनंद हृदय को विभोर किए रहता है। संशयादि का उधर कोई प्रश्न नहीं उठता।

घनानंद जी ने कहीं तो उस स्थिति तक पहुँचने का अभिलाष व्यक्त किया है और कहीं उसकी अनुभूति व्यक्त की है। इस भेद को या तो काल क्रम से माना जा सकता है, या भक्त के सौजन्य की झलक इसमें है कि वह उसका अनुभव करता हुआ भी उसकी आशा करता है। दोनों भाव दशाएँ कवि की स्वानुभूत हैं। घनानंद जी के विषय में किंवदंती प्रसिद्ध है कि—वे वृंदावन की गलियों तथा यमुना के किनारों पर उन्मत्त की तरह घूमा करते थे। उनकी यह अवस्था हो गई थी कि हृदय कृष्ण के वियोग-संयोग से भरा रहता था। नेत्रों से आँसुओं की धारा ज्यों ज्यों बहती थी त्यों त्यों नवीन आह्लाद ज्योति का उदय होता था। प्रेमोपालभों से

१—आनंद घन पदावली ४६१-४८४।

२—भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

हृदय घी जैसा बन जाता था।[१] जब उन्हें परमेश्वर का दर्शन हुआ तो शरीर और हृदय में शीतलता बढ़ गई। जन्म जन्म के दुख मिट गए। जगमोहन ब्रजमोहन होकर मिले।[२] ऐसी अवस्था में घनानंद जी किसी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं करते। सब सिद्धियाँ उन्हें मिल चुकी हैं। रोम रोम में हर्ष छा गया है। इस संपत्ति का कैसे वर्णन किया जाय।[३]

ज्ञान और प्रेम की अंतिम दशा एक सी होती है। प्रेमानुभूति से भी अज्ञानान्धकार का विनाश हो जाता है। आनंदानुभूति इधर विशेष होती है। घनानंद जी ने निम्नलिखित दोहे में इसी अवस्था का आभास दिया है—

"प्रकटी अनुभवचंद्रिका भ्रम तम गयौ बिलाय।
ब्रजमंडल की कृपा से रह्यौ मोद घन छाय॥

अनुभव चंद्रिका ५४

प्रेम के उद्गार, उन्माद और आत्मविस्मृति का स्थान स्थान पर संकेत मिलता है। 'यमुना यश' में कवि ने लिखा है कि—'मैं यमुना के किनारे फूला फूला फिरता हूँ। उसकी तरंगों को देख देख कर मुग्ध होता हूँ।[४] 'भावना प्रकाश' में लिखा है कि जब गुरु के प्रसाद से हृदय में प्रेम का आवेश उमड़ता है तो यमुनारज का स्पर्श करने से लीला स्वरूप के साक्षात्कार होने

१—को पावै ये भेद जो गावै मेरो वैरागी जियरा
ब्रजमोहन के वियोग संयोग भरौ है हियरा
असुवनि जल सौं अधिक जगति जोति परेखनि होत मनौ घियरा।
आ० घ० पदावली ३८१

२—मोहि मेरे अंतरजामी भेंटे
तन मन सुख शीतलता बाढ़ी जन्म जन्म दुःख मेटे।
जग मोहन पै ब्रज मोहन ह्वै कृपा कंद परि फेटे। पदावली ३७९

३—अब कछु बाधा नाहिं रही।
मदन गुपाल मिलै सुखदायक साधा सबै लही॥
रोम रोम अति हरष भयौ है जीवन सफल सही।
आनँदघन या रस की सम्पति कैसे परत कही॥
आ० घ० पदावली ८६,

४—यमुना यश २७

लगते है। चारों ओर चकित होकर देखता हूँ और राधा कृष्ण का हृदय में ध्यान करता हूँ तो राधाकृष्ण प्रकट रूप में दिखाई देते है। सुधि भूलकर उन्मत्त की भाँति घूमता फिरता हूँ। मन श्री कृष्ण के प्रेमावर्त में घूमता रहता है। ऐसी दशा मेरी हो गई।'[१] क्षण क्षण में उनके हृदय में भाव तरंगें उठती हैं। महामधुर रस के पान से तृप्त रहते हैं। विह्वल दशा में शरीर रोमांचित हो जाता है। घूमते हुए बन बीथियों में डोलते हैं। मौन धारण किए मन ही मन कुछ बोलते है। प्रेम के रंग से मुख पर एक विलक्षण आभा चमकने लगती है। हृदय में हलकी सी स्नेह पीड़ा कसकती रहती है। अन्य सब ओर से उदासीनता छा जाती है। प्रभात-संध्या का भी भान उन्हें नहीं रहता। 'हे कृष्ण' 'हे राधे' की पुकार लगाते रहते हैं। ब्रज बन के स्थान स्थान को देखकर हृदय मुग्ध होता है। तरु बेलों में राधा कृष्ण के दर्शन करते हैं। यमुना के किनारे मुँह धोते हुए कभी हँसते है कभी रोते है। इस प्रकार उन्मत्त से बन कर बनों में घूमते फिरते हैं।[२]

घनानंद जी के विषय मे किंवदंती है कि यवनों ने जब उन्हें तलवार से काटा तो ज्यौ ज्यौ तलवार शरीर पर घाव करती थी त्यों ही त्यों यह यमुना रज में लोटते जाते थे। स्वाभाविक स्थिति में ब्रज रज में लेट लेट कर विह्वल होने की अपनी इस दशा का स्वयं उन्होंने उल्लेख किया है।

"बूझै मुख बोलो न आइहै। रोम रोम अभिलाष छाइहै।
ब्रज रज लोटि विकल है जैहौं। बड़ी बेर तन की सुधि पइयौं।[३]"

इसी प्रकार की भावना, जगत की अनुभूति उन्होंने अपने बहुगुनी रूप से की है। वे अनुभव करने है कि श्री राधा स्वयं उनसे महावर लगवाती हैं। पैर दबवाती हैं। जब वे सो जाती हैं तो बहुगुनी अपना सिर उनके पैर से स्पर्श कर लेती है। वह राधा के अन्तरंग परिग्रह में है। उनके केलि मंदिर में सब प्रकार के विस्रंभ कार्य वह करती है।

१—भावना प्रकाश १८६, २०७

२—वही २०६, २१२

३—भावना प्रकाश ६८, १०४

इस विवरण से घनानंद जी की भावुकता की कक्षा का परिचय भली भाँति हो जाता है। वे साधना की किस कोटि में थे यह भी स्पष्ट हो जाता है।

× × ×

घनानंद का भक्तिदर्शन

१—भगवत्प्राप्ति बिना भगवान की कृपा के नहीं होती कितना ही कोई नियम, धर्म, व्रत, उपव्रत का पालन करे। भगवत्कृपा भगवान का ही रूप है। इसकी प्राप्ति प्रेम द्वारा होती है। कृपा भक्त में पात्रता का निर्माण भी स्वयं कर लेती है जैसे जलाशय बढ़ता हुआ अपने किनारों का निर्माण कर लेता है। भगवान बड़े कृपालु हैं। भक्तों पर सदा कृपा बनाए रहते हैं।[१]

२—भगवान श्री कृष्ण सदा कौतुक रूप हैं। ये आनंद की मूर्ति और रसिकविहारी हैं।[२] परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है। फूल, पत्ते, लता, कुंज, नदी नद सब ही में उसका रूप झलकता है, पर भक्त उसका दर्शन जिस रूप में करना चाहता है वह नहीं होता। इसलिए भक्त व्याकुल रहता है।

३—परमेश्वर सुख स्वरूप है अतः वह प्राणियों को सुख देता है पर उनके दुःख का अनुभव नहीं करता।[३]

४—वृंदावन स्नेह का देश है, भगवान का विग्रह है। इसके प्रेम के बिना भगवत्प्रेम दुर्लभ है। वृंदावन राधाकृष्ण के दर्शन के लिये आदर्श है। 'राधिका दरस को सुदेश आदरस याहि—कहत बनै न स्याम नैन पहचानहीं'[४] इसके यथार्थ रूप को श्री कृष्ण ही जानते हैं।

वृंदावन पाइबे की गैल को गहे न जौलौं,
पाइहू गएतें रस पारस क्यों पाइये।

× × ×

१—आ० ध० कृपानंद निबंध

२—प्रीति पावस प्रेम पत्रिका—ढिग है यौ दुख देत दूरि ते दूरि से
प्रेम पत्रिका ११०

३—सदा सुखी सुख देत रहौ दुख पावत नाहीं: वही २१

४—प्रेम पत्रिका ३०

निगम बिसूर थाकै पदई परम दूरि
आनंद के अंबुद कौं थकि थकि धाइये ।[१]

× × ×

यह मही मंडल से पृथक है । यहाँ आनद के घन सदा छाए रहते हैं—

'अद्भुत अभूत मही मंडल, परे तें परे'
जीवन को लाहौ हा हा क्यौ न ताहि लहिरे ।
आनँद को घन छायौ रहत निरंतर ही
सरस सुदेस मौ पपीहापन वहिरे[२] ।'

× × ×

ब्रज की धूलि में प्रेम का सार समोय कर रक्खा हुआ है ।

'प्रेम सार धर्यो है समोय ब्रज धूरि मे[३]'

× × ×

भगवान श्री कृष्ण स्वयं जब कृपा करते हैं तभी ब्रज की माधुरी का अनुभव होता है ।

कृपा करैं ब्रज नाथ जौ, ब्रज दर्शन के नैन ।
या ब्रज वन की माधुरी, तौ परसै उर ऐन ।[४]

ब्रज में भगवान का निवास है—

ब्रजमोहन ब्रज में बसै नित ब्रज मंगल रूप ।
घर बाहर व्यापक सदा मंगल चरित अनूप ।[५]

परमेश्वर रसस्वरूप है इसका अनुभव साक्षात्कार या सामीप्यलाभ प्रेमानुभूति के द्वारा ही हो सकता है । प्रेम ज्ञान का फल है अतः उससे प्रशस्यतर है । प्रेमोदय हो जाने से उसके प्रकाश से सारा अंधकार नष्ट हो जाता है ।

१—वही ३५
२—वही ५१
३—वही ५८
४—ब्रजविलास ७
५—वही १५

भक्ति मार्ग में गुरु कृपा का महत्वपूर्ण स्थान है। हृदय में प्रेम का आवेश गुरु कृपा से ही उत्पन्न होता है।

श्री गुरुवर प्रसाद के लेस, हिये बढ़ै आवेश असेस।[1]

वृंदावन महिमा—

परमानंद रूप ब्रज बन है जहाँ प्रवेश करत नहीं मन है।
परमतत्व को सार समोय, ब्रज बन रज लै राखो मोय।
ब्रज बन थिर चर को आभास, निरवधि रस निरजाय विलास।
(धामचमत्कार: ६, १०–११)

ब्रज के प्रेम को घनानंद ने 'ब्रजरस' कहा है उसे भी श्रीकृष्ण प्रेम के समकक्ष माना है।

सब ते अगम अगोचर ब्रजरस, रसना कहि सकति न याको जस।
(धाम च० १८)

भगवान ने इसे अपने दर्शन का दर्पण बना रक्खा है, उनका साक्षात्कार यहीं पर होता है।

ब्रज बन निज दरपन है कियौ। निरखत स्याम सिरावत हियौ॥
(धा० च० ४१)

वृंदावन श्री राधा-कृष्ण के शरीर का ही रूप है। फूल पत्तों से वह रोमांचित है। उसकी पराग की गंध उनकी शरीर गंध है। राधा और कृष्ण के जो विविध रंग हैं वे ही इसके दल, फल फूलों के रंग हैं। इस प्रकार धाम धामी दोनों अभिन्न हैं।

रोमाचित श्री वपु लौं रहै। पवन गमन परिमल महमहै।
जुगल अंग जे रंग विराजै। ते बन दल फल फूलनि आंजे।
रस मय सुख मय धामी धाम (वृन्दावन मुद्रा २४, २६, २८)

हृदय के अंदर परमेश्वर विराजमान है, ऐसा अनुभव भक्त करता है। उसे वह आँखों से देखना चाहता है। आनंद घन पादा० २५१।

१—भावना प्रकाश ६८।

परमेश्वर सदा भक्त के साथ रहता है। भक्त परमेश्वर से अभिन्न भी है। केवल माया के कारण, जो इसी का रूप है, परमेश्वर का यथार्थ रूप आँखों से तिरोहित हो जाता है। भक्ति द्वारा उसी का साक्षात्कार किया जाता है।

अब तुम तब तुम जब तुम तुम ही तुम बिन कब हौं हौं तुम हौं।
यह दुरि उघरनि कहौ कहाँ ते सीखे तुम्हैं तुम्हारी सौं।
आप बीच परि नाँव और धरि करत अटपटी बातनि कौं।
(आनँद घन पदावली ९५)

नवाँ परिच्छेद

दर्शन और संप्रदाय

१. पृष्ठभूमि

आनंदघन जी का संप्रदाय तथा दार्शनिक विचार पहचानने के लिये पहले हमें उन बड़े बड़े चार वैष्णव संप्रदायों का सूक्ष्म रूप जान लेना चाहिए जो वैष्णव भक्तों की विचारपद्धति को प्रभावित करते हैं। वैष्णव धर्म के विभिन्न संप्रदायों में आपस में अनेक रूपों में समानता होती है। अत: संत लोगों की वाणियों में थोड़ा बहुत सभी संप्रदायों का सत्य आ जाता है, क्योंकि ये लोग संप्रदाय के आचार्य न हो कर सात्विक हृदय के उपासक होते है। किसी विशेष विचारधारा के अत्यंत आग्रही नहीं होते। आनंदघन जी भी इसके अपवाद नहीं हैं। अत: यहाँ निम्बार्क, माध्व, चैतन्य, तथा बल्लभ चार संप्रदायों का सूक्ष्म परिचय देकर आनंदघन जी के संप्रदाय तथा दार्शनिक विचारों का स्वरूप उपस्थित किया जाएगा।

क. निम्बार्क संप्रदाय

प्रवर्तक

इस संप्रदाय का नाम सनक संप्रदाय अथवा 'हंस संप्रदाय' है। इसके आदि प्रर्वतक ब्रह्मा के पुत्र सनक माने जाते हैं। आदि आचार्य निम्बार्क हैं जिनका पहला नाम नियमानंद था। इन्होंने अपने चमत्कार से पेड़ पर भगवान विष्णु के चक्र का आवाहन कर उसे सूर्य की तरह दिखा दिया था। तब से ये 'निम्बार्क' कहे जाने लगे। इनका समय सन् ११६२ के आस पास माना जाता है। इनके बनाए हुए दो ग्रंथ हैं। १ला 'वेदांत-पारिजात सौरभ।' यह ब्रह्म सूत्रों पर लिखा भाष्य है। और २रा 'दशलोकी' इसमें भक्ति के सिद्धांत का सूक्ष्म रूप से परिचय कराया गया है। 'एक दूसरी २५ श्लोकों की स्तोत्र पुस्तक भी इन्होंने लिखी है जिसका नाम 'सर्वविशेष श्रीकृष्णस्तवराज' है। ये पुस्तकें ही सम्प्रदाय का आदि स्रोत तथा आधार हैं।

मत

इस मत में ब्रह्म तथा जगत् का संबंध भेदाभेद का है। जिस प्रकार गुण और गुणी तथा अवयव और अवयवी का परस्पर संबंध भेद का भी है और अभेद का भी। उसी प्रकार ब्रह्म से जगत भिन्न भी कहा जा सकता है और अभिन्न भी। मकड़ी का जाला तंतु मकड़ी से बाहर भी अवस्थित है और मकड़ी के भीतर भी। जगत की स्थिति ब्रह्म में है तथा ब्रह्म जगत से भिन्न भी है। इस संप्रदाय के अनुसार मुख्य तत्व तीन हैं--ब्रह्म चित् और अचित्।

ब्रह्म सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ तथा अच्युत विभववान है। वह जगत का निमित्त तथा उपादान दोनों प्रकार का कारण आप ही हैं। जैसे मकड़ी अपने शरीर से आप जाला पूरती है इसी प्रकार ब्रह्म अपनी शक्ति का विक्षेप कर जगत के रूप में अपनी आत्मा को परिणत कर देता है। ब्रह्म की शक्ति तीन प्रकार की है, परा, जीवाख्या और मायाख्या। जीवाख्या शक्ति से चित अर्थात् जीव की सृष्टि तथा मायाख्या शक्ति से अचित् अर्थात् जड़ जगत की सृष्टि होती है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। उनकी पराशक्ति ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों का अधिष्ठान बनती है 'ऐश्वर्याधिष्ठित पराशक्ति 'रमा' अथवा लक्ष्मी हैं और माधुर्याधिष्ठित वही शक्ति गोपी तथा राधा है। भगवान मुक्त, गम्य, योगी, ध्येय, कृपालभ्य तथा स्वतंत्र है। ब्रज धाम में वे नित्य अवस्थित हैं। ब्रज के श्री कृष्ण ही प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी शक्ति स्वरूप गोपियों से परिवेष्टित होकर इस संप्रदाय के उपास्य बनते हैं।

जीव

चित् तत्व ही जीव है जो अचित् तत्व देहादि जड़ पदार्थों से भिन्न है। वह नित्य, ज्ञाता, अणु, परमाणु कर्त्ता तथा नाना है। इसका प्रेरक ईश्वर है, जो अनादि माया से युक्त हैं। जीव तीन प्रकार के होते हैं। जड़, मुक्त तथा नित्यमुक्त। जिन जीवों का देह अथवा तत्संबंधी वस्तुओं में अभिमान रहता है और जो अनादि कर्मरूपिणी अविधा से बद्ध हैं वे जड़ जीव है। मुक्ति दो प्रकार की हैं—क्रममुक्ति तथा सद्योमुक्ति। जो जीव विधिपूर्वक अर्चन तथा श्रौत स्मार्त कर्मानुष्ठानों द्वारा स्वर्गादि लोकों का अनुभव कर प्रलय काल में ब्रह्म का सायुज्यलाभ करते हैं वे क्रममुक्ति को प्राप्त करने वाले मुक्त हैं। श्रवणादि साधनों से जिनका संसार बंधन टूट जाता है वे सद्योमुक्ति के उपभोक्ता मुक्तजीव हैं। संप्रदाय में यह दूसरे प्रकार की मुक्ति ही काम्य

है। क्रममुक्ति वाले जीवों को सत्यलोक में भगवान के ऐश्वर्यादि रूप का लाभ होता है। सद्योमुक्ति में सेवानंद प्रधान है। नित्यमुक्त जीव नित्यसिद्ध भी कहलाते हैं। वे सदा संसार दुख से मुक्त श्रवणादि साधनो में तत्पर और सदा भगवदनुभावित रहते हैं।

अचित—

अचित् तत्त्व के तीन भेद होते हैं। प्राकृत अप्राकृत और काल। प्राकृत तत्व सांख्य दर्शन की प्रकृति के समकक्ष हैं। यह सत्व, रज, तमस् तीन गुणों का आश्रय है, इसका कारणरूप नित्य तथा कार्यरूप अनित्य है। यही प्रकृति देह, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि रूप में परिणत होकर जीव का बंधन बनती है। मोक्ष का यह अंतराय है। वेदांतियों की माया और अविद्या के समान इसी का दूसरा भेद अप्राकृत है। यह विशुद्ध सत्वप्रधान है। प्राकृत और काल से परे है। यही विष्णुपद परमपद ब्रह्मलोक आदि रूपों से भगवदाश्रित मुक्त जीवो के आनंदभोग के उपकरण तथा निवासादि के रूप में परिणत होती है। काल प्राकृत पदार्थों का नियामक है। उसीके कारण समस्त परिवर्तन होते हैं। वह भगवदाधीन है, नित्य तथा विभु है।

भक्तिसिद्धांत—

जिनकी शिव ब्रह्मादि बंदना करते हैं वे श्रीकृष्ण के चरण ही जीव के एकमात्र शरण हैं। भक्त जिस भाव से भगवान को भजता है भगवान उसी भाव से मिलते है। भगवान दयालु तथा कृपालु है। इस संप्रदाय में उपास्य केवल राधायुक्त श्रीकृष्ण हैं। भक्ति की प्राप्ति में भगवत्कृपा से ही भक्त में दैन्यादि भाव आते है, इस कृपा का फल प्रभु की शरण का लाभ करना है। भक्ति-प्राप्ति श्रवण कीर्तन आदि के नौ उपाय हैं। शांत, दास्य, सख्य वात्सल्य तथा उज्वल पाँच प्रकार की भक्ति होती है। इस संप्रदाय में कृष्ण के समान ही राधा का महत्व माना गया है। निम्बार्काचार्य ने युगलरूप की उपासना के साथ साथ प्रेम तथा माधुर्य की अधिष्ठात्री राधा की उपासना पर विशेष बल दिया है। क्योंकि वे ही भक्त को सिद्धिलाभ करा सकती हैं, भगवान का सर्वोत्कृष्ट प्रेम उन्हीं को प्राप्त है।

ख. माध्वसंप्रदाय

माध्वसंप्रदाय 'भेदवादी' संप्रदाय कहलाता है। इसके आदिप्रवर्तक माध्वाचार्य है जिन्हें आनंदतीर्थ तथा पूर्णप्रज्ञ भी कहते हैं। आचार्य शंकर

ने जीव तथा ब्रह्म का अभेद सिद्ध किया था। उसके खंडन में इन्होंने उनका भेद सिद्ध किया है। इनकी मृत्यु १२७९ में हुई थी।

पदार्थ संख्या

माध्वाचार्य ने दस पदार्थ माने हैं। नैयायिक सात मानते हैं। इनके दस हैं—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशो, शक्ति, सादृश्य, तथा अभाव। नैयायिकों के सात पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। माध्वाचार्य का द्रव्य पदार्थ नैयायिकों का द्रव्य ही है। इन्होंने समवाय नहीं माना और विशिष्ट अंशी, शक्ति तथा सादृश्य ये चार पदार्थ अधिक माने है। शेष में नैयायिकों की सरणि का ही आश्रयण है। अतिरिक्त माने गए चार पदार्थों में विशिष्ट तथा अंशो द्रव्य ही हैं। शक्ति और सादृश्य नैयायिकों के गुणों के अंतर्गत किए जा सकते हैं।

पदार्थ भेद

इनमें से द्रव्य २० प्रकार के हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अहंकार, बुद्धि, मन, तन्मात्रा, 'पंच' भूत, पांच ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अंधकार, वासना, काल, प्रतिबिंब। कर्म तीन प्रकार के है—विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। सामान्य दो प्रकार के हैं जाति तथा उपाधि। विशेष भेद के गुण का नाम है तथा विशिष्ट विशेष गुण युक्त का। शक्ति के चार भेद हैं। अचित्य शक्ति, आधेय शक्ति, सहज शक्ति और पद शक्ति।

पदार्थ विवरण

परमात्मा एक है, अनंत-गुण-पूर्ण है। आनंद आदि गुणों का आश्रय, स्वतंत्र, नित्य तथा अद्वितीय है। सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, आवरण, बोधन, बंधन और मोक्ष इन आठ कार्यों पर परमात्मा का-ही आधिपत्य है। जीव परतंत्र है। उसके सुख, दुख, विद्या अविद्या, बंधन, मोक्ष सब परमात्मा की इच्छा के अधीन हैं।

जीव—मुक्ति योग्य, नित्य संसारी तथा तमोमय तीन प्रकार के जीव होते हैं। उनकी सख्या अनंत है। देवता तथा उत्तम मनुष्य मुक्ति योग्य हैं। दैत्य, राक्षस आदि तमोयोग्य है। शेष नित्य संसारी।

प्रकृति—प्रकृति जड़ है। वह सत्व, रज, तमस् तीन गुणों का अधिष्ठान है। इसकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी है। भगवान लक्ष्मी द्वारा ही सृष्टि करते हैं।

परमात्मा के अतिरिक्त सब पदार्थ जड़ तथा चेतन दो प्रकार के हैं। इनमें चेतन केवल जीव हैं। जड़, जीव तथा परमात्मा का भेद सदा बना रहता है। यह भेद पाँच प्रकार का है। १—परमात्मा और जीव का भेद २—परमात्मा तथा जड़ का भेद ३—जीव तथा जड़ का भेद ४—जीव और जीव का भेद ५—जड़ और जड़ का भेद। यह भेद जीव के मुक्त हो जाने पर भी बना रहता है।

मोक्ष के भेद तथा उपाय—

मोक्ष चार प्रकार का है—कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिरादिमार्ग तथा भोग। संचित तथा प्रारब्ध कर्मों के क्षय के बाद कर्मक्षय तथा मोक्ष प्राप्त होता है। कर्मक्षय के उपरांत जीव सुषुम्ना द्वारा उत्क्रमण करता है। हृदयस्थ विष्णु ब्रह्म द्वार से बाहर आकर उसे विष्णु लोक में ले जाता है। यह उत्क्रमण मोक्ष है। ज्ञानी जीव का भगवत्स्मृति से सुषुम्ना की पार्श्ववर्तिनी नाड़ी द्वारा जो अर्चिरादि लोकों को ऊर्ध्वगमन होता है वह अर्चिरादि भक्ति है। गुणोपासक ज्ञानी जीव प्रारब्ध कर्म के अवसान के बाद जो विविध भोग करते हैं वह भोग मुक्ति है। इसके अतिरिक्त सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य चार भेद मुक्ति के भोगों के हैं। भगवान के लोक में पहुँच कर इच्छानुकूल भोग सालोक्य में होते हैं। भगवान का समीप्य लाभ सामीप्य में होता है। सारूप्य में मुक्त जीव भगवान के समान ही रूप और गुण प्राप्त कर लेता है। सायुज्य में वह भगवान के देह में ही प्रवृष्ट हो जाता है। मोक्ष का उपाय भगवद् अनुग्रह ही है। अनुग्रह के उत्तम मध्यम तथा अधम होने से जीव को उत्तम मध्यम और अधम लोकों के सुखभोग प्राप्त होते हैं।

ग. चैतन्य संप्रदाय

प्रवर्तक और तत्त्व विवेचन—

इस संप्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु हैं। तात्विक सिद्धांत की दृष्टि से इसे 'अचिंत्य भेदाभेद वादी' संप्रदाय कहते है। इसके अनुसार परम तत्व एक ही है जो सच्चिदानंद स्वरूप, अनंत शक्तिसंपन्न तथा अनादि है। यही तत्व उपाधि भेद से परमात्मा, ब्रह्म और भगवान कहा जाता है। परमतत्व श्रीकृष्ण हैं। इनकी अनंत शक्तियाँ प्रकट हों तो भगवान, अप्रकट हों तो ब्रह्म

तथा कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट हों तो परमात्मा भेदों का जन्म होता है। ब्रह्म ज्ञानगम्य है, परमात्मा योगगम्य तथा भगवान भक्तिगम्य होता है। श्रीकृष्ण की तुलना में ब्रह्म की स्थिति ऐसी है जैसे सूर्य की तुलना में उसके प्रकाश की। परब्रह्म के तीन रूप हैं—स्वयंरूप, तदेकात्मरूप तथा आवेशरूप। परब्रह्म का स्वयंरूप श्रीकृष्ण हैं जो अपने पूर्णरूप से द्वारिका में, पूर्णतर रूप से मथुरा में और पूर्णतम रूप से वृंदावन में बिराजते थे। वही जब किसी लीला विशेष के लिये या अपने किसी अंश के लिये प्रकट होते हैं तो तदेकात्म रूप कहलाते हैं जैसे नारायण और मत्स्यादि अवतार। जब वह ज्ञान शक्ति आदि की क्रियाओं से महान जीव में प्रकट होता है तो वह आवेश रूप कहलाता है। भगवान के तीन प्रकार के अवतार होते हैं। पुरुषावतार, लीलावतार, तथा गुणावतार। वासुदेव पहले हैं, सनकादि दूसरे, तथा ब्रह्मा विष्णु महेश तीसरे अवतार हैं।

भगवान की तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। अंतरंग; बहिरंग और तटस्थ। अंतरंग शक्ति ही उनके स्वरूप की शक्ति है। इसके सत् चित् और आनंद तीन भेद हैं। भगवान सत से विद्यमान, चित से स्वयं प्रकाशवान तथा जगत के प्रकाशयिता होते हैं। आनंद से आनंदमग्न रहते हैं। इसी को आह्लादिनी शक्ति कहा जाता है। राधा इसी का स्वरूप हैं। बहिरंगा शक्ति माया है जो जगत का उपादान कारण हैं। तटस्थ शक्तिसंपन्न जीव है जो एक ओर अंतरंग से तथा दूसरी ओर बहिरंग से संबंधित रहता है।

मोक्ष तथा उसके उपाय—

भक्ति प्राप्ति का एकमात्र साधन श्रीकृष्ण की कृपा हैं। भक्ति दो प्रकार की है। वैधी तथा रागानुरागा। इसका भेदादि विवरण भक्ति प्रकरण में विवेचित हुआ है। अन्य संप्रदायों की तरह इसमें भी सत्संग, लीला कीर्तन, वृंदावनवास, कृष्णमूर्ति की पूजा आदि को भक्ति का साधन मान कर उनकी उपादेयता बताई गई है। इस संप्रदाय में वर्णाश्रम की मर्यादा का पालन नहीं है। भगवद्भक्ति में चांडाल से लेकर ब्राह्मण तक सभी का समान अधिकार है।

घ. वल्लभ संप्रदाय

इसके आदि प्रवर्तक वल्लभाचार्य हैं। इसे पुष्टि मार्ग कहते हैं। पुष्टि का अर्थ भगवदनुग्रह है। भगवदनुग्रह वैसे तो सभी भक्ति संप्रदायों में मान्य हैं पर पुष्टि मार्ग में उस पर विशेष बल दिया गया है। इसलिये

प्रकृति—प्रकृति जड़ है। वह सत्व, रज, तमस् तीन गुणों का अधिष्ठान है। इसकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी है। भगवान लक्ष्मी द्वारा ही सृष्टि करते हैं।

परमात्मा के अतिरिक्त सब पदार्थ जड़ तथा चेतन दो प्रकार के हैं। इनमें चेतन केवल जीव हैं। जड़, जीव तथा परमात्मा का भेद सदा बना रहता है। यह भेद पाँच प्रकार का है। १—परमात्मा और जीव का भेद २—परमात्मा तथा जड़ का भेद ३—जीव तथा जड़ का भेद ४—जीव और जीव का भेद ५—जड़ और जड़ का भेद। यह भेद जीव के मुक्त हो जाने पर भी बना रहता है।

मोक्ष के भेद तथा उपाय—

मोक्ष चार प्रकार का है—कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिरादिमार्ग तथा भोग। संचित तथा प्रारब्ध कर्मों के क्षय के बाद कर्मक्षय तथा मोक्ष प्राप्त होता है। कर्मक्षय के उपरांत जीव सुषुम्ना द्वारा उत्क्रमण करता है। हृदयस्थ विष्णु ब्रह्म द्वार से बाहर आकर उसे विष्णु लोक में ले जाता है। यह उत्क्रमण मोक्ष है। ज्ञानी जीव का भगवत्स्मृति से सुषुम्ना की पार्श्ववर्तिनी नाड़ी द्वारा जो अर्चिरादि लोकों को ऊर्ध्वगमन होता है वह अर्चिरादि भक्ति है। गुणोपासक ज्ञानी जीव प्रारब्ध कर्म के अवसान के बाद जो विविध भोग करते हैं वह भोग मुक्ति हैं। इसके अतिरिक्त सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य चार भेद मुक्ति के भोगों के हैं। भगवान के लोक में पहुँच कर इच्छानुकूल भोग सालोक्य में होते हैं। भगवान का समीप्य लाभ सामीप्य में होता है। सारूप्य में मुक्त जीव भगवान के समान ही रूप और गुण प्राप्त कर लेता है। सायुज्य में वह भगवान के देह में ही प्रविष्ट हो जाता है। मोक्ष का उपाय भगवद् अनुग्रह ही है। अनुग्रह के उत्तम मध्यम तथा अधम होने से जीव को उत्तम मध्यम और अधम लोकों के सुखभोग प्राप्त होते हैं।

ग. चैतन्य संप्रदाय

प्रवर्तक और तत्त्व विवेचन—

इस संप्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु हैं। तात्विक सिद्धांत की दृष्टि से इसे 'अचिंत्य भेदाभेद वादी' संप्रदाय कहते हैं। इसके अनुसार परम तत्व एक ही है जो सच्चिदानंद स्वरूप, अनंत शक्तिसंपन्न तथा अनादि है। यही तत्व उपाधि भेद से परमात्मा, ब्रह्म और भगवान कहा जाता है। परमतत्व श्रीकृष्ण हैं। इनकी अनंत शक्तियाँ प्रकट हों तो भगवान, अप्रकट हों तो ब्रह्म

तथा कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट हों तो परमात्मा भेदों का जन्म होता है। ब्रह्म ज्ञानगम्य है, परमात्मा योगगम्य तथा भगवान भक्तिगम्य होता है। श्रीकृष्ण की तुलना में ब्रह्म की स्थिति ऐसी है जैसे सूर्य की तुलना में उसके प्रकाश की। परब्रह्म के तीन रूप हैं—स्वयंरूप, तदेकात्मरूप तथा आवेशरूप। परब्रह्म का स्वयंरूप श्रीकृष्ण हैं जो अपने पूर्णरूप से द्वारिका में, पूर्णतर रूप से मथुरा में और पूर्णतम रूप से वृंदावन में बिराजते थे। वही जब किसी लीला विशेष के लिये या अपने किसी अंश के लिये प्रकट होते हैं तो तदेकात्म रूप कहलाते हैं जैसे नारायण और मत्स्यादि अवतार। जब वह ज्ञान शक्ति आदि की क्रियाओं से महान जीव में प्रकट होता है तो वह आवेश रूप कहलाता है। भगवान के तीन प्रकार के अवतार होते हैं। पुरुषावतार, लीलावतार, तथा गुणावतार। वासुदेव पहले हैं, सनकादि दूसरे, तथा ब्रह्मा विष्णु महेश तीसरे अवतार हैं।

भगवान की तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। अंतरंग; बहिरंग और तटस्थ। अंतरंग शक्ति ही उनके स्वरूप की शक्ति है। इसके सत् चित् और आनंद तीन भेद हैं। भगवान सत से विद्यमान, चित से स्वयं प्रकाशवान तथा जगत के प्रकाशयिता होते हैं। आनंद से आनंदमग्न रहते हैं। इसी को आह्लादिनी शक्ति कहा जाता है। राधा इसी का स्वरूप हैं। बहिरंगा शक्ति माया है जो जगत का उपादान कारण हैं। तटस्थ शक्तिसंपन्न जीव है जो एक ओर अंतरंग से तथा दूसरी ओर बहिरंग से संबंधित रहता है।

मोक्ष तथा उसके उपाय—

भक्ति प्राप्ति का एकमात्र साधन श्रीकृष्ण की कृपा हैं। भक्ति दो प्रकार की है। वैधी तथा रागानुरागा। इसका भेदादि विवरण भक्ति प्रकरण में विवेचित हुआ है। अन्य संप्रदायों की तरह इसमें भी सत्संग, लीला कीर्तन, वृंदावनवास, कृष्णमूर्ति की पूजा आदि को भक्ति का साधन मान कर उनकी उपादेयता बताई गई है। इस संप्रदाय में वर्णाश्रम की मर्यादा का पालन नहीं है। भगवद्भक्ति में चांडाल से लेकर ब्राह्मण तक सभी का समान अधिकार है।

घ. वल्लभ संप्रदाय

इसके आदि प्रवर्तक वल्लभाचार्य हैं। इसे पुष्टि मार्ग कहते हैं। पुष्टि का अर्थ भगवदनुग्रह है। भगवदनुग्रह वैसे तो सभी भक्ति संप्रदायों में मान्य हैं पर पुष्टि मार्ग में उस पर विशेष बल दिया गया है। इसलिये

संप्रदाय का नामकरण ही इससे हुआ है। ईश्वर स्वरूप की मान्यता की दृष्टि से यह शुद्धाद्वैतवादी संप्रदाय है और शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खंडन इसमें होता है। शंकर के सिद्धांत में ब्रह्म को एक और अद्वितीय तो माना जाता है पर उसके दो भेद करने पडते हैं-निरुपाधिक ब्रह्म तथा सोपाधिक ब्रह्म। निरुपाधिक ब्रह्म नामरूप की उपाधियों से रहित, शुद्ध, बुद्ध मुक्त तथा कामनातीत होता है। यही ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप हैं। पर यह ब्रह्म कर्ता, भोक्ता तथा निर्विकार होने के कारण सृष्टि का कारण नहीं बन सकता। सृष्टि के लिये दो कारणों की अनिवार्य अपेक्षा होती है—उपादान तथा निमित्त कारण की। उपादान कारण तो विकारी वस्तु ही हो सकती है और निमित्त कोई कर्त्ता हो सकता है। शंकर के अनुसार विकार और कर्तृत्व दोनों धर्मो का निरुपाधिक ब्रह्म में आभाव माना है। इसलिये वह सृष्टि का कारण नहीं बन सकता। फलतः उसका दूसरा भेद सोपाधिक ब्रह्म मानना पड़ता है।

उपाधि माया है जो अग्नि की दाह शक्ति के समान उसी की अपृथगभूत शक्ति है। इसके दो कार्य होते हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध रूप को आवृत्त कर लेती है और विक्षेप शक्ति उसी में आकाश आदि प्रपंच की उत्पत्ति कर देती है। इस उपाधि से संयुक्त ब्रह्म जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण बन जाता है। उपासना तथा साधारण व्यवहार में इसी ब्रह्म का उपयोग होता है। जीव ब्रह्म से पृथक नहीं, अभिन्न है। वह भी नित्य, चैतन्य, स्वयंसिद्ध तथा ज्ञान-स्वरूप है। अंतर केवल माया के आवरण का है।

इस तरह सृष्टि की सिद्धि के लिये जो वेदांतियों ने ब्रह्म के मायामूलक दो भेद किए थे, वल्लभ मत में उसका खंडन किया गया है। वहाँ माया नाम की कोई वस्तु नहीं माना गई और ब्रह्म शुद्ध सर्वधर्माविशिष्ट माना गया है। ब्रह्म में जो विरोधी धर्मो का भान होता है जैसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' वह इनके अनुसार मायोपाधिक न होकर उसका सहज धर्म ही है।

इस मत में ब्रह्म के तीन भेद हैं—परब्रह्म, अक्षरब्रह्म और क्षरब्रह्म क्षरब्रह्म वेदांतियों की माया है जिसमें सब प्रकार के विकार-परिणाम होते है। अक्षर ब्रह्म क्षर ब्रह्म से तो प्रशंस्यतर है क्योंकि इसमें चैतन्य गुण रहता है, क्षर ब्रह्म में तो केवल सत्व रहता है चैतन्य नहीं। पर अक्षर ब्रह्म में आनंद तत्व का आभाव रहता है। इसलिये यह परब्रह्म से निकृष्ट है। कर्त्ता भोक्ता या सृष्टि का निमित्त कारण यही ब्रह्म होता है। सबसे श्रेष्ठ इसका

परब्रह्म या पुरुषोत्तम रूप है जिसमें सत्व, चैतन्य और आनंद तीनों वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। जीव, जगत, ब्रह्म के ही स्फुलिंग हैं अतएव वे नित्य है।

जगत के विषय में वल्लभाचार्यजी ने 'अविकृत परिणामवाद' माना है—अर्थात् ब्रह्म बिना किसी विकार को प्राप्त हुए जगत रूप में परिवर्तित हो जाता है। जिस प्रकार कुंडल, वलय आदि रूप में परिणत होने पर भी सुवर्ण में कोई अंतर नहीं आता, इसी प्रकार ब्रह्म जगत में रूप में परिणत होकर भी अविकृत ही रहता है। जगत के विषय में उत्पत्ति विनाश ये नहीं मानते। आविर्भाव तिरोभाव मानते हैं। इसका अर्थ यह हैं कि अक्षर ब्रह्म में तीन शक्तियाँ होती हैं—संधिनी, संवित् और आह्लादिनी। उनमें से संधिनी शक्ति द्वारा सत स्वरूप का, संवित शक्ति द्वारा चैतन्य का, तथा आह्लादिनी शक्ति द्वारा अपने आनंद स्वरूप का आविर्भाव तिरोभाव वह करता रहता है।

जड़ प्रकृति अर्थात् क्षर ब्रह्म में केवल संधिनी शक्ति अर्थात् सत्व आविर्भूत रहता है। अक्षर ब्रह्म में संधिनी और संवित अर्थात् सत्व और चैतन्य अनावृत रहते है। नरब्रह्म में तीनों शक्तियों द्वारा सत्व चैतन्य तथा आनंद सदा आविर्भूत रहते हैं। इस तरह ब्रह्म के भेद जो शंकर सिद्धांत में माया द्वारा होते हैं वे इस मत से उसके सहज धर्म बन गए। उनके केवल आविर्भाव तिरोभाव माने गए।

इस व्यवस्वा के अनुसार न तो ब्रह्म को ग्रस्त करने वाली इससे अन्य कोई दूसरी वस्तु माया है और न जीवात्मा को ही ग्रस्त करने वाली। यह अवस्था भी मायावृत्त नहीं, भगवान की इच्छा से की हुई है। कृष्ण के स्वरूप में बिलास और लीला का प्राधान्य इसी धारणा के फल स्वरूप हुआ है। श्रीकृष्ण परब्रह्म या पुरुषोत्तम के अवतार हैं। ब्रह्म के तीनों रूपों की उपासना भी भिन्न भिन्न मार्गों में होती है। ये मार्ग भी तीन हैं—

१—प्रवाह मार्ग या धर्म मार्ग २—मर्यादा मार्ग या ज्ञान मार्ग तथा ३—पुष्टि मार्ग या भक्ति मार्ग। सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना प्रवाह मार्ग है। वेद विहित मर्यादाओं का अनुसरण करना मर्यादा मार्ग है और भगवान के अनुग्रह के वशीभूत होकर उन्हें आत्मसमर्पण करना पुष्टि मार्ग हैं। पुष्टि मार्ग में लोक और वेद दोनों की मर्यादाओं का त्याग हो जाता है। यही मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। मर्यादा मार्ग में तो ज्ञानी को केवल अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती हैं। पुष्टि मार्ग द्वारा भक्त परब्रह्म के अति रोहित सच्चिदानंद स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। मर्यादा मार्ग भगवान की वाणी से निकला हैं। पुष्टि मार्ग उनके शरीर अथवा आनंद श्रृंग से।

ज्ञान मार्ग का लक्ष्य सायुज्यमुक्ति है। पुष्टि का प्राप्य रसात्मिका प्रीति द्वारा भगवान के अधरामृत का पान करना है।

आनंदघन का संप्रदाय

घनानंद जी के जीवन में इतना बड़ा परिवर्तन हुआ था कि उन्मुक्त मानवीय प्रेम के उपासक वे बाद में संत बन गए। संत भी नियमित रूप से दीक्षा लिए जान पड़ते हैं। ये निम्बार्क संप्रदाय के अंतर्गत सखी भाव के उपासक थे। इनके पूर्व के प्रेमी जीवन का मधुर भक्ति में परिणत होना स्वाभाविक था। किशनगढ़ के महाराज सावंत सिंह जी जो भक्त बन कर नागरीदास कहलाए इनके परम मित्र थे। नागर समुच्चय में इनका अनेक स्थलों पर प्रसग आया है।

१—आनंदघन हरिदास आदि सौं संत सभामधि, ना० स० प्र० २३ पद संख्या ४२।

२—आनंदघन हरिदास आदि संतन बच सुनि सुनि, वही पृ० १५।

३—आनंदघन को संगकरन तन मन कौं बार्‌यौ। वही पृ० २५ पर ५२

४—एक बार नागरीदास जी भक्त मंडली के साथ गोवर्धन गए। आनंदघन जी उनके साथ थे।

आये चलि तिहिठां रसिक झुंड, जहाँ राधा कुंड अरु कृष्ण कुंड।
उतते सुनि उमगे रसिक वृंद, उठि चले सामुहे बढि अनद।
(अनंद = आनंदघन)
तहाँ रुपे सूर सनमुख सम्हारि, बहि चले परसपर प्रेम वारि।
तहाँ बंद्रदास अरु मुरलीदास, मनु महारथी ये प्रेम रास।
ना० स० ब्रज वर्णन पृ० ८७, ८८ पद्य ५,

अपनी पुस्तक मनोरथ मंजरी में नागरीदास जी ने अपने एक परम मित्र संत का उल्लेख किया है—

युगलरूप आसव छके परे रीझ के पानि
ऐसे संतन की कृपा मोपै दंपति जान
परम मित्र आग्या दई मेरे हूँ हित वास
नवल मनोरथ मंजरी करी नागरीदास

यहाँ परममित्र आनंदघन ही प्रतीत होते हैं 'रीझ के पानि' वाक्यांश उन्हीं का है। उन्हीं की ओर सँकेत करता है।

नागरीदास जी स्वयं सखी भाव के उपासक थे जैसा कि नाम से प्रतीत होता है। अतः आनंदघन भी इसी संप्रदाय के रहे होंगे। सांप्रदायिक परंपरा में भी इनकी गणना सखी संप्रदाय में ही होती हैं। ब्रह्मचारी बिहारीशरण जी ने निम्बार्क संप्रदाय के समस्त संत भक्तों का इतिहास उनकी रचनाओं के परिचय के साथ 'श्री निंबार्क माधुरी' में दिया है। उनमें घनआनंद जी का उल्लेख किया है। और यह भी लिखा है कि ये ही आनंदघन हैं।[१] किस भाव के उपासक थे इसका निर्णय तो उक्त ग्रंथ में नहीं मिलता पर निम्बार्क सप्रदाय के अंतर्गत सखी भाव के सभी उपासकों का उल्लेख उक्त ग्रंथ में किया गया है। जैसे हरिदास जी, रसिक देव जी, भगवतरसिक, ललित किशोरी आदि। उसी प्रसंग में इनका उल्लेख है।

निंबार्क संप्रदाय की गुरु परंपरा का वर्णन इन्होंने अपनी 'परमहंस वंशावली' रचना में किया है। इसमें नारायणदेव से लेकर वृन्दाबनदेव जी तक गुरुओं का क्रमिक उल्लेख किया गया है—

गुरु परंपरा का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

नारायण, सनकादि, निंबार्क, श्रीनिवासाचार्य, विश्वाचार्य, पुरुषोत्तमाचार्य, विलासाचार्य, स्वरूपाचार्य, माधवाचार्य, बलभद्राचार्य, पद्माचार्य, श्यामाचार्य, गोपालाचार्य, कृपाचार्य, श्रीदेवाचार्य, सुंदरभट्ट, पद्मनाभ भट्ट, उपेन्द्र भट्ट, रामचंद्र भट्ट, वामन भट्ट, कृष्ण भट्ट, पद्माकर भट्ट, श्रवण भट्ट, भूरि भट्ट, माधव भट्ट, श्याम भट्ट, गोपाल भट्ट, बलभद्र भट्ट, गोपीनाथ भट्ट, केशव भट्ट, गंगल भट्ट श्री केशव काश्मीरी, श्री भट्ट, हरिव्यास, परमनिधि (परशुराम), हरिवंश, नारायण देव, वृन्दावन देव।

वृन्दावन देव जी से इन्होंने दीक्षा ली जान पड़ती है। एक तो उनसे आगे 'परमहंसावली' की गुरु परंपरा नहीं चलती दूसरे वृंदावन देव जी की विशेष रूप से इन्होंने प्रशंसा लिखी है। इनके विषय मे लिखते हैं कि इनकी (श्री वृन्दावन देव जी की) तो महिमा बीस बिसे अर्थात् पूर्ण है और वृन्दावन की परिध बीस कोस की है। अर्थात् ये वृंदावन के रूप हैं। वे कृपा के ईश सदा मेरे सिर पर निवास करे।

बिसे बीस महिमा तिन्हें ताहि कोस है बीस
सदा बसौं नीके लसौं कृपा ईस मो सीस[२]

१—'घनानंद और आनंदघन दोनों ही इनके नाम है' निंबार्क माधुरी पृ० ४९२

२—परमहंस वंशावली पद्यसंख्या—४५

इस प्रकार अपने प्रसंग से अन्य किसी गुरु की स्तुति इन्होने नहीं की। यह इनके दीक्षा गुरु होने का अनुमापक प्रमाण है। एक फुटकल रचना 'भोजनादिधुन' की भी आनंदघन के नाम से लिखी मिली है। जिसमें गुरु परंपरा उसी प्रकार नारायण से प्रारंभ होकर गोविंददेव जी तक हैं। इसमें गोविंददेव जी वृन्दावन देव के अनंतर आए है। परंपरा ज्यों की त्यों परमहंस वंशावली की ही है[1] इससे संशय हो सकता है कि श्री गोविंद देव जी ही इनके दीक्षा गुरु तो नहीं थे। पर इसी में वृन्दावन देव जी की प्रशंसा में एक अर्धाली लिखी है जिसमें उन्हे चातक रसिकों का आनंदघन बताया है।

'श्री वृन्दावन देव सनातन। चातक रसिक न को आनँदघन' और श्री गोविंददेव जी का केवल नाम स्मरण ही है।

जो यह भोजनादि धुनि गावै
श्री गोविंद देव पद पावै

इसी से वृन्दावन देव जी की ओर श्रद्धातिरेक झलकता है। दूसरे समय क्रम से भी वृंदावन देव जी का ही दीक्षागुरुत्व संभव लगता है। इनका समय संवत् १८०० तक है[2]। गोविंददेव जी संवत १८१४ तक विद्यमान है। आनंदघन जी की सं० १८१७ में मृत्यु हुई। जन्म संवत १७३० के लगभग अनुमित किया जाता है। गोविंददेव जी से दीक्षा लेने का अर्थ ७० वर्ष की आयु में दीक्षा लेना है। जो उचित नहीं जान पड़ता। अपनी युवावस्था में इन्होने दिल्ली छोड़ा था। ३० वर्ष की आयु भी उस समय पर रही होगी तो १७६० में वृन्दावन देव जी ही गद्दी पर विराजमान थे। इसी समय या उसके आस पास इन्हें वृन्दावन देव जी ही गद्दी पर विराजमान मिल सकते थे अत: उन्हीं से इन्होंने दीक्षा ली होगी।

सखी संप्रदाय श्री हरिदास जी द्वारा प्रवर्तित है। आनंदघन जी ने इनका नाम कहीं भी गुरु परंपरा में नहीं लिया है। केवल गिरिगाथा में एक स्थान पर पर इनका नाम आया है।

इहि प्रसाद हरिदासनिकर वर
धनि धनि गिरिवर धनि गिरिवरधर

१—आचार्य विश्व० प्रसाद मिश्र—आ० घ० ग्रंथा० भूमिका पृ० ७६

२—देखिए निम्बार्क मा पृ० १४३,

पर ये 'हरिदास' सखी संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य नहीं है। आनंदघन जी के समयकालीन इन्हीं के साथ के कोई दूसरे महात्मा है। उनका उल्लेख नागरीदास जी ने भी किया है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि सखी भाव या सखा भाव केवल उपासना के भेद हैं, मूलतः संप्रदाय तो निम्बार्क ही है। अतः आनंदघन जी ने गुरु परंपरा में निम्बार्क संप्रदाय की गद्दी के गुरुओं का नाम स्मरण किया है।

इनकी सखी संप्रदाय की उपासना के अंतःसाक्ष्य तो अनेकों मिलते हैं। जैसे—

१. संप्रदाय के प्रवर्तक श्री हरिदास जी की रसिक छाप थी।

(क) आसधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की[२]

(ख) रसिक अनन्य हरिदास जू गायौ नित्य विहार[३]

(ग) ऐसो रसिक भयौ नहि है भूमंडल आकास[४]

(घ) सो पथ श्री हरिदास लह्यो रस रीति की प्रीति चलाय निसाँको
निशननि बाजत गाजत गोविंद रसिक अनन्य को पथ बांको[५]

× × × ×

इस संप्रदाय के अनुयायी अन्य लोगों ने भी 'रसिक' शब्द का अपनी रचनाओं में प्राचुर्येण प्रयोग किया है। भगवत रसिक जी ने अपने नाम में ही इसको जोड़ लिया था। ललित किशोरी जी रचनाओं में कुछ ही ऐसी मिलेगी जिनमें 'रसिक' या रस शब्द न आया हो। इस से पता चलता है कि सखीसंप्रदाय में रस रसिक या तत्समानार्थक शब्दों का प्रयोग सांप्रदायिक परंपरा में आ गया था। श्री कृष्ण और राधा का स्वरूप भी श्रृंगार रस का बिहार करने वाला है। इस दृष्टि से आनदघन जी की समस्त रचनाओं की परीक्षा की गई है। उनमें रस तथा रसविशेष्य एवं रस विशेषण समस्त शब्द ११८९ बार प्रयुक्त हुए हैं। इनमें ८६९ बार रस विशेष्य शब्द जैसे महारस रसराज और 'एक रस' आए हैं, और ३२० बार रस

१—आनंदघन हरिदास आदि संतन बच सुनि सुनि। नागर समुच्चय पृ० २३

२—भक्त मात्र भक्तिसुधा स्वाद रूपकला० पृ० ६०७

३—भक्तनामावली श्री ध्रुवदास कृत।

४—श्री हरिराम व्यास जी निंबार्क माधुरी पृ० १९४

५—श्री हरिगोविंद स्वामी वही पृ० १९३

विशेषण समस्त शब्द जैसे रसिक 'रसिया' रसाल 'रसलोभी' आदि। इसी प्रकार रसिक शब्द १२२ बार प्रयुक्त हुआ है। श्री कृष्ण के लिए 'रसिक 'रसीले 'रसाल 'रसनायक' 'रसमय' आदि राधा के लिए 'रसिकिनी' 'रसदायिनी' 'रसलैनी' आदि विशेषताओं का उल्लेख स्थान-स्थान पर कवि ने किया है। कवि का रस और रसिक भाव पर इतना आग्रह उन्हें रसिक संप्रदाय का प्रमाणित करता है।

२ - इनकी रचनाओं में या तो ब्रजप्रेम का वर्णन है या फिर श्री कृष्ण और राधा के मधुर रस का। थोड़े पद ऐसे हैं जिनमें शिव, प्रह्लाद, चैतन्य, नारद, गगा, राम, सूर्य और और वामन की स्तुति की गई।[१]

इससे सांप्रदायिक दृष्टि की उदारता का पता तो चलता है पर रस-केलि का भूयोभूय वर्णन उन्हें सखी संप्रदाय का ही प्रमाणित करता है। इनकी रति मादन भाव की है जो मधुरा भक्ति मे ही मान्य है। श्रीकृष्ण को 'अनेक कामदेवों को लज्जित करने वाले', विलासनिधान,[२] 'केलिकला पंडित', 'रसमंडित'[३], 'केलिरसिक'[४], 'मदन केलि सुखपगे'[५], 'रसिक सिरोमनि, 'रसलोभी' 'रसिक छैल'[६], 'सुरति रस पगे'[७], 'रतिरसभौंडे', 'रसिकराधारमन', 'राधिका-नव उरग-राग-रंजित'।[१०] आदि विशेषण से युक्त कहा है जो सखी संप्रदाय की 'रस-केलि' का द्योतक है।

३—गोपियों के प्रेम की स्थान स्थान पर सराहना की है। गोपियाँ श्री कृष्ण और राधा की सखियाँ हैं। इससे सीख भाव की उपासना का अनुमान होता है। उन्होंने यह अनेकों स्थानों पर कहा है कि श्री कृष्ण की प्राप्ति गोपी प्रेम के द्वारा ही हो सकती है। एक उदाहरण—

१—ब्यौरेवार विवरण रचनाओं के प्रकरण देखिए।

२—विचार सार।

३—भावना प्रकाश ४३।

४—वही ५७।

५—पदावली १८८।

६—वही।

७—वही १२६।

८—पदावली ११२।

९—वही ६०।

१०—वही।

सरवोपरि गोपिन को प्रेम, जिनसों नंद सूनु को नेम।
निरिनि रहत ब्रज नंदन जिनके, हरि हित सहित मदोरथ इनके ॥
इनकौं गुन मुरलीधर गावत, परम प्रेम रस पुंज बढ़ावत।
इनकी प्रेम सगाई जैसी, देखी सुनी न कितहूँ ऐसी। [१]

प्रेम तो गोपिन हीं के भाग।
जिनके नंद सूनु सों साँची रच्यौ राग अनुराग।
कहियै कहा निकाई मन की जो कछु लागी लाग।
सर्वसु बिसरि बिसरि सुधि साधी महामोह के जाग।
ब्रज मोहन की महामोहनी अनुपम अचल सुहाग।
आनंद घन रस झेलि झालरी नव वृंदावन बाग।

आ० घ० पदा० १६२।

४—बधाई के पद लिखने की प्रथा निंबार्क संप्रदाय के अनुयायी संतों में होती है। आनंदघन जी ने श्री कृष्ण राधा और श्रीरास की बधाई में लगभग २५ पद लिखे हैं। इसके अतिरिक्त 'रंगबधाई' निबंध की स्वतंत्र रचना ही इसके लिये की है।

आनंद को घन रस जस बरसौ, हित हरियारी नित ही सरसौ।
ब्रज जन चातिक रह रस पियौ, ब्रज जीवन रस पीवत जियौ ॥

रंग बधाई ४७, ४८।

५—'वृषभानपुर सुषमावर्णन और 'मनोरथ मंजरी' में कवि ने अपने को सखी भावना में रखकर राधा कृष्ण की रहः केलि में सेवा करते दिखाया है। सखी भाव की साधना की यही चरमकोटि होती है कि वे राधाकृष्ण की रहस्य केलियों को भी देखें और स्वयं उसकी अभिलाषा न करते हुए युगल-हित को ही अपना हित मानें। ललिता और विशाखा दो सखियाँ राधा के अंतरग परिसर में रहती है अन्य सखियों को उनकी कृपा लेनी पड़ती है तभी राधा का प्रसाद मिल पाता है।

आनंद घनजी भी अनुभव करते है कि 'ललिता सखी मुझे बहुत मानती हैं। राधा की हित की दृष्टि से मेरा भाव पहचान जाती है। विसाखा भी विशेष प्रेम करती है। हँसकर बोलती हे और माथे पर हाथ रखती है। [२]

१—ब्रजव्यौहार।

२—वृषभानपुरसुषमावर्णन २६।

साधना की इस कक्षा में पहुँचे हुए संत अपना साधनागत नाम भी बदल लेते हैं। ये नाम सखियों में से ही कोई एक होता है। निंबार्क संप्रदाय के सभी आचार्यों का कुछ न कुछ साधनागत नाम है। आनंदघनजी ने 'परम हंस वंशावली, में परशुरामाचार्यजी का 'परमा' नाम दिया है।

तिनके पार विराज कै परमानिधि श्री मान।
पदवी की पदवी दई मुनिवर कृपानिधान।

'भोजनादि धुनि' के पद में इनका व्यावहारिक नाम आया है—

परसुराम सुखधाम महाप्रभु। श्री हरिवंस हंस इश्वर विभु।

आचार्यों के साधना नाम इस प्रकार हैं।

श्री हरिव्यास देव	हरि प्रिया सखी
श्री परसुराम देव	परम सहेली
श्री हरिवंशदेव	हित अलबेली
श्री नारायण देव	नित्यनवेली
श्री बृंदावन देव	मनमंजरी[१]

सखी भाव की सेवा का वितरण अष्टछाप के कवियों में भी हुआ था २। पर उसकी साधना अधिक न होने से पूरा पूरा चित्रण नहीं मिलता। गौडीय संप्रदाय में इसको बहुत महत्व दिया जाता है। ब्रज की प्रसिद्ध आठ सखियों[२] में से तीन विशाखा ललिता और चंपकलता तथा पाँच अन्य चित्रा, इंदुलेखा, रंगा देवी, तुंगविद्या और सुदेवी को लेकर अष्ट सखियाँ संप्रदाय में प्रयुक्त होती हैं। आचार्यो का सेवा वितरण इस प्रकार से है:—

१—रूप गोस्वामी	विसाखा
२—रायरामानंद	ललिता
३—बनमाली कविराज	चित्रा
४—कृष्णदास ब्रह्मचारी	इंदुलेखा
५—राघव गोस्वामी	चंपकलता
६—गदाधर भट्ट	रंगदेवी

१- आचार्य श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—आ० घ० ग्रंथावली भूमिका ७८।

२—ब्रज की प्रसिद्ध आठ सखियाँ ये हैं—विसाखा, चंपकलता, चंद्रभागा, ललिता, भामा, पद्मा, विमला, सुभगा।

७—प्रबोधानंद वुंग विद्या

८—अनंत आचार्य गोस्वामी सुदेवी

इस प्रकार मधुरभाव की भक्ति में भक्तों द्वारा साधना नाम ग्रहण करने की जो परंपरा संप्रदाय में है वह आनंदघन जी में भी पाई जाती है। इनका नाम बहुगुनी था।

राधा की हौं चौकस चेरी, सदा रहति धर बाहिर नेरी।
नीको नाँव बहुगुनी मेरो, बरसाने कौ सुंदर खेरो।
राधा नाँव बहुगुनी राख्यौ, सोई अधर हियें अभिलाख्यौ।
राधा धरयौ बहुगुनी नाऊ, टरि लगि रहौं बुलाए जाऊँ।

प्रिया प्र० २५।

सखी भाव से जो सेवा आनंदघन जी ने इष्ट मानी है उसका विवरण प्रियाप्रसाद में इस प्रकार है।

'मैं राधा को गीत सुनाती हूँ। भीनी बातों से उसे हँसाती हूँ। जब वे गृह या बन में बिहार करती हैं, तो मैं पीछे लगी रहती हूं। अत्यंत रसीली कथा राधा से कहती हूँ। उनके चरण दबाते हुए कुछ नीचे झुक जाती हूँ तो राधा के पैर मेरे सिर से छू जाते हैं। जब उनके पैर हिलने पर जागती हूँ तो फिर ऊँघकर पैरों से लग जाती हूँ। जब राधा के पास श्यम को देखती हुँ तो समयोचित सुख सेवा करती हूँ। उनके प्रिय पर पंखा डुलाती हूँ, उनके श्रम के स्वेद को सुखा देती हूँ।

'राधा भी अपने मन की बात मुझसे कहती हैं। वह अपनी रुचि ही से अपने गुप्त गाँस खोलने लगती हैं। उनके पैरों में झवाँ और महावर देती हूँ। अड़े दाव पर जब काम पड़ता है तो बहुगुनी के बिना कौन सवाँर सकता है[1] 'वृषभानपुर सुषमावर्णं' 'में भी यह प्रसंग विस्तार से दिया हुआ है ?'

'राधा ने मुझे सब प्रकार की शिक्षा दी है। अपने पैरों में झवाँ करा कर मेरा मान बढ़ा दिया है। उनके शृंगार की सब सामग्री सजाना जानती हूँ। अनेक प्रकार से सिर गूँथना जानती हूँ। उत्तम २ गानों से उन्हें प्रसन्न करती हूँ। चटक के साथ रसीले छंद और कवित्त पढ़ती हूँ तो प्रेम रस का रंग

१—प्रिया प्रसाद-२५, २८, ३०, ४१—४५।

बँध जाता है। जब वे रीझ के वशीभूत होते हैं तो मैं अपनी बहुगुनी कला का प्रदर्शन करती हूँ। उनके स्वर में स्वर मिलाकर इस प्रकार प्रेम लपेटी गाँसें खोलती हूँ कि उनकी गुप्त बातें भी प्रकट हो जाती हैं। इस समय का सुख अकथनीय है।'[१]

'मनोरथ मंजरी' में मन्मथ केलि के समय ऐसी ही सेवा की भावना की गई है।

'मैं राधा के लिए दूध के फेन जैसा शुभ्र पलंग बिछाती हूँ। मणि की चौकी पर मधुपान के भाजन भर देती हूँ। वहाँ पर रसरीति से लाल विहारिणी को लाती हूँ और उनमें सुरत का अभिलाष उत्पन्न कर अवसर पर बाहर आ जाती हूँ। वे जो आपस में वार्तालाप करते हैं उसका कनसुआ लेकर प्रसन्न होती हूँ। पर आपस का उनका रस-व्यपार किस प्रकार कहा जाय ? प्रिया मेरा आँचल पकड़कर अपने पास बिठाना चाहती हैं। पर मैं अप्रसन्न होकर बाहर आ जाती हूँ। बाहर बैठकर मृदुल बीणा बजाती हूँ। राधा को अपने संगीत से ही जगाती हूँ।'[२]

६—प्रेम पद्धति में स्पष्टरूप से वे अपने को गोपियों के मार्ग का अनुयायी बताते हैं:—

'गोपी चरन रैन मेरे धन, गोपिन के पनसौं पान्यौ पन'[३]

आनंदघन जी ने जिस कोटि की भावना उक्त तीनों निबंधों में प्रकट की है उससे अपनी साधना में सिद्धिप्राप्त संत से प्रतीत होते हैं। राधा के अत्यंत निकट के परिसर में पहुँचे हुए हैं। इस प्रकार की सेवा संप्रदाय के बहुत ऊँचे संतों को ही मिली है। वैसे 'नागर समुच्चय' में जो प्रसंग आनंद घन जी का आया है उससे भी इनकी सांप्रदायिक महिष्ठता का ही अनुमान होता है।

अपनी सांप्रदायिक साधना में उच्च कोटि तक पहुँचकर भी आनंदघन जी की उदारता में कमी नहीं आई। शिव, गंगा, नारद, वामन, चैतन्य, राम, प्रह्लाद, सूर्य, बलदेव आदि की स्तुति में अनेकानेक पद आपने लिखे हैं। राम की बधाई भी गाई है। उनकी स्तुति में हर प्रकार की याचना की गई है। शंकर स्तुति में आनंदघन जी कहते हैं

१—वृ० सु० ६-२३।
२—मनोरथ मंजरी
३—प्रेमपद्धति १०२

कि 'आपकी कृपा से मैं श्री हरिगाथा गा सकूँ जैसे अन्य संतों ने गाई है। इसी प्रकार गंगा स्तुति में 'मधुसूदन प्रीति' का प्रार्थना करते हैं।[1]'

इस तरह अनेकों बाह्य तथा आभ्यंतर प्रमाणों से सिद्ध है कि ये निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत सखी भाव के उपासक थे।

आनंदघन के दार्शनिक विचार

आनंदघन की रसात्मक शृंगार अनुभूतियों में जो रहस्य-भावना की महक आती है वह इनके दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण ही है। ये सरूप के उपासक होकर भी अरूप निर्गुण ब्रह्म की भावना से सर्वथा दूर नहीं रहे। संभव है यह भक्ति तथा दर्शन का योग इसलिये हो गया कि ये सखी संप्रदाय के भक्त थे जिसमें रहस्य की भावना विद्यमान रहती है। इस विषय में आनंदघन दूसरे भक्तों से एक बात में बहुत अधिक भिन्न हैं। इन्होंने अपने दार्शनिक भाव भी प्रेमभावना में डुबाकर इतने सरस बना दिए हैं कि उनमें दार्शनिक रूक्षता नाम को भी नहीं। दूसरे भक्त जब सांप्रदायिक दर्शन को काव्य-बद्ध करते है तो उसमें काव्य की सरसता कम हो जाती है। इन्होंने सब कुछ प्रेम की भाषा में कहा है। दार्शनिक विचार देते समय ये फारसी काव्य शैली से तो इसलिए भिन्न हो जाते हैं कि यहाँ दार्शनिक तथ्य स्पष्ट और प्रचुरता में होता है और भक्तों की शैली से इसलिये भिन्न हो जाते हैं कि इसमें प्रेमव्याख्यान की सरस शैली ज्यौं की त्यौं बनी रहती है। यहाँ भी प्रिय आनंदघन ही है। उसी के रूपव्यापारों के आधार पर भाव निवेदन हुआ है। अतः दर्शन तथा भक्ति का सरस योग इनकी काव्यशैली का बड़ा रमणीक गुण बन गया है।

परमेश्वर

परमेश्वर के दो रूप है—अरूप तथा सरूप। अरूप में वह निर्गुण निराकार निष्काम तथा व्यापक और अज्ञेय है। उसके निर्गुण रूप की व्याख्या करते हुए आनंदघन कहते हैं कि सब तुमको गाते हैं। वेद तुम्हें एक बताते

१—तुम्हारी कृपा से निसिदिन गाऊँ श्री हरि गाथा जैसे गाइ आए संत पदावली ५२८।

अरी गंगा हौं तेरौ गुन गायक अब तू अपनोई गुनकरि री।
मधुसूदन पद्धति बढ़ै नित ऐसी भाँतिन ढरि री—वही ७०६।

हैं। भक्त जैसी भावना करते है उसी रूप में तुम्हें प्राप्त करते है। तुम जल थल व्यापी, अंतर्यामी और उदार हो संसार में तुम्हारा 'जानराय' नाम पड़ा हुआ है। इतने गुण पाकर और जगत् पर छा कर भी हे आनंद के घन[१] तुझे तो निर्गुण ही दिखाई दिए हो[१]।

श्री कृष्णरूप में वह सरूप है वह परम रसिक है। परम आनंद स्वरूप है। संसार रूक्ष तथा नीरस पड़ा था। उसने श्री कृष्ण रूप में अवतार लेकर उसे सरस बना दिया। अपनी आनंदमयता तथा रसिकता का आस्वादन करने के लिये ही परब्रह्म श्रीकृष्ण रूप में अवतरित हुआ है जिसका कोई पार नहीं पा सकते। जिसकी प्राप्ति में ज्ञान का ओज थक जाता है तथा जिसे महिमामंडित सिद्ध और मुनि लोग खोजते हैं वही आनंद का घन श्रीकृष्ण राधा सुजान के रूप का पपीहा होता है[२]।

आनंदघन जी के अनुसार परमेश्वर का स्वरूप नित्य चैतन्य तथा व्यापक है। उसकी सत्ता सब रंगों में है पर स्थिर रूप से कहीं न कहीं वह उघड़ता भी है, बरसता भी है। सरसता भी है और तरसता भी है। सर्वत्र विद्यमान है पर उसका घर कहीं नहीं।[3] उसकी अद्वैतता का प्रतिपादन करते हुए आनंदघन जी जीव और परमेश्वर को अभिन्न बताते हैं। उनकी दृष्टि में परमेश्वर त्रिकाल सत्तावान है। जीव से अभिन्न है। स्थूल दृष्टि से जो जीव और परमेश्वर का भेद प्रतीत होता है यह परमेश्धर की इच्छा से बने मायावरण के कारण हैं। इस मायावरण के ही अनेक नामरूप हो जाते हैं जो भेद का कारण बनते हैं। तत्वतः जीव ब्रह्म का अद्वैत है।

'हमें तुम्हें आजु लौ न अंतर हो जान प्यारे कहा ते दुखौ सो बैरी आड़े आनि है मनौ[४]'

आनंदघन ने परमेश्वर को दुर्लक्ष्य भी बताया हैं। जिस प्रकार बादलों मे से कभी क्षण भर के लिये बिजली की कौंध चमकती है जो चमक के कारण दिखाई भी नहीं देती इसी प्रकार उसका आभास कभी क्षण भर के लिये होता है और बुद्धि फिर आश्चर्य में पड़ जाती है। प्राणी को इससे संशय होने लगता है कि वह सत्य है या कोरा संभ्रम ही।[५]

१—सुहि २५३, २२३
२—सुहि० ४७४
३—सुहि० ४२१
४— आ० घ० पदा० ६५
५—आ० घ० सुहि ३५३

परमेश्वर सगुण हो या निर्गुण वह आनंदस्वरूप तथा प्रेम स्वरूप है। समस्त सृष्टि पर उसी की आनंद वर्षा होती है। भक्तों के हृदयों में भी जो चाह बरसती है वह भी उसी घन के जलबिंदु हैं।

परमेश्वर का जीवों से संबंध

व्यापक होने से वह जीवों के हृदय का अंतर्यामी है। वह जीवों के साथ ही रहता है पर जीव अल्पज्ञता तथा प्रेमहीनता के कारण उसका दर्शन नहीं कर सकता। देखा जाए तो जीव ही परमेश्वर से दूर है। परमेश्वर तो उसके साथ ही साथ है[१]।

संसार की सब प्रकार की शक्ति प्राणी को परमेश्वर से प्राप्त होती है पर उसे देखने की क्षमता प्राप्त करने के लिये प्राणी को प्रेम-साधना करनी पड़ती है। इस विषय में परमेश्वर जीव की मानों परीक्षा लेता है। वह नेत्रों का तारा बनकर जगती के पदार्थ जात को देखने का सामर्थ्य तो दे देता है। पर स्वयं दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार वह रहस्यमय सिद्ध होता है। वह आनद का घन छा छा कर भी उघड़ा हुआ ही रहता है। परमेश्वर की रहस्यरूपता का कारण उसकी अनंत शक्तियाँ तथा अनंत गुण भी हैं। इन गुण तथा शक्तियों का पार पाने तथा इनका विश्लेषण करने का उद्योग वेद शास्त्रादि करते हैं। पर वे स्वयं अगाध और विभिन्न हैं। उनसे बुद्धि को भ्रम ही होता है। साधारण जीव की तो बात ही क्या, शिव, ब्रह्मा, इंद्र आदि देवता उसे समझने में बावले हो जाते हैं। वाणी उसे गाती और सुनती हुई तथा उसकी अभिलाष करती हुई अधिक से अधिक भ्रम में उलझती जाती है[२]।

आनंदघन का विश्वास है कि सर्वत्र छाए भगवान को जो भक्त देख नहीं पाता इसका कारण भगवान की ही कठोर अकरुणा है। 'जो मन परमेश्वर को जान सकता था उसे परमेश्वर ने ही अजान बनाया है[३]।

एक ओर तो परमेश्वर का यह स्वरूप है। दूसरी ओर वह

१—बसि एकहि बास विकास करौ बस नाहि बिसासी बनौ सुमहै। हम संग किधौ तुम न्यारे रहौ तुम संग बसौ हम न्यारी रहै। सुहि० ४९३

२—आनंदघन प्रकीर्णक ३३

३—किहि ठान ठनौ हौ सुजान मनौ गति जानि सकै सुप्रजान करयौ ··

दीनदयालु, आर्तप्रतिपालक है। सभी को सुख तथा जीवन देता है। भक्तों का पोषक तथा रंकों का तोषक है। वह जन-सोच-विमोचन, पूर्णकाम तथा प्रण का निर्वाह करने वाला है। अमानियों का मानद, कृपालु तथा प्रीति का रसाल समुद्र हैं। उनकी कृपालुता तो इतनी है कि भक्त के बिना कहे उसे देखकर ही वे कृपा करते हैं। उनके नेत्रों में कृपा के कान लगे रहते हैं। भक्त का विश्वास है कि सुजान परमेश्वर प्राणियों को जीवित रखना भलीभाँति जानता है। वह भक्त का मनभाया कर उसे सुख देता है। अभिलाषा की बेलि को भक्त के हृदय के आलबाल में रस देकर सफल बनाता है। अपने स्नेह के कारण ही वह तृप्त और अनुकूल होकर अपने आप ही भक्तों पर ढरता है।

इस तरह भगवान के दो पृथक पृथक स्वभाव आनंदघन ने अनुभव किए हैं। कृपालु और कोमल तथा कठोर और रहस्यमय। पहले स्वभाव के साथ जिन गुणों का संबंध हैं वे हैं स्नेह, दीनपालकता, प्रणपूरण और अवढर कृपा। दूसरे स्वभाव के सहयोगी गुण हैं दुर्बोधता, विलक्षणता, संभ्रमरूपता व्यापकता और अंतर्यामिता आदि। प्रतीत होता है ये दो परस्पर विरुद्ध गुणावलियाँ सगुण तथा निर्गुण रूप परमेश्वर के विषय में अनुभूत हुई है। और स्वभावतः कवि का आग्रह सगुणरूप की ओर है। इस भाव की एक सवैया में उन्होंने बड़ी स्पष्ट अभिव्यक्ति की है। गोपियाँ कहती हैं कि—है "प्रिय, तुम सब ठौर मिलते हो पर दूर ही रहते हो। जिस रंग में भी रहते हो भरपूर रहते हो। तुम कहीं तो ऊखिल से हो जाते हो और कहीं हितू से। हम तो केवल यही चाहती हैं कि क्षण भर तुम मनुष्य रूप में मिलो[२]।" इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि कवि भगवान् के मानव रूप का उपासक है अर्थात् सगुण रूप का।

भगवत्प्राप्ति के साधन

भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन जीव के प्रति भगवान की कृपा और भगवान् के प्रति जीव की भक्ति है। भगवत्कृपा भगवान का ही रूप है। वह भक्तों में सब प्रकार की क्षमता ला देती है। आनंदघन ने स्पष्ट कहा है कि जब भगवान निकट रहकर भी प्राणियों से दूर रहते है तो उनकी कृपा ही मिलन का

१—सुहि० ३५१,
२—सुहि० ३७६,

एकमात्र उपाय हो सकती है[१]। भगवत्कृपा अज्ञानी भक्त का हाथ पकड़कर भगवान के चरणों में डाल देती है।

भगवान का सहज रूप

परमेश्वर का रूप सहज है। बोधवान प्राणी भगवान को सहज रूप में ही देखता है[२]। उसकी प्राप्ति का साधन भी सहज प्रेम है। जो स्वाभाविक रूप से परमेश्वर में अनुरक्त होता है वही सफल होता है। दूसरे लोग तो व्यर्थ पच मरते हैं। मिलाप और विरह तथा संसार के सब व्यवहार सहज ही हैं[३]।

संसार

संसार असार है। पृथ्वी से आकाशपर्यन्त इसका समस्त रूप 'गुनबीता' है। इसकी कोई वस्तु स्थिर नहीं हैं।[४] यहाँ 'चलनि' सर्वत्र मढ़ाई रहती है।[५] जिस शरीर से स्नेह किया जाता है वह तो क्षणभर में भस्म बन जाता है। यहाँ के समस्त नाते यहीं छुट जाते है।[६] जिस प्रकार अद्वैतवादी माया को सद्सद् विलक्षण मानते हैं उसी प्रकार आनंदघन ने भी ससार को विलक्षण माना है। संसार के तात्विक तथा प्रातिभासिक दो रूप एक दूसरे से विपरीत हैं। संसार ऊपर से सत् प्रतीत होता है पर उसके अंदर असत्ता बैठी रहती है। इसमें चलने के लिये ही सब रहठानि बनती हैं। इसका झूठ सत्य सा लगता है। भगवान की जिनपर कृपा होती है वे ही यहाँ नीर क्षीर का विवेक कर सकते है। यह संसार तो आश्चर्य को खानि है। इसका लाभ हानि है और उपज विनाश है।[७] इस संसार की यात्रा ऐसी है कि यहाँ न गाँव का पता न नाम का, कौन कहाँ जाता है, यह भी ज्ञात नहीं।

१—कृ० क० नि० ४४,

२—सुहि० ४४७

३—वही ४४८

४—वही ४४७

५—वही ४३५

६—वही ४४५,

७—महा अचरज धाम मोहिं ऐसो दोसि परियो।
दीसत न काहू बिन दीसै लाल प्यारियो॥ वृ० मु० ५५

यहाँ पर मिलन अर्थात सुख की आशा करना पवन के महलों में निवास के तुल्य है।[1] इसलिए कर्तव्य यही है कि इधर से रुचि हटकर भगवान के चरणों की ओर उसे प्रेरित की जाए।

संसार से परमेश्वर का संबंध

यह संसार परमेश्वर का ही 'पसारा' है। वह जो अव्यक्त होकर भी सर्वत्र छाया हुआ है वह इसी पसार को फैला कर। परमेश्वर के संबंध के कारण संसार की सत्ता और असत्ता दोनों ही सत्य हैं।

ब्रज और वृन्दावन

जिस परमतत्व के निकट मन का भी प्रवेश नहीं हो सकता, ब्रज उसी का स्वरूप है। इसकी रज में परमतत्व का सार 'समोय' रक्खा है। यहाँ चर अचर सभी का आभास मिलता है। निरवधि रसनिर्यास अर्थात् मधुर रस के विलास का परिचय भी यहाँ होता है। स्वयं के आनंदमय स्वरूप को देखने के लिये मोहन ने इसे अपना दर्पण बनाया है। श्री कृष्ण के दर्शन ब्रजरज से अँजी हुई आँखों में ही होते हैं।

कृष्ण ने समस्त संसार को मुग्ध बनाया। राधा ने श्री कृष्ण को मुग्ध बनाया। पर वृंदावन ने राधा और कृष्ण दोनों को मुग्ध बनाया है। यह राधा और कृष्ण का ही स्वरूप है। पवन प्रकंपित, धूलिकण संयुक्त इसका शरीर श्रीकृष्ण के रोमांचित शरीर के ही प्रतिरूप है। उनके अंग अंग के साथ यह एकमेक हो रहा है। श्याम इसमें निवास करते हैं, यह श्याम में निवास करता हैं। यह आश्चर्य धाम है। राधा कृष्ण के दर्शन किये बिना इसके भी यथार्थरूप के दर्शन नहीं होते।[2] इसके पहचान लेने पर श्याम भी पहचाने जाते हैं। यह श्यामसुंदर के स्वभाव की तरह परात्पर तथा रहस्यमय है। अनुरक्ति होने पर ईश्वर से भी इसी के रंज की याचना की जाती है।[3]

१—वही ५६

२—महा अचरज धाम मोहि ऐसो दीसि परियौ।
दीसतन काहू बिन दीसै लाल प्यारियौ

३—याहि दीसै स्याम दीसै स्याम दीसै यह
+ + + ×
परैते परै भयौ हरिमय है वृन्दावन
राचै रजजाचैं ईस हू तैं बकसीसई वही ५६,

ब्रजरज

ब्रज या वृंदावन की भाँति ब्रजरज को भी बड़े महत्व की दृष्टि से आनंदघन ने देखा है। ब्रजरज से अँजी आँखों में ही श्रीकृष्ण के रूप के दर्शन होते हैं। इसी से दृष्टि ज्योति मिलती है। इस पर मोहन के चरण चिह्न दिखाई पड़ते हैं। ब्रह्मादिक भी इसको याचना करते हैं। रसपुंज तथा परमार्थ इसीमें मिला हुआ है। इसके स्पर्श से कृष्णानुराग जागता है। रजकण में बँधकर जगत के बंधन से प्राणी मुक्त हो जाता है। कवि कहता है कि यह मेरे रोम रोम में रम रहा है। 'रोम रोम रमि रही रज हूँ'। आनंदघन जी को ब्रज से अनन्य प्रेम था। मरते समय कहा जाता है ये ब्रजरज में लेटते रहे। यवनों ने जब इनसे धन माँगा था तो इन्होंने दो मुट्ठी ब्रजरज ही उन पर फेंकी थी।

राधा और गोपिकाएँ

श्री कृष्ण के प्रेम के उच्चातिउच्च उत्कर्ष का अधिष्ठान राधा है जो स्वयं आनंद का घन है। श्रीकृष्ण राधाप्रेम का पपीहा बन जाता है। वे इन्हीं के वश में हैं। इन्हीं के गीत वे अपनी वंशी में गाते हैं। कवि का विश्वास है कि श्रीकृष्ण की भक्ति बिना राधा की कृपा के नहीं हो सकती।

गोपियों को भी वे मधुरा भक्ति का सर्वोत्तम अधिष्ठान मानते हैं। प्रेम इन्हीं के भाग्य में बदा है। इन्हीं का श्री कृष्ण से सच्चा अनुराग हुआ था। इनके मन की स्वच्छता का क्या वर्णन किया जावे जिसमें सर्वस्व विस्मृत होकर श्रीकृष्ण का मोह जागा था। वृंदावन के बाग में ये ही लताएँ आनंदघन के रस से झालरी होती हैं। कवि अपना तादात्म्य इन्हीं से करते हैं और अपनी भक्ति के साफल्य की भावना करते हैं।

'प्रेम पद्धति' में राधा-कृष्ण और गोपिकाओं के प्रेम का दर्शन कवि ने उपस्थित किया है।

राधा का स्वकीया प्रेम तथा गोपियों का सत्व भाव का प्रेम आनंदघनजी ने माना है। ब्रज बिलास' में राधा के मुख से स्पष्ट उन्होंने इसी भाव को व्यक्त किया है। राधा कहती है कि मेरा नाम राधा है उनका ब्रजमोहन श्याम। हमारे प्रेम के गीत सब ग्वालिन गायें।

राधा मेरौ नाम है वे ब्रज मोहन श्याम।
गीत ग्वालिन गाइये सुलग लाग के काम॥

ब्रजविलास २३।

वे सखियों से कहती है कि मैं करोड़ों उपाय करती हूँ पर 'हित बानि' छिपाए नहीं छिपती। ब्रज मोहन की पहचान रोम-रोम में रम गई है। मैं वैसे तो मोहन के ही घर रहती हूँ पर बाहर मेरा नाम राधा है। मैं अपने सब अंगों में कृष्ण प्रेम से तृप्त हूँ। घूँघट करने पर अटपटी ताक और भी अधिक उघड गई है। यह यदुनाथ का दुःसह वियोग न जाने कहाँ से आ लगा। वह बिसासी बिछुड़ कर मिलता है। मिलकर बिछुड़ जाता है। यह सब अनमिल की ही कुशल है। श्रीकृष्ण की साँवली मूर्ति दृष्टि के आगे-आगे डालती है। आसुओं में श्यामधन दिखाई देते हैं पर जल में आग लगी हुई है। प्राणनाथ ब्रजनाथ से बिछुड़कर कौन जीवित रह सकता है? प्रेम की इस अकथ कथा को केवल मौन ही कुछ बता सकता है।[१] 'प्रेम पद्धति' में कवि ने गोपियों की सराहना तथा दर्शन दिया है। इनके प्रेम में सब प्रकार के नियम बिसर जाते हैं। यद्यपि प्रेम का पंथ बाँका है पर उन्होंने उसमें सीधे ढंग से ही अवगाहन किया है। प्रेम को अगम गैल का अनुसरण प्राणी तभी कर सकता है जब इनके चरणों को सिर पर रखेगा। शिव; शुक, उद्धव जैसे प्रेमी भक्त इनकी महिमा के वशीभूत होकर इन्हीं के प्रेम में अनुरक्त हो जाते हैं। वे ब्रजपरिवार की सराहना करते है। इनकी महिमा के विस्मय में डूब जाते हैं। इसके महामर्म को वे भी नहीं समझ पाते। इनके से प्रेम की गति यदि कुछ हृदय में स्फुरित हो जाती है तो दिव्य ज्ञान प्रकट हो जाता है। इन्हें किसी समय भी कोई और रुचि नहीं होती। केवल कृष्ण विषयक काम की 'रोर' हृदय में मची रहती है। इन्होंने कृष्ण रूपी चंद्रमा को भी अपना चकोर बना लिया है। मोहन गुणी ने वंशी में जो कुछ बजाया था उसे इन्होंने ही सुना था। उसे सुनकर इन्होंने और सब कुछ अनसुना कर दिया। धर्म और धैर्य आदि सिर धुन कर इनसे दूर भाग गए।

अपने प्रेमका प्रबल ओज इन्होंने इससे प्रकट कर दिया जब ब्रजमोहन को भी पकड़कर नचा लिया। प्रेम की पद्धति इन्हीं से प्रकट होती हैं। नहीं तो यह अत्यंत गुप्त है। बुद्धि तो इसे समझने में कुंठित हो जाती है। ऊर्ध्व रस अर्थात् प्रेमरस की पदवी बड़ी उग्र है। वह ब्रजनाथ के अतिरिक्त अन्य से नहीं दबी है। उस रस को घनश्याम गोपियों के साथ मिलकर ब्रज में बरसाते हैं। जिस स्वाद को शास्त्र 'नेति नेति' कहते हैं उसे इन गोपियों ने ही प्राप्त किया हैं। वह प्रेम गोपीपद के प्रसाद बिना नही मिलता। समस्त

१—ब्रजविलास।

पुण्यों का यही सर्वोत्तम फल है कि ब्रज में रहकर कृष्ण गोपिकाओं के कौतुक देखें। यदि गोपियों का सा प्रबल भाव हृदय में उत्पन्न हो जाता है तो सर्वत्र आनुकूल्य हो जाता हैं। गोपियाँ त्रिभुवन के संतों की शिरोमणि हैं। इसलिए कवि अपने विषय में कहता है कि 'मैं गोपी पद के प्रसाद से ही ब्रज रस पान करूँगा। गोपी चरणों की रज मेरा धन हैं। मैंने अपना प्रण गोपियों के प्रण के सहारे पूर्ण किया हैं। मुझे दंपति की कृपा का भरोसा है, इसलिए ब्रजरज को खोजकर सहारा लिया है। मैं तो ब्रज वन को गौर स्याममय देखता हूँ। स्थान स्थान पर इन्हीं की लीला को देखता हू'। यह जो प्रेम पद्धति कुछ कही हैं वह भी गोतपद के प्रसाद से प्राप्त की है।[१]

प्रेम दर्शन

प्रेम के स्वरूप परिचय के अतिरिक्त निबंधों में आनंदघन ने उसके विषयों में कुछ दार्शनिक विचार भी व्यक्त किए हैं। प्रेम को कवि ने 'महारस' तथा परमरस बताया हैं और यह बड़ा उत्तुंग है केवल श्रीकृष्ण ही इसे दबा सके हैं। सच्चे 'रसिया या रसिक' श्रीकृष्ण को ही कवि ने कहा हैं। ज्ञान द्वारा प्रेम की प्राप्ति तो नहीं हो सकती पर प्रेम द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। भावों के वर्णन में तथा प्रेमनिरूपण में यह भली भाँति बताया गया है कि केवल बुद्धि का प्रेम जगत में कोई स्थान नहीं है। विचार प्रेम-समुद्र के बाहर से ही लौट आता है। उसमें अवगाहन कर उसका स्पर्श तक नहीं कर पाता। पर कवि स्पष्ट कहता है कि हृदय में प्रेम की स्फुरणा होने पर दुरा हुआ भी दिव्यज्ञान प्रकट हो जाता है। रस का सत्य आस्वादन तो रसिया श्रीकृष्ण ही जानते हैं। बिना रस स्वरूप बने इसका अनुमान नहीं किया जा सकता है। प्रेम रस भगवान का साक्षात् स्वरूप है। इसे भी रस कहते हैं। ब्रह्म का नाम भी रस है। वह रस अर्थात् परमेश्वर ही जब अपनी इच्छा से अनुकूल होता है तो व्यक्ति रस का अधिकारी बनता है।

'रस ही रस आने रस ढरै तब ब्रजरस अधिकारो करै[२]'

चैतन्य संप्रदाय के विपरीत आनंदघन राधा में स्वकीया भाव मानते है। यद्यपि कुछ पद परकीया या प्रेम के भी दिए है पर उनका संबंध राधा से

१—प्रेम पद्धति

२—प्रेम पद्धति २१

नहीं प्रतीत होता। चैतन्य संप्रदाय में जिस प्रकार परकीया भाव से शारीरिक वियोग उत्पन्नकर प्रेमातिरेक, चोप, चटक, अभिलाष, आदि दिखाए जाते हैं वे कवि ने स्वकीया में ही दिखाए हैं। इनका इस विषय में विश्वास है कि प्रेम भावना पर शारीरिक संयोग वियोग का कोई प्रभाव नहीं रहता। संयोग में भी वियोग की 'उदेग आग बनी रहती है। यदि प्रेम सत्य हो। इसलिए रतिकाल, रत्यवसान, आदि में भी अभिलाषातिरेक का ह्रास कवि ने नहीं किया। 'उदेग आग जैसी की तैसी' प्रदर्शित की है।

ब्रह्म जिज्ञासा की भाँति प्रेमप्रेप्सा भी शिव, ब्रह्मा आदि देवताओं से लेकर साधारण जीवपर्यन्त समान है। केवल गोपियाँ और श्रीकृष्ण इस के अधिष्ठान हैं। उनमें भी श्रीकृष्ण प्राप्तव्य हैं। गोपिकाएँ प्राप्तिकर्त्री। ब्रज वृन्दाबन रस स्वरूप भगवान के रसास्वादन के लिये 'रस' खेत है। यहाँ प्रीति का पावस बारहों मास बना रहता है। अन्य वैष्णवों की भाँति ब्रज बृंदावन को प्रेमसाधना के लिये उत्तमोत्तम प्रेम-पीठ आनंदघन जी मानते हैं।

दसवाँ परिच्छेद

क——आदान-प्रदान

१—भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद और घनानंद

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रन पर घनानंद का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। घनानंद की भाँति वे जो प्रधान रूप से प्रेम के कवि बने उसका भी कारण यही प्रभाव है। भारतेंदुजी ने अपनी रचनाओं में जिस प्रेम का चित्रण किया है उसमें घनानंद की सी तन्मयता, गंभीरता, त्याग, भावनात्मकता और अनुभूति प्रवणता आदि विशेषतायें मिलती हैं। उन्होनें 'सुजान शतक' नाम से घनानंद जी का एक लघु संग्रह भी प्रकाशित किया था।

इसके अतिरिक्त अपनी रचनाओं के नामकरण और आदर्श वाक्य उन्होंने अनेकत्र घनानंद के रखे हैं। 'प्रेम सरोवर' 'प्रेम फुलवारी' आदि शीर्षक घनानंद के 'प्रेम सरोवर' और 'इश्क चमन' के समानांतर हैं।

'प्रेम सरोवर' की भूमिका में घनानंदजी की यह पंक्ति उन्होंने उद्धृत की है:—

'सब छांड़ि अहो हम पायो तुम्हें हमें छांड़ि कहो तुम पायो कहा'

इसी प्रकार 'प्रेमाश्रु वर्षण' के मुखपृष्ठ पर उनका यह सवैयांश उद्धृत किया है :—

'परकाजहि देह को धारे फिरो परजन्य जथारथ ह्वै दरसो। 'प्रेम सरोवर' में प्रेमी महात्माओं का परिगणन करते समय घनानंद जी का नाम उन्होंने लिया है:—

नंददास, आनंदघन, सूर, नागरी दास।
कृष्णदास, हरिदास, चैतन्य, गदाधर, व्यास॥

उनके काव्य में भाषा और भावों की जो समता विद्यमान है उसके कुछ उदाहरण ये हैं:—

१ सब को जहाँ भोग मिल्यौ तहाँ हाय वियोग हमारे ही बाँटे परचो।
भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० १४६। प्रेममाधुरो पद्य संख्या १४।

इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उराहनो दीजिएजू।

घना० सुहि० २५७

तेरे बाँटे आयो है अंगारनि पैं लोटिबो सुहि० ७२५

२ दीनता की हमरे तुम्हरे निरदैपन हू की चलैंगी कहानियाँ।

हरिश्चन्द्र-प्रेममाधुरी पृ० ३२

हेत खेत धूरि चूर चूर है मिलेगो, तब
चलैंगी कहानी घनआनंद तिहारे की। घना० सुहि २२१

३ जानो न नेक बिथा परकी बलिहारी तऊ हो सुजान कहावत।

हरि० प्रेममाधुरी ६८

भूलनि करी है सुधिजान ह्वै अजान भए। घना० सुहि० २३२

४ दुलही उलही सब अंगनतैं दिन ह्वै तैं पियूष निचोरैं लगी।

हरि० प्रेममाधुरी ८०

रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि में। घनानंद प्रकीर्णक १

५ पूरन पियूष प्रेम आसव छकी हौं रोम
रोम रस भीन्यो सुधि भूली गेह गतकी। हरि० प्रेममाधुरी ६७
रोम रोम रस भीजि व्याकुल सरीर महा घना० सुहि २०४

६ ऐ रे घनश्याम तेरे रूप की हूँ चातकी। हरि० प्रेममाधुरी ६७
चातक है रावरो अनोखो मोह आवरो
हाय कब आनंद को घन बरसाय हो। घना० सुहि० २४

७ थकी गति अंगन की मति परि गई मंद
बावरी सी बुधि हांपी कहू छीन लई है। हरि० प्रेममाधुरी ६७
थकी गति हेरत हैरनि की गति
मति बौरी भई गति वारि कै मोमति घना० सुहि ३४

८ सुख के समाज जिततित लागे दूरि जान हरि० प्रेममाधुरी १०५
घनआनंद प्यारे सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे।

घना० सुहि० ३६

९ 'जिन आंखिन में तुव रूप बस्यौ
उन आंखिन स्यौं अब देखियै का — हरिश्चन्द्र ग्रंथावली पृ० १५३
आंखै जो न देखें तौ कहा पै कछू देखिति ये
घनानंद और आनंघन पृ० १६४

१० तेरे बिछुरे ते प्रान कंत कै हिमंत अति
तेरी प्रेम जोगिनी बसंत बनि आई है। — हरि० ग्रंथावली पृ० १५२
बिन घन आनँद सुजान अंग पीरे परि
फूलत बसंत हमैं होत पतझार है — घना० सुहि० ६०

२ जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' और आनंदघन

कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' को काव्य शैली में तीन बातें ऐपी हैं जो घनानंद के प्रभाव का फल प्रतीत होती हैं। वे हैं—चिंतन में प्रेम की प्रधानता, शैली में विरोध की प्रवृत्ति और भावात्मकता। व्रज भाषा के व्याकरणसंमत परिनिष्ठित स्वरूप का प्रयोग उनमें बिहारी और घनानंद दोनों के संमिलित प्रभाव का प्ररिणाम है। बिहारी को भाँति घनानंद के काव्य का भी उन्होंने संपादन किया था और घनानंद के शब्दों की एक शब्द सूची भी तैयार की थो जो नागरो प्रचारिणी सभा के 'रत्नाकर सग्रह' में हस्तलेख के रूप से सुरक्षित है। दोनों के काव्यों में प्रयुक्त कुछ समानार्थक वाक्य नोचे दिये जाते हैं :—

१ आपु चितेरनि हाथ बिकानी। — रत्ना० श्रृंगार लहरी ६
रीझ बिकाई निकाई पै रीझि। — घना० सुहि० ३३

२ जबते बिलोके बाल लाल बन कुंजनि मैं
तब ते अनंग उमंग उमगति है। — रत्ना० श्रृंगार लहरी ७२
रूप निधान सुजान सखी जब तै इन नैननु नैकु निहारे — घ० सुहि० १
जब ते निहारे आनंदघन सुजान प्यारे
तब ते अनौखी आगि लगि रही चाह की — घ० सुहि० १९१

३ कहैं रत्नाकर न जागति न सोवति है
जागत और सोवत में सोवति जगति है। — रत्ना० श्रृ० ल० ७२
सोयबो न जागिबो न हँसिबो न रोइबोहू।

खोय खोय आपहू में चेटक लहनि है। घ० सुहि० ६६

सोयें न सोयबो जागें न जाग अनँखियै लाग सम्राँखिन लागी

वही २३५

४ पीरी परिजात है वियोग आगिहू तो अब
विकल बिहाल बाल सीरी परिजात है रत्ना० शृं० ल० १०७
सीरी परि सोचनि अचंभे सों जरौं मररौं घ० सुहि० २०६

५ प्यार पगे पिय प्यार सो प्यारी कहा इमि कीजति मान मरोर है।
है रत्नाकर पै निसि बासर तो छबि पानिपको तरस्यौ करै।
है मन मोहन मोह्यो पै तो पर है घनस्याम पै तेरो तो मोर है।
है जगनायक चेरो पै तेरो है है ब्रजचंद पै तेरो चकोर है।

रत्ना० शृंगार ल० १२७

राधे सुजान इतै चित दै हित मैं कित कीजत मान मरोर है।
माखन तें मन कोंवरो है यह बानि न जानति कैसें कठोर है।
साँवरे सो मिल सोहत जैमी कहा कहियै कहिबे को न जोर है।
तेरो पपीहा जु है घनआनँद है ब्रजचंद पै तेरो चकोर है॥

घ० सुहि० ३७२

हाँसी परि जायगी हमारे गरे फाँसी ह्वै। रत्ना० शृंगार लहरी १६७
६ फाँसी से सरस हाँसी फंद छंद सो दियौ। घ० सुहि० ३१२

७ डूबी दिन रैन रहै कान ध्यान वारिध में।
तौ हू बिरहागिनि की दाह सों दगति है। रत्ना० शृंगार ल० ७२
जल बूड़ी जरैं दीठि पायहु न सूझ करैं घ० सुहि० ५१

८ रूसिबोही रूसिबो तिहारे बाँट आवैगो। रत्ना० शृं० ल० १३१
तेरे बाँट आयो है अंगारनि पै लोटिबो। घ० सुहि० २२५
इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उलाहनो दीजिए जू। वही २५७

९ जाकी एक बूँद को विरंचि विबुधेस सेस।
सारद महेस ह्वै पपीहा तरसत है।
कहै रत्नाकर रुचिर रुचि ही मैं जाकी।

मुनि मन मोर मंजु मोह बरसत है।
कामिनि सुदामिनि समेत घनस्याम सोई।
सुरस समूह ब्रज बीच बरसत है — रत्नाकर, हिंडोला

मन के मनोरथ महोदधि तरंगनि मैं।
अति ही तरलगति प्रबल प्रचंड है।
एक एक बीचि बीच सायर असेष जहाँ,
सूखों राखिबोरे तीर दीरघ अखंड है।
पारि परि कोऊ न सक्यौ है बिथक्यौ है ओज,
खोजै सिद्ध चारन मुनीस महि मंड है।
सोई घन आनँद सुजान रूप को पपीहा,
सोभा सींव जाके सीस मंडित सिखंड हैं। — घ० सुहि० ४७४

१० रावरी सुधाई मैं भरी हैं कुटिलाई कूटि।
बात को मिठाई लुनाई लाइ ल्याये हो — रत्ना० उद्धव शतक
झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हितकचाई पाक्यौ,
ताके गुनगन घन आनँद कहा गनो। — घ० सुहि० २६६

३—देव और आनंदघन

१ जाके मद मात्यौ सो उमात्यौ ना कहू है कोऊ,
बूढ़्यौ उछल्यौ ना तरयौ सोभा सिंधु सामुहै।
पीवत ही जाहि कोई मार्यौ सो अमर भयौ।
बौरान्यौ जगत जान्यौ मान्यौ सुख धाम है।
चख के चषक भरि चाखत ही जाहि फिरि,
चाख्यौ ना पियूष कछु ऐसो अभिरामु है।
दंपति सरूप व्रज औतर्यौ अनूप सोई,
देव कियौ देखि प्रेम रस प्रेम नाम है। — देव
प्रेम को पयोदधि अपार हेरि कै विचार,
बापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयौ है। — सुहि० ११
नेही हरि राधा जिन्हें हेरि सरसायौ है।

२ अखियां मधु की मखियाँ भई मेरी। — देव
रुप रस चाखैं आँखैं मधु माखी ह्वै गई। — सुहि० १६६

३ भरि कै उघरि नाचै साँच राखै कर में। देव
उघारि नचाय आपु चाय मैं रचाय हाय। घ० सुहि० ६६

४ रसखान और आनंदघन

१ मन लीन्यौ प्यारे चितै पै छटाक नहि देत।
यहै कहा पाटी पढ़ी दलको पीछौ लेत॥
रसखान और घनानंद पृ० २५, पद्य ४५
यह कौन धौ पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।
घ० सुहि० २६७

२ एरी चतुर सुजान भयौ अजानहि जानि कै।
तजि दीनी पहचान जान आपनी जान कौ।
रसखान और घनानंद पृ० २१
आँखिन हूँ पहचान तजी कछु ऐसोई भागनि को लहनो है।
जान है होत इते पै अजान जौ तौ बिन पावक ही दहनो है॥
घ० सुहि० ५

३ रसखानि परी मुसकानि कै पाननि कौन गहै कुलकानि विचारी।
रसखान और घनानंद पृ० ३८
अकुलानि के पानि परचौ दिन राति सु ज्यौ छिनको न कहूँ बहरै।
घ० सुहि० २२०

५—बिहारी और आनंदघन

१ जगत जनायौ जिहि सकल सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौ आखिन सब देखिये आँखि न देखी जाहिं। बिहारी
लोचननि तारे ह्वै सुझावौ सब सूझौ नाहिं। सुहि प्र० २७०
२ इन दुखिया अँखियान कौ सुख सिरज्यौ ही नाहिं।
देखत बनै न देखतैं अन देखे अकुलाहिं॥ बिहारी
अनोखी हिलग दैया बिछुरै तो मिल्यो चाहै।
मिलै हू मैं मारै जारै खरक बिछोह की। घ० सुहि० २७५

६—चंद्रकुँवर वर्त्वाल और घनानंद

ये दोनों ही कवि घनानंद और वर्त्वाल ऊँची दशा के सौन्दर्य प्रेमी रहे हैं। सब प्रकार की कठिनाइयों के विरोध में इन्होंने अपने प्रेम को तदवस्थ

बनाए रक्खा। विरहोन्मत्त घनानंद ने अपने प्रेमाश्रुओं को बिसासी सुजान के आंगन में बरसाने की प्रार्थना परजन्य से की है। वर्त्वाल निर्जन जंगल को देखते देखते अपने हृदय में ही बादलों की वृष्टि का अनुभव करते हैं।

किसी के गीले दृगों से उठ सजल मेघ
मेरे हृदय तल पर छा रहा है।

आनंदघन के प्राण निराश होकर सुजान के प्रेम का संदेश लेकर निकलना चाहते हैं। वर्त्वाल के प्राण भी ससार की कदर्थनाओं से खिन्न होकर अस्त होते हैं।

ये बनों के मुक्त पक्षी मानवों से हैं सुखी।
ये प्रणय करके सुखी हैं हम प्रणय करके दुखी।
तरु करा देते मिलन है इनका मनोहर पल्लवों में,
और हम होते तिरस्कृत इस जगत के मानवों में।
पर जगत बलवान हो तुम क्षुद्र प्रेमी प्राण है,
तुम सुखी हो रो रहे पर अस्त प्रेमी प्राण हैं।

घनानंद का स्वच्छ प्रेम लोक लाज से अल्प मात्र भी संकुचित नहीं होता। वर्त्वाल का प्रेम उससे भयभीत होता है। पहला सबल है दूसरा निर्बल।

जिस प्रकार घनानंद प्रेम की लौकिक भूमि पर रहस्य के दर्शन करते हैं उसी प्रकार वर्त्वाल प्रेमभावना से राष्ट्रभावना का अनुभव करते हैं जो उनकी 'दुर्गा का मंदिर' 'देवी' और 'वंदे मातरम्' कविताओं में स्पष्ट हुआ है।

चंद्रकुँवर की प्रेमभावना में संयमपूर्ण लोक सामंजस्य भी है जो घनानंद के काव्य में नहीं मिलता।

"सौदर्य प्रेम और विरहोन्मुखी आनंद की सरस्वती धारा को मानव पृथ्वी पर बहानेवाले केवल दो कवि हिंदी साहित्य ने पाये हैं। सत्रहवीं शताब्दी में घनानंद और बीसवी शताब्दी में चंद्रकुवर वर्त्वाल।[१]

---

१ श्री शंभु प्रसाद बहुगुना के सरस्वती पत्रिका में निकले लेख के आधार पर।

श्री चंद्रकुंवर वर्त्वाल ने घनानंद की काव्य भारती से प्रभावित होकर उनके विषय में निम्नलिखित भाव व्यक्त किए हैं—

बस कर भी ब्रज में प्रियवासना कब गई,
यह पुकार बार बार माँग है क्या रही।
वर्षा के मेघ देख गोवर्धन छूते
तापस क्यों वाणी में तरलता यह नई॥
यह हृदय पुकार उठा कौन यह अप्सरा,
नयनों में कौन वह पिघली छबि निष्ठुरा।
कवि क्या यह मेघ ही विनय कान करेगा।
सचमुच उस आँगन में आँसु बरसेगा।
खिड़की निकट बैठ सावन की संध्या में।
विरही का दुख वह सचमुच क्या रोएगा।
बिसासी सुजान उसे सुनेगी अकेली।
आनन के कुसुम भार से झुका हथेली।
ब्रज में गूजा बसंत डोली मंजरियाँ।
ब्रज में कूका वसंत भूली बल्लरियाँ।
मोहनी मुरली में क्या उतना रस है।
जितना प्रेयसि सुजान के प्रिय सुर में है।
कोकिल की वाणी में क्या वह आसव है।
जितना कवि को सुजान के प्रिय सुर में है।
यमुना के नील नयन क्या उतने मोहन।
जितने प्रेयसि सुजान के मादक लोचन।
तुम क्यों तज कर सुजान मेरे कवि आए।
वृंदावन यहाँ कहाँ विरह व्यथा लाए।
मिथ्या मिथ्या विराग न छिपा पाओगे।
अपनी विपुल वासना न छिपा पाओगे।
गेरु के रंग वस्त्र सब ये झूठे हैं।
इन में अपनी सुजान न छिपा पाओगे।
मूँद नयन बैठे राधा कब घूम रही।
बैठी सुजान हाय क्या नहीं झूम रही।
आँखों से उमड़ उमड़ आँसू की धारा।
मोहन वियोग या सुजान को बता रही।

खः घनानंद का हिंदी साहित्य में स्थान

यद्यपि स्वच्छंद काव्य धारा के कुछ लक्षण भक्ति काल में ही दृष्टिगोचर होते हैं पर उसका अधिक विकसित रूप हमें रीतिकाल में उपलब्ध होता है। हिंदी तथा उर्दू फारसी के साहित्यों में संमिलन के आदान प्रदानों को जो लोग आत्मसात् कर भारतीय चिंतन धारा में संयोजित कर सके उन्होंने ऐसे साहित्य की सृष्टि की जो न यहाँ की साहित्य परंपराओं का गतानुगतिक था और न फारसी साहित्य का ही अनुयायी था। जिन लोगों ने फारसी साहित्य की ओर से अपनी आँखें बंद कर ली थीं उन्होंने हिंदी साहित्य का विशेष उपकार नहीं किया। इनके भावों में तो वह प्रभाव पड़े बिना न रहा। केवल अभिव्यक्ति के बाहरी ढाँचे में परंपरा का आवरण उन्होंने बना लिया। इसलिये इनका चिंतन मनोग्रंथि ग्रसित सा हो गया। यह दोष घनानंद जैसे स्वच्छंद प्रवृत्ति के लोगों में नहीं रहा। मध्यकाल की यही स्वच्छंद काव्य धारा है।

आधुनिक काल में अंग्रेजी साहित्य के संयोग से जैसे श्रीधर पाठक, पंत, निराला, प्रसाद, बच्चन आदि में स्वछंदता की नवीन प्रवृत्ति का जन्म हुआ उसी प्रकार रीतिकाल की काव्य भारती में उर्दू-फारसी के प्रभाव से यह नवीन प्रवृत्ति आई।

इस प्रवृत्ति के कवियों को स्वच्छंद दृष्टि प्राप्त करने की प्रेरणा अपनी व्यक्तिगत जीवन परिस्थिति से भी मिली थी।

जिस प्रकार कबीर जुलाहे वंश में उत्पन्न होकर हिंदू मुसलमान दोनों की यथार्थता पहचानने की प्रेरणा ले सके थे उसी प्रकार आलम, बोधा और घनानंद अपने व्यक्तिगत प्रेमी जीवन के कारण प्रेम की यथार्थता स्वच्छंदता एवं महिष्ठता पहचान सके थे। इसी प्रकार बाह्य और आंतरिक दोनों परिस्थितियों के फल स्वरूप रीतिकाल की काव्यधारा में जो स्वछंदता की प्रवृत्ति का विकास हुआ उसके सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तयिता, अनुभविता व्यक्ति घनानंद हैं। इनके बिना इस धारा का स्वरूप ही नहीं बन सकता था। लगभग तीन सौ वर्ष की साहित्यिक परंपराओं के बंधन की अवहेलना का साहस कर नवीन दिशा में साहित्यिक चिंतन को मोड़ने का जो महान कार्य इन्होंने किया है उससे इनका हिंदी साहित्य में एक विशेष स्थान है।

आत्मानुभूति को अभिव्यक्त करने की उस समय परंपरा ही नही थी। साहित्य में एक प्रकार का बौद्धिक दुराव विद्यमान था। किसी के व्यक्तित्व की झांकी उसकी कृतियों में नहीं हो सकती थी। बुद्धि-क्रीड़ा के भड़कीले

दर्शन मात्र होते थे। साहित्य जीवनोद्भूत न था। घनानंद ने उसका संबंध जीवन से जोड़ा। अपनी इस विशेषता को बार बार स्पष्ट रूप से उन्होंने कहा भी। यह प्रवृत्ति हमें १६ वीं शताब्दी के संतों में मिलती है। इसके बाद सांप्रदायिक भक्त तथा सांप्रदायिक साहित्यिक दोनों ही इस तत्व को भूल गए थे। घनानंद जी ने उस शैली को अपना कर सच्चे साहित्य का प्रणयन किया।

भाषा के क्षेत्र में घनानंद सर्वातिशायी गौरव के भाजन हैं। रीतिकाल के अंतिम भाग में ब्रजभाषा बहुत विकृत हो गई थी। उसकी शब्दावली तो उर्दू फारसी के शब्दों से खिचड़ी बन गई थी। उसकी वाक्यरचना तथा रूप विकास अव्यवस्थित था। साथ ही उसकी अभिव्यंजना को बढ़ाने का कोई प्रयत्न न था। घनानंद ने उसकी विशुद्धता तथा व्याकरण संमतता की रक्षा करते हुए लक्षणा द्वारा उसकी क्षमता का संवर्धन किया। लाक्षणिकता तथा विशुद्धता के कारण इनकी भाषा बिहारी की भाषा से भी प्रशस्यतर है। भावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों को व्यक्त करने के अनेकों मार्ग इन्होंने निकाले हैं। इस दिशा में देव, भूषण जैसे भाषा विशारदों तथा बिहारी, नागरीदास जैसे शाब्दिक आदान-प्रदान के विश्वासियों की तुलना में घनानंद सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतर्दशाओं के चित्रण का गुण भी घनानंद का अप्रतिम है। हिंदी संस्कृत की विभाव प्रधान शैली की परंपरा में इनकी सी सूक्ष्म अंतर्दशाएँ अभिव्यक्त ही नहीं होती थीं। घनानंद की शैली भावप्रधान बनी। भावों की रमणीयता तथा ग्राह्यता लक्षणा द्वारा रूपवत्ता प्रदान करने से की गई। रीतिकाल के काव्य में यह गुण भी नवीन था जिसके कारण घनानंद अपने समसामयिकों से पृथक महत्त्व के भाजन बने।

इनका उत्कर्ष रीतिकाल के अवसान में हुआ था। इसलिए इनके काव्य पर किसी आचार्य की अनुकूल या प्रतिकूल आलोचना सूक्ति देखने को नहीं मिलती। फिर भी अधिक आदर इनके काव्य का नहीं हुआ। यह ब्रजनाथ की प्रशस्तियों के आधार पर कहा जा सकता है। इसका कारण इनके काव्य सौष्ठव को पूर्णतया न समझना है।

बिहारी की सी टीकायें भी किसी ने इनके काव्य पर नही कीं यद्यपि इनका काव्य इसके अधिक उपयुक्त था।

आधुनिक काल में जिन लोगों ने इनका अध्ययन किया है वे इनसे पर्याप्त प्रभावित हुए हैं। इनमें भा० बा० हरिश्चंद्र और रत्नाकर जी तथा चंद्रकुँवर विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्मुक्त प्रेम के व्याख्याता होने के कारण लोगों को ये बेमेल से लगते थे। इसलिए इनकी समस्त रचनाओं का प्रकाशन भी समय से नहीं हो पाया। अब समाज के प्रजातांत्रिक वातावरण में जब कला के अंदर कलाकार की व्यक्तिगत भावनाओं का मूल्य बढ़ा है तब घनानंद का भी मूल्यांकन होने लगा है। अब भी रीतिकाल तथा शृंगार के नाम से भड़कनेवाला साहित्यिक पांडित्य इन जैसों की प्रशंसा हृदय से नहीं करता। पर कला की दृष्टि से कवि को देखा जाए तो हिंदी साहित्य की धारा में इनकी काव्य सरस्वती का रंग पृथक ही हैं। वह महत्वपूर्ण है, नवीन है और विधायक है। इसलिये आदरणीय है।

इतिशम्